श्रीअरविंद-साहित्य
खंड 5

मानव-एकताका आदर्श

युद्ध और आत्म-निर्णय

THE IDEAL OF HUMAN UNITY

War and Self-Determination

श्रीअरविंद
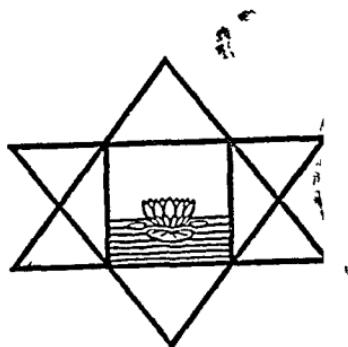
भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1969

प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमे अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमे उच्च कोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्यामे तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमे सौपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओके प्रामाणिक ग्रंथोका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे है। यह काम अधिकतर राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशकोकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजनामे सहयोग दे रहे है। अनूदित और नये साहित्यमे भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमे एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

'मानव-एकताका आदर्श' नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्रीअरविंद, अनुवादिका लीलावती इंद्रसेन तथा पुनरीक्षक रवीन्द्र है। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोमे स्वागत किया जायगा।

बाबूराम सक्सेना

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

अंग्रेजीमे 'आर्य' पत्रिकामें Ideal of Human Unity (मानव-एकताका आदर्श) शीर्षकसे सितंबर 1915 से जुलाई 1918 तक धारावाहिक लेख प्रकाशित हुए थे। उस समय पैंतीस अध्याय थे। पुस्तक-रूपमे उनका प्रथम प्रकाशन 1919 मे हुआ था। इसका सशोधित सस्करण 1950 मे श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरीसे प्रकाशित हुआ, परंतु सशोधन 1939 के द्वितीय विश्वयुद्धके पूर्व हुआ था। उसमे एक Post Script Chapter (ग्रंथोत्तर अध्याय) भी जोडा गया था। प्रस्तुत ग्रंथ उसी संस्करणका अनुवाद है।

इस ग्रंथमे दूसरी पुस्तक 'युद्ध और आत्म-निर्णय' है। यह War and Self-Determination के तृतीय संस्करणका अनुवाद है जिसका प्रकाशन 1957 मे हुआ था। साथमे 'आर्य'से लिया गया एक अन्य लेख भी जोड़ा गया है। इस पुस्तकके अन्य लेख 'आर्य'मे 1916 से 1920 के बीच छपे थे; किंतु भूमिका और 'एक राष्ट्रसंघ'का लेखन पुस्तकके लिये ही किया गया था। इस पुस्तकका विषय भी 'मानव-एकताका आदर्श'से मिलता-जुलता है।

विषय-सूची

मानव-एकताका आदर्श

भाग 1

भाग 2

युद्ध और आत्म-निर्णय

मानव-एकताका आदर्श

भाग एक

श्रीअरविंद

पहला अध्याय

एकताकी ओर झुकाव : इसकी आवश्यकता और कठिनाइयां

जीवनके ऊपरी तल-सतहोको समझना सुगम है, उनके नियम, उनकी विशिष्ट गति-विधियाँ, उनके क्रियात्मक उपयोग, ये सब हमे सहज लभ्य है और हम इन्हे अधिकृत कर सकते है, साथ ही काफी सरलता और शीघ्रतासे हम इनसे लाभ भी उठा सकते है। पर ये हमे बहुत दूरतक नही ले जाते। प्रतिदिनके सक्रिय उपरि-तलीय जीवनके लिये ये काफी है, पर जीवनकी गुरु समस्याएँ ये नही सुलझा सकते। वास्तवमे बात यह है कि जीवनकी गहराइयो, उसके गुप्त रहस्यो तथा उसके महान्, गूढ़ और सर्वनिर्धारक नियमोंका ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिये अत्यत कठिन है। हमे अभीतक कोई ऐसा यत्र नही मिला है जो इन गहराइयोको नाप सके। ये गहराइयाँ हमे अस्पष्ट और अनिश्चित प्रवाह तथा गहन अंधकारके रूपमे दिखायी देती है, जिनसे मन ऊपरी तलकी अति सरल ज्योतियो तथा दौड-धूपकी ओर उत्सुकतासे लौट आता है। यदि हमे जीवनको समझना है तो हमे इन गहराइयो तथा इनकी अदृश्य शक्तियोको समझना ही होगा। ऊपरी तलपर तो हमे केवल प्रकृतिके गौण नियम और क्रियात्मक उपनियम ही मिलते है जो हमे तात्कालिक कठिनाइयोको पार करने और, बिना समझे, व्यावहारिक अनुभवके आधारपर उसके सतत परिवर्तनोको व्यवस्थित करनेमे सहायक होते है।

मनुष्यजातिके लिये उसके अपने सामाजिक और सामूहिक जीवनकी अपेक्षा और कोई वस्तु अधिक अस्पष्ट या कम समझमे आनेवाली नही है, चाहे यह अस्पष्टता उस शक्तिके बारेमे हो जो उसे चलाती है या उस उद्देश्यके बारेमे जिसकी ओर वह बढ रही है। इसमे समाजशास्त्र हमे कुछ सहायता नही पहुँचाता, क्योकि यह केवल अतीतका तथा उन बाह्य अवस्थाओका सामान्य विवरण देता है जिनके कारण जातियाँ अपना अस्तित्व रख पायी है। इस सबंधमे इतिहास भी हमे कुछ नही सिखाता; यह घटनाओ और व्यक्तियोंका मिश्रित प्रवाह है, या फिर परिवर्तनशील

संस्थाओंको दिखानेवाली सैरवीन। इस सब परिवर्तन तथा काल-प्रवाहमें मनुष्य-जीवनके निरंतर आगे वढ़ते रहनेका वास्तविक अर्थ हम समझ नही पाते। जो समझ पाते है वे केवल प्रचलित या फिर-फिरकर आनेवाले वहिर्दृश्य, सरल सिद्धात और अधूरे विचार ही होते हैं। हम जनतंत्र, शिष्टतंत्र और स्वच्छंदतंत्र, समूहवाद और व्यक्तिवाद, साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद, राज्य और समाज, पूंजीवाद और श्रमवादकी वहुत चर्चा करते रहते हैं; हम उतावले ढंगके सिद्धात वना लेते है, एकांगी प्रणालियाँ गढ़ लेते है; आज जिनकी वलपूर्वक घोपणा की जाती है, कल उन्हीका विवश होकर त्याग करना पडता है। हम उन पक्षो और उत्साहपूर्ण आदर्शोका समर्थन करते है जिनकी विजयके कुछ समय वाद ही हमारा उनके लिये मोह भग हो जाता है और तव हम अन्य सिद्धातोंके लिये इनका त्याग कर देते है, शायद उन सिद्धातोंके लिये जिन्हे नष्ट करनेके लिये हम पहले काफी कष्ट उठा चुके होते है। पूरी शताव्दीभर मानवजाति स्वाधीनताके लिये लालायित रहती है और युद्ध करती है और तव कही वह उसे कठोर परिश्रम, आँसुओं और रक्तके मूल्यपर मिलती है—एक और शताव्दी जो विना सघर्ष किये ही इस स्वाधीनताका उपभोग करती है इसकी ओरसे इस प्रकार मुँह फेर लेती है मानो यह कोई वच्चोका स्वांग हो और किसी नये हितका मूल्य चुकानेके लिये उस हीन-मूल्य प्राप्तिका त्याग करनेके लिये तैयार हो जाती है। यह सव इसलिये होता है कि अपने सामूहिक जीवनसवधी हमारे समस्त विचार और कर्म उथले और केवल सामान्य अनुभवपर आधारित होते हैं। ये न तो परिपक्व, गहन और पूर्ण ज्ञानकी खोज करते है और न उसे अपना आधार मानते हैं। इससे हमे यह शिक्षा नही मिलती कि मानव-जीवन, उसकी उमंगे और उत्साह और उसके माने हुए आदर्श नि.सार है, वरन् यह कि हमे उसके सच्चे नियम और उद्देश्यकी अधिक ज्ञानपूर्ण, व्यापक और धैर्यपूर्ण खोज करनेकी आवश्यकता है।

आज मानव-एकताका आदर्श थोडे-वहुत अस्पष्ट ढंगसे हमारी चेतनाके अग्रभागमे प्रकट हो रहा है। मनुष्यके विचारमे किसी आदर्शका उदय होना सदा ही प्रकृतिके एक आशयका सकेत होता है, परंतु यह सदा कार्यको सिद्ध करनेके आशयका सकेत नही होता। कभी-कभी तो यह केवल उस प्रयत्नको प्रकट करता है जिसकी अस्थायी असफलता पहलेसे ही निश्चित होती है। कारण, प्रकृति अपनी कार्य-प्रणालीमे मंद और धीर है। वह विचारोको हाथमे लेती है, उन्हे अधूरे रूपमें कार्यान्वित

करती है, फिर वीच रास्तेमे उन्हे छोड देती है, इसलिये कि कभी भविष्यमे वह अधिक अच्छा सुयोग पाकर फिरसे कार्य शुरू करेगी। वह मानवजातिको, अपने विचार करनेवाले यन्त्रको, लुभाती है और इसकी परीक्षा लेती है कि जिस सामजस्यकी उसने कल्पना की है उसके लिये यह किस हदतक तैयार है। वह मनुष्यको प्रयत्न करने और असफल होनेकी अनुमति ही नहीं देती, उसके लिये उसे उकसाती भी है, जिससे वह शिक्षा ग्रहण कर सके और अगली बार अधिक सफल हो सके। फिर भी जो आदर्श एक वार विचारके अग्रभागमे स्थान पा चुका है उसके लिये हमे निश्चय ही प्रयत्न करना चाहिये। यह संभव है कि मानव-एकताका यह आदर्श भविष्यकी निर्धारक शक्तियोके बीच अपनी व्यापक प्रतिष्ठा वनाये रखे, क्योकि वर्तमान समयकी वौद्धिक और भौतिक परिस्थितियोने इसका निर्माण ही नही किया, वरन् इसपर वहुत वल भी दिया है, विशेषकर उन वैज्ञानिक आविष्कारोने जिन्होने हमारी पृथ्वीको इतना छोटा वना दिया है कि इसका वडे-से-वडा राज्य अव एक देशके प्रातसे अधिक नही प्रतीत होता।

पर इन भौतिक परिस्थितियोंकी यह सुविधा स्वयं ही इस आदर्शकी असफलताका कारण हो सकती है; क्योकि जव भौतिक परिस्थितियाँ एक वडे परिवर्तनके पक्षमे होती है, और उधर जातिका मन और हृदय वास्तवमें तैयार नही होता—विशेषकर हृदय—तो असफलता होनी निश्चित है। हाँ, यदि मनुष्य समयपर सचेत हो जाय और वाहरी पुनर्गठनके साथ-साथ आतरिक परिवर्तन भी स्वीकार कर ले तो वात दूसरी है। पर आज मानव-बुद्धि भौतिक विज्ञानद्वारा इतनी यान्त्रिक वन चुकी है कि जिस परिवर्तनको उसने देखना शुरू किया है उसके लिये वह मुख्यतया या केवल यान्त्रिक उपायो तथा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओके पुनर्गठन द्वारा प्रयत्न करेगी। मनुष्यजातिकी यह एकता अव इन सामाजिक या राजनीतिक तरीकोसे, या कम-से-कम मुख्यतया या केवल इनसे, स्थायी या फलदायक रूपमे सिद्ध नही की जा सकती।

हमे याद रखना चाहिये कि उच्चतर सामाजिक या राजनीतिक एकता अवश्य ही कोई अपने-आपमे वरदान नही होती: इसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न उसी हदतक करना चाहिये जहाँतक कि यह एक अधिक अच्छे, समृद्ध, सुखी और समर्थ, व्यक्तिगत और सामूहिक, जीवनके लिये एक साधन और ढाचा प्रदान करती है। परंतु अवतक मनुष्यजातिके अनुभवने यह वात स्वीकार नही की है कि घनिष्ठ रूपमे एकीकृत तथा दृढ रूपमे सगठित विशाल समुदाय समृद्ध और शक्तिशाली मनुष्य-जीवनके लिये अनुकूल है। प्रतीत

यह होता है कि सामूहिक जीवन तभी सुप्रगम, आनंदपूर्ण, विविध तथा फलप्रद होता है जब कि वह सीमित प्रदेश तथा अधिक सरल संगठनमें केंद्रित हो।

यदि हम मनुष्यजातिके भूतकालको, जितना कि हम उसे जानते हैं, देखे तो पता चलता है कि मनुष्यके जीवनके वे रोचक युग, वे रंगमंच, जिनमें यह अत्यंत समृद्ध रूपमे रह चुका है और अपने पीछे मूल्यवान् फल-संपदा छोड गया है, ठीक वे युग और देश थे जहां मानवजाति अपने-आपको उन छोटे स्वाधीन केंद्रोमें संगठित कर सकती थी जो एक-दूसरेपर घनिष्ठ रूपसे कार्य तो कर सकते थे पर अखंड एकतामे विलीन नहीं हो गये थे। आधुनिक यूरोपकी दो-तिहाई सभ्यता मानव-इतिहासके उस प्रकारके तीन उच्च कोटिके युगोकी देन है, पहला, इजराइल नामक जातिसमूहका धार्मिक जीवन तथा बादमे यहूदियोके छोटे राष्ट्रका जीवन, दूसरा, यूनानके छोटे नगर-राज्योका बहुमुखी जीवन, तीसरा, मध्यकालीन इटलीका इसी प्रकारका पर अधिक अनुशासित, कलात्मक तथा बौद्धिक जीवन। भारतका वह वीर-काल, जब वह छोटे-छोटे राज्योमे बँटा हुआ था जिनमे अधिकांश आजकलके एक जिलेसे बडे नही थे, एशियाका एक ऐसा युग रहा है जो शक्तिमे सबसे बढा हुआ, निवासके योग्य और श्रेष्ठ तथा स्थायी फलोको पैदा करनेवाला था। उसकी अत्यंत आश्चर्यजनक चेष्टाएँ, उसके अत्यत साहसपूर्ण और स्थायी कार्य—यदि हमे चुनाव करना पडता तो और सब वस्तुओका त्याग कर हम उन्हीको रखते—सब उसी युगकी संपत्ति थे। बादमे उससे दूसरे दर्जेपर पल्लव, चालुक्य, पांड्य, चोल और चेर वशके कुछ बडे, पर अभी भी छोटे राज्य ही आते है। तुलनात्मक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो भारतको उन मुगल, गुप्त और मौर्य जैसे साम्राज्योसे बहुत कम प्राप्त हुआ जो उसकी सीमाके भीतर बने और बिगडे थे, वास्तवमे उसे जो प्राप्त हुआ वह इतना ही था—राजनीतिक और प्रशासनसंबंधी सगठन, कुछ ललित कला और साहित्य तथा अन्य प्रकारका कुछ स्थायी कार्य जो सदा ही उच्च कोटिका नही होता था। उनकी प्रवृत्ति मौलिक, प्रेरक और सर्जनशील न होकर विस्तृत संगठन बनानेकी ओर अधिक थी।

तब भी इन छोटे नगर-राज्यो या प्रादेशिक संस्कृतियोके शासन-प्रबंधमे सदैव एक दोष रहा जिसने बडे सगठन बनानेकी उनकी प्रवृत्तिको उकसाया। अस्थिरता, कुप्रबंधका बाहुल्य, विशेषकर कुछ बड़े संगठनोके आक्रमणसे बचाव कर सकनेमे असमर्थता और विस्तृत भौतिक हित-साधनके लिये योग्यताकी कमी इस दोषके विशेष लक्षण हैं। अतएव, सामूहिक जीवनका

यह प्रारंभिक रूप लुप्त होता गया तथा इसने अपना स्थान राष्ट्रो, राज्यों और साम्राज्योके संगठनको दे दिया।

यहाँ हम पहली बार देखते हैं कि वडे राज्यों तथा विशाल साम्राज्योका नही, वल्कि छोटे राष्ट्रोके सघोका जीवन ही अत्यंत शक्तिशाली रहा है। सामूहिक जीवन जव अत्यत वडे स्थानोमे विखर जाता है तो ऐसा लगता है मानो उसने अपनी तीव्रता और उत्पादक शक्ति खो दी हो। असली यूरोप इंग्लैड, फ्रास, नीदरलैड्स, स्पेन, इटली और जर्मनीके छोटे राज्योमे ही रहा है, वल्कि उसकी पिछली सारी सभ्यता और वृद्धि इन्ही छोटे राज्योमे निर्मित हुई है, पवित्र रोमके या रूसके साम्राज्योके विशाल समूहमें नही। यही वात हम सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रमे भी देखते हैं जव हम यूरोपकी अनेक जातियोंके शक्तिशाली जीवन और कार्यकी तुलना एशियाके वडे जनसमुदायोसे करते हैं। हम देखते है कि यूरोपकी जातियाँ एक-दूसरीपर प्रचुर प्रभाव डालती हैं; वे कभी तो तेज सृजनशील चालसे और कभी अदम्य वेगसे उन्नतिकी ओर वढती है। उधर एशियामे हमे निष्क्रियताके लवे युग मिलते है जिनमे युद्ध और विद्रोह छोटे, अस्थायी और प्रायः निष्फल प्रसगोके रूपमे ही आये। यहाँ धार्मिक, दार्शनिक और कलासंवंधी स्वप्नोकी सदियाँ भी अवश्य आयी, किंतु इसका झुकाव वाह्य जीवनके वढते हुए सूनेपन और पीछे चलकर जडताकी ओर ही रहा।

दूसरे, हम देखते है कि इस संगठनमे जिन जातियो और राज्योका जीवन सवसे अधिक शक्तिपूर्ण रहा है उन्होने इसे लदन, पेरिस, रोम जैसे किसी प्रधान नगर, केंद्र या राजधानीमे एक कृत्रिम ढगसे अपनी जीवन-शक्तिको पुजीभूत करके ही प्राप्त किया है। इस उपायसे प्रकृति एक अधिक वडे संगठन और अधिक पूर्ण एकतासे लाभ उठाती हुई एक छोटेसे स्थान तथा अत्यत संकुचित कार्यक्षेत्रमे उपयोगी केंद्रीकरणकी उस अमूल्य शक्तिको कुछ अशमे वनाये रखती है जो नगर-राज्य या छोटे रजवाडेकी अधिक पुरातन प्रणालीमे उसके पास थी। पर यह लाभ सगठनके शेष भाग, जिले, प्रातीय नगर, ग्रामको वडे नगर या राजधानीकी उत्कट जीवन-शक्तिकी तुलनामे आश्चर्यजनक रूपसे नीरस, तुच्छ और अर्द्धचेतन जीवनका अभिशाप देकर ही प्राप्त किया गया।

रोम-साम्राज्य एकताके उस सगठनका ऐतिहासिक दृष्टात है जो राष्ट्रकी सीमाओको लाँघ चुका था। इसके गुण-दोष वहाँ पूर्ण रूपसे लक्षित हो रहे है। गुण है सराहनीय व्यवस्था, शाति, व्यापक सुरक्षा, सुप्रवध और भौतिक सुख-आराम; दोप यह है कि व्यक्ति, नगर और प्रदेश अपने स्वाधीन

जीवनका बलिदान करके मशीनके कल-पुरजेमात्र रह जाते है, जीवन अपनी श्री-समृद्धि, विविधता, स्वतंत्रता तथा सहजसृजनकी विजयशील प्रेरणा खो देता है। सगठन स्वयं तो महान् और प्रशंसनीय है, पर व्यक्ति नगण्य होकर अभिभूत तथा आच्छन्न हो जाता है। अतमे व्यक्तिकी तुच्छता और दुर्बलताके कारण वह विशाल सगठन, अनिवार्य रूपसे, धीरे-धीरे अपनी महान् और रक्षक जीवन-शक्तिको भी खो देता है और फिर अधिकाधिक निश्चेष्ट पड़कर नष्ट हो जाता है। इसका ढाँचा ऊपरसे सपूर्ण और अक्षत दीखने-पर भी भीतर-ही-भीतर सड चुका होता है, फिर वाहरसे जरा-सा धक्का लगते ही टूटने और गिरने लगता है। तथापि ऐसे संगठन और युग वचावके लिये अत्यत उपयोगी होते है, जैसे कि रोम-साम्राज्य उन लाभोको स्थिर रखनेमे सहायक सिद्ध हुआ जो बीती हुई सदियोकी संपत्ति थे। पर ये जीवन और विकासको रोक देते है।

अब जरा हम यह देखे कि यदि मनुष्यजातिका एक ऐसा सामाजिक, प्रशासनीय और राजनीतिक एकीकरण हो जाय जिसका आजकल कुछ लोग स्वप्न देख रहे है तो इसका परिणाम क्या होगा। उसके लिये एक बडे भारी सगठनकी जरूरत पडेगी जिसके नीचे वैयक्तिक और प्रांतिक दोनो प्रकारका जीवन पददलित तथा हीन होकर अपनी आवश्यक स्वतंत्रतासे उसी प्रकार वचित हो जायगा जिस प्रकार कोई पौधा जल, वायु और प्रकाश-के बिना हो जाता है। मनुष्यजातिके लिये इसका अर्थ यह होगा कि शायद एक तृप्त और हर्षपूर्ण कर्मकी प्रथम उमगके बाद केवल स्वरक्षा, बढते हुए गतिरोध और अतमे क्षयका एक लबा काल आयगा।

फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यजातिकी एकता प्रकृतिकी अतिम योजना-का अग है और यह सिद्ध होकर ही रहेगी। परंतु यह होगी उन अवस्थाओं-मे और सुरक्षाके उन साधनोके साथ जो जातिकी जीवन-शक्तिके मूलको अक्षुण्ण रखेगे तथा उसकी एकताको विविधतासे भरपूर कर देगे।

दूसरा अध्याय

पिछले समुदायोंकी अपूर्णता

प्रकृतिकी सारी कार्यशैली जीवनके दो ध्रुवों, व्यक्ति और समष्टिमे, सामजस्य स्थापित करनेकी एक ऐसी प्रवृत्तिपर अवलबित है जो उनमें निरंतर संतुलन बनाये रखनेका यत्न करती है। व्यक्तिका पोषण समष्टि या समुदायद्वारा होता है, और समष्टि या समुदायकी रचनामे व्यक्ति सहायक होता है। मनुष्य-जीवन इस नियमका अपवाद नही है। अतएव मनुष्यजीवनकी पूर्णताका अर्थ है जीवनके इन दोनो ध्रुवो—व्यक्ति और सामाजिक समूहमे वह सामंजस्य साधित करना जो अभीतक संपन्न नही हुआ है। पूर्ण समाज वह होगा जो व्यक्तिकी परिपूर्णताका पूरी तरहसे समर्थन करेगा। व्यक्तिकी पूर्णता तबतक अधूरी रहेगी जबतक वह सामाजिक समूहकी, और अंतमे यथासंभव बडे-से-बडे मानव-समुदायकी, समूची संगठित मनुष्यजातिकी पूर्णत्वकी अवस्थाको लानेमे सहायक नही होगी।

प्रकृतिकी क्रमिक कार्य-धारा एक ऐसी उलझन पैदा कर देती है जो व्यक्तिको समस्त मनुष्यजातिके साथ शुद्ध और सीधा सबध रखनेमे बाधा पहुंचाती है। उसके और इस इतनी बडी समष्टिके बीचमे कई ऐसे छोटे-छोटे समुदाय उत्पन्न हो जाते है जो अतिम एकताके लिये कुछ अशमे सहायक तो कुछमे बाधक भी होते है। पर मानव-सस्कृतिकी विकसनशील अवस्थाओमे इनका बनना आवश्यक था; कारण, स्थानकी बाधाये व्यवस्था-की कठिनाइयो तथा मानव-हृदय और मस्तिष्ककी त्रुटियोने पहले छोटे फिर उनसे बडे, और तब उनसे और बडे समुदायोका निर्माण करना आवश्यक कर दिया जिससे मनुष्य उत्तरोत्तर आगे बढता हुआ शनै·-शनै. शिक्षित होता जाय जबतक कि वह अतिम एकताके लिये तैयार नही हो जाता। कुटुम्ब, समाज, वश या जाति, वर्ग, नगर-राज्य या जातियोका समूह, राष्ट्र, साम्राज्य—ये सब इस प्रगति और अनवरत विस्तारकी अनेक अवस्थाएँ है। यदि बडे समुदायोका सफलतापूर्वक निर्माण होते ही उनसे छोटे समु-दायोको मिटा दिया जाय तो इस क्रममे कुछ जटिलता नही आती; पर प्रकृति इस मार्गका अनुसरण नही करती। जो आदर्शरूप वह एक बार बना चुकी है उनको वह सर्वांशमें शायद ही नष्ट करती है या केवल

उसीको नष्ट करती है जिसका अब और कोई उपयोग नहीं रह गया है; शेषको वह विविधता, समृद्धि और बहुरूपताकी अपनी आवश्यकता और अभिलाषाको पूरा करनेके लिये सुरक्षित रखती है। वह केवल उनकी विभाजक रेखाएँ ही मिटाती है या फिर उनके गुण-धर्मों और संबंधोंको इतना बदल देती है कि जिस व्यापक एकताको वह उत्पन्न कर रही है उसमें वे बाधक न बनें। अतएव पग-पगपर विभिन्न प्रकारकी समस्याएँ मनुष्यजातिके सामने आती हैं। ये समस्याएँ व्यक्ति तथा तात्कालिक समुदाय और समाजके हितोंमें सामंजस्य बिठानेकी ही नहीं होतीं बल्कि छोटे समुदायों-की आवश्यकता और हितों तथा इन सबको अपने अंतर्गत करनेवाली वृहत् समष्टिके विकासमें सामंजस्य स्थापित करनेकी भी होती है।

इतिहासने इस कठिन कार्यके, इसकी सफलता और असफलताके कुछ-एक शिक्षापूर्ण दृष्टांत हमारे लिये सुरक्षित रखे हैं। हम सेमेटिक (Semi-tic) राष्ट्रोंमें—यहूदियों और अरबोंमें—जाति-समूह बनानेके लिये संघर्ष पाते हैं। पहलेका तो दो राज्योंमें बँट जानेके कारण संघर्ष समाप्त हो गया, पर यह यहूदी राष्ट्रकी दुर्बलताका एक स्थायी कारण बन गया। दूसरेमें इस्लामकी प्रचंड संगठन-शक्तिके द्वारा इस संघर्षको अस्थायी रूपसे वशमें कर लिया गया। हम देखते हैं कि सेलटिक (Celtic) जातियोंमें वंशीय जीवन व्यवस्थित राष्ट्रीय जीवनके रूपमें संगठित नहीं हो सका। आयर्लैंड तथा स्काटलैंडमें तो यह सर्वथा असफल रहा। वहाँ इस असफलतासे छुटकारा तभी मिला जब विदेशी शासन और संस्कृतिने वंशीय जीवनका नाश कर दिया; यह वेल्समें सबसे अंतमें हो पाया। हम देखते हैं कि यूनानके इतिहासमें नगर-राज्य और छोटी प्रादेशिक जातियाँ घुल-मिलकर एक हो जानेमें सफल नहीं हुईं। किंतु रोमन इटलीके विकासमें प्रकृतिके इस प्रकारके संघर्षको अपूर्व सफलता मिली। उधर भारतके संपूर्ण अतीतमें भी पिछले दो हजार या अधिक वर्षोंसे अत्यधिक तथा विभिन्न प्रकारके विषम तत्त्वोंकी केंद्र-विरोधी प्रवृत्तिको वशमें लानेका प्रयत्न होता आया है। ये भिन्न-भिन्न तत्त्व थे कुटुम्ब, समाज, वंश, जाति, छोटा प्रांतिक राज्य या लोक-समुदाय, भाषापर आधारित बड़ी इकाई, धार्मिक संघ और राष्ट्रके अंतर्गत राष्ट्र। सफलताके निकट कई बार पहुँच जानेपर भी यह प्रयत्न निष्फल ही रहा। संभवतः हम यह कह सकते हैं कि यहाँ प्रकृतिने अपूर्व जटिलता और प्रभावशाली समृद्धिका परीक्षण किया था। उसने सारी संभावित कठिनाइयाँ एकत्र कर ली थीं जिससे वह अधिक-से-अधिक वैभवपूर्ण परिणामपर पहुँच सके। परंतु अंतमें इस समस्याका सुलझाना असंभव

हो गया, कम-से-कम यह सुलझायी तो नही जा सकी और प्रकृतिको सदाके समान वाहरी शक्तिके प्रयोग अर्थात् विदेशी शासनरूपी साधनका आश्रय लेना पडा।

किंतु राष्ट्र चाहे काफी सगठित हो भी जाय—राष्ट्रही वह सवसे वड़ी 'इकाई' है जिसे प्रकृति अवतक सफलतापूर्वक विकसित कर चुकी है—पूर्ण एकता सदा प्राप्त नही होती। यदि अन्य विरोधी तत्त्व न भी रहे तो भी वर्गोमे कलह तो सदा ही सभव है। यह तथ्य हमे मनुष्यजीवनमें प्रकृतिके इस क्रमिक विकासके एक और नियमकी ओर ले जाता है, जिसका विशेप महत्त्व हम तभी जान सकेंगे जव हम सभवनीय मानव-एकताके प्रश्न-पर आयेंगे। एक पूर्ण समाजमे या अतमे पूर्ण मनुष्यजातिमे व्यक्तिकी पूर्णता—पूर्णतासे सदा यह समझना चाहिये कि वह विकासशील तथा आपेक्षिक है—प्रकृतिका अनिवार्य उद्देश्य है। परतु समाजके सव व्यक्तियोका विकास, साथ-ही-साथ, एक समान और समगतिसे नही होता। कुछ आगे वढते है तो दूसरे वही खडे रहते है, और कुछ पीछे भी हट जाते है। फल-स्वरूप जिस प्रकार समुदायोमे परस्पर निरंतर विरोध रहनेसे प्रवल राष्ट्रोका उदय होना आवश्यक होता है उसी प्रकार स्वयं समुदायमेंसे भी एक प्रवल वर्गका उदय होना अनिवार्य हो जाता है। प्रवलता उसी वर्गकी रहती है जो उस आदर्श-रूपको अधिकतम पूर्णताके साथ उन्नत करता है जिसकी प्रकृतिको आगे वढने या पीछे हटनेके लिये आवश्यकता होती है। अगर प्रकृति चारित्रिक शक्ति और वल चाहती है तो प्रवल शिष्टवर्ग उत्पन्न हो जाता है, यदि ज्ञान और विज्ञान चाहती है तो प्रभावशाली साहित्यिक अथवा पडित-वर्ग उत्पन्न हो जायगा; यदि व्यवहारकुशलता, प्रवीणता, अर्थ-सग्रह और निपुण व्यवस्थाकी माँग हो तो प्रवल मध्यश्रेणी या वैश्यवर्ग-का उदय भी हो सकता है, जिसका अग्रणी साधारणतया वकील होता है और यदि सामान्य हितको केंद्रित न करके विस्तृत करना तथा श्रमकी उचित व्यवस्था करना अभीष्ट हो तो शिल्पी-वर्गका प्रभुत्व स्थापित होना भी असभव नही।

पर यह स्थिति चाहे प्रवल वर्गोकी हो या प्रवल राष्ट्रोकी, एक अस्थायी आवश्यकतासे अधिक कभी नही हो सकती, क्योकि मनुष्य-जीवनमे वहुतोका कुछके द्वारा या कुछका वहुतोके द्वारा शोपण प्रकृतिका अतिम उद्देश्य नही हो सकता। न ही मनुष्यजातिके एक वडे भागकी हीन अधोगति या उसकी अध दासताके मूल्यपर कुछ व्यक्तियोकी पूर्णता कभी उद्देश्य हो सकती है। ये तो सामयिक उपायमात्र हो सकते है। अतएव हम देखते हैं

कि इन प्रबल वर्गोंमें इनके अपने नाशका बीज सदैव विद्यमान रहता है। इस शोषक तत्त्वके बहिष्कार या नाश या फिर एकीकरण तथा समीकरण-के द्वारा इनका समाप्त होना आवश्यक है। यूरोप और अमरीकामें हम देखते हैं कि प्रबल ब्राह्मण तथा प्रबल क्षत्रियवर्ग या तो मिट गये हैं या फिर सर्वसाधारणके साथ समानतामें विलीन होनेवाले हैं। केवल दो सर्वथा पृथक् वर्ग वहाँ रह गये हैं, प्रबल पूँजीपति और श्रमजीवी; इस अंतिम श्रेष्ठताका लोप कर देना ही आजकलके अत्यधिक महत्वपूर्ण आंदोलनोंका काम रह गया है। इस दृढ़ प्रवृत्तिके द्वारा यूरोपने प्रकृतिके क्रमिक विकासके एक महान् नियमका पालन किया है, यह नियम है अंतिम समानताकी ओर उसकी प्रवृत्ति। पूर्ण समानता तो निश्चय ही न उसे अभिप्रेत है और न संभव ही, उसी प्रकार जिस प्रकार पूर्ण एकरूपता असंभव भी है और नितांत अवांछनीय भी; पर एक ऐसी आधारभूत समानता, जो सच्ची श्रेष्ठता और विभिन्नताके खेलको दोषरहित कर देगी, मनुष्यजातिकी किसी भी विचारमें आने योग्य पूर्णताके लिये आवश्यक है।

इसलिये एक प्रबल अल्पसंख्यक वर्गके लिये सबसे बढ़िया परामर्श यह है कि वह सदा समय रहते ही ठीक घड़ीको पहचानकर अपने अधिकारका त्याग कर दे और अपने आदर्श, गुण, संस्कृति तथा अनुभव, समुदायके बाकीके सारे व्यक्तियोंको या उसके उतने अंगको जो उन्नतिके लिये तैयार है, सौंप दे। जहाँ ऐसा होता है सामाजिक समुदाय बिना किसी बाधा, गंभीर चोट या व्याधिके, स्वाभाविक रूपसे आगे बढ़ता है। नहीं तो उसके ऊपर एक अव्यवस्थित उन्नति लाद दी जाती है, क्योंकि प्रकृतिको कभी यह सहन नहीं होगा कि मानुषी अहंभाव उसके आशय और उसकी आवश्यकता-को सदाके लिये व्यर्थ कर दे। जहाँ प्रबल वर्ग अपनेपर उसके दावेको सफलतापूर्वक टाल देते हैं वहाँ सामाजिक समुदाय भीषण दुर्भाग्यसे ग्रस्त हो सकता है,—जैसा भारतमें हुआ; यहाँ ब्राह्मण और अन्य कुलीन जातियोंने राष्ट्रके बड़े भागको यथासंभव अपने स्तरपर लाना अंतिम रूपसे अस्वीकार कर दिया; अपने और समाजके शेष भागमें कभी न पट सकनेवाली खाई खोद ली; उनके अंतिम ह्रास और अधःपतनका यही कारण था। जब प्रकृतिके उद्देश्योंमें बाधा डाली जाती है तो वह निश्चित रूपसे केंद्रसे अपनी शक्ति हटा लेती है और अंतमें बाधाका अस्तित्व मिटानेके लिये अन्य बाह्य साधन जुटाकर उनका प्रयोग करती है।

परंतु अंदरकी एकता चाहे उतनी पूर्ण बना भी ली जाय जितनी सामा-जिक, प्रशासनीय और सांस्कृतिक मशीनरीद्वारा बननी संभव है, तो भी

व्यक्तिका प्रश्न ज्यो-का-त्यो बना रहता है, क्योकि ये सामाजिक इकाइयाँ या समुदाय मानव-शरीरकी तरह नही है जिसके अवयवभूत कोषाणु शरीररूपी समुदायसे पृथक् सत्ता नही रख सकते। मानव-व्यक्ति अपना पृथक् अस्तित्व रखना तथा कुटुम्ब, वश, वर्ग और राष्ट्रकी सीमाओको पार करना चाहता है; एक ओर आत्मपूर्णता और दूसरी ओर व्यापकता उसकी पूर्णताके आवश्यक अग है। इसलिये, जिस प्रकार सामाजिक समुदायकी उन प्रणालियोको जो एक या अनेक वर्गोके दूसरोपर प्रभुत्वके ऊपर निर्भर करती है बदलना या समाप्त होना चाहिये, उसी प्रकार जो सामाजिक समुदाय व्यक्तिकी इस पूर्णताके रास्तेमे रोड़ा अटकाते है तथा उसको अपने सीमित साँचे और एक सकुचित संस्कृति या वर्ग या राष्ट्रके तुच्छ हितकी कठोर सीमामे बाँधे रखना चाहते है उन्हे भी विकासशील प्रकृतिकी अदम्य प्रेरणाके वशीभूत होकर अपने परिवर्तन या नाशका समय और दिन निश्चित कर लेना चाहिये।

तीसरा अध्याय

समुदाय और व्यक्ति

प्रकृतिका सदासे यह ढंग रहा है कि जब उसे सामंजस्यके दो तत्त्वोमे अनुकूलता लानी होती है तो पहले तो वह उन्हे दीर्घ कालतक लगातार बनाये रखते हुए आगे बढती है जिसमे कभी वह पूरी तरह एक ओर झुक जाती है और कभी दूसरी ओर, और कभी दोनोके अत्यधिक आग्रहोको ठीक करनेके लिये उनमे यथासभव सफल और तात्कालिक सामंजस्य और मर्यादित करनेवाला समझौता कर देती है। तब ये दोनो तत्त्व विरोधी होनेपर भी एक-दूसरेके पूरक हो जाते है; फलस्वरूप वे अपने विरोधके किसी परिणामपर पहुँचनेकी चेष्टा करते है। पर, क्योकि प्रत्येकमे अपनी अहंबुद्धि तथा सब वस्तुओकी भाँति एक ऐसी सहजप्रवृत्ति होती है जो उसे अपनी अधिगत शक्तिके अनुपातमे आत्म-रक्षा करनेके लिये ही नही, वरन् आत्म-ख्यापनके लिये भी प्रेरित करती है, प्रत्येक ही एक ऐसे परिणाम-पर पहुँचनेकी चेष्टा करता है जिसमे वह स्वय अधिक-से-अधिक भाग प्राप्त कर सके और यदि संभव हो तो दूसरेके अहको पूर्ण रूपसे अधिकृत ही नही, वरन् उसे पूरी तरहसे अपने अहंमे विलीन कर ले। इस प्रकार समस्वरताकी ओर उनकी प्रगति शक्तियोके संघर्षसे सपन्न होती है, और प्राय: यह आपसी मेल या समझौतेका नही, वरन् एक-दूसरेको खा जानेका प्रयत्न होती है। वास्तवमे एकताका हमारा सर्वोच्च आदर्श यह है कि उनमेंसे कोई एक-दूसरेको नही, बल्कि प्रत्येक दूसरेको अधिकृत कर ले, जिससे प्रत्येक पूर्ण रूपसे दूसरेमे तथा दूसरेके समान बनकर रहे। यह प्रेमका वह अतिम आदर्श है जिसे संघर्प अज्ञानपूर्वक प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है; क्योकि संघर्पके द्वारा मनुष्य स्थायी मेलपर नही, बल्कि दो विरोधी माँगोकी अनुकूलतापर, दोनोके एकीकरणपर नही, बल्कि दो विरोधी अहभावोके समझौतेपर पहुँच सकता है। फिर भी यह संघर्ष उस बुद्धिशील पारस्परिक सहानुभूतिकी ओर अवश्य ले जाता है जो वास्तविक एकता प्राप्त करनेके प्रयत्नको सभव कर देती है।

व्यक्ति और समुदायके आपसी सबंधोमे प्रकृतिकी यह सतत प्रेरणा दो समान रूपसे गहरी जमी हुई मानव-प्रवृत्तियो——व्यक्तिवाद और समुदाय-

वाद---के बीच एक संघर्षके रूपमे प्रकट होती है। एक ओर राज्यका सर्वग्रासी अधिकार, पूर्णता और विकास है, दूसरी ओर व्यक्तिकी निजी स्वतंत्रता, पूर्णता और उन्नति। राज्य-भावना या एक छोटी या वडी सजीव मशीन और व्यक्ति-भावना या अधिकाधिक विशिष्ट, प्रकाशयुक्त और देवत्वकी ओर वढता हुआ पुरुष नित्य विरोधमें खडे हो जाते हैं। राज्यके विस्तारसे सघर्पके मूल-तत्त्वमे कोई अतर नही पड़ता और न इससे उसकी विशिष्ट परिस्थितियोमे अंतर आना आवश्यक ही है। यह कुटुम्व, वर्ण या नगर था; फिर यह कुल, जाति और वर्ग वना। अव यह राष्ट्र है। कल या परसो यह समस्त मनुष्यजाति हो सकता है। परतु तव भी मनुष्य और मनुष्यजातिमे, स्वतंत्रताप्रिय व्यक्ति और सवको अपने अंदर समेट लेनेवाले समुदायमे प्रश्न वना ही रहेगा।

यदि हम केवल इतिहास और समाजशास्त्रके प्राप्त तथ्योपर विचार करे तो हमे पता चलेगा कि मनुष्यजाति सर्वग्राही समुदायसे शुरू हुई थी और व्यक्ति पूर्णतया इसके अधीन था, तथा व्यक्तित्वकी वृद्धि मानव-विकासका एक गुण और मानसिक चेतनाकी उन्नतिका परिणाम है। हम कह सकते है कि शुरूमे मनुष्य विल्कुल ही संघशील प्राणी था, जीवन-रक्षाके लिये संघ उसकी प्रथम आवश्यकता थी, और क्योकि जीवन-रक्षा प्राणि-मात्रकी पहली आवश्यकता है इसलिये व्यक्ति समूहकी शक्ति और सुरक्षाके साधनके सिवाय और कुछ नही हो सकता था। यदि इस शक्ति और सुरक्षाके साथ उन्नति, निपुणता, आत्म-ख्यापन और आत्म-रक्षाको भी जोड दिया जाय तो फिर भी यह समूहवादका ही प्रमुख विचार रहता है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति एक ऐसी आवश्यकता है जो परिस्थिति और वातावरणसे उत्पन्न होती है। यदि हम मूल तथ्योकी ओर अधिक ध्यान दे तो हम देखेगे कि जड पदार्थमे एकरूपता ही समूहका लक्षण है। विविधताका स्वच्छद खेल तथा व्यक्तिका विकास जीवन तथा मनके विकासके साथ-साथ ही आगे वढ़ता है। यदि हम मनुष्यको जडमे तथा जडमेसे मानसिक सत्ताका विकास माने तव हमे यह भी मानना होगा कि वह एकरूपता तथा व्यक्ति-भावकी गौणतासे चलकर विविध-रूपता तथा व्यक्तित्वकी स्वतत्रताको प्राप्त करता है। इस प्रकार वाह्य अवस्थाओ और परिस्थितिकी आवश्यकता तथा उसकी अपनी सत्ताके आधारभूत तत्त्वोका अनिवार्य नियम हमे एक ही परिणामकी ओर सकेत करते है, उसके ऐतिहासिक और पूर्व-ऐतिहासिक विकासकी उसी एक प्रक्रियाके सूचक है।

परतु मनुष्यजातिकी एक और प्राचीन परपरा भी है कि इस सामाजिक अवस्थासे पहले एक और स्वतंत्र तथा असामाजिक अवस्था थी। इस परंपराकी उपेक्षा करना या इसे कोरी कल्पना समझना किसी प्रकारसे भी युक्तिसगत नही। आजकलके वैज्ञानिक विचारोंके अनुसार, यदि ऐसी अवस्थाका कभी अस्तित्व था--जो बात सत्यसे कोसो दूर है—तो यह केवल असामाजिक ही नही, वरन् समाजविरोधी भी रही होगी; अपने विकासक्रममे समुदायका प्राणी बननेमे पहले मनुष्यकी अवस्था अवश्य ही एक ऐसे पृथक् रहनेवाले प्राणीकी-सी रही होगी जो हिंस्र पशुके समान जीवन व्यतीत करता था। पर उधर इस परपरागत गाथाका सबंध उस स्वर्णयुगसे है जिसमे वह बिना समाजके स्वतत्र रूपसे सामाजिक था। वह नियमो या सस्थाओसे बँधा हुआ नही था। सहज-बुद्धि या स्वतंत्र ज्ञानके अनुसार जीवन बिताते हुए उसने अपने अदर ही निवास करनेका यथार्थ नियम अधिगत कर लिया था। उसे न तो अपने सहजीवियोंको पीड़ा पहुँचानेकी आवश्यकता थी और न ही समूहके कठोर जुएमे बँधनेकी। यदि हम चाहे तो कह सकते है कि यही काव्यमय या आदर्शवादी कल्पनाने गहरी जमी हुई जातिगत स्मृतिसे प्रेरणा ली; आदिम सभ्य मनुष्यने अपने स्वतंत्र, असंगठित और सुखद साहचर्यके विकासशील आदर्शको असंगठित, असंस्कृत तथा समाजविरोधी जीवनकी जातिगत स्मृतिके भीतर पाया। पर यह भी सभव है कि हमारी प्रगति एक सीधी रेखामे नही, बल्कि काल-चक्रोमे हुई है। और उन चक्रोमे कम-से-कम आशिक उपलब्धिके ऐसे काल भी आये है जब मनुष्य दार्शनिक अराजकताके उच्च स्वप्नके अनुसार जीवन बितानेके योग्य हो गये थे। वे प्रेम, प्रकाश, यथार्थ जीवन, यथार्थ चितन, यथार्थ कर्मके आतरिक नियमद्वारा एक-दूसरेसे संबधित थे, वे राजाओं और ससदो, नियमो, पुलिस और दण्डविधानद्वारा जबर्दस्ती एकत्र नही कर दिये गये थे। उन्हे उस क्रूरकष्ट, छोटे-मोटे या बड़े अत्याचार और दमन तथा स्वार्थ और भ्रष्टाचारके बेढगे क्रममेसे नही गुजरना पडता था जो मानवके मानवपर बलात्कारपूर्ण शासनमे पाया जाता है। यह भी संभव है कि हमारी प्रारंभिक अवस्था पशुओकी भाँति एक उदार और परिवर्तन-शील सघकी एक सहज-स्वाभाविक अवस्था थी, और हमारी अंतिम आदर्श अवस्था उदार और परिवर्तनशील समुदायकी एक सचेतन, सहज अंतर्ज्ञानकी अवस्था होगी। हमारी भवितव्यता यह हो सकती है कि यह प्रारंभिक पशुओ-जैसा समूह देवताओके समाजमे परिणत हो जाय। हमारा विकास एक ऐसा चक्करदार मार्ग हो सकता है जो प्रकृतिको व्यक्त करनेवाली

सरल-सहज एकरूपता और समस्वरतासे भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेवाली स्वयसिद्ध एकताकी ओर जाता है।

जो कुछ भी हो, इतिहास और समाजशास्त्र हमे केवल यह वताते है कि—स्वतत्र एकातवास या स्वतंत्र सहवासकी अवस्थापर पहुँचनेके लिये धार्मिक या अन्य आदर्शवादोने जो प्रयत्न किये है उन्हे छोडकर—मनुष्य एक कम अथवा अधिक सगठित समुदायमे रहनेवाला व्यक्ति था। और समुदायमे सदा दो नमूने होते है। एक व्यक्तिकी अवहेलना करके राज्य-भावका समर्थन करता है, जैसे प्राचीन स्पार्टा और आधुनिक जर्मनी। दूसरा राज्यकी श्रेष्ठताका समर्थन तो करता है, पर साथ ही राज्यके अगभूत व्यक्तियोको उतनी स्वतंत्रता, शक्ति तथा महत्ता भी देना चाहता है जितनी उसके अपने प्रभुत्वके साथ सगत हो, जैसे प्राचीन एथेन्स और आधुनिक फ्रांस। परंतु इन दोनोके साथ एक तीसरा नमूना भी जोड दिया गया है जिसमे राज्य व्यक्तिको अधिक-से-अधिक अधिकार सौप देता है और साहसपूर्वक यह दावा करता है कि उसका अस्तित्व व्यक्तिके विकासके लिये ही है। उसकी स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और उसके सफल मनुष्यत्वकी रक्षाके लिये वह साहसपूर्ण विश्वासके साथ इस वातका परीक्षण करता है कि क्या अतमे व्यक्तिकी यथासभव अधिक-से-अधिक स्वाधीनता, प्रतिष्ठा और मनुष्यत्व ही ऐसी चीजे नही है जो राज्यके हित, वल और विस्तारकी रक्षाका अधिक-से-अधिक आश्वासन देगी। अभी हालमे ही इग्लैडने इस नमूनेका एक महान् दृष्टात उपस्थित किया है,—ऐसे इग्लैडने जो केवल इसी आतरिक भावनाके वलपर स्वतंत्र, समृद्ध, शक्तिशाली और अजेय वना, और जिसे देवताओने अतुल विस्तार, साम्राज्य और सौभाग्यका वरदान दिया। उसने कभी इस महान् भावनाका अनुसरण करने तथा इस महान् कर्मकी कठिनाइयोका सामना करनेसे भय नही माना, यहाँतक कि उसने प्राय: अपने द्वीपीय अहकारकी सीमाओके पार जाकर भी इसी भावनाका प्रयोग किया। दुर्भाग्यवश, उस अहंकारने, मानवजातिके स्वभावगत दोषोने तथा किसी एक सीमित विचारपर वल देनेकी प्रवृत्तिने—यह प्रवृत्ति हमारी मानवी अविद्याका एक लक्षण है—उसके इस कार्यमे वाधा डाली। अतएव वह इस प्रवृत्तिकी यथासंभव अतिशय श्रेष्ठ और प्रचुर अभिव्यक्ति नही कर सका, न ही वह इससे उन अन्य परिणामोको प्राप्त कर सका जिसे अधिक सुव्यवस्थित राज्य प्राप्त कर चुके या कर रहे है। फलस्वरूप हम देखते है कि समूह या राज्यकी भावना प्राचीन अग्रेजी परंपराको तोड़ रही है। और यह संभव है कि शीघ्र ही इस महान् प्रयोगका असफलताकी

दुःखदायी स्वीकृतिके साथ अत हो जायगा और इसका अंत होगा जर्मनीके उस 'अनुशासन' और 'कुशल' सगठनको स्वीकार करनेके कारण जिसकी ओर समस्त सभ्य मनुष्यजाति आज बढती हुई प्रतीत हो रही है। मनुष्य अपनेसे पूछ सकता है कि क्या यह सब वास्तवमे आवश्यक था, क्या अधिक नमनीय और सजग वुद्धिसे आलोकित अधिक साहसपूर्ण विश्वासके द्वारा एक नयी और अधिक उदार प्रणालीसे ये सब वांछनीय परिणाम नही प्राप्त हो सकते थे जो जातिके धर्मको भी अक्षुण्ण वनाय रखती।

राज्य अपने हितके लिये व्यक्तिके दमन करनेका जो अपना अधिकार जताता है उसके सवंधमे हमें एक और वात भी ध्यानमे रखनी चाहिये। वह यह है कि सिद्धांतकी दृष्टिसे इसका कुछ महत्व नही कि राज्य क्या रूप धारण करता है। निरकुश शासकका सवपर अत्याचार या बहुसंख्यक दलका व्यक्तिके ऊपर अत्याचार एक ही प्रवृत्तिके दो रूप हैं। दूसरी अवस्थामे मानव-प्रकृतिके द्वद्वके कारण बहुसख्यक दल आत्म-समोहनद्वारा अपना ही दमन और अपनेपर ही अत्याचार करने लगता है। जब व्यक्ति, "राज्य मैं ही हूँ" इन निरपेक्ष शब्दोमें राज्यके साथ अपना तादात्म्य घोषित करता है तो वह एक गभीर सत्यको उच्चारित कर रहा होता है, यद्यपि यह सत्य एक असत्यपर आधारित होता है। सत्य वास्तवमें यह है कि व्यक्ति राज्यकी ही आत्म-अभिव्यक्ति है। इसके द्वारा राज्य अपने अगभूत व्यक्तियोकी स्वतत्र इच्छा, स्वतत्र प्रक्रिया, शक्ति, प्रतिष्ठा और आत्म-ख्यापनको अपने अधीन करनेका विशेष रूपसे प्रयत्न करता है। असत्य उस आधारभूत विचारमे है जो यह कहता है कि राज्य अपने सदस्य-व्यक्तियोसे वढ़कर है और वह निर्दोष रूपमे मानवजातिके उच्चतम हितमें इस आग्रहशील श्रेष्ठताका दावा कर सकता है।

वर्तमान समयमे राज्य-सिद्धांत एक लंवी अवधिके वाद पुनः अपने पूरे जोरपर आया है। ससारके चितन और कर्मपर उसका प्रबल प्रभाव पड रहा है। इसके मूलमे दो प्रेरक भाव काम कर रहे हैं; एक जातिके वाह्य हितसे संवंध रखता है और दूसरा उसकी उच्चतम नैतिक प्रवृत्तियोसे। वह इस वातकी माँग करता है कि वैयक्तिक अहकार अपने-आपको सामूहिक हितके लिये वलिदान कर दे। वह अधिकारपूर्वक यह चाहता है कि मनुष्यको अपनी खातिर नही, वरन् समष्टि, समुदाय, समाजके खातिर जीवित रहना चाहिये। वह वलपूर्वक कहता है कि मनुष्यजातिकी भलाई और उन्नतिकी आशा राज्यकी कार्यदक्षता और संगठनमे है। उसकी पूर्णताका मार्ग यह है कि व्यक्ति और समुदायकी आर्थिक तथा अन्य महत्त्व-

शाली व्यवस्थाओका संचालन राज्य ही करे। इसीको हम युद्धकी प्रचलित भाषामे यूँ कह सकते हैं कि राज्य व्यक्तिकी बुद्धि, योग्यता, उसके विचार, भाव, जीवन और उस सबको जो वह है या उसके पास है, सर्वहितके लिये "प्रचालित" (मोबिलाइज) करे। इसको यदि अतिम परिणामतक पहुँचाया जाय तो वह होगा समाजवादी आदर्शका पूरा जोर होना और इसी परिणामकी ओर मनुष्यजाति एक अपूर्व वेगसे बढ़ती हुई प्रतीत हो रही है। राज्य-सिद्धात आज अत्यंत वेग और बलके साथ अधिकार प्राप्त करनेका यत्न कर रहा है, वह अपने पैरो तले उस सबको कुचलनेके लिये तैयार है जो उसके प्रवाहके आगे आते हैं या मानवकी अन्य प्रवृत्तियोके अधिकारकी स्थापना करनेका प्रयत्न करते हैं। पर जिन दो विचारोपर वह आधारित है वे सत्य और असत्यके उस विनाशकारी मिश्रणसे भरे हुए हैं जो हमारे समस्त मानवी अधिकारो और सिद्धातोके साथ जुडा रहता है। यदि हमे असहाय होकर प्रकृतिके गभीर और गहन सत्यकी ओर आनेसे पहले भ्रमका एक और चक्कर न काटना हो तो हमे एक ऐसे जिज्ञासापूर्ण और निष्पक्ष विचारकी शोधन-क्रिया द्वारा इन अधिकारो तथा सिद्धातोको देखना होगा जो शब्द-जालके धोखेमे आनेसे इन्कार कर दे। वास्तवमे प्रकृतिका गभीर और गहन सत्य ही हमारा प्रकाश और मार्गदर्शक होना चाहिये।

चौथा अध्याय

राज्य-सिद्धांतकी अपर्याप्तता

आखिर यह राज्य-सिद्धात, यह संगठित समाजका विचार जिसके लिये व्यक्तिकी वलि देनी होगी, है क्या? आदर्शरूपमे यह व्यक्तिसे इस वातकी माँग करता है कि वह अपने-आपको सर्वहितके अधीन कर दे; व्यावहारिक रूपमें वह सामूहिक अहके अधीन हो जाता है जिस अहंका स्वरूप राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक होता है। यह उन सामूहिक उद्देश्यों और महत्त्वाकाक्षाओको पूरा करनेकी चेष्टा करता है जो शासकोके छोटे या वडे दल द्वारा—ये किसी रूपमे समाजके प्रतिनिधि माने जाते है—कल्पित होते है तथा व्यक्तियोके वृहत् समूहपर आरोपित किये जाते है। इस वातसे कुछ फर्क नही पडता कि ये किसी शासक-वर्गके हो, या जैसा कि आधुनिक राज्योमें होता है, अंशत: अपने चरित्र-वलसे पर अधिकतर परिस्थितिकी सहायतासे जनसाधारणमेसे निकले होते है। इसमे इस वातसे भी कुछ विशेष अतर नही आता कि उनके उद्देश्य और आदर्श आजकल स्पष्ट और साक्षात् वल-प्रयोग द्वारा नही, वल्कि शव्दोंकी समोहन-क्रिया द्वारा जनतापर लादे जाते है। दोनोमेसे किसी भी अवस्थामे भरोसेके साथ नही कहा जा सकता कि ये शासक-वर्ग या शासक-दल राष्ट्रकी सर्वश्रेष्ठ वुद्धि या उसके सर्वोत्तम उद्देश्यो या उच्चतम प्रेरणाओके प्रतीक है।

संसारके किसी भागके आधुनिक राजनीतिज्ञके वारेमे ऐसा नहीं कहा जा सकता; वह जातिकी आत्मा या उसकी उच्च आकाक्षाओका प्रतीक नही होता। साधारणतया वह अपने चारो ओरकी आम तुच्छता, स्वार्थ-परता, अहवुद्धि और आत्म-प्रवंचनाका ही प्रतिनिधि होता है। इनका प्रतिनिधित्व तो वह भलीभाँति करता ही है, साथ ही अत्यधिक मानसिक अयोग्यता, नैतिक-रूढ़िता, भीरुता, क्षुद्रता तथा पाखडका प्रतिनिधित्व भी करता है। निर्णयके लिये उसके सामने महान् प्रश्न प्राय: आते है, पर उनके समाधानका उसका ढंग महान् नही होता। उच्च शव्द और उत्तम विचार उसके मुखपर होते है, पर वे शीघ्र ही पार्टीके विज्ञापनकी चीज वन जाते है। वर्तमान राजनीतिक जीवनमे असत्याचरणका यह रोग संसारके प्रत्येक देशमे दृष्टिगोचर हो रहा है और सव लोग, यहाँतक कि वुद्धिजीवी वर्ग भी मत्रमुग्ध होकर

उस वड़े संगठित स्वांगमे सहमत और सहयोगी हो जाते हैं और इससे रोग ढक जाता तथा लंबे समयतक चलता है, यह सहमति उसी प्रकारकी है जो मनुष्य नित्य अभ्यासकी चीजो को देता है तथा जिससे उसके जीवनका वर्त-मान वातावरण बनता है। तो भी ऐसे मनुष्योद्वारा ही सबकी भलाईका निर्णय करना होता है, ऐसे हाथोमे ही यह कार्य सौपना पडता है, राज्य कह-लानेवाली ऐसी एजेसीको ही अपने कार्य-व्यवहारका निर्देशन और नियंत्रण सौपनेके लिये आज व्यक्तिसे अधिकाधिक अनुरोध किया जा रहा है। इससे वस्तुत: सर्वका अधिकतम हित किसी तरह भी सिद्ध नही होता, इसके वदलें हम अत्यधिक संगठित भूले और दोष देखते हैं जिनमे कुछ हित भी होता है उससे वास्तविक उन्नति की ओर प्रगति होती है। प्रकृति सदा ही सव प्रकारकी भूल-चूकके वीचसे आगे वढती है और अतमे—अधिकतर मनुष्यकी अपूर्ण बुद्धिकी वाधाके होते हुए भी, न कि उसकी सहायतासे—अपने उद्देश्योको पूरा करती है।

परतु यदि शासन-यत्र अधिक अच्छा भी वना हो और उसका मानसिक और नैतिक चरित्र अधिक ऊँचा भी हो, यदि, जैसा कि प्राचीन सभ्यताओने अपने शासक-वर्गमे कुछ ऊँचे आदर्श तथा अनुशासन लानेका यत्न किया था, वैसा करनेका रास्ता आज भी निकाल लिया जाय तो भी राज्य वह वस्तु नही वन सकेगा जिसका कि राज्य-सिद्धातकी ओरसे दावा किया जाता है। आदर्श-रूपमे राज्य समाजकी वह सामूहिक वल-वुद्धि है जो सर्वहितके लिये सुलभ और संगठित कर दी जाती है। पर व्यावहारिक रूपमे जो इजिनपर नियत्रण रखती है और गाड़ीको चलाती है वह समाजकी केवल उतनी-सी वल-बुद्धि होती है जितनीको राज्य-संगठनकी विशेष मशीनरी ऊपरी तलपर आने देती है; वल्कि यह भी मशीनरीकी लपेटमे आ जाती है तथा उसके कारण इसके कार्यमे रुकावट तो पडती ही है साथ ही इसे उस अत्यधिक मूर्खता और स्वार्थपूर्ण दुर्वलताके कारण भी रुकना पडता है जो इसके साथ-साथ ऊपर उठ आती है। नि.सदेह, इन परिस्थितियोमे अधिक-से-अधिक यही हो सकता है, और प्रकृति सदा की भाँति इसका अधिकतम उपयोग करती है। परतु स्थिति और भी अधिक खराव होती यदि वैयक्तिक प्रयत्नके लिये एक ऐसा क्षेत्र न छोड दिया जाता जिसमे कि वह अपेक्षाकृत स्वतत्र-रूपसे उस कार्यको करे जिसे राज्य नही कर सकता, जिसमे वह सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियोकी सच्चाई, शक्ति और आदर्श-भावनाको प्रकट करके तथा उन्हे प्रयोगमे लाकर उस कार्यको करे जिसे करनेके लिये राज्यके पास वुद्धि या साहस नही है और साथ ही उस कार्यको पूरा करवाये जिसे सामूहिक

रूढ़िता और निर्बलता या तो विना किये छोड देती या सक्रिय रूपमें उसका दमन तथा विरोध करती। व्यक्तिकी यही शक्ति सामूहिक उन्नतिके लिये यथार्थ रूपमे उपयोगी कार्य करती है। राज्य कभी-कभी इसकी सहायताके लिये आगे बढता है और तव, यदि उसकी सहायताका अर्थ अनुचित नियत्रण न हो तो, उसका परिणाम निश्चित ही हितकर होता है। पर अधिकतर तो यह रास्तेमे रोड़ा ही अटकाता है, फिर या तो वह उन्नति-पर रोक लगानेवाला बन जाता है या आवश्यक मात्रामे उस संगठित विरोध और सघर्षको जुटाता है जो निर्माणकी क्रियामेसे गुजरती हुई नयी वस्तु को और अधिक बल तथा अधिक पूर्ण आकार देनेके लिये सदैव आवश्यक होता है। पर जिसकी ओर हम आज वढ रहे है वह संगठित राज्य-शक्तिका इतना विस्तार, इतना विशाल, अदम्य और जटिल राजकीय कार्य-कलाप है जो स्वतत्र वैयक्तिक प्रयत्नको या तो विल्कुल मिटा देगा या उसे क्षुद्र, दीन तथा असहाय बनाकर छोड देगा। इस प्रकार राज्यरूपी मशीनके इन दोषो, उसकी दुर्वलताओ तथा अयोग्यताको सुधारनेका एक आवश्यक साधन नष्ट हो जायगा।

सगठित राज्य न तो राष्ट्रकी सर्वश्रेष्ठ वुद्धि है और न ही सामाजिक शक्तियोका कुल-जोड। वह अपने सगठित कार्य-क्षेत्रमेसे महत्त्वपूर्ण अल्प-संख्यक वर्गोकी कार्यशक्ति तथा उनके विचारशील मनको वहिष्कृत कर देता है, उन्हे दबाता या अनुचित रूपसे निरुत्साहित करता है। अधिकतर ये उसके प्रतीक होते है जो वर्तमानमे सर्वश्रेष्ठ है तथा भविष्यके लिये विकसित हो रहा है। यह एक सामूहिक अहभाव है जो समाजके ऊँचे-से-ऊँचे अहंभावसे वहुत निम्न कोटिका है। यह अहभाव अन्य सामूहिक अहभावोकी तुलनामे क्या है यह हम जानते है, और हालमे इसकी कुरूपता मनुष्यजातिकी दृष्टि और विवेक-वुद्धिके सामने प्रकट हो चुकी है। साधारणतया व्यक्तिके पास कम-से-कम आत्मा जैसी वस्तु तो होती ही है और हर हालतमे वह आत्माकी कमियोको नैतिकता और सदाचारकी पद्धतिसे पूरी करता है, फिर इनकी कमियोको लोकमतके भयसे और, इसमे भी असफल होनेपर, सामाजिक कानूनके भयसे दूर करता है। इस कानूनका उसे साधारणतया या तो पालन करना होता है या फिर कम-से-कम वह इसे टाल तो सकता ही है, टालनेके इस कार्यमे जो कठिनाई आती है वह अत्यत उद्दड या वहुत चालाक लोगोको छोड़कर वाकीपर एक प्रतिबंध होती है। राज्य एक ऐसी सत्ता है जो, वहुत अधिक शक्ति होनेके कारण, आतरिक दुविधाओं या बाह्य प्रतिवधो द्वारा कम-से-कम पीडित होती है।

इसकी आत्मा या तो होती ही नही या फिर केवल प्रारंभिक अवस्थामे होती है। यह एक सैनिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्ति है; यदि यह एक बौद्धिक और नैतिक सत्ता हो भी तो वह केवल एक थोडे और अविकसित अशमे ही होगी। दुर्भाग्यवश अपनी अल्पविकसित नैतिक भावना को काल्पनिक धारणाओ, मोहक शव्दो और फिर हालमे राज्यदर्शन (राज्य-वाद)के द्वारा निस्तेज कर देना ही इसकी अविकसित वुद्धिका मुख्य उपयोग है। समाजके अदर मनुष्य आज कम-से-कम एक अर्ध-सभ्य प्राणी तो है, पर उसका अतर्राष्ट्रीय जीवन अभीतक असस्कृत है। अभी कुछ दिन पहलेतक सगठितराष्ट्र दूसरे राष्ट्रोके साथ अपने सवधोमे केवल एक दीर्घकाय हिंसक जन्तु था, इसकी तृष्णाएँ घटना-चक्र द्वारा कभी-कभी नष्ट या निरुत्साहित होकर दब भले ही जाती हो, पर इसके अस्तित्वका मुख्य आधार सदा वे ही रहती थी। दूसरोको हडपकर अपनी रक्षा और अपना विस्तार करना ही इसका धर्म था। आजकल भी इसमे कोई वास्तविक सुधार नही हुआ; केवल हडपनेका कार्य अव अधिक कठिन हो गया है। एक 'पवित्र अहभाव' अभी भी राष्ट्रोका आदर्श है; इसी लिये किसी आक्रमणकारी राज्यपर प्रतिवध लगानेवाली न तो कोई लोकमतकी सच्ची और निर्मल चेतना है और न ही कोई प्रभावशाली अतर्राष्ट्रीय कानून। यदि कोई भय है तो वह पराजयका है; हालमे अनिष्टकारी आर्थिक विघटनका भय भी हो गया है। परंतु अनुभवोसे पता चलता है कि ये सब प्रतिवध व्यर्थ हैं।

राज्यका यह अत्यधिक अहभाव किसी समय अपने आतरिक जीवनमें वाह्य सवधोकी अपेक्षा कुछ अच्छा था।* यह क्रूर, लोभी, लुटेरा, धूर्त्त तथा अत्याचारी था और स्वतंत्र कर्म, स्वतत्र वाणी और मतके प्रति ही नही, वल्कि धार्मिक विश्वासकी स्वतंत्रताके प्रति भी असहनशील था। इसने अपने अंतर्गत व्यक्तियो और वर्गोको तथा वाहरके अधिक निर्वल राष्ट्रोको खूव सताया। जिस समाजपर यह निर्भर करता था उसको मामूली तौरपर जीवित, धनी और समर्थ रखनेकी आवश्यकताने ही इसके कार्यको आशिक तथा स्थूल रूपमे उपयोगी वना दिया। कुछ दिशाओमे अवनति होनेपर

---

*मैं प्राचीन और आधुनिक युगके बीचके समयकी वात कर रहा हूँ। प्राचीन कालमें राज्य—कम-से-कम कुछ देशोंमें—अपनी जनताके प्रति कुछ आदर्श और न्याय-भावना रखता था। पर अन्य राज्योंके साथ वर्त्तावमें यह वात वहुत ही कम पायी जाती थी।

भी आधुनिक समयमे इसमें काफी सुधार हुआ। राज्य अव यह अनुभव करता है कि उसके अस्तित्वका औचित्य सिद्ध करनेके लिये यह आवश्यक है कि वह समाजके तथा सभी व्यक्तियोके भी सामान्य आर्थिक और स्थूल-शारीरिक (Animal) हितोकी व्यवस्था करे। उसने यह देखना आरंभ कर दिया है कि उसे सपूर्ण समाजके वौद्धिक और परोक्षरूपमे नैतिक विकासके लिये निश्चित प्रवध करना है। राज्यका एक वौद्धिक और नैतिक सत्तामे विकसित होनेका यह प्रयत्न आधुनिक सभ्यताकी अत्यंत रोचक घटनाओमेसे एक है। यूरोपके संकटने मनुष्यजातिके अत करणको यह स्वीकार करनेके लिये विवश कर दिया है कि राज्यको उसके वाह्य संवंधोंमे भी वौद्धिक तथा नैतिक रूप देना आवश्यक है। पर समस्त स्वतंत्र वैयक्तिक कार्योको हस्तगत कर लेनेका राज्यका दावा त्यो-त्यो वढता जाता है ज्यों-ज्यो वह अपने नये आदर्शो और सभावनाओके प्रति अधिक स्पष्ट रूपमे सचेतन होता जाता है। इसके विपयमें हम इतना तो कह ही सकते है कि यह दावा असामयिक है। यदि इसे पूरा कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप मनुष्यकी उन्नतिपर एक अवरोध, एक ऐसा सहज-संगठित प्रतिबंध लग जायगा जिसने रोम-साम्राज्यकी स्थापनाके वाद ग्रीक-रोमन जगत्को अपने वशमे कर लिया था।

अतएव राज्यकी व्यक्तिसे यह माँग, कि वह उसकी वेदी पर अपनी वलि चढा दे और अपने स्वतंत्र कार्योको संगठित सामूहिक कार्यमें विलीन कर दे, हमारे उच्चतम आदर्शोकी माँगसे विल्कुल भिन्न है। इसका अर्थ है वर्तमान वैयक्तिक अहभावको एक अन्य अर्थात् सामूहिक अहंभावमे विलीन कर देना। यह सामूहिक अहंभाव वडा अवश्य है पर श्रेष्ठ नही, वल्कि सर्वश्रेष्ठ वैयक्तिक अहंभावसे कई वातोंमे हीन है। परोपकारका आदर्श, आत्मत्यागकी साधना, सहजीवियोंके साथ अधिकाधिक घनिष्ठ संवंधकी आवश्यकता तथा मानवजातिमे एक विकसनशील सामूहिक आत्मा,—इनके विपयमे हमे कुछ आपत्ति नही पर व्यक्तिका राज्यमे विलीन हो जाना इन उच्च आदर्शोका अर्थ नही है, न ही इनकी पूर्त्तिके लिये यह साधन है। मनुष्यको आत्म-दमन तथा आत्म-उच्छेद करना नही वल्कि मनुष्यजातिकी पूर्णताके अदर अपनी पूर्णता प्राप्त करना सीखना चाहिये। इसी प्रकार उसे यह भी सीखना चाहिये कि वह अपने अहंका उच्छेद या नाश न करे, वल्कि उसे उसकी सीमाओसे वाहर लाकर पूर्ण वनाये तथा एक ऐसी महत्तर वस्तुमे विलीन कर दे जिसका आज वह प्रतीक वननेका यत्न कर रहा है। पर राज्यकी विशाल मशीन द्वारा स्वतंत्र व्यक्तिका लील (निगल) लिया जाना

एक बिल्कुल ही और प्रकारकी परिणति है। राज्य हमारे सामान्य विकासके लिये एक सुविधाजनक पर बेढगा साधन है। इसे अपने-आपमें साध्य कभी नही बनाना चाहिये।

राज्य-सिद्धांतका दूसरा दावा कि राज्यकी संगठित मशीनका यह अधिकार और व्यापक कार्य मानव विकासका सर्वोत्तम साधन है अतिशयोक्तिपूर्ण तथा मनगढंत है। मनुष्य समाजपर निर्भर करता है; उसे अपनी वैयक्तिक तथा साथ ही सामूहिक उन्नति करनेके लिये भी इसकी आवश्यकता है। परतु क्या यह सत्य है कि राज्य द्वारा सचालित कार्य व्यक्तिकी पूर्ण रूपसे उन्नति करने और साथ ही समाजके साझे हितोको भी प्राप्त करानेमे सबसे अधिक समर्थ है? न, यह सत्य नही है। सत्य वास्तवमे यह है कि यह समाज मे व्यक्तियोके सम्मिलित कार्यके लिये सब आवश्यक सुविधाएं जुटाने तथा उसके मार्गसे उन सब दुर्वलताओ और बाधाओको दूर करने मे समर्थ है जो अन्यथा उसकी प्रक्रियामे रुकावट डालती। यही राज्यकी वास्तविक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। मानव सहयोगकी शक्यताओसे इन्कार की सभाव्यता अंग्रेजी व्यक्तिवादकी दुर्बलता थी; सम्मिलित कार्यकी उपयोगिताके बहाने राज्य द्वारा कठोर नियंत्रण स्थापित करना समूहवादके टयूटौनिक विचारकी कमजोरी है। जब राज्य समाजके सम्मिलित कार्यका नियत्रण अपने हाथमे लेनेका प्रयत्न करता है, तो उसे एक ऐसे दानवी यंत्रके निर्माण करने का अपराधी बनना पडता है जो अतमे मनुष्यकी स्वतंत्रता, प्रेरक-शक्ति और वास्तविक उन्नतिको कुचल डालेगा।

राज्य बेढंगे तरीकेसे तथा समूहमे ही काम करनेके लिये मजबूर है। वह उन स्वतत्र, समस्वर तथा ज्ञानपूर्ण या सहजप्रेरित विविध कार्योके करनेमे असमर्थ है जिनकी आतरिक विकासके लिये आवश्यकता होती है। राज्य कोई प्राणिक सत्ता नही है, यह एक मशीन है और मशीनकी ही भाँति कार्य करता है। निपुणता, सुरुचित, वैविध्यता, सूक्ष्मता या अतर्ज्ञान इसमे नही होता। इसकी शैली कारखानेकी तरह गढनेकी होती है जब कि मनुष्यजातिका उद्देश्य विकसित होना तथा सृजन करना है। राज्य द्वारा सचालित शिक्षामे हम यही दोष देखते हैं। यह ठीक है और आवश्यक भी कि शिक्षा सबको उपलब्ध होनी चाहिये। इसे उपलब्ध करानेके लिये राज्य अत्यधिक उपयोगी है, पर जब वह शिक्षापर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है तो वह इसे एक सामान्य ढर्रेकी तथा यात्रिक ढगकी शिक्षा बना देता है जिसमे इससे भिन्न वस्तुएँ—वैयक्तिक प्रेरणा, वैयक्तिक उन्नति और सच्ची प्रगति असभव हो जाती हैं। राज्य की प्रवृत्ति सदा एकरूपताकी ओर होती है,

कारण, एकरूपता उसके लिये आसान है और स्वाभाविक विविधता लाना उसकी मूलतः यांत्रिक प्रकृति के नितांत विरुद्ध है; पर एकरूपता मृत्यु है, जीवन नही। राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय धर्म, राष्ट्रीय शिक्षा उपयोगी वस्तुएँ हो तो सकती है पर केवल तभी जव वे एक ओर मानव ऐक्य की वृद्धिमे तथा दूसरी ओर विचार, अतःकरण और विकास की वैयक्तिक स्वतत्रतामे वाधा न डाले; कारण, ये समाजकी आत्माको मूर्त्त रूप देती है तथा इसे मानव उन्नतिके कुल योगमे अपना हिस्सा जोडनेमे सहायता पहुँचाती है, किंतु राज्य की शिक्षा, राज्यका धर्म और राज्यकी संस्कृति सव अस्वाभाविक अत्याचार है। यही नियम हमारे सामाजिक जीवन तथा उसके कार्योकी अन्य दिशाओंमे, विभिन्न प्रकारसे तथा विभिन्न अंशोंमे, लागू होता है।

जव तक राज्य मनुष्यके जीवन और विकासका एक आवश्यक तत्त्व वना रहता है तवतक उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सम्मिलित कार्यकी सव प्राप्य सुविधाएँ जुटाए, वाधाएँ दूर करे, सव प्रकारके वस्तुतः हानिकारक अपव्यय और सघर्षको रोके,—थोड़ा वहुत अपव्यय और संघर्ष तो प्रकृतिके सव कार्योमे आवश्यक तथा उपयोगी होता ही है,—और व्यर्थ के अन्यायको दूर करके प्रत्येक व्यक्तिको उसकी क्षमताओंके अनुसार तथा उसके स्वभावके अनुकूल उसकी उन्नति और तुष्टिका एक उचित और समान अवसर प्रदान करे। यहाँ तक तो वर्तमान समयके समाजवादका उद्देश्य ठीक है और अच्छा भी है, पर मानव विकासकी स्वतंत्रतामे किसी प्रकारका भी अनावश्यक हस्तक्षेप हानिकारक होता है या हो सकता है। सम्मिलित कार्य भी हानि पहुँचा सकता है यदि वैयक्तिक विकास की आवश्यकताओको ध्यानमे रखकर सवके हितके लिये प्रयत्न करनेके स्थानपर,—क्योंकि विना वैयक्तिक विकासके किसी प्रकारका वास्तविक और स्थायी सर्वहित होना सभव नही है—वह समाजके अहंभावपर व्यक्ति की वलि चढ़ा दे तथा अधिक पूर्ण रूपसे उन्नत मानव-जातिके विकासके लिये जितने स्वतंत्र अवकाश और मौलिक शक्तिकी आवश्यकता हो उसको रोक दे। जव तक मानवजाति पूर्ण रूपसे विकसित नही हो जाती, जव तक उसे विकास करनेकी आवश्यकता रहती है और जव तक वह अधिक महान् पूर्णता प्राप्त करनेमे समर्थ है तव तक समष्टि अपने अंगभूत व्यक्तियोंके विकासकी उपेक्षा करके अपना स्थिर हित नही कर सकती। जो समूहवादी आदर्श व्यक्तिको अनुचित रूपसे अधीन वनाये रखना चाहते है वे वास्तवमे एक गतिहीन अवस्थाकी कल्पना करते है चाहे वह आजकल जैसी स्थिति हो या ऐसी स्थिति हो जिसे वह अवस्था शीघ्र स्थापित करनेकी आशा करती है। इस स्थितिके वाद सच्चे परिवर्तन

का हर एक प्रयत्न सुप्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्थाकी शांति, उचित कार्यक्रम तथा सुरक्षाके विरुद्ध अधीर व्यक्तिवादका अपराध समझा जायगा। यह तो सदा व्यक्ति ही होता है जो स्वयं उन्नति करता है और बाकियोको उन्नत होनेके लिये बाध्य करता है; समुदायकी सहज प्रवृत्ति अपनी स्थापित व्यवस्थामे जमे रहनेकी होती है। उन्नति, विकास और विस्तृत सत्ताकी प्राप्तिसे व्यक्तिको तथा स्थिरता और निश्चित विश्रामकी प्राप्तिसे समुदायको अतिशय सुखकी अनुभूति होती है। जब तक समुदाय एक सजग सामूहिक आत्माकी अपेक्षा एक भौतिक और आर्थिक सत्ता अधिक है तब तक स्थिति ऐसी ही रहेगी।

इसलिये मनुष्यजातिकी वर्तमान अवस्थाओमे राज्यकी मशीनरी द्वारा एक स्वस्थ एकता लानी बहुत कठिन है, चाहे यह एकता शक्तिशाली और सगठित राज्योको एकत्रित करनेसे प्राप्त हो—ऐसे राज्योको जो परस्पर सुव्यवस्थित तथा न्यायसगत संबधोका उपभोग करते है, या फिर यह वर्तमानकी कुछ अव्यवस्थित और कुछ व्यवस्थित राष्ट्र-मंडलीके स्थानपर एक ही विश्व-राज्यकी स्थापनासे प्राप्त हो, भले ही इस विश्व-राज्यका रूप रोम-साम्राज्यकी भाँति एक अकेले साम्राज्य का हो या सघबद्ध एकता का। मनुष्यजातिके निकट भविष्यमे ऐसी बाह्य या प्रशासनीय एकता प्राप्त करना हमारा उद्देश्य हो सकता है जिससे कि जाति सर्वसामान्य जीवनके विचार, उसकी आदत तथा सभावनाकी अभ्यस्त हो जाय, परन्तु मनुष्यकी भवितव्यताकी सच्ची विकास-धारामे यह वास्तवमे स्वस्थ, स्थायी या लाभदायक नही हो सकती जब तक कोई ऐसी चीज विकसित न कर ली जाय जो अधिक गहनी, अंतरीय तथा वास्तविक हो। नही तो प्राचीन जगत्‌के अनुभवकी एक बडे परिमाण तथा भिन्न अवस्थाओमे फिरसे आवृत्ति होगी, परीक्षण असफल हो जायगा और उसके स्थानपर अव्यवस्था तथा अराजकताका एक नया युग आयेगा जिसमे पुनर्निर्माणकी आवश्यकता होगी। शायद यह अनुभव प्राप्त करना भी मनुष्यजातिके लिये आवश्यक है; चाहे अब हम इस अनुभव को टाल भी सकते है, पर इसके लिये हमे यान्त्रिक साधनोको अपने सच्चे विकासके अधीन करना होगा। ऐसा विकास तभी हो सकता है जब कि नैतिकता, यहाँ तक कि आध्यात्मिकतासे युक्त मनुष्यजाति अपने बाह्य जीवन तथा शरीरमे ही नही वरन अंतरात्मामें भी एक हो जाय।

पाँचवाँ अध्याय

राष्ट्र और साम्राज्य : वास्तविक एकता और राजनीतिक एकता

मनुष्यजातिके एकीकरणकी समस्या दो विशिष्ट कठिनाइयोमे विभक्त हो जाती है। एक इस आशंकाका रूप धारण करती है कि जो सामूहिक अहं-भाव मानवजातिके स्वाभाविक विकासमे उत्पन्न हो चुके है क्या वे अव यथेष्ट रूपमे सुधारे या मिटाये जा सकते है और क्या किसी प्रकारकी प्रभावशाली बाह्य एकता सुरक्षितरूपसे स्थापितकी जा सकती है। दूसरी कठिनाई इस आशकाके रूपमे प्रकट होती है कि यदि कोई ऐसी बाह्य एकता स्थापितकी भी जा सके तो उसका परिणाम कही व्यक्तिके स्वतंत्र जीवनको तथा उन अनेक सामूहिक इकाइयोकी स्वच्छंद क्रीड़ाको, जो अबतक वन चुकी है और जिनका जीवन सच्चा तथा सक्रिय है, क्या कुचल देना नही होगा तथा इनके स्थानपर एक ऐसा राज्य-संगठन स्थापित नही हो जायगा जो मानव जीवनको यन्त्रवत् वना देगा। इन दो आशंकाओके अतिरिक्त एक तीसरी और भी है कि क्या यथार्थ जीवत एकता केवल आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनीय एकीकरण द्वारा ही साधितकी जा सकती है, तथा क्या इससे पहले कम-से-कम एक नैतिक और आध्यात्मिक एकताका ठोस उपक्रम नही होना चाहिये। इन प्रश्नोके क्रमिक सबधकी दृष्टिसे हमे पहले प्रश्नको पहले लेना होगा।

मानव विकासकी वर्तमान अवस्थामे राष्ट्र मानवजातिकी जीवंत सामूहिक इकाई है। साम्राज्य है तो सही पर वे अभी तक केवल राजनीतिक इकाइयाँ है, वास्तविक इकाइयाँ नही; उनमे निजी आतरिक जीवन नही है। वे या तो एक ऐसी शक्तिके आधारपर चल रहे है जो उनके निर्माणकारी अंगोपर लादी गयी है या ऐसी राजनीतिक सुविधाके आधारपर जिसे इन अगोने अनुभव या स्वीकार कर लिया है और जिसे वाहरके ससारका भी समर्थन प्राप्त हुआ है। आस्ट्रिया वहुत समय तक इस प्रकारके साम्राज्यका एक स्थायी उदाहरण रहा है, यह एक राजनीतिक सुविधा थी जिसे ससार भरका अनुमोदन प्राप्त था। अभी कुछ दिन पहले तक इसके निर्माणकारी

अग भी इससे सहमत थे। हैप्सबर्ग वंशके रूपमे प्रकट केंद्रीय जर्मनिक* तत्त्वकी शक्ति तथा अभी हालमे इसके मगियार-(Magyar) साझीदार की सक्रिय सहायतासे इसका पोपण हुआ। यदि इस प्रकारके साम्राज्यकी राजनीतिक सुविधाका अत हो जाय, यदि उसके निर्माणकारी अग अब इसका और समर्थन न करें और वे एक केंद्रविरोधी शक्तिके द्वारा बलपूर्वक परे हटा दिये जायँ और साथ ही यदि संसार भी इस सगठनके पक्षमे न हो तो अकेला भौतिक बल ही कृत्रिम एकताका एकमात्र साधन रह जाता है। वास्तवमे तभी एक नयी राजनीतिक सुविधाका जन्म हुआ जिसे आस्ट्रियाके जीवनने विघटनकी उपर्युक्त प्रवृत्तिसे कष्ट उठानेके बाद भी सहायता पहुँचायी। पर यह सुविधा उस जर्मनिक भावना द्वारा प्रेरित थी जिसने इसको शेप यूरोपके लिये असुविधामे परिणत कर दिया और इसको उन प्रधान निर्माण-कारी अगोकी स्वीकृतिसे वंचित कर दिया जो आस्ट्रियन सिद्धातसे बाहर जाकर अन्य संगठनोकी ओर आकृष्ट हो गये। उस समयसे आस्ट्रियन साम्राज्यका अस्तित्व खतरेमे पड गया; और वह किसी आतरिक आवश्यक-तापर नही बल्कि पहले तो अपने अतर्गत स्लाव (Slav) राष्ट्रोको कुचल देनेकी आस्ट्रियन-मगियारकी सम्मिलित शक्ति पर और पीछे यूरोपमे जर्मनी तथा जर्मनिक विचारकी अनवरत शक्ति और प्रभुता अर्थात् अकेले भौतिक बलपर निर्भर रहा। यद्यपि आस्ट्रियामे साम्राज्यीय एकताकी दुर्बलता विशेप रूपसे प्रत्यक्ष थी तथा उसकी शर्तें बहुत बढी-चढी थीं, तथापि ये शर्तें उन सब साम्राज्योके लिये, जो उस समय राष्ट्रीय इकाइयाँ नही थीं, समान थीं। अधिक दिनकी बात नही है, बहुतसे राजनीतिक विचारकोने देखा कि कम-से-कम इस बातकी प्रबल सभावना है कि जाति, भाषा और उद्गमके ऐसे निकट सबधोके होते हुए भी जिनसे कि ब्रिटिश उपनिवेशोको अपनी मातृभूमिसे जुड़े रहना चाहिये था, वे अपनेको ब्रिटिश साम्राज्यसे अलग कर लेंगे और इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य स्वयमेव भग हो जायगा। इसका कारण यह था कि उपनिवेश साम्राज्यीय एकताकी राजनीतिक सुविधाका उपभोग तो करते थे पर वे उसको यथेष्ट महत्त्व नही देते थे, असलमे राष्ट्रीय ऐक्यका कोई सजीव सिद्धात था ही नही। आस्ट्रेलिया और कनाडाके निवासियोने अपने आपको विस्तृत ब्रिटिश राष्ट्रीयताके अंग नही बल्कि नये पृथक् राष्ट्र समझना शुरू कर दिया था। अब दोनो दृष्टियोसे स्थिति बदल गयी है, एक अधिक व्यापक सूत्र का पता लग गया है, और इस समय ब्रिटिश साम्राज्य यथोचित मात्रामे पहलेसे अधिक शक्तिशाली है।

*ट्यूटन-जातीय-अनुवादिका

फिर भी यह पूछा जा सकता है कि जब नाम-रूप और प्रकार एक ही है तो इन राजनीतिक और वास्तविक इकाइयोमे इस प्रकारका भेद करना ही क्यों चाहिये ? पर भेद करना आवश्यक है क्योकि यह सच्चे और गंभीर राजनीतिक विज्ञानके लिये अत्यधिक उपयोगी है; इसके परिणाम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जब आस्ट्रिया जैसा अराष्ट्रीय साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है तो वह सदाके लिये नष्ट हो जाता है; क्योंकि उसमे कोई यथार्थ आंतरिक एकता नही होती, बाह्य एकताको पुनः प्राप्त करनेकी कोई सहज प्रवृत्ति भी नही होती, वह केवल एक राजनीतिक ढंगसे गढा हुआ समुदाय ही होता है। दूसरी ओर परिस्थितियो द्वारा खडित एक वास्तविक राष्ट्रीय एकता अपने एकत्वको पुन. प्राप्त करने तथा सुदृढ करनेकी प्रवृत्ति को सदा सुरक्षित रखेगी। ग्रीक साम्राज्यका भी वही हाल हुआ जो और सब साम्राज्योंका होता है। परंतु ग्रीक राष्ट्रने अनेक सदियों तक राजनीतिक दृष्टिसे सत्ताहीन रहनेके बाद भी अपना पृथक् अस्तित्व पुनः प्राप्त कर लिया है, कारण, इसने अपना पृथक् अहंभाव सुरक्षित रखा और इसलिये तुर्की-शासनके आवरणके नीचे भी, वास्तवमे, अपना अस्तित्व बनाये रखा। तुर्की-शासनके जुएके नीचे सब जातियोकी यही दशा हुई है, क्योकि इस शक्तिशाली आधिराज्यने, कई बातोमे काफी कठोर होते हुए भी, उनकी राष्ट्रीय विशेषताएँ मिटाने या उनके स्थानपर उस्मानी (Ottoman) राष्ट्रीयता स्थापित करनेका कभी प्रयत्न नही किया। ये राष्ट्र पुनः जीवित हो गये है और अपने आपको फिरसे उस हद तक खड़ा कर चुके या करने का प्रयत्न करे रहे है जहाँ तक कि इन्होने अपना यथार्थ राष्ट्रीय भाव सुरक्षित रखा है। सर्ब लोगो (Serbs) ने अपने राष्ट्रीय भावके अधीन वह सारा प्रदेश पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था और प्राप्त कर भी लिया है जिसमे कि वे रहते हैं या उनकी प्रधानता है। ग्रीस अपने मुख्य प्रदेश, द्वीपों तथा एशियाई उपनिवेशोमें अपने पुनर्निर्माणके लिये यत्नशील है, किंतु वह प्राचीन ग्रीसको अब वापिस नही ला सकता, क्योकि थ्रेस (Thrace) भी ग्रीककी अपेक्षा बलगर (Bulgar) अधिक है। कितनी शताब्दियोके बाद इटली भी बाह्य रूप मे फिर एक हो गया है। कारण, पहले की भाँति एक राज्य न रहनेपर भी इसने अपनी एकजातीयता कभी नही छोडी थी।

वास्तविक एकताका यह सत्य इतना बलशाली है कि जिन राष्ट्रोंने पहले समयमे कभी भी उस बाह्य एकत्वको नही प्राप्त किया—जिनके दैव, परिस्थिति और उनका अपना स्वभाव सब प्रतिकूल थे—जो राष्ट्र-विकेंद्रीय शक्तियोसे भरपूर थे तथा विदेशी आक्रमणो द्वारा अनायास ही दबा दिये

गये थे, उन्होने भी केद्रमुखी शक्तिको ही सदा विकसित किया और फलत. संगठित एकता प्राप्त कर ली। प्राचीन ग्रीस अपनी पार्थक्य-पूर्ण प्रवृत्तियो, अपने स्वय-सपूर्ण नगर या प्रादेशिक राज्यों, अपने छोटे, परस्परविरोधी स्वायत्त-शासनोसे ही चिपटा रहा; पर केद्रमुखी शक्ति सदा ही सघो, राज्य-सगठनो और स्पार्टा तथा एथेन्स जैसे आधिराज्योमे मूर्त्त रूपमे विद्यमान रही। अंतमे इसने अपने आपको मकदूनियाके शासनसे कुछ अधूरे और अस्थायी रूपमे तथा पीछे एक काफी आश्चर्यजनक विकास-गतिसे पूर्वी रोमन जगत्के एक ग्रीक और विजेनटाइन (Byzantine) साम्राज्यमे विकसित हो जानेके द्वारा चरितार्थ कर लिया। यह शक्ति वर्तमान ग्रीसमे पुन जाग्रत् हो गयी है। और हमने अपने समयमे जर्मनीको, जो प्राचीन कालसे सदा ही असंगठित रहा है, अतमे एकत्वकी अपनी सहज भावनाको अनिष्टकारी रूपमे उन्नत करते देखा है। यह भावना होहैनस्टोलर्न्स (Hohenzallerns) के साम्राज्यमे उग्ररूपसे प्रकट हुई और उसके पतनके वाद भी सघीय गणराज्य में दृढ वनी रही। जो लोग केवल वाह्य घटनाओके रुख का ही नही वल्कि शक्तियोंकी क्रियाका भी अध्ययन करते है उनको इस वातसे जरा भी आश्चर्य नही होगा यदि युद्धका एक सुदूर परिणाम यह हो कि एक जर्मनिक तत्त्व, आस्ट्रियन-जर्मन तत्त्व, जो अभी तक पृथक् है जर्मनिक समग्रतामे और संभवतः प्रशियन प्रभावक्षेत्र या होहैनस्टोलर्न साम्राज्यसे भिन्न किसी अन्य रूपमें सम्मिलित हो जाय।* इन दो ऐतिहासिक दृष्टातोमें तथा और वहुतसोमे जैसे सैक्सन (Saxon) इग्लैड और मध्यकालीन फ्रासके एकीकरण तथा अमरीकाके सयुक्त राज्यके निर्माणमे यह वास्तविक एकता या मनोवैज्ञानिक रूपसे विशिष्ट इकाई ही पहले तो अज्ञानपूर्वक अपनी सत्ताकी अवचेतन आवश्यकताके द्वारा तथा वादमे राजनीतिक एकताकी भावनाके प्रति एकाएक या धीरे-धीरे सचेतन होकर एक अनिवार्य वाह्य एकीकरण की ओर प्रवृत्त हुई। यह एक विशिष्ट प्रकारकी समुदाय-आत्मा है जो आतरिक आवश्यकताके द्वारा चालित होती है और वाह्य परिस्थितियोका उपयोग अपने लिये संगठित शरीर वनानेमे करती है।

पर इतिहासमे सवसे अधिक आश्चर्यजनक दृष्टान्त भारतवर्षके विकासका है। और कही भी केद्रविरोधी शक्तियाँ इतनी प्रवल, इतनी अधिक, जटिल

---

*यह संभावना कुछ समयके लिये पूर्ण तो हो गयी पर उन साधनोंके द्वारा और उन परिस्थितियोंके वीच जिन्होने आस्ट्रियन राष्ट्रीय भावना तथा पृथक् राष्ट्रीय अस्तित्वका पुनर्जीवन अनिवार्य कर दिया।

वनानेकी आवश्यकता तथा विवेकपूर्ण स्वार्थ-भावसे प्रेरित होकर यह जान सकते है कि राष्ट्रीय स्वायत्तताकी स्वीकृति राष्ट्रीयताकी अभीतक जीवंत सहजप्रेरणाके लिये एक विचारपूर्ण और आवश्यक रियायत है एवं उनकी साम्राज्यीय शक्ति तथा एकताको निर्वल करनेके स्थानपर उसे सवल करनेके लिये प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रकार जव कि स्वतंत्र राष्ट्रोका संघ वनाना अभी असंभव है, ऐसे सघवद्ध साम्राज्यों और स्वतंत्र राष्ट्रोकी कोई प्रणाली वनाना, जिनमे इतना निकट साहचर्य हो गया हो जैसा कि पहले कभी देखनेमे नही आया, विल्कुल ही असभव नही है। इस उपायसे या किन्ही अन्य उपायोसे मनुष्यजातिके लिये किसी-न-किसी प्रकारकी राजनीतिक एकता निकट या दूर भविष्यमे प्राप्त की जा सकती है।*

इस प्रकारके निकटतर साहचर्यको लानेके लिये युद्धने कई सुझाव उपस्थित किये, पर सामान्यतया ये सव यूरोपके अतर्राष्ट्रीय संवधोमे सुव्यवस्था स्थापित करनेतक ही सीमित रहे। इनमेसे एक सुझाव यह था कि अतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्मित और सव राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत एक अधिक कठोर अतर्राष्ट्रीय विधानके द्वारा युद्धको विल्कुल रोक दिया जाय, इस विधानका सव राष्ट्रोके द्वारा किसी भी अपराधीके विरुद्ध प्रयोग किया जायगा। परतु जवतक इससे अगले प्रभावपूर्ण कदम न उठाये जायँगे यह हल एक स्वप्नमात्र ही रहेगा; क्योकि न्यायालय द्वारा निर्देशित विधान या तो कुछ प्रवलतर मित्रशक्तियो द्वारा, उदाहरणार्थ, शेष यूरोपपर प्रभुत्व रखनेवाले विजयी मित्र-राष्ट्रोकी गुटवंदी द्वारा, या समस्त यूरोपीय शक्तियोके एक मडल अथवा यूरोपके राज्य या यूरोपीय संघके किसी और रूप द्वारा लागू करना पडेगा। महान् शक्तियोकी प्रभुतापूर्ण मैत्री केवल मैटरनिच (Metternich) प्रणालीकी, सिद्धात रूपमे, नकल होगी और कुछ समय वीतनेके वाद वह अनिवार्य रूपसे समाप्त भी हो जायगी, परन्तु, जैसा अनुभवसे हमे ज्ञात हो चुका है, यूरोपके मंडलका यह अर्थ होना चाहिये कि विरोधी समुदाय एक अनिश्चित समझौतेको वनाये रखनेके लिये आतुर भावमे प्रयत्न करे। यह प्रयत्न नये सघर्षो और नये विरोधोको

*हिटलरके प्रकट होने तथा जर्मनी द्वारा विश्व-प्रभुत्वके विशाल प्रयत्नने अपनी सफलता द्वारा—जो कि विरोधाभास है—इसमें सहायता पहुंचाई है और उसके विरुद्ध प्रतिक्रियाने संसारकी अवस्थाओंको पूर्णतया वदल दिया है। यूरोपके संयुक्त राज्यका निर्माण अव क्रियात्मक संभावना वन गया है और इसने आत्म-चरितार्थताकी ओर अग्रसर होना आरंभ कर दिया है।

स्थगित तो कर सकता है, पर अतिम रूपसे उन्हे रोक नही सकता। ऐसी अधूरी प्रणालियोमे विधानका पालन केवल तभीतक होगा जवतक उसकी आवश्यकता रहेगी, जवतक वे शक्तियाँ जो दूसरों द्वारा अस्वीकृत नये परिवर्तन और पुनर्व्यवस्थाएँ अपनेमे लाना चाहती है इस समयको प्रतिरोधके लिये उपयुक्त ही नही समझ लेगी। राप्ट्रके अंदर विधान केवल इसलिये सुरक्षित रहता है कि वहाँ एक ऐसी स्वीकृत सत्ता होती है जो उसे निर्धारित करने तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन करनेकी शक्ति रखती है; उसे इतना अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपने कानूनके भग करनेवालोको दड दे सके। अंतर्राप्ट्रीय या अतर्यूरोपीय विधान यदि शुद्ध नैतिक शक्तिसे किसी और वडी शक्तिका प्रयोग करना चाहता है तो उसे ये सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिये, क्योकि यह नैतिक शक्ति उन लोगो द्वारा व्यर्थ की जा सकती है जो इसकी अवज्ञा करनेमे काफी समर्थ है तथा जो इसे भग करनेमे अपना लाभ समझते है। अतएव यदि नयी व्यवस्थाके इन प्रस्तावोके मूल-विचारको क्रियात्मक रूपमे सफल वनाना हो तो किसी-न-किसी प्रकारके यूरोपीय संघका निर्माण चाहे वह कितना ही ढीला-ढाला क्यो न हो आवश्यक हो जाता है और यदि यह एक वार वनना आरंभ हो जाय तो ऐसे संघको आवश्यक रूपसे उत्तरोत्तर दृढ होते जाना चाहिये तथा एक यूरोपीय संयुक्त राज्यकी प्रणालीका अधिकाधिक स्वरूप वनना चाहिये।

यह तो केवल अनुभव वता सकता है कि ऐसी यूरोपीय एकता चरितार्थ की जा सकती है या नही और यदि यह चरितार्थ हो भी जाय तो विघटनकी उन अनेक शक्तियो और कलहके उन अनेक कारणोके विरोधमे भी जो इसे नष्ट करनेतक इसकी परीक्षा लेते रहेगे इसे स्थिर तथा पूर्ण वनाया जा सकता है या नही। पर यह प्रत्यक्ष है कि मानवी अहंभावकी वर्तमान अवस्थामे यदि यह चरितार्थ कर ली जाय तो यह एक ऐसा महान् शक्तिशाली यंत्र वन जायगी जिसके द्वारा वे राष्ट्र, जो आजकल मानवी प्रगतिमे सवसे आगे है, संसारके शेप राष्ट्रोपर अपना प्रभुत्व जमा लेगे तथा उनसे अनुचित लाभ उठाना चाहेगे। साथ ही इसके विरोधमे एशियाई एकता और अमरीकन एकताके विचार भी अनिवार्य रूपसे उठ खडे होगे और जहाँ इस प्रकारके महाद्वीपीय समुदाय आजकी अपेक्षाकृत छोटी राष्ट्रीय एकताओका स्थान लेकर समस्त मानवजातिके अंतिम एकीकरणकी ओर अग्रसर हो रहे होगे, वहाँ इनके निर्माणके परिणामस्वरूप ऐसी और इतनी विस्तृत क्रातियाँ भी आयँगी जिनके आगे आजकलकी विपत्ति नगण्य प्रतीत होने लगेगी तथा जिनके कारण मानवजातिकी आशाएँ पूरी होनेके स्थानपर छिन्न-भिन्न हो

जायँगी और अंतमें बिल्कुल ही नष्ट हो जायँगी। परन्तु यूरोपीय संयुक्त राज्यके सिद्धांतपर मुख्य आक्षेप यह है कि मनुष्यजातिकी सामान्य वृद्धिने अब महाद्वीपीय विभेदोंसे परे जाने और उन्हें मानवताकी व्यापक भावनाके अधीन करनेका प्रयत्न आरंभ कर दिया है; इसलिये महाद्वीपीय आधारपर किया हुआ विभाजन इस दृष्टिकोणसे एक अत्यधिक गंभीर प्रकारका प्रति-क्रियात्मक प्रयत्न होगा जिसके परिणाम मानव-प्रगतिके लिये अत्यन्त गंभीर हो सकते हैं।

यूरोप वास्तवमें कुछ ऐसी विचित्र-सी अवस्थामें स्थित है कि वह सर्व-यूरोपीय विचारके लिये परिपक्व भी हो गया है और साथ ही उसे लाँघकर आगे बढ़नेकी आवश्यकता भी वह अनुभव करता है। अभी बहुत दिन नहीं हुए, पिछले यूरोपीय संघर्षके विषयपर प्रकट किये गये कुछ विचारोंने इन दो प्रवृत्तियोंके विरोधका विचित्र ढंगसे निदर्शन किया है। एक विचार यह उपस्थित किया गया था कि इस युद्धमें जर्मनीके अपराधका कारण राष्ट्रके अहंमूलक विचारकी अति और यूरोपके उस बृहत्तर विचारकी अवहेलना था जिसकी अधीनता अब राष्ट्र-विचारको स्वीकार कर लेनी चाहिये। यूरोपके संपूर्ण जीवनको अब एक ऐसी एकतामें आबद्ध हो जाना चाहिये जो सबको अपने अंदर समेट ले; उसीके भीतर सर्वोपरि स्थान मिले एवं राष्ट्रका अहंभाव इस अपेक्षाकृत बड़े अहंभावके सुगठित अंगके ही रूपमें अपना अस्तित्व रखे। क्रियात्मक रूपमें यह कई दशाब्दियोंके बाद नीट्शे (Nietzsche)के विचार का ही समर्थन है; वह इस बातपर बल देता था कि राष्ट्रीयता तथा युद्धके विचारोंका अब जमाना नहीं रहा और विचारशील मनुष्योंका आदर्श अब अच्छे देशभक्त बनना नहीं, बल्कि अच्छे यूरोपियन बनना होना चाहिये। पर तुरन्त ही यह प्रश्न उठा कि विश्व-राजनीतिमें सब अमेरिकाके बढ़ते हुए महत्वका क्या होगा? जापान और चीनका तथा एशियाके जीवनमें जो नयी जागृति हो रही है उसका क्या अर्थ रह जायगा? इसपर लेखकको अपना पहला विचार छोड़ना पड़ा तथा उसे यह समझना पड़ा कि यूरोपसे उसका आशय यूरोप नहीं, वरन् वे सब राष्ट्र हैं जिन्होंने यूरोपीय सभ्यताके सिद्धांतोंको अपनी राज्य-पद्धति और सामाजिक संगठनके आधार-रूप मान लिया है। इस अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक विचारका एक प्रत्यक्ष या कम-से-कम प्रतीयमान लाभ अवश्य है कि वह इसमें अमेरिका और जापानका भी समावेश कर लेता है तथा इस प्रकार इस प्रस्तावित ऐक्यके घेरेमें उन सब राष्ट्रोंको स्वीकार कर लेता है जो वस्तुत. स्वतंत्र या प्रबल हैं, साथ ही वह यह

आशा भी दिलाता है कि अन्य राष्ट्र भी जब जापानके उत्साही ढगसे या किसी और प्रकारसे यह प्रमाणित कर दे कि वे यूरोपीय स्तरतक पहुँच गये है तो वे भी इस दायरेमे आ सकेगे।

वास्तवमे यूरोप अपने विचारोमे अभीतक शेप जगत्से बहुत अधिक भिन्न है, जैसा कि यूरोपमे टर्कीके बराबर बने रहनेके प्रति बार-बारके रोषसे तथा यूरोपीय लोगोपर एशियाके लोगोकी इस प्रभुताको समाप्त कर देनेकी इच्छासे प्रदर्शित होता है। फिर भी यह सत्य है कि यूरोप अमेरिका और एशियाके साथ बुरी तरहसे उलझा हुआ है। कुछ यूरोपीय राष्ट्रोंके अमेरिकामे उपनिवेश है, साथ ही एशियामे जहाँ केवल जापान यूरोपके प्रभावक्षेत्रसे बाहर है अथवा उत्तरी अफ्रीकामे जो सास्कृतिक रूपमे एशियाके साथ एक है सभी राष्ट्रोके अपने-अपने स्वत्व तथा महत्त्वाकाक्षाएँ हैं। यूरोपके सयुक्तराज्यका अर्थ तब स्वतत्र यूरोपीय राष्ट्रोका एक ऐसा संघ होगा जो अर्ध-अधीन एशियाके ऊपर अपना प्रभुत्व रखता है तथा अमेरिकाके कुछ भागोपर जिसका अधिकार है; पर वहाँ उसे वे पडोसी राष्ट्र चैन नही लेने देगे जो अभीतक स्वतत्र है, जो उसके इस प्रकारके उग्र अनधिकार-प्रवेशसे निश्चय ही पीडित, त्रस्त और आच्छादित हो रहे हैं। अमेरिकामे इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि लैटिन केद्र तथा दक्षिणी भाग और अग्रेजी बोलनेवाला उत्तरी भाग एक-दूसरेके अधिक निकट आ जायँगे तथा मनरो (*Munro*) सिद्धातपर बहुत अधिक बल दिया जायगा; इसके जो परिणाम होगे उनके बारेमे पहलेसे कुछ कहना कठिन है। उधर एशियामें इस स्थितिका अत इस प्रकार हो सकता है कि या तो बचे हुए स्वतत्र एशियाई राज्य लुप्त हो जायँ अथवा एशिया इतना जाग्रत् हो जाय कि यूरोप उसे छोडकर चला जाय। ये सब बातें मानव-विकासकी पुरानी पद्धतिको और अधिक लबा तथा विश्व-बधुत्वकी उन नई अवस्थाओको व्यर्थ कर देगी जो आधुनिक सस्कृति और विज्ञानने उत्पन्न की है, पर यदि पश्चिममे राष्ट्र सिद्धातको सामान्य मानवताकी अधिक व्यापक चेतनाके स्थानपर यूरोप-सिद्धात अर्थात् महाद्वीपीय-सिद्धातमे विलीन होना है तो ऐसी घटनाएँ होना अनिवार्य है।

इसलिये यदि वर्तमान उथल-पुथलके परिणामस्वरूप किसी नयी अति-राष्ट्रीय व्यवस्थाको अभी या बादमे विकसित होना है तो उसका रूप निश्चित ही एक ऐसे संघका होगा जो एशिया, अफ्रीका और अमेरिका तथा साथ ही यूरोपको अपनेमे मिलायगा; वह स्वभावत. अतर्राष्ट्रीय जीवनका एक ऐसा सगठन होगा जो स्वीडन, नार्वे, डैनमार्क, सयुक्तराज्य,

लैटिन गण-राज्य जैसे स्वतंत्र राष्ट्रो तथा साथ ही कई ऐसे साम्राज्यीय और उपनिवेश वनानेवाले राष्ट्रो द्वारा निर्मित होगा जैसे कि यूरोपमें अधिकतर राष्ट्र है। ये पिछले प्रकारके राष्ट्र—जैसे कि वे आज है—या तो अपने-आपमे स्वतंत्र, पर उन अधीनस्थ राष्ट्रोके प्रभु रहेगे जो, समयकी प्रगतिके साथ-साथ, अपने ऊपर रखे हुए जुएके प्रति अधिकाधिक असहिष्णु होते चले जायंगे और या फिर नैतिक प्रगति द्वारा, जिसका चरितार्थ होना अभी वहुत दूर की वात है, कुछ अशमे स्वतत्र सघीय साम्राज्योके केंद्र और कुछमे ऐसे राष्ट्र वन जायँगे जो उन पिछड़ी हुई और असंस्कृत जातियोका तवतक संरक्षण-भार उठायेगे जवतक वे स्वशासनके योग्य नही हो जाती। संयुक्तराज्यका कहना भी कुछ इसी ढंगका है कि फिलीपाइनपर उसका अधिकार कुछ समयके लिये है और इसी प्रकारका है। पहली अवस्थामे एकता, व्यवस्था और प्रचलित सामान्य विधान जीवित रहेगे, तथा आशिक रूपमे वे अन्यायकी विशाल पद्धतिपर आधारित होगे; उन्हे प्रकृतिके उन विद्रोहो, विप्लवो तथा महान् प्रतिरोधोंका सामना करना पडेगा जिनके द्वारा वह अतमें अन्यायोके विरोधमें मानवी भावनाको अतिम रूपसे उचित ठहराती है; इन अन्यायोंको वह मानव-विकासके मार्गमें अनिवार्य रूपसे आनेवाली घटनाएँ समझकर ही कुछ समयके लिये सहन करती है। दूसरी अवस्थामे यह संभावना अवश्य है कि यह नयी व्यवस्था, चाहे वह अपने प्रारंभिक रूपमें स्वतंत्र मानव-समुदायोके स्वतंत्र संघके अंतिम आदर्शसे कितनी भी दूर क्यो न हो, शांतिपूर्वक और जातिकी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नतिके स्वाभाविक विकसनके द्वारा एक ऐसे सुरक्षित, न्याययुक्त और स्वस्थ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आधारकी ओर ले जा सकती है जो मनुष्यजातिको संभवतः इस योग्य वना देगा कि वह तुच्छ चिंताओमें व्यस्त न रहकर अपनी उच्चतर सत्ताका विकास आरंभ कर दे क्योकि यह उच्च सत्ता ही उसकी गुप्त भवितव्यताका श्रेष्ठतर भाग है अथवा यदि ऐसा न हो तो कौन जानता है कि मानव-जातिमे प्रकृतिका यह लंबा प्रयोग सफल होगा या असफल; फिर भी यह कम-से-कम हमारे भविष्यकी वह उच्चतम संभावना तो है जिसकी मानव-मन कल्पना कर सकता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

छोटी स्वतंत्र इकाई और बृहत्तर केन्द्रित इकाई

यदि हम राजनीतिक, प्रशासनीय और आर्थिक प्रणालीके आधारपर मनुष्यजातिके एकीकरणकी संभावनाओपर विचार करे तो हम देखेगे कि एक विशेष प्रकारकी एकता या उसकी ओर उठाया हुआ पहला कदम केवल सभव ही नही प्रतीत होता, वरन् जातिकी आवश्यकता और उसकी आधार-भूत भावना थोडे-वहुत अनिवार्य रूपमे उस एकताकी माँग भी करती है। यह भावना अधिकांश रूपमे पारस्परिक ज्ञान तथा संचार-साधनोकी वृद्धिके कारण परंतु आंशिक रूपमे जातिके प्रगतिशील मनमे अधिक व्यापक और स्वतंत्र बौद्धिक आदर्शो तथा भावप्रधान समवेदनाओके उन्नत होनेके कारण उत्पन्न हुई है। इस आवश्यकताका अनुभव भी कुछ तो इन आदर्शो और समवेदनाओको पूरा करनेकी इच्छाके कारण तथा कुछ उन आर्थिक और अन्य भौतिक परिवर्तनोके कारण होता है जो विभाजित राष्ट्रीय जीवन, युद्ध, व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धाके और इनके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली अरक्षा तथा जटिल और सुभेद्य आधुनिक सामाजिक सगठनपर आनेवाली विपत्तिके परिणामोको आर्थिक और राजनीतिक मानवप्राणी और आदर्शवादी विचारक दोनोके लिये अधिकाधिक दु.खदायी वना देते है। कुछ अशमे यह नयी प्रवृत्ति सफल राष्ट्रोकी शेप जगत्‌को निर्विघ्न रूपसे हस्तगत करने, उसका उपभोग करने तथा उससे अनुचित लाभ उठानेकी इच्छासे भी उत्पन्न हुई है और इस इच्छाको वे अपनी प्रतिद्वंद्विताओ तथा प्रतियोगिताओसे उत्पन्न खतरेको उठाये विना किसी पारस्परिक सुखद सद्‌भाव और समझौतेके द्वारा पूर्ण करना चाहते है; इस प्रवृत्तिकी वास्तविक शक्ति उसके बौद्धिक, भावुक और आदर्शवादी अगोमें है। इसके आर्थिक कारण कुछ अंशमे स्थायी है और इसलिये शक्ति और निश्चित सफलताके तत्त्व है, और जिस अंशमे वे कृत्रिम तथा अस्थायी है उस अंशमे अरक्षा और दुर्वलताको उत्पन्न करते है। राज-नीतिक आशय इस मिश्रणके निम्नतर भाग है, यहाँतक कि इनकी उपस्थिति सारे परिणामको विगाड सकती है तथा अतमे उस एकताको जो प्रारभिक रूपमे प्राप्त की जा चुकी है निश्चित रूपसे उलट-पलट या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है।

फिर भी अपेक्षाकृत निकट या अधिक सुदूर भविष्यमें कोई-न-कोई परिणाम निकल सकता है। अव हम देख सकते हैं कि इसे यदि चरितार्थ होना है तो किन अवस्थाओमें होना है—शुरू-शुरूमे यह अत्यन्त प्रवल सामान्य आवश्यकताओ अर्थात् व्यापार, शाति और युद्धकी व्यवस्थाओ तथा झगडोके सामान्य निर्णय और संसारको सुरक्षित रखनेकी व्यवस्थाओके लिये एक प्रकारके समझौते और प्रारभिक मेल-मिलापद्वारा चरितार्थ हो सकती है। ये सव स्थूल प्रारभिक व्यवस्थाएँ यदि एक वार स्वीकार कर ली जायँ तो स्वभावतः ही वे प्रधान विचार और सहज आवश्यकताके दवावसे एक अधिक प्रगाढ़ एकताका रूप धारण कर लेगी; यह भी हो सकता है कि अतमे जाकर वे एक ऐसे सर्व-सामान्य सर्वोच्च राज्यके रूपमे विकसित हो जायँ जो तवतक टिक सकता है जवतक स्थापित प्रणालीके दोषो और इसके अस्तित्वके विरोधी अन्य आदर्शो और प्रवृत्तियोके उदयके परिणामस्वरूप इसमे एक नया आमूल परिवर्तन ही नही आ जाता या यह पूरी तरहसे अपने स्वाभाविक तत्त्वो और अगोमे खंडित ही नही हो जाता। हमने यह भी देख लिया है कि इस प्रकारकी एकता वर्तमान जगत्की ऐसी अवस्थाओंके आधारपर प्राप्त की जा सकती है जो कुछ अंशतक अवश्यंभावी परिवर्तनोसे वदल दी गयी है—उन अंतर्राष्ट्रीय परिवर्तनोसे, जो एक नया मौलिक सिद्धात चलानेके स्थानपर केवल पुनर्व्यवस्थामात्र करते प्रतीत होते है और राष्ट्रोके भीतर होनेवाले उन सामाजिक परिवर्तनोसे, जिनका प्रभाव दूरतक पहुँचता है। अर्थात्, यह एकता उसी प्रकारकी होगी जैसी वर्तमान समयके स्वतंत्र राष्ट्रो और उपनिवेश वनानेवाले साम्राज्योके बीचमे होती है पर इसके साथ समाजकी एक ऐसी आतरिक व्यवस्था तथा प्रशासनीय योजना होगी जो वेगसे राज्यके कठोर समाजवाद और समानताकी ओर वढ़ेगी; इनसे स्त्री-जाति और श्रमिकोका विशेप हित होगा क्योकि ये इस समयकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। निश्चय ही यह कोई भी विश्वासपूर्वक पहलेसे नही कह सकता कि इस समयकी प्रवृत्ति संपूर्ण भविष्यपर सफलतापूर्वक अपना अधिकार जमा लेगी। हम नही जानते कि इस महान् मानवी नाटकके कौन-कौन-से आश्चर्य, पुराने राष्ट्र-विचारकी कौनसी उद्दाम तरग, क्या-क्या संघर्ष, कौन-कौन-सी असफलताएँ, नयी समाजिक प्रवृत्तियोके कार्यान्वित होनेमे कौन-कौन-से अप्रत्याशित परिणाम, बोझिल और यात्रिक राज्य-समष्टिवादके विरोधमे मानवी भावनाका कौनसा विद्रोह, दार्शनिक अराजकतावादके ऐसे सिद्धांतकी कौनसी प्रगति और शक्ति जिसका कार्य ही मनुष्यकी वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतंत्र आत्म-परिपूर्णतासंबंधी सुदृढ आकांक्षाकी परिपुष्टि करना है, कौन-कौन-से धार्मिक और आध्या-

त्मिक महान् परिवर्तन मनुष्यजातिकी इस वर्तमान गतिविधिमे हस्तक्षेप नही करेंगे और इसे एक और प्रकारकी घटनामे नही वदल देगे। मानव मन अभी प्रकाश या उस निश्चित विज्ञानतक नही पहुँचा है जिसके द्वारा वह अगले दिनके विषयमे भी कुछ ठीक-ठीक बता सके।

फिर भी, हम यह मान लेते हैं कि इस प्रकारकी कोई भी अप्रत्याशित वात नही होगी और तव मनुष्यजातिकी किसी-न-किसी प्रकारकी राजनीतिक एकता चरितार्थ की जा सकेगी। पर एक प्रश्न फिर भी बाकी रह जाता है कि क्या यह वाछनीय है कि यह एकता इस प्रकारसे और अभी प्राप्त की जानी चाहिये और ऐसा हो तो किन परिस्थितियोमे तथा किन आवश्यक शर्तोंके साथ इसे प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि इनके बिना जिस एकताकी प्राप्ति होगी वह मानवजातिके पुराने और अपूर्ण ऐक्यो ही के समान अस्थायी होगी। पहले हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि जिन बृहत्तर एकताओको मनुष्यजाति पूर्वकालमे प्राप्त कर चुकी है उन्हे उसने किस मूल्यपर प्राप्त किया था। निकट भूतकालने वस्तुत: हमारे लिये राष्ट्र वनाया, फिर राष्ट्रोके एक स्वाभाविक समजातीय साम्राज्यका निर्माण किया जो जाति और संस्कृतिमे समान थे अथवा जो भौगोलिक आवश्यकता और पारस्परिक आकर्षणद्वारा एक हो गये थे; उसने एक ऐसे कृत्रिम विपमजातीय साम्राज्यकी भी स्थापना की जो विजयद्वारा प्राप्त किया गया था तथा जिसे वल-प्रयोग, कानूनके जुए तथा व्यापारिक और सैनिक उपनिवेशीकरणद्वारा सुरक्षित रखा गया था, किंतु ये सव अभीतक सच्ची मनोवैज्ञानिक एकताओपर आधारित नही थे। समष्टिकरणके इन सिद्धान्तोमेसे प्रत्येकने ही समूची मानवजातिको कोई-न-कोई वास्तविक लाभ या उन्नतिकी सभावना प्रदान की है पर प्रत्येकके ही साथ उसके अपने अस्थायी या स्वभावगत दोष रहे हैं और प्रत्येकने मानवताके पूर्ण आदर्शको किसी-न-किसी प्रकारकी चोट पहुँचायी है।

एक नयी एकताका निर्माण जव वाह्य और यात्रिक प्रक्रियाओके द्वारा आगे वढता है, तो इससे पहले कि इकाई अपने आतरिक जीवनके नये और स्वतत्र विस्तारका फिरसे उपभोग करे, उसे, वास्तवमे, साधारणतया और प्राय: ही किसी क्रियात्मक आवश्यकताके कारण आंतरिक संकोचकी प्रक्रियामेसे गुजरना पडता है, क्योकि उसकी पहली आवश्यकता और सहज-प्रेरणा उसके अपने अस्तित्वको वनाने तथा सुरक्षित रखनेकी होती है। अपनी एकताको क्रियान्वित करना उसकी सवसे प्रवल प्रेरणा है और उस उच्चतम आवश्यकताके आगे उसे विभिन्नता, सामंजस्यपूर्ण जटिलता, विविध

साधनोंकी समृद्धि तथा आतरिक संबंधोकी स्वतंत्रताका बलिदान करना पडता है, क्योंकि ऐसा किये विना जीवनकी सच्ची पूर्णता प्राप्त करना असभव है। शक्तिशाली और दृढ एकता लानेके लिये उसे एक अति प्रवल केंद्र या केंद्रित राज्य-सत्ताकी स्थापना करनी पडेगी, चाहे वह सत्ता राजाकी हो या सैनिक कुलीन-तंत्र अथवा धनिक-वर्गकी या फिर किसी और शासन-पद्धतिकी हो। व्यक्ति, जनपद, नगर, प्रदेश या किसी अन्य छोटी इकाईकी स्वाधीनता और स्वतंत्र जीवनको इस केंद्र या सत्ताके अधीन होना पडेगा तथा इसपर अपने-आपको बलिदान कर देना होगा। इसके साथ ही समाजकी एक दृढ रूपमे यंत्रीकृत तथा कठोर अवस्थाके निर्माणकी प्रवृत्ति भी पायी जाती है; यह अवस्था कभी-कभी भिन्न-भिन्न वर्गो या श्रेणियोकी ऐसी क्रमिक व्यवस्था होगी जिसमें निम्न वर्गको हीन स्थान और कर्तव्य दिया जायगा जिसके फलस्वरूप उसे उच्च वर्गसे अधिक सकुचित जीवन विताना पडेगा। यूरोपमे राजा, पुरोहित, कुलीनतंत्र, मध्यवर्ग, किसान तथा सेवक-वर्गकी ऐसी क्रमिक वर्गव्यवस्था और भारतवर्पमें कठोर वर्णव्यवस्था इसके उदाहरण है। पहलीने यूरोपमे नगर और उपजातिके समृद्ध और स्वतंत्र जीवनका तथा दूसरीने भारतवर्पमे उत्साही आर्य-वर्णोके स्वच्छद और स्वाभाविक जीवनका स्थान ले लिया था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम पहले देख भी चुके है, पूर्ण ओजस्वी सामान्य जीवनमे सवका या अधिक लोगोका उत्साहपूर्ण और सक्रिय भाग लेना—जिससे पहले समयकी छोटी परतु स्वतंत्र जातियोने अत्यधिक लाभ उठाया था—अपेक्षाकृत वड़े समुदायमे कही अधिक कठिन है, पहले तो यह असभव ही है। इसके स्थानपर अव किसी एक प्रवल केंद्र या अधिक-से-अधिक एक शासक और सचालक वर्ग या वर्गोमे जीवन-शक्ति केंद्रित हो गयी है, जव कि समाजका एक वडा भाग एक प्रकारकी जडतामे पडा हुआ है और वह केवल उस जीवन-शक्तिके न्यूनतम और अप्रत्यक्ष अंशका उतना ही उपभोग करता है जितना कि वह ऊपरसे छनकर आ सकती है तथा नीचेके स्थूलतर और अधिक दीन और संकीर्ण जीवनको अप्रत्यक्ष रूपमे प्रभावित कर सकती है। यह कम-से-कम वह तथ्य है जिसे हम मानव-प्रगतिके उस ऐतिहासिक कालमे देखते है जो आधुनिक जगत्से पहलेका काल था तथा जिसने इसका निर्माण किया था। जो नवीन राजनीतिक और सामाजिक रूप इसका स्थान ले रहे है या ले लेंगे उनके ठोस निर्माण तथा एकत्रीकरणके लिये केंद्रीकारक और रचनात्मक कठोरताकी आवश्यकता भी भविष्यमे अनुभव हो सकती है।

ऐसे छोटे मानव-समुदाय, जिनमे सव लोग सरलतापूर्वक सक्रिय भाग ले

सकते है, जिनमे विचारो और चेष्टाओको शीघ्रता और स्पष्टतासे अनुभव, कार्यान्वित तथा किसी बृहत् और जटिल सगठनकी आवश्यकताके बिना ही रूप प्रदान किया जा सकता है, स्वाभाविक रूपमे, आत्मरक्षाकी सर्व-प्रमुख आवश्यकतासे मुक्त होते ही, स्वतन्त्रताकी ओर झुक जाते हैं। इस प्रकारके वातावरणमे स्वेच्छाचारी राजतंत्र या निरंकुश कुलीनतत्व, अचूक पोप-शासन या धर्मान्ध पुरोहित-शासन जैसी प्रणालियाँ सरलतापूर्वक नही पनप सकती। जनसाधारणसे तथा व्यक्तियोकी नित्यप्रतिकी आलोचनाके क्षेत्रसे दूर रहनेका वह लाभ उन्हे नही प्राप्त होता जिसपर उनकी प्रतिष्ठा निर्भर करती है। विशाल समुदायो तथा विस्तृत प्रदेशोमे एकरूपताकी जिस अनिवार्य आवश्यकताको वे अन्यत्र उचित ठहराते है उसकी जरूरत यहाँ नही पडती। अत रोममे हम देखते हैं कि राजतन्त्रीय शासन-पद्धति अपने-आपको सुरक्षित नही रख सकी और ग्रीसमे यह एक ऐसी अस्वाभाविक पद्धति मानी गयी जिसने कुछ कालके लिये जवर्दस्ती अपना अधिकार जमा लिया था, उधर शासनका कुलीनतन्त्रीय रूप, यद्यपि वह अधिक शक्तिशाली था, स्पार्टा जैसे शुद्ध सैनिक जन-समुदायको छोडकर, और कही न तो उच्च और अनन्य सर्वोच्चता प्राप्त कर सका और न ही स्थायी रूपमे टिक सका। एक ऐसी जनतन्त्रीय स्वतन्त्रताकी प्रवृत्ति, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति राज्यकी सास्कृतिक संस्थाओ तथा नागरिक जीवनमे स्वाभाविक रूपसे भाग लेता हो, विधान और नीतिके निर्धारणमे समान रूपसे अपना मत दे सकता हो तथा उनकी कार्यान्वितिमे उतना भाग तो ले ही सकता हो जितना कि उसके नागरिकताके अधिकार तथा उसकी वैयक्तिक योग्यताद्वारा उसे मिल सकता है, नगर-राज्यकी भावना तथा उसके रूपमे प्रारंभसे ही विद्यमान थी। रोममे भी यह प्रवृत्ति उपस्थित थी पर वह ग्रीसकी भाति न तो इतने वेगसे उन्नत हो सकी और न ही पूर्ण रूपसे चरितार्थ हुई; कारण, वहाँके सैनिक तथा विजयी राज्यको अपनी विदेशी नीति और सैनिक कार्य-व्यवहारके संचालनके लिये स्वेच्छाचारी शासक अथवा एक छोटे कुलीनतन्त्रीय वर्गकी आवश्यकता थी; परतु उस अवस्थामे भी जनतन्त्रीय तत्त्व सदा विद्यमान रहा और जनतन्त्रीय प्रवृत्ति इतनी प्रवल रही कि रोमकी आत्मरक्षा और उसके विस्तारके सतत संघर्षके बीचमे भी वह पूर्व-ऐतिहासिक कालसे कार्य करती तथा बढ़ती रही। इसकी गति तभी रुकी जव रोमको भूमध्यसागरके साम्राज्यके लिये कारथाजके साथ युद्ध तथा ऐसे ही कई और महान् सघर्ष करने पडे। भारतवर्षमे प्रारभिक जन-समुदाय स्वतंत्र समाज थे, इनमे राजा केवल सेनाका प्रधान या नगरका मुखिया होता था; बुद्धके समयमें

भी जनतंत्रीय तत्त्व पूरी तरहसे विद्यमान था, चंद्रगुप्त और मेगस्थनीजके समयमें यह छोटे राज्योमे उन दिनो भी जीवित रहा जव कि नौकरशाही ढंगसे शासित राजतंत्र और साम्राज्य अंतिम रूपसे पुरानी स्वतंत्र राज्य-पद्धतिका स्थान ले रहे थे। जिस अशमें सारे प्रायद्वीपमें या काम-से-कम उसके उत्तरी भागमे भारतीय जीवनके विशाल संगठनकी आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव होने लगी उसी अंशमे स्वच्छंद राजतंत्रकी प्रणालीने समस्त देशपर अपना अधिकार जमा लिया और पंडित एवं पुरोहित-वर्गने समाजकी मन-वुद्धिपर अपने धर्मतत्रीय राज्यको तथा उस कठोर शास्त्रको लाद दिया जो सामाजिक एकता और राष्ट्रीय सस्कृतिकी शृंखला और कड़ी प्रदान करनेवाला समझा जाता था।

जो वात राजनीतिक और नागरिक जीवनमें थी वही वात सामाजिक जीवनमे भी थी। जन-समुदायमे एक प्रकारकी जनतंत्रीय समानता तो प्रायः अनिवार्य होती ही है; वर्गगत प्रवल विभेदों और विशिष्टताओका विरोधी तथ्य किसी जाति या वंशके सैनिक कालमे तो स्थापित हो सकता है पर वह एक सुप्रतिष्ठित नगर-राज्यके निकट सान्निध्यमें चिरकालतक नही टिक सकता, हाँ, कुछ ऐसे कृत्रिम साधनोद्वारा जिनका कि स्पार्टा और वेनिसने प्रयोग किया था ऐसा हो सकता है। यह विभेद रहे भी, तो भी इसका एकातभाव कुंद पड़ जाता है और वह अपने-आपको इतना सघन तथा शक्तिशाली नही वना सकता कि वह एक दृढ़ वर्ण-परंपराका रूप धारण कर ले। छोटे जन-समुदायका स्वाभाविक सामाजिक रूप हम एथेन्समे देख सकते है जहाँ एक गरीव चर्मकार भी उतना ही प्रवल राजनीतिक अधिकार रखता था जितना कि एक कुलीन और धनी व्यक्ति, जहाँ सर्वोच्च पद और नागरिक कार्य सव वर्गोके व्यक्तियोके लिये सुलभ थे। साथ ही सामाजिक कार्यो और संवधोमे भी उन्हे स्वतंत्र सहचारिता और समानता प्राप्त थी। भारतीय सभ्यताके प्राचीनतर अभिलेखोमें हम इसीसे मिलती-जुलती पर भिन्न प्रकारकी जनतंत्रीय समानता देखते है, वर्ण-भावनाके दंभ और अहंकारसे युक्त कठोर वर्ण-परंपरा पीछेकी वात है; पूर्वकालके अपेक्षाकृत सरल जीवनमे कार्यकी विभिन्नता यहाँतक कि श्रेष्ठताके साथ भी वैयक्तिक या वर्गीय श्रेष्ठताका भाव नही जुड़ा हुआ था। ऐसा मालूम होता है कि आरंभमे सवसे अधिक पवित्र, धार्मिक और सामाजिक कार्य अर्थात् ऋषि और पुरोहितका कार्य सव वर्गोके व्यक्तियो तया सव प्रकारके व्यवसायियोके लिये खुला हुआ था। धर्मतंत्र, वर्ण-व्यवस्था और निरंकुश राजतंत्रकी शक्ति उसी प्रकार साथ-ही-साथ वढ़ी जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोपमें

पादरीवर्ग और राजतंत्रीय आधिपत्यकी शक्ति बढी थी। इस शक्ति-वृद्धिका कारण उन नयी परिस्थितियोका दबाव था जो वृहत् सामाजिक और राजनीतिक समुदायोके विकाससे उत्पन्न हुई थी।

प्राचीन ग्रीस, रोम और भारतवर्षके नगर-राज्योकी इन परिस्थितियोमें जिन समाजोने सास्कृतिक प्रगति की उन्हे जीवनकी एक ऐसी सामान्य स्फूर्ति तथा सस्कृति और निर्माणकी एक ऐसी गतिशील शक्तिका विकास करना पडा जिससे आगे आनेवाले समुदाय वंचित रह गये तथा जिसे वे केवल स्वनिर्माणके लंबे समयके वाद ही प्राप्त कर सके; इस समयमे उन्हे एक नये संगठनके विकासमे आनेवाली कठिनाइयोका सामना तथा निराकरण करना पडा। ग्रीक नगरके सास्कृतिक और नागरिक जीवनने—जिसकी सर्वोच्च प्राप्ति एथेन्समे हुई थी—ऐसे जीवनने जिसमें जीवन-यापन अपने-आपमे एक शिक्षा थी, जहाँ गरीवसे गरीव और धनीसे धनी नाटकघरमे साथ-साथ बैठकर सोफोक्लीस (Sophocles) और युरीपिडीज (Eurepides) के नाटक देखा करते तथा उनके बारेमे अपना मत देते थे, जहाँ एथिनियन व्यापारी और दूकानदार सुकरातके सूक्ष्म दार्शनिक वार्तालापमे भाग लेते थे—यूरोपके लिये उसके आधारभूत राजनीतिक सूत्रो और आदर्शोका ही निर्माण नही किया वरन् उसकी वौद्धिक, दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक संस्कृतिके सभी मूल स्वरूपोका भी निर्माण किया था। अकेले रोम नगरके समान रूपसे सजीव, राजनीतिक, वैध और सैनिक जीवनने यूरोपके लिये उसके राजनीतिक कार्य, सैनिक अनुशासन, विज्ञान, विधान और साम्यके व्यवहार-शास्त्रके नमूनोंका यहाँतक कि साम्राज्य और उपनिवेशीकरणके आदर्शोका भी निर्माण किया है। भारतवर्षमे आध्यात्मिक जीवनकी प्राचीन सजीवताने ही—जिसकी झलक हमे वेदो, उपनिषदो तथा वौद्ध ग्रंथोमे मिलती है—उन धर्मो, दर्शनो तथा आध्यात्मिक नियमोंको उत्पन्न किया था जिन्होने तवसे प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभावद्वारा एशिया या यूरोपमे अपनी भावना और ज्ञानके एक अशका प्रसार करना शुरू कर दिया है। इस स्वतंत्र, सामान्यीकृत, व्यापक रूपसे स्पदनशील, जीवंत और गतिशील शक्तिकी जड जिसे आधुनिक जगत् केवल अव किसी अशमे पुनः प्राप्त कर रहा है सर्वत्र, सव भेद होते हुए भी, एक ही थी; समाजके वहुमुखी जीवनमें वह एक सीमित वर्गका नही वरन् व्यक्तिमात्रका पूर्ण सहयोग था। प्रत्येक यह समझता था कि उसमे सवकी शक्ति है, साथ ही उसे वैश्व शक्तिके उद्दाम प्रवाहमे अपनी उन्नति करने, अपना निज-स्वरूप प्राप्त करने, सफलता लाभ करने, सोचने तथा निर्माण करनेकी एक प्रकारकी स्वतंत्रता भी है।

वह यही स्थिति अर्थात् व्यक्ति और समुदायका संवंध है जिसकी पुनः-स्थापनाके लिये आधुनिक जीवनने वोझिल, वेढगे और अपूर्ण ढगसे किसी हदतक चेप्टा की है, यद्यपि उसके पास प्राचीन मानवजातिकी अपेक्षा कही अधिक विशाल जीवन-शक्ति और विचार-शक्ति है।

यह संभव है कि यदि पुराने नगर-राज्य गण-राष्ट्र वने रहते और अपने-आपको वदलकर और, नये जनसमुदायमे अपने जीवनको विलीन किये विना ही, वृहत्तर समुदायोका निर्माण कर लेते तो वहुत-सी समस्याओका अधिक सरलतासे प्रत्यक्ष अंतर्दृप्टिद्वारा तथा प्रकृतिके अनुकूल रहते हुए समाधान हो जाता, जव कि अव हमे वडे जटिल और दुःखदायी तरीकेसे तथा वडे भारी संकटो और व्यापक विप्लवोसे डरते हुए इन समस्याओका हल करना पड़ रहा है। पर ऐसा होना सभव नही था। उस पुराने जीवनमे भारी दोप थे जिन्हे वह दूर नही कर सकता था। भूमध्यप्रदेशके राप्ट्रोमे हम देखते है कि समाजके पूर्ण नागरिक और सास्कृतिक जीवनमे सव व्यक्तियोके समान भाग लेनेके सवधमे दो अत्यधिक महत्वपूर्ण अपवाद किये गये थे। दास-वर्ग तो उसमे भाग ले ही नही सकता था और स्त्रियाँ भी, जिनकी जीवन-परिधि अत्यंत संकुचित थी, इस अधिकारसे प्रायः वंचित ही रखी गयी थी। उधर भारतवर्पमे दास-प्रथा नहीके वरावर थी और स्त्रियोको भी शुरू-शुरूमे यहाँ ग्रीस और रोमकी स्त्रियोसे अधिक स्वतंत्र और सम्मान-युक्त पद प्राप्त था; किन्तु शीघ्र ही दासका स्थान सवसे निम्न जाति शूद्रने ले लिया। शूद्रों और स्त्रियोको सामान्य जीवन और संस्कृतिके उच्चतम लाभोसे वंचित रखनेकी यह प्रवृत्ति इतनी वढ़ती गयी कि भारतीय समाजको भी यह उसके पश्चिमी साथियोके स्तरतक ले आयी। यह संभव है कि प्राचीन समाजमे—यदि वह अधिक समयतक जीवित रहता तो—आर्थिक दासता और स्त्रियोकी पराधीनताकी दो वड़ी समस्याओपर विचार करके उसी प्रकार उनका समाधान किया जाता जिस प्रकार आधुनिक राज्यमे इनपर विचार करके इन्हे सुलझानेकी चेप्टा की जा रही है, पर यह वात संशयपूर्ण है। केवल रोममे ही हम कुछ ऐसी प्रारभिक प्रवृत्तियाँ देखते है जो इस दिशामे कुछ कार्य कर सकती थीं पर वे भी भविष्यकी संभावनाके अस्पष्ट सकेतोके अतिरिक्त और कुछ नही दे सकी।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह थी कि मानव-समाजके इस प्राचीन रूपको समुदायोके पारस्परिक संवधोका प्रश्न सुलझानेमे जरा भी सफलता प्राप्त नही हुई। युद्ध ही उनके सामान्य संवंधका आधार रहा। स्वतंत्र संघ वनानेके उनके सव प्रयत्न निष्फल हुए और एकीकरणका एकमात्र

साधन सैनिक विजय ही रह गया। उस छोटे समुदायके मोहने, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने-आपको अत्यधिक सजीव समझता था, एक प्रकारकी मानसिक और प्राणिक संकीर्णता उत्पन्न कर दी, यह सकीर्णता अपने-आपको उन नये और अधिक व्यापक विचारोके अनुकूल नही वना सकी जिन्हे दर्शन और राजनीतिक विचार अधिक व्यापक आवश्यकताओ और प्रवृत्तियोद्वारा प्रेरित होकर जीवन-क्षेत्रमे लाये थे। इसीलिये इन पुराने राज्योको भंग होना पड़ा, भारतवर्षमे ये गुप्त और मौर्य राजाओके विशाल नौकरशाही साम्राज्योमे विलीन हो गये जिनके वाद पठान, मुगल और अंग्रेज आये और पश्चिममे ये उन विशाल सैनिक और व्यापारिक विजित प्रदेशोमे मिल गये जो सिकन्दर, कारथेजिनियन, कुलीनतत्र तथा रोमके गणतत्र और साम्राज्यद्वारा प्राप्त हुए थे। इन पिछले राज्योकी एकता राष्ट्रीय नही, वल्कि अति-राष्ट्रीय थी। मनुष्यजातिमे अतिव्यापक एकता लानेके लिये ये ऐसे असामयिक प्रयत्न थे जो वास्तवमे तवतक पूर्णतया सफल नही हो सकते थे जबतक बीचकी राष्ट्र-इकाई पूर्ण और स्वस्थ ढंगसे विकसित ही न हो जाती।

अतएव राष्ट्रीय समुदायका निर्माण उस सहस्राव्दीमे होना था जो रोम-साम्राज्यके छिन्न-भिन्न होनेके वाद आयी। अपनी इस समस्याको सुलझानेके लिये ससारको उस समय उन अनेको, वास्तवमे, अधिकतर लाभोको छोडना पड़ा जिन्हे नगर-राज्योने मानवजातिके लिये प्राप्त किया था। इस समस्याको सुलझानेके वाद ही एक सुसगठित, उन्नतिशील और अधिकाधिक पूर्णताप्राप्त समाज तथा सामाजिक जीवनके शक्तिशाली साँचेको और साथ ही उस साँचेके अंदर जीवनके स्वतत्र अभ्युदय और उसकी पूर्णताको विकसित करनेका कोई सच्चा प्रयत्न किया जा सकता था। पहले हमे जरा इस विकास-क्रमका थोड़ा-सा अध्ययन करना होगा। उसके वाद हम इस विपयपर विचार कर सकते है कि वृहत्तर समुदायके निर्माणका नया प्रयत्न पुन. पीछे हटनेके खतरेसे खाली हो सकता है या नही। इस पीछे हटनेमे जातिकी आंतरिक उन्नतिका कम-से-कम कुछ समयके लिये तो वलिदान करना ही पडेगा जिससे विशाल वाह्य एकताके विकास और उसकी स्थापनाके लिये पूरा प्रयत्न किया जा सके।

बारहवाँ अध्याय

पूर्वराष्ट्रीय साम्राज्य-निर्माणका प्राचीन क्रम—राष्ट्र-निर्माणका आधुनिक क्रम

हम देख चुके हैं कि सच्ची राष्ट्रीय इकाईका निर्माण मानव-समुदायकी एक ऐसी समस्या थी जिसको प्राचीन युगने मध्ययुगके लिये छोड़ दिया था। प्राचीन युगने उपजाति, नगर-राज्य, वंश और छोटे प्रादेशिक राज्यसे आरंभ किया था—ये सब गौण इकाइयाँ थीं तथा अपने जैसी उन दूसरी इकाइयोंके बीचमें रहती थीं जो सामान्य रूपमें इनसे मिलती-जुलती तो थीं ही पर साधारणतया भाषामें और अधिकतर या काफी हदतक जातिमें भी उनके समान थीं; मानव-जातिके अन्य विभागोंसे वे कम-से-कम इस बातमें अवश्य भिन्न थीं कि उनकी प्रवृत्ति एक-सी सभ्यताकी ओर थी और उसी एक समाजमें वे सब अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियोंद्वारा, आपसमें तथा भिन्न इकाइयोंसे, सुरक्षित थीं। इस प्रकार ग्रीस, इटली, गाल, मिश्र, चीन, मीडो-पर्शिया, भारतवर्ष, अरब, इजराइल आदि सभी इकाइयाँ एक ऐसे शिथिल सांस्कृतिक और भौगोलिक समुदायसे आरम्भ हुई थीं जिसने उन्हें राष्ट्रीय इकाइयाँ बननेसे पहले पृथक् और विशिष्ट सांस्कृतिक इकाइयाँ बना दिया था। इस शिथिल एकतामें उपजाति, वंश या नगर अथवा प्रादेशिक राज्योंने इस अनिश्चित समूहमें विशिष्ट बलशाली और ठोस एकताके ऐसे अनेकों आधार बना लिये थे जिन्होंने, वास्तवमें, अपनी बृहत्तर सांस्कृतिक एकताको अत्यधिक प्रबल रूपमें बाह्य जगत्से विषम तथा विपरीत अनुभव किया, परंतु साथ ही ये अपने निजी वैषम्यों, विभेदों और विरोधोंको भी प्रायः बहुत अधिक समीपता और तीव्रतासे अनुभव कर सकते थे। जहाँ विशिष्टताका यह भाव अधिक तीव्र था वहाँ राष्ट्रीय एकीकरणका प्रश्न आवश्यक रूपमें कठिनतर हो गया और उसका हल जब कभी हुआ भी तो वह अधिकतर आभासमात्र ही रहा।

इस प्रश्नका हल ढूँढ निकालनेके लिये कई राष्ट्रोंने यत्न किया था। मिश्र और जूडिया (Judea) के अंदर तो इस कार्यको ऐतिहासिक विकासके उस प्राचीन युगमें भी सफलता प्राप्त हुई थी, परंतु जूडियामें

निश्चित रूपसे और मिश्रमे सभावित रूपसे इसका पूरा परिणाम तव निकला जब ये विदेशी जुएके कठोर अनुशासनके अधीन हो गये। जहाँ यह अनुशासन नही था, जहाँ राष्ट्रकी एकता किसी प्रकार भीतरसे ही—साधारणतया किसी एक वलवान् कुल, नगर, प्रादेशिक इकाई, उदाहरणार्थ, मैसेडोनिया और पर्शियाके पहाडी कुलोकी शेष सवके ऊपर विजयके द्वारा—प्राप्त होती थी, वहाँ नवीन राज्य अपनी उपलब्धिके आधारको दृढ करने तथा राष्ट्रीय एकताकी नीव गहरी और पक्की करनेके लिये प्रतीक्षा करनेके स्थानपर एकदम अपनी तात्कालिक आवश्यकतासे ध्यान हटाकर नयी विजयके लिये निकल पडता था। इससे पहले कि राष्ट्रीय एकताकी मनोवैज्ञानिक जडे खूब गहरी चली जाती और राष्ट्र स्थिर रूपसे सचेतन हो जाता तथा अपने एकत्वको दृढतापूर्वक प्राप्त करके उसके साथ अपना अजेय सवध स्थापित कर लेता, शासक राज्यने सैनिक प्रेरणासे चालित होकर—जो उसे इतनी दूर ले आयी थी—एकदम ही उन्ही साधनोद्वारा एक वृहत्तर साम्राज्य-समुदाय बनानेके लिये प्रयत्न आरभ कर दिया। असीरिया, मैसेडोनिया, रोम, पर्शिया और वादमे अरवने भी इसी प्रवृत्ति और इसी क्रमका अनुसरण किया। गैलिक जातिके द्वारा यूरोप और पश्चिमीय एशियापर किये गये प्रवल आक्रमण और उसके वादकी गालकी फूट और उसके पतनके मूलमे भी शायद यही तथ्य था। ये अवस्थाएँ मैसेडोनियन एकीकरणसे भी अधिक अपरिपक्व और वेढगे एकीकरणके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई थी। सुगठित राष्ट्रीय एकताओकी आधारशिला बननेसे पहले ही इन सव राष्ट्रोने साम्राज्य-निर्माणके महान् आंदोलन शुरू कर दिये थे।

अतएव, ये साम्राज्य टिक नही सके। कुछ दूसरोसे अधिक टिके भी, पर उसका कारण यह था कि उन्होने केंद्रीय राष्ट्र-एकतामे अपनी नीवें अधिक दृढ जमा ली थी, इटलीमे रोमने ऐसा ही किया था। ग्रीसमें एकताके प्रथम प्रवर्तक फिलिपने थोडे समयमे ही एकीकरणका एक अपूर्ण-सा ढाँचा खडा कर लिया था और स्पार्टाके पूर्ववर्ती और शिथिल आधिपत्यके कारण ही यह कार्य शीघ्रतापूर्वक हो सका था; यदि उसके उत्तराधिकारियोमे विस्तृत कल्पना और उच्च कोटिकी बुद्धिके स्थानपर धीरतापूर्ण योग्यता होती तो यह प्रारभिक, स्थूल और क्रियात्मक रूपरेखा भरी जा सकती थी; ऐसी एकताको फिर दृढ और स्थायी भी वनाया जा सकता था। जो व्यक्ति सर्वप्रथम किसी वस्तुकी वडे परिमाणमे और शीघ्रतापूर्वक स्थापना करता है उसके उत्तराधिकारीमे सदा ही साम्राज्य-विस्तारकी प्रेरणाकी अपेक्षा संगठन करनेकी योग्यता या प्रतिभाका होना अधिक आवश्यक है।

सीजरके वाद अगस्टस आया जिसके फलस्वरूप साम्राज्य अधिक देरतक टिका। उधर फिलिपका उत्तराधिकारी बना सिकन्दर; अपने परिणामोंकी दृष्टिसे यह घटना संसारके लिये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपने-आपमें एक क्षणिक झलकके अतिरिक्त कुछ नहीं थी। रोमको सतर्क प्रकृतिने तवतक कोई असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं दिया जबतक उसने इटलीको एकताके दृढ़ सूत्रमे बाँध नहीं लिया और अपने साम्राज्यकी नींव नहीं रख ली; इसीलिये वह उसका दृढ़तापूर्वक निर्माण करनेमें सफल हुआ था। यह सब होते हुए भी उसने उस साम्राज्यकी स्थापना महान् राष्ट्रके केंद्र और शीर्षस्थानके रूपमे नहीं, बल्कि एक प्रधान नगरके रूपमें की और अधीनस्थ इटलीका उसने एक ऐसे आधारके रूपमे प्रयोग किया जिसपरसे वह चारो ओरके जगत्पर आक्रमण तथा अधिकार कर सके। इससे पहले कि वह कुछ अपेक्षाकृत छोटे और सरल परिमाणमें पूर्ण और निरपेक्ष एकीकरणकी कला प्राप्त करता और उसे नयी समस्यापर लागू करना सीखता और प्राचीन इटलीके गल्लिक, लैटिन, अम्ब्रियन (Umbrian), ऑस्कन (Oscan) और ग्रैको आपुलियन (Graeco-Apulian) अंगोद्वारा प्रस्तुत विभिन्नता और समानताके तत्त्वोको एक ऐसे सजीव राष्ट्रीय संगठनमे मिला देता जो रोमन नहीं, बल्कि इटैलियन था, उसे आत्मसात्करणकी अर्थात् अस्पष्ट राष्ट्रोकी तथा अपनी संस्कृतिसे भिन्न विकसित या अविकसित संस्कृतियोकी कहीं अधिक कठिन समस्याका सामना करना पडा। इसलिये यद्यपि उसका साम्राज्य कई शताब्दियोंतक टिक तो गया, पर यह अस्थायी प्राप्ति उसे काफी बल, उत्साह और आतरिक शक्तिका व्यय करनेके वाद हुई थी; वह न तो राष्ट्र-इकाईका और न स्थायी साम्राज्य-एकताका ही निर्माण कर सका, इसलिये अन्य पुराने साम्राज्योकी भाँति उसे भी नष्ट होकर अपना स्थान सच्चे राष्ट्र-निर्माणके एक नये युगको सौंप देना पडा।

यहाँ यह वतला देना आवश्यक है कि भूल किस स्थानपर थी। मानव-जातिका अपेक्षाकृत छोटे या बडे समुदायोंमें प्रशासनीय, राजनीतिक और आर्थिक संगठन एक ऐसा कार्य है जो अपने मूल रूपमे उसी श्रेणीका है जिस श्रेणीका भौतिक प्रकृतिमे प्राणिक जीवोका निर्माण है। इसका अर्थ है कि प्रकृति मुख्यतया ऐसे वाह्य और स्थूल साधनोका प्रयोग करती है जो भौतिक जीवन-शक्तिके सिद्धातोसे नियंत्रित होते है; इस जीवन-शक्तिका आशय होता है सजीव रूपोकी रचना करना यद्यपि इसका भीतरी आशय एक ऐसे अति-भौतिक, मनोवैज्ञानिक सिद्धांतको प्रकाशमें लाना, उसे

अभिव्यक्त करना तथा सुरक्षित रूपमे उसे कार्यान्वित करना होता है जो प्राण और शरीरके समस्त व्यापारोके पीछे गुप्त रूपमे विद्यमान है। एक विशिष्ट, शक्तिशाली, सुकेद्रित, सुविस्तृत तथा सुघटित अहभावके लिये दृढ और स्थायी शरीर और प्राणिक व्यापारका सृजन करना ही उसका संपूर्ण उद्देश्य और उसकी प्रणाली है। जैसा कि हम देख चुके है इस प्रक्रियाके होते समय पहले वृहत्तर और शिथिल एकतामे कुछ छोटी और विभिन्न इकाइयाँ बनती है; इनका अस्तित्व दृढ और मनोवैज्ञानिक, शरीर समुन्नत तथा व्यापार जीवत होता है, किंतु वृहत्तर समुदायमे मनोवैज्ञानिक भाव और प्राणिक शक्ति विद्यमान तो है, पर सगठित नही है और न ही उनमे निश्चित कार्यशक्ति होती है; उसका शरीर एक तरल द्रव्य, अर्ध-अस्पष्ट अथवा अधिक-से-अधिक अर्ध-तरल और अर्ध-ठोस पिड होता है, वह शरीर नही, वल्कि शरीर-तत्त्व होता है। इसे अव निर्मित तथा संगठित करना होगा, एक दृढ भौतिक आकार, सुनिश्चित सजीव व्यापार और स्पष्ट मनोवैज्ञानिक अस्तित्व, आत्म-चैतन्य और मानसिक जीवन-संकल्प देना होगा।

इस प्रकार एक नयी वृहत् एकताका निर्माण हो जाता है; यह अव अपने-आपको फिर उन अनेक अपने जैसी एकताओके वीचमे पाती है जिन्हे पहले तो यह अपना विरोधी तथा अपनेसे विल्कुल भिन्न समझती है, पर पीछे उन्हीके साथ, विभेद रखते हुए भी, एक प्रकारका सवध स्थापित कर लेती है; इसके वाद वृहत्तर और शिथिल एकतामे अपेक्षाकृत छोटी विशिष्ट इकाइयोके निर्माणकी पुरानी क्रिया फिर दुहरायी जाती है। उसके अदरकी इकाइयाँ पहलेसे अधिक वड़ी तथा जटिल हो जाती है, इन्हे धारण करनेवाली एकता भी पहलेसे अधिक विशाल तथा जटिल हो जाती है, पर मूल अवस्था वही रहती है, वैसी ही समस्या फिरसे सामने आती है और उसे सुलझाना पडता है। प्रारभमे हमारे सामने नगर-राज्यो और प्रादेशिक जन-समुदायोका तथ्य था, ये इटली या हेलास (Hellas) की शिथिल भौगोलिक और सास्कृतिक एकताके पृथक्-पृथक् अगोके रूपमे साथ-साथ रहते थे, और अव तो हैलनिक (Hellenic) या इटैलियन राष्ट्रका निर्माण करनेकी समस्या भी उपस्थित हो गयी थी। वादमे इसके स्थानपर ऐसी राष्ट्र-इकाइयोका तथ्य सामने आ गया जो या तो निर्मित हो चुकी है या जिनका निर्माण अभी हो रहा है; ये पहले ईसाई-राज्य और पीछे यूरोपकी शिथिल भौगोलिक और सांस्कृतिक एकताके स्वतन्त्र अगोके रूपमे साथ-साथ रहती थी; इसके साथ ही इस ईसाई-राज्यके या इस यूरोपके

ऐक्यकी समस्या भी पैदा हो गयी; इस ऐक्यके विषयमे यद्यपि राजनीतिज्ञों या राजनीतिक विचारकोने अनेक बार व्यक्तिगत रूपमे विचार किया था, पर यह कभी भी प्राप्त नही हुआ और न ही इसके लिये कोई प्रारंभिक उपाय किये गये। इससे पहले कि इसकी कठिनाइयाँ हल हो सकती, आधुनिक प्रयास और उसकी एकीकरणकी शक्तियोंने हमारे सामने राष्ट्र-इकाइयो और साम्राज्य-इकाइयोंका एक नया और अधिक जटिल तथ्य उपस्थित कर दिया है। ये इकाइयाँ जीवनकी शिथिल, पर उत्तरोत्तर बढती हुई परस्पर-आश्रितता तथा मनुष्यजातिके व्यापारिक घनिष्ठ संबंधमे छिपी हुई थी; इससे संबधित मानवजातिके एकीकरणकी समस्याने यूरोपके एकीकरणके अपूर्ण स्वप्नको आच्छादित कर रखा है।

भौतिक प्रकृतिमे प्राणिक जीव केवल अपने भरोसे नही रह सकते; वे या तो दूसरे प्राणिक जीवोके साथ आदान-प्रदानसे या फिर कुछ इस प्रकारके आदान-प्रदान और कुछ दूसरोंके भक्षणद्वारा जीते हैं। क्योंकि आत्मसात्करणकी ये प्रक्रियाएँ इनमेसे प्रत्येकके भौतिक जीवनमे समान रूपसे पायी जाती है। इसके विपरीत, जीवनके एकीकरणमे एक ऐसा आत्मसात्करण भी सभव है जो एक-दूसरेको निगल लेनेकी या सदा ही पृथक् अस्तित्व रखनेकी प्रक्रियाको पार कर जाता है। इस प्रक्रियामे आत्मसात्करणका अर्थ केवल इतना रह जाता है कि जिन शक्तियोको एक जीवन दूसरेपर प्रक्षिप्त करता है उन्हें वे दोनो परस्पर ग्रहण कर लेते है। इसके स्थानपर ऐसी इकाइयोका साहचर्य भी हो सकता है जो सचेतन रूपमे अपने-आपको उस सामान्य एकताके अधीन कर देती हैं जो उनके एकत्र होनेकी प्रक्रियामे विकसित हो गयी है। इनमेसे कुछ इकाइयाँ, वास्तवमे, नष्ट हो जाती हैं और नये तत्त्वोके उपादानके रूपमें काम आती है, किंतु सबके साथ ऐसा नही होता; सभीका किसी एक प्रबल इकाई-द्वारा भक्षण नही किया जा सकता, क्योंकि उस अवस्थामे न तो एकीकरण रहता है और न ही किसी वृहत्तर एकताका निर्माण या कोई अविच्छिन्न और विशालतर जीवन ही रहता है; रहता है केवल भक्षकका अस्थायी जीवन जो भक्षितकी शक्तिके पाचन और उपयोगपर अवलंबित होता है। मानव-समुदायोंके एकीकरणमे तब यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि उनका निर्माण करनेवाली इकाइयाँ बिना नष्ट या विलीन हुए कैसे एक नयी एकताके अधीन हो जायँगी।

विजयद्वारा प्राप्त की गयी प्राचीन साम्राज्यरूपी एकताओकी दुर्बलता यह थी कि जिन अपेक्षाकृत छोटी इकाइयोंको वे आत्मसात् कर लेती थी

उन्हे वे नष्ट कर देने तथा प्रधान सगठनके जीवनके लिये पोपक तत्त्वके रूपमे वदल देनेमे प्रवृत्त हो जाती थी, जैसा कि रोम-साम्राज्यने किया था। गाल, स्पेन, अफ्रीका, मिश्र इसी प्रकार समाप्त हुए थे; वे मृतवत् हो गये थे और उनकी सारी शक्ति केद्र अर्थात् रोममे खिच गयी थी; इस प्रकार साम्राज्य एक ऐसा वृहत् मरणोन्मुख सघात वन गया जिसपर रोमका जीवन कई शताब्दियोतक पलता रहा। ऐसी प्रणालीमे अधीनस्थ प्रदेशोकी जीवन-समाप्तिका एक परिणाम यह होगा कि उस प्रवल और लोलुप केद्रके पास शक्तिके नवीन सचयका कोई और साधन नही रह जायगा। शुरू-शुरूमे तो विजित प्रदेशोकी सर्वोत्तम वौद्धिक शक्तिका प्रवाह रोमकी ओर वढ़ा और उनके सजीव उत्साहने उसे अत्यधिक सैनिक शक्ति तथा शासन-योग्यता प्रदान की, किंतु अंतमे दोनो ही नही रही; पहले रोमकी वौद्धिक शक्तिका नाश हुआ और फिर उस सामान्य विनाशमें उसकी सैनिक और राजनीतिक योग्यता भी वह गयी। यदि रोमने पूर्वसे नये विचार और आदर्श ग्रहण न किये होते तो उसकी सभ्यता इतने समयके लिये भी जीवित न रहती। फिर भी इस आदान-प्रदानमे न वह सजीवता थी और न ही वह अविरत प्रवाह था जो आधुनिक जगत्मे जीवनके विचार और आदर्शोकी नित्य नयी लहरोका उतार-चढ़ाव दर्शाता है; यह, वास्तवमे, साम्राज्यीय संगठनकी मंद शक्तिको न तो पुनर्जीवन प्रदान कर सकता था और न ही उसका नाश होनेकी क्रियाको वहुत अधिक देरतक रोक सकता था। जव रोमका नियंत्रण ढीला पड गया तो जिस जगत्को उसने इतनी दृढतासे जकड़ा हुआ था वह वहुत दिनतक एक ऐसा विशाल, शिष्ट, सुसंगठित और जीवन-मे-मृत्यु समान साम्राज्य वना रहा जो नये सगठन या पुनरुत्थानके योग्य नही रह गया था। वहाँ जीवनका संचार केवल जर्मनीके मैदानो, डैन्यूव पारके रूखे-सूखे प्रदेशो तथा अरवके मरुस्थलोकी असभ्य पर उत्साही जातियोके आक्रमणद्वारा ही हो सकता है। किसी भी अधिक स्वस्थ निर्माणकी क्रियाके लिये विघटनका पहले आना आवश्यक था।

राष्ट्र-निर्माणके मध्ययुगमे हम देखते है कि प्रकृति इस प्रारभिक भूलको सुधार रही थी। सत्य तो यह है कि जव हम प्रकृतिकी भूलोका वर्णन करते है तो हम अपने मानव मनोविज्ञान और अनुभवसे उधार लिये हुए रूपकका अशुद्ध रूपमे प्रयोग करते है, क्योकि प्रकृतिमे भूले नही होती, यह तो केवल उसकी गतिका ढग होता है जिसमे वह जान-बूझकर एक पूर्वनिश्चित स्वर-लहरीके अनुसार आगे-पीछे डग रखती है। अपने क्रमिक विकासकी क्रिया-प्रतिक्रियामे उसके एक-एक डगका कुछ अर्थ होता है, उसका

अपना स्थान होता है। रोमकी एकरूपताका दमनकारी प्रभुत्व एक युक्ति थी, इसका प्रयोग पुरानी अपेक्षाकृत छोटी इकाइयोंको स्थायी रूपमे विनष्ट करनेके लिये नही, वरन् उनकी अत्यधिक विभेदात्मक जीवन-शक्तिको निरुत्साहित करनेके लिये किया गया था जिससे वे पुनर्जीवित होनेपर सच्ची राष्ट्रीय एकताके विकास-मार्गमें कोई दुस्तर बाधा न उपस्थित कर सके। शुद्ध राष्ट्र-एकता यदि इस क्रूर अनुशासनमेसे न गुजरे तो उसे क्या हानि उठानी पड़ सकती है इसका भारतवर्षके उदाहरणसे पता चल जाता है जहाँ विशाल, शक्तिशाली और सुसगठित मौर्य, गुप्त, आंध्र और मुगल साम्राज्य ग्रामोसे लेकर प्रादेशिक या विभिन्न भापाओके क्षेत्रोतककी अधीनस्थ एकताओके अत्यधिक स्वाधीन जीवनको चकनाचूर कर देनेमे कभी सफल नही हो पाये; हम यहाँ इस एकतासे उत्पन्न होनेवाले यथार्थ विनाशके उस खतरेको—जैसा कि असिरियन और काल्डियन (Chaldean) लोगोपर आया था—और आध्यात्मिक तथा अन्य लाभोको, जो इससे बचकर रहनेसे प्राप्त हो सकते है, छोड देते है। इसे आवश्यकता थी एक ऐसे शासनके दबावकी जो न तो अपने मूल रूपमे देशीय हो और न स्थानीय रूपमे केंद्रित हो, एक ऐसे विदेशी राष्ट्रके आधिपत्यकी जो सस्कृतिमें उससे बिल्कुल भिन्न हो तथा भारतवर्षके सास्कृतिक वातावरणकी संवेदनाओ और आकर्षणोके विरुद्ध नैतिक रूपमे सुरक्षित हो; इस दबावसे वह इस कार्यको एक शताब्दीमे कर सकता था जिसे दो सहस्र वर्षोका साम्राज्यवाद भी नही कर पाया था। इस प्रकारकी प्रक्रियाका तात्पर्य निश्चित ही एक क्रूर और अधिकतर संकटपूर्ण दबाव और पुरानी संस्थाओका विनाश होता है; क्योकि प्रकृति जो युग-युगव्यापी बाधाकी आग्रहपूर्ण जड़तासे ऊब चुकी होती है इस बातकी ओर अधिक ध्यान देती नही प्रतीत होती कि कितनी सुन्दर और मूल्यवान् वस्तुएँ नष्ट हो रही है—उसका तो प्रधान उद्देश्य पूरा होना चाहिये। पर एक बात निश्चित है कि यदि विनाश किया जाता है तो वह केवल इसलिये कि उस उद्देश्यपूर्तिके लिये वह अनिवार्य था।

रोमके दबावके हटनेके बाद यूरोपमे नगर-राज्य और प्रादेशिक राष्ट्र एक नये निर्माणके तत्वोके रूपमे पुनः जीवित हो उठे। किंतु एक देशको छोडकर और आश्चर्यकी बात है कि स्वयं इटलीमें नगर-राज्यने राष्ट्रीय एकत्व लानेकी प्रक्रियामे कोई सच्ची बाधा नही उत्पन्न की। इटलीमे इसके शक्तिशाली पुनर्जीवनका कारण दो परिस्थितियाँ हो सकती है। पहली यह है कि इटलीके प्राचीन स्वतत्र नागरिक जीवनको उसकी समस्त शक्यताओके चरितार्थ होनेसे पहले ही असमयमें रोमने दबा दिया था। दूसरी, स्वयं रोमके लंबे नागरिक

जीवन और इटलीकी नगर-पालिकामे पृथक् जीवनकी भावनाके आग्रह-द्वारा यह बीजरूपमें जीवित रहा। यह पृथक् जीवन दवा अवश्य दिया गया था, किंतु इसका अस्तित्व पूर्णतया मिटाया नही जा सका था। गाल और स्पेनका पृथक् गणराष्ट्र और ग्रीसका पृथक् नागरिक-जीवन इसके उदाहरण है; इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूपमे इटलीका नगर-राज्य न तो संतुष्ट और तृप्त भावमे नष्ट ही हुआ और न ही इतना छिन्न-भिन्न हो गया कि पुन जीवित न किया जा सके। अतः वह नये रूपोमे पुनर्जीवित हो उठा। यह पुनर्जीवन ससारकी सस्कृति और सभ्यताके लिये अमित लाभ और वरदानके रूपमे होते हुए भी स्वय इटलीके राष्ट्रजीवनके लिये संकटपूर्ण था; क्योकि जैसे ग्रीसके नगर-जीवनने ग्रेको-रोमन जगत्‌की कला तथा उसके साहित्य, विचार और विज्ञानको जन्म दिया था उसी प्रकार इटलीके नगर-जीवनने ये सव चीजे पुनः प्राप्त की, इन्हे पुनर्जीवन दिया तथा एक नये रूपमें इन्हे हमारे आधुनिक युगके सामने उपस्थित किया। अन्य स्थानोपर तो नगर-इकाई मध्ययुगके फ्रास, फ्लैंडर्स और जर्मनीकी स्वतन्त्र और अर्ध-स्वतन्त्र नगर-पालिकाओके रूपमे ही पुनः प्रकट हुई; ये नगरपालिकाएँ एकीकरणमे किसी समय भी वाधक नही हुई, उल्टे इन्होंने उसके लिये एक अवचेतन आधार वनाने और साथ ही साथ विचार और कलाकी समृद्ध प्रेरणाओ और स्वतंत्र गतिके द्वारा मध्ययुगकी वौद्धिक एकरूपता, अवरुद्धता तथा अस्पष्टताकी प्रवृत्तिको रोकनेमे सहायता पहुँचायी।

आयरलैंड एव उत्तरी और पश्चिमी स्काटलैंड जैसे देशोको छोड़कर जो रोमके दवावमे नही आये थे प्राचीन गण-राष्ट्र सब जगह नष्ट हो गया। यहाँ भी वह एकीकरणके लिये उतना ही घातक था जितना कि इटलीमे नगर-राज्य था, इसने आयरलैंडको एक सगठित एकताके निर्माण करनेसे तथा पर्वतीय कैल्ट्सको एग्लो-कैल्टिक स्काच (Scotch) राष्ट्रमे मिलनेसे तबतक रोके रखा जवतक कि इग्लैंडका जुआ उनके ऊपर ही नही रख दिया गया और उसने वही काम नही किया जो रोमका शासन करता यदि उसका विस्तार ग्रैपियन पर्वतश्रृखला और आयरलैंडके समुद्रोद्वारा रुक न जाता। शेष पश्चिमी यूरोपमे रोमन शासनद्वारा किया हुआ कार्य इतना ठोस था कि पश्चिमी देशोपर जर्मनीके उपजातीय राष्ट्रोका आधिपत्य भी पुराने, अत्यत विशिष्ट और अत्यधिक पृथक् गण-राष्ट्रको पुन. जीवित करनेमे असफल रहा। इसके स्थानपर उसने जर्मनीमे प्रादेशिक राज्यो तथा फ्रास और स्पेनमे सामतिक और प्रातीय विभागोका निर्माण कर दिया, परंतु केवल जर्मनीमे ही, जो आयरलैंड और स्काच पर्वतीय प्रदेशोकी भाँति

रोमके जुएके नीचे नही आया था, वह प्रादेशिक जीवन एकीकरणके लिये गभीर रूपमे बाधक सिद्ध हुआ। फ्रासमें कुछ समयके लिये ऐसा प्रतीत तो अवश्य हुआ कि यह उसे रोक रहा है पर वास्तवमे इसने केवल उतने समयतक ही बाधा उपस्थित की जितने समयतक उसने स्वयं फ्रासकी अंतिम एकतामे समृद्धि और विभिन्नताके एक तत्त्वके रूपमे अपनी प्रतिष्ठा ही न बना ली। इस एकताकी अभूतपूर्व पूर्णता उस लंबी प्रक्रियामे छुपी हुई गुप्त प्रतिभाका चिह्न है जिसे हम फ्रासके इतिहासमे शुरूमे देखते आये है, यद्यपि स्थूल दृष्टिको यह अत्यत दु खपूर्ण तथा विक्षिप्त प्रतीत होता है तथा चिरकाल-तक सामंतिक या राजतंत्रीय स्वेच्छाचारिता एव अराजकताका बारी-बारीसे शिकार रहा है; उधर इसका विकास भी इंग्लैडके राष्ट्रीय जीवनके क्रमिक, स्थिर तथा कही अधिक सुव्यवस्थित विकाससे भिन्न ढगका दिखायी देता है। परंतु इग्लैडमे अंतिम सगठनकी अनिवार्य विविधता और समृद्धि नये राष्ट्रका निर्माण करनेवाली जातियोके अत्यधिक विभेद तथा वेल्स, आयरलैंड और स्काटलैडके पृथक् सांस्कृतिक इकाइयोके रूपमे बने रहनेके कारण प्राप्त हुई थी, साथ ही इस वृहत्तर एकताके अदर ये प्रदेश आत्मसचेतन भी रहे।

अतः राष्ट्र-निर्माणका यूरोपीय क्रम उस प्राचीन क्रमसे, जो प्रादेशिक और नगर-राज्यसे साम्राज्यमे विकसित हुआ था, दो बातोमे भिन्न है। पहली यह कि आवश्यक मध्यवर्ती समुदायकी उपेक्षा करके वह एक वृहत्तर एकीकरणकी ओर बढ़ा जिसके फलस्वरूप वह अपनेतक ही सीमित रहा। दूसरे, वह उन तीन आनुक्रमिक अवस्थाओमेंसे गुजरते हुए शनैः-शनैः परि-पक्वताको प्राप्त हुआ जिनके द्वारा एकता उपलब्ध भी हुई और निर्मायक अंग भी नष्ट नही हुए और न ही वे एकीकरणके साधनोद्वारा समयसे पहले या अनुचित रूपमे दबा ही दिये गये। पहली अवस्था केंद्रोन्मुखी और केद्रविरोधी प्रवृत्तियोके उस लंबे संतुलनमेंसे होती हुई आगे बढ़ी जिसमे सामतिक प्रणालीने व्यवस्था और शिथिल किंतु अतर्जात एकताके सिद्धांतका प्रयोग किया था। दूसरी अवस्था एकीकरण और बढती हुई एकरूपताकी एक ऐसी चेष्टा थी जिसमे रोमकी प्राचीन साम्राज्यीय प्रणालीके कुछ विशेप पहलू दुहराये तो गये थे, पर इस दुहरानेमें विनाशक शक्ति और क्षयकारी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम थी। राजधानीरूपी केंद्रकी उत्पत्ति इस अवस्थाकी पहली विशेपता थी। यह केद्र रोमकी भाँति ही अन्य सब स्थानोकी सर्वोच्च जीवन-शक्तियाँ अपनी ओर खीचने लगा। इस अवस्थाकी दूसरी विशेषता एक ऐसी पूर्ण और सर्वोच्च सत्ताकी वृद्धि थी जिसका कार्य राष्ट्रीय जीवनपर वैधानिक, प्रशासनीय, राजनीतिक और भाषासंबंधी एक-रूपता और केंद्रीयता

लादना था। शासन करनेवाले आध्यात्मिक नेताकी नियुक्ति या एक ऐसे ही सगठनकी स्थापना इसकी तीसरी विशेषता थी। इसका कार्य भी धार्मिक विचार और बौद्धिक शिक्षा तथा मतव्यकी वैसी ही एकरूपताको लादना था। एकता लानेवाले इस दवावका यदि वहुत अधिक प्रयोग किया जाता तो यह रोमके दवावकी भाँति ही वुरी तरहसे समाप्त हो सकता था। पर इस बीच विद्रोह और प्रक्षेपणकी तीसरी अवस्था आ गयी, इसने सामतवाद, राजतन्त्र, चर्च-शासन आदि साधनोको—ज्योही उनका काम समाप्त हो गया—भग कर दिया या फिर उन्हे अधीन कर लिया और उसके स्थानपर एक ऐसा नया आदोलन चला दिया जिसका झुकाव एक दृढ़ और सुव्यवस्थित राजनीतिक, वैधानिक, सामाजिक और सास्कृतिक स्वतंत्रता और समानताके सारकी ओर था। इसकी प्रवृत्ति, जैसे पुराने नगरमे वैसे ही आधुनिक राष्ट्रमे, इसीलिये प्रयत्नशील रही है कि सभी वर्ग और व्यक्ति मुक्त राष्ट्रीय अस्तित्वकी स्वतन्न शक्तिसे लाभ उठाये तथा उसमे भाग ले।

राष्ट्रीय जीवनकी तीसरी अवस्था दूसरी अवस्थाद्वारा उत्पन्न किये गये एकता और पर्याप्त एकरूपताके लाभोका उपभोग करती है तथा एक ऐसे प्रादेशिक और नागरिक जीवनकी सभावनाओका नये सिरेसे सुरक्षित रूपमे उपयोग कर सकती है जो पहली अवस्थाद्वारा पूरी तरहसे नष्ट होनेसे वच गया था। राष्ट्रीय विकासके इन क्रमोसे आधुनिक समयके लिये संघवद्ध राष्ट्र या एक संघीय साम्राज्यके विचारको कल्पनामे लाना—यदि और जहाँ यह अभीष्ट या अपेक्षित हो—अधिकाधिक सभव हो गया है, ऐसा राष्ट्र या साम्राज्य एक मूलभूत और सुचरितार्थ मनोवैज्ञानिक एकतापर सुरक्षित रूपमे आधारित होना चाहिये। जर्मनी और अमेरिकामे यह वस्तुत. एक सरल रूपमे पहले ही प्राप्त हो चुका था। यदि चाहे तो हम ऐसी अधीनस्थ सरकारो, ऐसे जिलो और प्रातिक नगरोके निर्माणके द्वारा आशिक विकेद्री-करणकी ओर नि.शक वढ सकते है जो सर्वश्रेष्ठ शक्तियोके राजधानीद्वारा पूर्णतया ग्रसे जानेके रोगको दूर करने तथा उन्हे अनेक केद्रो एव चक्रोमेसे सुगमता और स्वतन्त्रतापूर्वक प्रवाहित होनेमे सहायता पहुँचा सकते हैं। साथ ही हम राज्यके एक ऐसे सगठित उपयोगकी कल्पना करते है जो समस्त सचेतन, सक्रिय और सजीव राष्ट्रका विवेकपूर्वक प्रतिनिधित्व करे तथा इस प्रकार व्यक्ति और समाजके जीवनमे पूर्णता लानेका साधन वन जाय। यही वह अवस्था है जहाँतक राष्ट्र-समुदायका विकास अवतक हो चुका है; और इस समय, भविष्यकी प्रवृत्तियोके अनुसार, साम्राज्यीय समुदायकी

अधिक व्यापक समस्या या उससे भी अधिक विशाल कुछ ऐसी समस्याएँ हमारे सामने हैं जो मानवजातिकी उत्तरोत्तर वढ़ती हुई सांस्कृतिक एकता और व्यापारिक तथा राजनीतिक अन्योन्याश्रिततासे उत्पन्न हुई हैं।

तेरहवाँ अध्याय

राष्ट्र-इकाईका निर्माण—तीन अवस्थाएँ

राष्ट्रके मध्ययुगीय और वर्तमान विकासको दर्शानेवाली तीन क्रमिक अवस्थाएँ एक ऐसी स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जा सकती है जिसमे जटिल स्थितियो और विषमजातीय उपादानोसे आतरिक क्रियाद्वारा नही वल्कि वाह्य क्रियाद्वारा एकताके एक नये रूपका निर्माण करना पड़ेगा। वाह्य साधन सदा ही मनुष्योंकी मनोवैज्ञानिक दशाको परिवर्तित रूपो और अभ्यासो-मे ढालनेका प्रयत्न करता है; ऐसा वह एक नयी मनोवैज्ञानिक स्थितिकी प्रत्यक्ष रचनाद्वारा नही वरन् परिस्थितियो और संस्थाओके दवावमे आकर करता है जव कि यह मनोवैज्ञानिक स्थिति अपने उपयुक्त और लाभदायक सामाजिक रूप स्वतंत्रता और विविधतापूर्वक अपने-आप विकसित कर लेती है। ऐसी प्रक्रियामें सर्वप्रथम तो वस्तुओके स्वभावके अनुसार समाजका एक ऐसा शिथिल पर काफी प्रवल विधान और सभ्यताका एक सर्वसामान्य आदर्श होना चाहिये जो एक नयी इमारत खड़ी करनेके लिये एक ढाँचेका काम दे सके। इसके वाद स्वाभाविक रूपसे एक ऐसे कठोर संगठनका समय आना चाहिये जिसका झुकाव एकता और केंद्रीय नियंत्रण तथा सभवत: उस केंद्रीय लक्ष्यके अधीन सवको समान स्तरपर लाने तथा एकरूप करनेकी ओर होगा। अंतमे, यदि नये संगठनको जीवनको जड़ तथा रूढ ही नही वना देना है और इसे प्रकृतिकी एक सजीव और शक्तिशाली कृति ही वने रहना है तो ज्योंही निर्माणका कार्य सुनिश्चित हो जाय और एकता मन-प्राणका अभ्यास वन जाय, स्वतंत्र और आंतरिक विकासका काल अवश्य आना चाहिये। ऐसी अपेक्षाकृत स्वतंत्र और आतरिक क्रियामे जो समाजकी निश्चित आवश्यकताओ, विचारो और उसकी सहज-प्रवृत्तियोद्वारा अपने सार और मूलमे सुनिश्चित हो चुकी हो, संगठनके सुरक्षित विकास और निर्माणके अस्तव्यस्त या भग होने अथवा रुक जानेका कोई भय नही रहेगा।

पहली शिथिलतर प्रणालीके रूप और सिद्धातको उन तत्त्वोके प्राचीन इतिहास और वर्तमान अवस्थाओंपर अवलवित होना होगा जिन्हे इस नयी एकतामे समाविष्ट होना है। पर यह ध्यानमे रखने योग्य है कि यूरोप और एशिया दोनोमे एक ऐसी प्रवृत्ति थी जिसके विषयमे, क्योकि हम उसका

संवध विचारोके घनिष्ठ आदान-प्रदानसे नही जोड सकते, हमें यह कहना पडेगा कि इसके मूलमे भी वही स्वाभाविक कारण और प्रयोजन कार्य कर रहे थे। यह प्रवृत्ति एक ऐसे सामाजिक वर्ण-क्रमके विकासकी थी जो चार विभिन्न सामाजिक कार्यो—आध्यात्मिक कार्य, राज्य-कार्य, व्यापारिक उत्पादन और विनिमयका दुहरा आर्थिक कार्य तथा पराश्रित श्रम या सेवा-कार्य—के अनुसार किये गये विभाजनपर आधारित था। भाव, रूप और संतुलन जिन्हे कार्यरूपमे परिणत किया गया था समाज और उसकी परिस्थितियोंकी प्रवृत्तिके अनुसार ससारके विभिन्न भागोंमे विल्कुल अलग-अलग थे, किन्तु मूल सिद्धात प्रायः एक ही था। सर्वत्र यही प्रेरक शक्ति काम कर रही थी कि सामान्य सामाजिक जीवनको एक ऐसा वृहत् और शक्तिशाली रूप दिया जाय जिसमे इतनी दृढता हो कि इसके द्वारा वैयक्तिक और छोटे सामुदायिक हित एक पर्याप्त धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक एकता और समानताके नियत्रणमें लाये जा सकें। हम यह देख सकते है कि इस्लामी सभ्यता—चाहे उसमे सहधर्मियोके लिये समानता और भ्रातृभावका सिद्धांत प्रवल था तथा दासोके लिये एक ऐसी अनोखी प्रथा वन गई थी जिसके अनुसार दास भी गद्दीका अधिकारी हो सकता था—समाजका ऐसा रूप कभी भी विकसित नही कर सकी। राजनीतिक और प्रगतिशील यूरोपके साथ निकट सपर्क रखते हुए भी, यहाँतक कि खलीफोके साम्राज्यके नष्ट होनेके वाद भी, वह शक्तिशाली, सजीव, सुसगठित और चेतन राष्ट्र-इकाइयोको उन्नत करनेमे सफल नही हुई; यह कार्य तो केवल अव, आधुनिक विचारो और अवस्थाओके दवावके कारण, हो रहा है।

परंतु जहाँ प्रारंभिक अवस्था सफलतापूर्वक प्राप्त कर भी ली गयी थी, वहाँ ये अगली अवस्थाएँ प्रकट हुई ही हो, यह आवश्यक नही। यूरोपका सामतिक युग अपने चार वर्गो, पादरी, राजा और सामंत, मध्यवर्ग तथा श्रमिक-वर्ग सहित भारतवर्पके पुरोहित, सैनिक वर्ग, व्यवसायी और शूद्रोंके चतुर्वर्णसे काफी मिलता-जुलता है। भारतीय प्रणालीने अपनी विशिप्टता एक ऐसे विभिन्न विचार-क्रमसे ग्रहण की थी जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचार-क्रमसे कही अधिक धार्मिक तथा नैतिक था; फिर भी क्रियात्मक रूपमे इस प्रणालीका प्रधान कार्य सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रसे संवंध रखता था, और पहली दृष्टिमे ही इस वातका कोई कारण नही दिखायी देता कि यह, छोटी-मोटी वातोमे विभिन्नता होते हुए भी, सामान्य विकासका अनुसरण न करे। अपनी विशाल सामंतिक पद्धतिके साथ तथा मिकाडो (Mikado) के आध्यात्मिक और लौकिक नेतृत्व तथा वादमे मिकाडो

और शोगुन (Shogun)के दुहरे प्रधानत्वमे जापानने एक ऐसी अत्यधिक शक्तिशाली और आत्मसचेतन राष्ट्र-इकाई विकसित कर ली थी जो संसारमे पहले कभी देखनेमे नही आयी। चीन भी अपने श्रेष्ठ पडितवर्गकी सहायता-से—जिसमे ब्राह्मण और क्षत्रियके आध्यात्मिक और लौकिक ज्ञान और शासन-प्रवधके कार्य तथा राष्ट्रीय एकताके प्रधान और आदर्श व्यक्तिके रूपमे चीनका सम्राट् और देवपुत्र एक हो गये थे—सयुक्त राष्ट्र वननेमे सफल हुआ था। भारतवर्षमे जो इसका विभिन्न परिणाम हुआ, उसका अन्य कारणोके साथ-साथ एक कारण यह भी था कि यहाँ सामाजिक व्यवस्था-का विकास और ही ढगसे हुआ। अन्य स्थानोपर इस विकासने लौकिक सगठन और नेतृत्वकी दिशा ग्रहण की थी, स्वय राष्ट्रमे ही इसने एक ऐसी स्पष्ट राजनीतिक आत्म-चेतना उत्पन्न कर दी जिसके परिणामस्वरूप पुरोहित-वर्ग या तो सैनिक और प्रशासनीय वर्गके अधीन हो गया अथवा उसने उनके साथ समानता प्राप्त कर ली, कही-कही तो वे दोनो एक सामान्य आध्यात्मिक और लौकिक नेताके अधीन एक हो गये। उधर मध्यकालीन भारतवर्षमे, इस विकासकी प्रवृत्ति पुरोहित-वर्गकी सामाजिक प्रवलताकी ओर थी, वहाँ सामान्य राजनीतिक चेतनाका स्थान एक ऐसी सामान्य आध्यात्मिक चेतनाने ले लिया था जो राष्ट्रीय भावनाका आधार वन गयी। कोई ऐसा लौकिक केंद्र स्थायी रूपमे वहाँ विकसित नही हुआ और न ही कोई ऐसा महान् सम्राट् अथवा राजा ही हुआ जो अपनी प्रतिष्ठा, शक्ति, प्राचीन गौरव और इस अधिकारके वलपर कि सव लोग उसका सम्मान करे तथा उसकी आज्ञाका पालन करे पुरोहित वर्गकी इस प्रतिष्ठा और प्रवलताका पराभव या उसकी वरावरी तथा राजनीतिक और साथ ही आध्या-त्मिक और सास्कृतिक एकताकी भावना उत्पन्न कर सका हो।

चर्च और राजतत्रीय राज्यका आपसी सघर्ष यूरोपके इतिहासका एक अत्यत प्रधान और महत्त्वपूर्ण पहलू है। यदि इस झगडेका परिणाम विपरीत होता तो मानवजातिका समस्त भविष्य अति सकटपूर्ण हो जाता। पर हुआ यह कि चर्चको स्वाधीनता और राज्य-सत्तापरसे अपना अधिकार छोडना पडा। जो राष्ट्र कैथलिक वने रहे उनमे भी राज्य-सत्ताकी वास्तविक स्वाधीनता तथा प्रवलताका सफल रूपमे समर्थन किया गया था, क्योकि फ्रासके राजाने गैलिकन चर्च और पादरी-वर्गको इस प्रकारसे अपने वशमे कर रखा था कि फ्रेंच राज्य-कार्योमे पोपका कोई वास्तविक हस्तक्षेप सभव ही नही रहा। स्पेनमे पोप और राजामे घनिष्ठ मैत्री होते हुए भी तथा पोपकी पूर्ण आध्यात्मिक सत्ताको सिद्धात-रूपमे स्वीकार किये जानेपर भी

असलमें सांसारिक प्रधान अर्थात् राजा ही धार्मिक नीतिका निर्धारक और धर्म-अपराधियोंके क्रूर दंड-विधानका अध्यक्ष होता था। इटलीमें रोमके कैथलिक सप्रदायके आध्यात्मिक प्रधानकी स्थानीय उपस्थिति राजनीतिक रूपमें सयुक्त राष्ट्रकी उन्नतिमे एक विशाल नैतिक बाधा बन गयी; स्वाधीनता-प्राप्त इटैलियन लोगोंने जोशमे आकर रोममे राजतंत्रकी स्थापनाका जो निश्चय किया वह वास्तवमें इस नियमका प्रतीक था कि एक सचेतन और राजनीतिक रूपमे संगठित राष्ट्रकी उसके अपने अंदर केवल एक ही सर्वोच्च और केंद्रीय सत्ता हो सकती है और वह लौकिक सत्ता होनी चाहिये। जो राष्ट्र इस अवस्थातक पहुँच गया है या पहुँच रहा है उसे, धर्मको वैयक्तिक रूप देकर, धार्मिक और आध्यात्मिक अधिकारको अपने सामान्य लौकिक और राजनीतिक जीवनसे या तो अलग करना पड़ेगा और या सासारिक प्रधानकी एकछत्र सत्ताको बनाये रखनेके लिये राज्य और चर्चकी मैत्रीके द्वारा दोनोंको एक कर देना होगा। और, या फिर आध्यात्मिक और सांसारिक नेतृत्वको एक सत्तामे मिला देना पडेगा जैसा कि जापान और चीनमें तथा सुधार-आंदोलनके समय इग्लैडमें किया गया था। भारतवर्षमे भी जिन लोगोंने सर्वप्रथम किसी प्रकारकी राष्ट्रीय चेतना विकसित की थी—इसमें आध्यात्मिक तत्त्व विशेष नही था—वे राजपूत थे, विशेषकर मेवाड़के, जिनके लिये सब प्रकारसे राजा ही समाज और राष्ट्रका मुखिया होता था। राष्ट्रीय चेतनाको प्राप्त करके जो लोग संगठित राजनीतिक एकताके सबसे अधिक निकट पहुँच गये थे वे सिख और मरहठे थे; सिखोंके लिये गुरु गोविन्द सिहने सोच-विचारकर ही खालसामें एक सामान्य लौकिक और आध्यात्मिक केंद्रकी स्थापना की थी और मरहठोंने राष्ट्रके प्रतिनिधि-स्वरूप एक लौकिक नेतृत्वका समर्थन ही नही किया बल्कि अपने-आपको भी इस प्रकारसे लौकिक बना लिया कि बिना किसी भेदभावके सारी जाति—ब्राह्मण, शूद्र सभी—कुछ समयके लिये स्वभावतः ही सिपाहियों, राजनीतिज्ञों तथा शासकोंकी एक प्रबल जाति बन गयी।

दूसरे शब्दोंमे, एक दृढ़ सामाजिक वर्गक्रमकी संस्थाको, ऐसा प्रतीत होते हुए भी कि यह राष्ट्रीय निर्माणकी प्रारभिक प्रवृत्तियोंके लिये एक आवश्यक अवस्था रह चुकी है, अपने अदर परिवर्तन लाने तथा अगली अवस्थाओंको स्थान देनेके लिये अपने विघटनकी तैयारी करनेकी आवश्यकता थी। जो यन्त्र किसी विशेष कार्य या किन्ही विशेष अवस्थाओंमे उपयोगी होता है उसे यदि तब भी पकड़े रखा जाय जब कि कोई दूसरा कार्य करना हो या वे अवस्थाएँ ही बदल जायँ तो वह अवश्य ही बाधा बन जाता है। करनेकी

वात अव यह थी कि एक वर्गकी आध्यात्मिक सत्ता तथा दूसरेकी राजनीतिक सत्ता दोनोके स्थानपर विकसनशील राष्ट्रका सामान्य जीवन धार्मिक प्रधानकी जगह लौकिक प्रधानके अधीन एक ही केद्रमे सगठित हो जाय अथवा यदि लोगोमें धार्मिक प्रवृत्ति इतनी जोरपर हो कि आध्यात्मिक और सांसारिक विषयोंको अलग न किया जा सके तो राष्ट्रके जीवनको एक ऐसे राष्ट्रीय प्रधानके अधीन सगठित किया जाय जो दोनो क्षेत्रोमे सत्ताका मूल केद्र वन सकता हो। राजनीतिक चेतना उत्पन्न करनेके लिये—जिसके विना किसी भी पृथक् राष्ट्र-इकाईका सफल निर्माण नही हो सकता—यह विशेष रूपमे आवश्यक हो गया था कि जो भाव, कार्य और साधन उसके निर्माणके लिये उपयोगी है वे कुछ समयके लिये आगे आ जायं और शेष सव पीछे रहकर उन्हे सहारा देते रहे। अपने कार्यक्षेत्रमे ही सीमित रहनेवाला चर्च या पुरोहित-वर्ग किसी राष्ट्रकी संगठित राजनीतिक एकताका निर्माण नही कर सकता; क्योंकि वह राजनीतिक और प्रशासनीय हितोद्वारा नही वरन् अन्य हितोद्वारा चालित होता है और उससे यह आशा भी नही की जा सकती कि वह अपनी विशिष्ट भावनाओ और हितोको उनके अधीन कर दे। ऐसा वह केवल तभी कर सकता है जव कि धार्मिक या पुरोहित-वर्ग ही—जैसा कि तिव्वतमें है—देशका वास्तविक शासन करनेवाला राजनीतिक वर्ग वन जाय। भारतवर्षमे उस वर्गका प्रभुत्व, जो पुरोहितीय और धार्मिक या आशिक रूपमे आध्यात्मिक अभिरुचियो और हितोद्वारा चालित होता था—ऐसे वर्गका जिसका विचार और समाजपर आधिपत्य था तथा जो राष्ट्रीय जीवनके सिद्धातोको निर्धारित तो करता था पर, वास्तवमें, शासन-प्रवंध नही करता था—सदैव ही उस विकासके लिये वाधक रहा है जिसका अनुसरण अधिक ऐहलौकिक भाववाली यूरोपीय और मगोल जातियाँ करती थी। अव, यूरोपीयन सभ्यताके आनेके वाद, जव कि व्राह्मणजातिने राष्ट्रीय जीवनपर अपने एकात अधिकारको अधिकांश रूपमे खो ही नहीं दिया है वल्कि वह स्वय ही अधिकतर सासारिक हो गयी है, राजनीतिक और लौकिक हितोको प्रधानता मिल गयी है, एक व्यापक राजनीतिक चेतना जाग उठी है तथा राष्ट्रकी सगठित एकता—आध्यात्मिक और सास्कृतिक एकतासे अलग—वस्तुत. सभव हो गयी है, यह अव अस्पष्ट और अवचेतन प्रवृत्तिमात्र नहीं है।

अतएव राष्ट्र-इकाईके विकासकी दूसरी अवस्था सामाजिक ढाँचेका ही परिवर्तित रूप रही है जिससे राजनीतिक और प्रशासनीय एकताके शक्तिशाली और प्रत्यक्ष केद्रके लिये स्थान वनाया जा सके। इस अवस्थाके साथ एक

प्रबल प्रवृत्ति भी आवश्यक रूपमे जुडी हुई है कि जो स्वाधीनताएँ रूढ़ सामाजिक वर्गक्रम (hierarchy)से प्राप्त होती है उन्हे भी नष्ट कर दिया जाय; और साधारणतया सत्ता एक ऐसी राजतंत्रीय सरकारके हाथोमे सौंप दी जाय जो सदा स्वेच्छाचारी नही तो कम-से-कम प्रबल अवश्य हो। पर आधुनिक जनतंत्रीय विचारोके अनुसार राजाको लोग उसी अवस्थामे सहन करते है जब कि वह राज्य-जीवनका अकार्यकारी एवं नाममात्रका प्रधान, सेवक अथवा शासन-कार्यका एक सुविधाजनक केंद्र हो; वास्तविक नियंत्रण रखनेके लिये अब उसकी आवश्यकता नही रही है। परंतु इसमे कोई अतिशयोक्ति नही कि राष्ट्र-प्रतिरूपके विकासमे—जैसा कि इसका विकास मध्ययुगमे वस्तुतः हो चुका था—एक शक्तिशाली राजाका ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। यहाँतक कि स्वाधीनता-प्रेमी, द्वीपीय-भावयुक्त और व्यक्तिवादी इग्लैडमे भी प्लैटैजेनैट्स (Plantagenets) और ट्यूडर्स (Tudors) राजा ऐसे वास्तविक और सक्रिय केंद्र-बिंदु थे जिनके चारो ओर पनपकर राष्ट्र एक दृढ रूप तथा परिपक्व शक्तिको प्राप्त हुआ; उधर अन्य महाद्वीपीय देशोमे कैपेट्स (Capets) और उनके उत्तराधिकारियोद्वारा, स्पेनमे कैस्टाइल (Castile) वशद्वारा और रूसमे रोमेनौफ्स (Romanoffs) और उनके पूर्वजोके द्वारा जो कार्य किया गया था वह तो और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इनमेसे अतिम दृष्टातके बारेमे यह कहा जा सकता है कि ईवानो (Ivans), पीटरो (Peters) और कैथेरिनो (Catherines) के विना रूसका अस्तित्व ही न होता। आधुनिक समयमे भी होहैनसौलर्नस (Hohenzollerns) ने जर्मनीके एकीकरण और विकासके लिये जो मध्ययुगीय-सा कार्य किया उसे भी जनतंत्रवादी जातियोने व्याकुल और विस्मित भावमे देखा क्योकि इन लोगोके लिये इस प्रकारकी घटनाको समझना तो कठिन था ही किंतु इसकी तथ्यतापर विश्वास करना और भी अधिक कठिन था। पर हम बाल्कनके नये राष्ट्रोके प्रथम निर्माण-युगमे भी यही बात देख सकते है। उनके विकासको केंद्रित करने और उसे सहायता पहुँचानेके लिये राजाकी आवश्यकता—चाहे उसके साथ कितनी ही विचित्र सुखात या दुःखात घटनाएँ क्यो न लगी हुई हो—पुरानी आवश्यकताकी भावनाकी अभिव्यक्तिके रूपमें पूर्णतया समझमे आ जाती है; यद्यपि यह आवश्यकता अब उतनी वास्तविक नही रही है,* किंतु इन जातियोके अवचेतन

*अब इसका स्थान अर्ध-दिव्य नेता फ्युहरर (Fuhrer) के आध्यात्मिक और राजनैतिक प्रधानत्वने ले लिया है, मानो उसने जातिके व्यक्तित्वको ही अपनेमें मूर्तिमान् कर लिया हो।

मनोंमें यह अब भी अनुभव की जाती थी। आधुनिक ढगके राष्ट्रके रूपमें जापानके नये निर्माणमें मिकाडोने भी इसी प्रकारका कार्य किया था। नवनिर्माताओंकी सहज-प्रेरणा इस आनरिक आवश्यकताको पूरा करनेके लिये उसे अपने असहाय एकातवाससे बाहर खींच लायी थी। क्रातिकारी चीनने भी एक नये राष्ट्रीय राज्यतन्त्रमें अपने-आपको बदलनेके लिये एक अल्पकालीन अधिनायकवाद स्थापित करनेका प्रयत्न किया था; इस प्रयत्नके मूलमें जितना व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षाका हाथ था उतने ही बलपूर्वक क्रियात्मक मनकी भावना भी उसमें कार्य कर रही थी।* राष्ट्रीय जीवनके विकासकी इस अत्यत सकटपूर्ण अवस्थाके समय इसे केंद्रित करने तथा इसे कोई आकार देनेमें राजाने जो भारी कार्य किया है उसकी भावना इस प्रवृत्तिका मर्म बताती है कि राजपद भी एक प्रकारका पवित्र पद है, यह प्रवृत्ति पूर्वमें तो प्रचलित है ही, पर पश्चिमके इतिहासमें भी इसका नितात अभाव नहीं है। यह उस प्रगाढ राजभक्तिका भी आशय समझाती है जिसके साथ महान् राष्ट्रीय वशों या उनके उत्तराधिकारियोंकी उनके ह्रास और पतनके समयमें भी सेवा की गयी।

किन्तु राष्ट्रीय विकासके इस आदोलनकी विशिष्ट भूमिका चाहे कितनी भी हितकारी क्यों न हो, फिर भी इसके साथ, प्राय विनाशक रूपमें ही, जातिकी आतरिक स्वतन्त्रताओंका एक ऐसा निरोध जुडा हुआ है जो आधुनिक मनोवृत्तिको प्राचीन राजतन्त्रीय स्वेच्छाचारिता और प्रवृत्तियोंके बारेमें बडे स्वाभाविक पर अवैज्ञानिक ढगसे अत्यत अनुदार मत बना लेनेको बाधित कर देता है, क्योंकि यह सदा केंद्रीकरण, कठोरता, एकरूपता, दृढ नियन्त्रण तथा एकाग्र निर्देशनका कार्य होता है। एक ही कानून, एक ही सिद्धात और एक ही केंद्रीय सत्ताको सार्वभौम रूप देनेकी आवश्यकता इसे पूरी करनी पडती है। अतएव इसकी भावना भी यही होगी कि अधिकारको स्थापित तथा उसे केंद्रित किया जाय एव स्वाधीनता और विविधताको सीमित कर दिया जाय या उसे बिल्कुल दबा दिया जाय। इग्लैंडमें एडवर्ड चतुर्थसे एलिजाबेथतकका नया राजतन्त्र-युग, फ्रासमें हेनरी चतुर्थसे लूई चौदहवेंतकका वह महान् बुरबौं (Bourbon) युग, स्पेनका वह युग जो फर्डिनडसे फिलिप द्वितीयतक चला था, रूसमें महान् पीटर और कैथेरीनका

*यहां यह जान लेना चाहिये कि चीनमें आधुनिक व्यक्तिके जनतंत्रीय आदर्शवादको भी किसी नेताका—चाहे वह सनयात सेन हो या चियांग काई शेक—आश्रय लेना पडा था। प्रेरणाकी शक्ति इसी सजीव केंद्रके सामर्थ्यपर ही निर्भर रही है।

युग—सब ऐसे युग थे जिनमें ये राष्ट्र परिपक्वताको प्राप्त करके पूर्णतया सुगठित हो गये थे तथा अपनी भावनामें दृढ़ होकर शक्तिशाली रूपमें संगठित हो गये थे। ये सब स्वेच्छाचारिताके या उसके आदोलनके युग थे; साथ ही इनमें एकरूपताका एक विशेष आधार स्थापित किया गया था या उसके लिये यत्न किया गया था। इस स्वेच्छाचारिताने पहलेसे राज्यके पुनर्जीवित होते हुए सिद्धातको तथा जातिके जीवन, विचार और अंत:करणपर अपनी इच्छा लादनेके उसके अधिकारको अपने प्राचीनतर वेशमे छिपा रखा था, जिससे कि वह एक, अखंड, अविभाजित, पूर्णत: निपुण अनुशासित मन और शरीर बन सके।*

इस बातको ध्यानमें रखते हुए हम ट्यूडर और स्टूअर्ट राजवंशोंके जनतापर राजतंत्रीय सत्ता और धार्मिक एकरूपता लादनेके प्रयत्नको स्पष्ट रूपमे समझ सकते है। इससे फ्रांसके धर्मयुद्धोंका, स्पेनके कैथलिक राजतंत्रीय शासन तथा न्यायालयी अन्वेषणके अतिक्रूर ढंगका और रूसके निरंकुश जारोंकी एक स्वेच्छाचारी राष्ट्रीय धर्म लादनेकी उत्पीडक इच्छाका वास्तविक अर्थ भी हमारी समझमे आ सकता है। इग्लैंडमें इस प्रयत्नको सफलता नहीं मिली, क्योंकि एलिजाबेथके बाद इसके लिये कोई वास्तविक आवश्यकता अनुभव ही नही हुई; कारण, राष्ट्र अब सुगठित, शक्तिशाली तथा बाह्य संकटसे सुरक्षित हो चुका था। अन्य स्थानों, प्रोटैस्टैंट और कैथेलिक देशोंमें यह सफल भी हुआ; बहुत कम स्थानोंपर—जैसे पोलैंडमे, जहाँ यह कार्यान्वित किया ही नही जा सका या इसे सफलता ही नही मिली, इसका परिणाम अत्यत दु:खदायी हुआ। निश्चय ही, मनुष्यकी आत्माके लिये यह सभी जगह अत्याचाररूप था, पर इसका कारण केवल शासकोंकी स्वाभाविक दुष्टता ही नही थी, राजनीतिक और यान्त्रिक साधनोंद्वारा राष्ट्र-इकाईके निर्माणमे यह एक अनिवार्य अवस्था थी। यदि यूरोपमें इसने केवल ईंग्लैंडको ही एक ऐसा देश रहने दिया जहाँ स्वतंत्रता स्वाभाविक क्रमोंद्वारा आगे बढ़ सकी, तो यह, नि.सदेह, अधिकतर जातिके प्रबल गुणों और इससे भी बढ़कर उसके समृद्ध इतिहास और द्वीपीय परिस्थितियोंके कारण था।

इस विकासमे राजतंत्रीय राज्यने मनुष्योंकी धार्मिक स्वतंत्रताओंको कुचल दिया था या फिर उन्हे अधीन कर लिया था। अधीनस्थ या मित्रता-

*यह सर्वाधिकारवादी सिद्धांत रूस, जर्मनी तथा इटलीमें रोचक पूर्णताके साथ निदर्शित हो रहा है।

पूर्ण धार्मिक संघको उसने अपने दैवी अधिकारका पुरोहित तथा धर्मको सांसारिक राजपदका सेवक वना लिया। उसने कुलीनतत्वकी स्वतत्नताको नष्ट कर दिया, केवल उसके कुछ अधिकार छोड दिये और वे भी उसे राजाकी शक्ति वढाने तथा उसे पुष्ट करनेके लिये दिये गये थे। इसने मध्यवर्गको कुलीनवर्गके विरोधमे खडा करके, जहाँ भी संभव हुआ, उसकी वास्तविक और सजीव नागरिक स्वतंत्रताको नष्ट कर दिया, केवल उसके वाह्य रूपको तथा उसके विशेष स्वत्व और अधिकारके कुछ अगोको रहने दिया। उधर साधारण जनताके कोई अधिकार थे ही नही जिन्हे वह नष्ट करता। इस प्रकार राजतंत्रीय राज्यने सारे राष्ट्रीय जीवनको अपने कार्यकलापमे केंद्रित कर लिया। चर्च अपने नैतिक प्रभाव तथा कुलीनवर्ग अपनी सैनिक परंपराओ और योग्यताओके द्वारा, मध्यवर्ग अपने वकीलोकी बुद्धि या कूटनीति तथा अपने विद्वानो, विचारको और जन्मजात व्यावसायिक बुद्धिवाले व्यक्तियोकी साहित्यिक योग्यता और प्रशासनीय निपुणताके द्वारा उसकी सेवा करता था; सर्वसाधारण लोग राज्यको कर देते थे तथा उसकी वैयक्तिक और राष्ट्रीय महत्त्वाकाक्षाओको अपने रक्तसे सीचते थे। पर इस सपूर्ण शक्तिशाली ढाँचे और सुगठित व्यवस्थाके लिये उसकी अपनी विजय ही अभिशाप वन गयी, उसके भाग्यमे यही वदा था कि वह या तो एकदम चरमराकर गिर जाय और फिर नयी आवश्यकताओ और नये अभिकरणोके आगे कुछ-कुछ अनिच्छापूर्वक और शनै-शनै अपना पद छोड दे। उसका सहन तथा समर्थन केवल उतने समयके लिये ही किया गया जवतक राष्ट्र चेतन या अवचेतन रूपमे उसकी आवश्यकता और उसका औचित्य अनुभव करता रहा; ज्योही वह चीज पूरी होकर समाप्त हो गयी, त्योही अनिवार्य रूपसे वही पुरानी समस्या आ उपस्थित हुई जो अब पूर्णतया सचेतन हो जानेके कारण और अधिक न तो दवायी जा सकती थी और न ही सदाके लिये रोकी जा सकती थी। पुरानी व्यवस्थाको स्वागमात्रमे बदलकर राजतत्रने अपना आधार आप नष्ट कर लिया था। चर्चकी पुरोहितीय सत्ताके विषयमे जव एक वार आध्यात्मिक आधारपर शका की जाने लगी तो अव वह और अधिक लौकिक साधनों—तलवार या कानून—के वलपर नही टिक सकती थी। कुलीनतत्व क्योकि अपने विशेपाधिकारोको रखते हुए भी अपने सच्चे कर्तव्योको छोड वैठा था, निम्नवर्ग उससे घृणा करने लगा तथा उसे संदेहकी दृष्टिसे देखने लगा। उधर मध्यवर्गने, जो अव अपनी योग्यताके प्रति सचेतन तथा अपनी सामाजिक और राजनीतिक हीनतासे क्षुब्ध हो उठा था, अपने विचारकोकी आवाजसे

जागकर विद्रोहका आंदोलन उठाया और सर्वसाधारणसे सहायताके लिये प्रार्थना की; मूक, पीड़ित और दुःखी जनता इस नयी सहायताको प्राप्त कर उठ बैठी जो उसे पहले कभी नही मिली थी; उसने सारी सामाजिक व्यवस्थाको उलट दिया। पुराने युगके विनाश और नये युगके जन्मका यही कारण था।

हमने इस विशाल क्रांतिकारी आंदोलनका आंतरिक औचित्य देख लिया है। केवल अपने अस्तित्वके लिये न तो राष्ट्र-इकाई निर्मित ही होती है और न ही वह बनी रहती है। उसका आशय होता है मानव-समुदायके एक ऐसे बृहत्तर साँचेका निर्माण करना जिसमे समूची जाति—केवल वर्ग और व्यक्ति नही—अपने पूर्ण मानव-विकासकी ओर बढ सके। जबतक निर्माण-कार्यके लिये श्रम करना पड़े, यह बृहत्तर विकास रुक सकता है और सत्ता एवं व्यवस्थाको प्रथम स्थान दिया जा सकता है, पर जब समुदाय-को अपने अस्तित्वका निश्चय हो जाय और वह एक आंतरिक विस्तारकी आवश्यकता अनुभव करने लगे तो इसका कुछ प्रयोजन नही रहेगा। तब इन पुराने बंधनोको तोड़ना पड़ेगा, निर्माणके साधनोको विकासमार्गमे बाधा समझकर त्याग देना होगा। तब स्वतंत्रता जातिका प्रेरक शब्द हो जायगी। जो धर्म-मतकी स्वतत्रता तथा नये नैतिक और सामाजिक विकासको दबाता था उसे अपने निरंकुश अधिकारसे च्युत कर देना होगा जिससे मनुष्य मानसिक तथा आध्यात्मिक रूपमें स्वतंत्र हो सके। शासक और कुलीन-वर्गके एका-धिकारोका नाश करना होगा जिससे सब लोग राष्ट्रीय शक्ति, समृद्धि और और गति-विधिमे अपना भाग ले सके। और अंतमें तो मध्यवर्गके पूंजीवादको भी एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्वीकार करनेके लिये प्रेरित या विवश करना पड़ेगा जिसमे कष्ट, दारिद्र्य और शोषण नही होगे तथा समाजकी धन-सपत्तिका उन सबद्वारा समान रूपसे उपयोग किया जायगा जो उसे अर्जित करनेमे सहायक होते हैं। सब क्षेत्रोमे मनुष्योंके अपने स्वत्वको प्राप्त करना होगा, अपने अंदरके मनुष्यत्वकी महत्ता और स्वतंत्रताको समझना तथा अपनी पूरी क्षमताके अनुसार कार्य करना होगा।

कारण, स्वतंत्रता ही पर्याप्त नही है, न्याय भी आवश्यक है और इसकी मांग प्रबल हो रही है, समानताकी पुकार उठ रही है। निश्चय ही पूर्ण समानताका इस संसारमें अस्तित्व नही है; पर इस शब्दका उद्देश्य पुरानी सामाजिक व्यवस्थाकी अन्याययुक्त और अनावश्यक असमानताओंका विरोध करना था। न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्थाके अंदर सबको समान अवसर प्राप्त होगा, सभीको अपनी मानसिक शक्तियोकी वृद्धि तथा उनके प्रयोगके

लिये समान शिक्षा दी जायगी और जहाँतक हो सकेगा सामुदायिक जीवनके लाभोमे सबका बराबर हिस्सा होगा; यह सब उन लोगोको अधिकारपूर्वक मिलेगा जो अपनी क्षमताओका प्रयोग करके इस जीवनको स्थायी, शक्तिशाली और उन्नत करनेमे सहायता पहुँचायेगे। जैसा कि हम देख चुके है, यह आवश्यकता स्वतन्त्र सहकारिताके एक ऐसे आदर्शका रूप धारण कर सकती थी जिसे जनताकी इच्छाका प्रतिनिधित्व करनेवाली दूरदर्शी और उदार केंद्रीय सत्ता मार्ग दिखाती और सहायता पहुँचाती, पर यह वास्तवमे पूर्ण और समर्थ राज्यके पुराने विचारकी ओर लौट पडी है जो राजतन्त्रीय, धार्मिक और कुलीन नही वरन् लौकिक, जनतन्त्रीय और सामाजिक है, इसमे समानता और समुदायकी योग्यताकी आवश्यकताके आगे स्वतन्त्रताका बलिदान कर दिया गया है। लौटनेकी इस क्रियाके मनोवैज्ञानिक कारणोपर हम अभी विचार नही करेगे। शायद स्वतन्त्रता और समानतामे, स्वतन्त्रता और अधिकारमे तथा स्वतन्त्रता और सगठित योग्यतामे पूर्णतया सतोषजनक मेल तबतक कभी भी नही हो सकता, जबतक मनुष्य, व्यष्टि तथा समष्टि रूपमे, अहभावके सहारे जीता है, जबतक उसमे महान् आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन नही आ जाता और सामुदायिक ससर्गमात्रसे ऊपर उठकर वह उस तीसरे आदर्शतक नही पहुँच जाता जिसे स्वतन्त्रता और समानताके प्रेरक शब्दोके साथ जोड देनेके लिये किसी अस्पष्ट अनुभूतिने फ्रासके क्रातिकारी विचारकोको उकसाया था। यह आदर्श भ्रातृ-भावका आदर्श है, यदि कम भावुक तथा अधिक सच्चे शब्दोमे कहे तो एक अतरीय एकताका आदर्श है और तीनोमे महान् है, यद्यपि यह अभीतक लोगोकी जिह्वापर एक कोरा शब्दमात्र है। इसे किसी सामाजिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक साधनने अबतक न तो उत्पन्न किया है और न ही वह इसे उत्पन्न कर सकता है; इसे मनुष्यकी आत्मामे जन्म लेना होगा और अंदरकी गुप्त और दिव्य गहराइयोमेसे प्रादुर्भूत होना होगा।

चौदहवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय एकताकी ओर पहला कदम : उसकी भारी कठिनाइयाँ

राष्ट्र-इकाईका विकास निश्चित ही आंतरिक आवश्यकता और भावनाके अधिकाधिक दवावके कारण, पर राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियो, पद्धतियो और साधनोके माध्यमसे हुआ। इसके अध्ययनसे हमे पता चलता है कि इसकी प्रगति एक ऐसी अनिश्चित-सी रचनासे शुरू हुई जिसमे अनेक प्रकारके तत्त्व एकीकरणके लिये एक साथ उपस्थित थे और यह प्रगति एक प्रवल केंद्रीकरण और दवावके एक ऐसे कालमेंसे गुजरी जिसमे सचेतन राष्ट्रीय अहंभाव विकसित और सुदृढ़ हुआ, साथ ही इसे अपने आभ्यंतरिक जीवनका केंद्र एवं उसके साधन भी प्राप्त हुए। उसके वाद यह सुनिश्चित और पृथक् अस्तित्व तथा आंतरिक एकताके—अव वाह्य दवावके कारण नही—उस अतिम कालतक पहुँची जिसमे स्वाधीनताका उपभोग करना और राष्ट्रीय जीवनके लाभोंमे सवका सक्रिय और अधिकाधिक समान भाग लेना सभव हो गया। यदि मानवजातिकी एकता भी उन्ही साधनो तथा अभि-करणोंद्वारा और उसी ढगसे प्राप्त की जानी है जिनके द्वारा तथा जिस ढगसे राष्ट्रकी एकता प्राप्त की गयी थी तो हमे यह आशा रखनी चाहिये कि इसका क्रम भी ऐसा ही होगा। कम-से-कम यह एक अत्यधिक प्रत्यक्ष सभावना अवश्य है और सृजनके प्राकृतिक नियमके अनुकूल जान पड़ती है जिसके अनुसार सृजन एक शिथिल द्रव्यसे, शक्तियों और उपादानोंसे कम या अधिक अगठित और अनिश्चित रूपसे आरभ होता है और संकोच, सिम-टाव और घनीकरणकी क्रियामेंसे गुजरता हुआ एक ऐसे दृढ सांचेका रूप धारण कर लेता है जिसमे जीवनके विभिन्न रूपोके समृद्ध ढंगसे विकसित होनेकी निश्चित संभावना अवश्य होती है।

हम यदि संसारकी वास्तविक अवस्था तथा उसकी तात्कालिक संभाव-नाओपर विचार करे तो हम देखेंगे कि पहले शिथिल निर्माण और अपूर्ण व्यवस्थाके कालका आना अनिवार्य है। न तो मानवजातिकी वौद्धिक तैयारी, न उसकी भावनाओका विकास और न ही वे आर्थिक और राजनीतिक

शक्तियाँ और अवस्थाएँ जो इसका सचालन करती है या इसे व्यस्त रखती है आंतरिक प्रेरणा या वाह्य दवावके उस स्थलतक पहुँची होती है जो हमे इस वातकी निश्चित आशा दिला दे कि हमारे जीवनका आधार पूर्णतया वदल जायगा या एक पूर्ण या वास्तविक एकता स्थापित हो जायगी। मनोवैज्ञानिक एकता तो दूर रही तव एक वास्तविक वाह्य एकता भी संभव नही होती। यह सत्य है कि इसी प्रकारकी वस्तुकी एक अस्पष्ट-सी भावना और आवश्यकता शीघ्रतासे वढ़ती जा रही है और युद्धका प्रत्यक्ष दृष्टांत भविष्यके प्रधान विचारको उस प्रारभिक अवस्थामेसे निकाल लाया है जिसमें वह कुछ शातिके समर्थको और अतर्राष्ट्रीयवादी आदर्शप्रेमियोका एक उदार स्वप्नमात्र था। लोग इस वातको स्वीकार करने लगे है कि इसमे अंतिम वास्तविकताकी एक शक्ति निहित है; और जो लोग इसे वुद्धिजीवियो, और सनकियोकी पोषित धारणाके रूपमे नीचा दिखाना चाहते है उनकी आवाजमे अव उतना व्यापक प्रभाव और विश्वास नही रहा है, कारण, साधारण जनकी सामान्य वुद्धि अर्थात् जड मनकी उस अदूरदर्शी सामान्य वुद्धिका उसे दृढ आश्रय नही मिलता जिसे तात्कालिक तथ्योकी प्रवल अनुभूति तो होती है पर जो भविष्यकी सभावनाओके प्रति पूर्णतया अँधेरेमे रहती है। सर्वसाधारणकी भावनाओका पुन. निर्माण करनेके लिये इस युगके वुद्धिजीवियोने जिस उत्तरोत्तर प्रवल होते हुए विचारको गढा था उसकी वौद्धिक तैयारी अभीतक कुछ विशेष अधिक नही हुई है। न ही वर्तमान अवस्थाओके विरोधमे वढते हुए विद्रोहको इतनी जन-शक्ति प्राप्त हुई है जिससे उन विशाल जनसमुदायोके लिये, जिनका किसी आदर्शके प्रति प्रेम है तथा जिनमे मानवजातिके लिये एक नया सतोष प्राप्त करनेकी आशा उत्पन्न हो गयी है, यह सभव हो जाय कि वे वस्तुओके वर्तमान आधारको तोड़कर सामूहिक जीवनकी एक नयी प्रणाली गढ ले। एक दूसरी दिशामे, जो समाजके व्यक्तिवादी आधारके स्थानपर वढता हुआ समूहवाद ले आयगी, विद्रोहकी इस प्रकारकी वौद्धिक तैयारी काफी हदतक हो गयी है और उसके लिये सम्मिलित जनशक्ति भी पैदा हो गयी है। इसके लिये युद्धने द्रुतगतिसे कार्य किया है तथा वह हमे एक चरितार्थ राज्य-समाजवादकी सभावनाके काफी निकट ले आया है—यह जनतंत्रीय ही हो यह आवश्यक नही। किंतु अतर्राष्ट्रीय एकीकरणके शक्तिशाली आदोलनके लिये ऐसी अनुकूल पूर्व-अवस्थाएँ उत्पन्न नही हुई है। इस दिशामे एक सामूहिक और सक्रिय आदर्शवादके लिये कोई विशेष एव सफल प्रयत्न होगा ही यह भविष्यवाणी युक्तिसगत नही हो सकती। तैयारी सभवतया शुरू हो चुकी

है और यह भी सभव है कि हालकी घटनाओंने इसे अत्यधिक सहायता और गति प्रदान की है पर यह अभी है केवल अपनी प्रारंभिक अवस्थामें ही।

यदि संसारके बुद्धिजीवी व्यक्ति अंतर्राष्ट्रीय जीवनकी संपूर्ण स्थितिका सामान्य सिद्धांतोके आधारपर पूर्णतः या जड-मूलसे दुबारा निर्माण करना चाहेंगे तो उनके विचार तथा उनकी योजनाएँ तुरत ही चरितार्थ नही हो सकती। सर्जनशील मानव-आशाके एक सामान्य आदर्शवादी आदोलनकी अनुपस्थितिमे ही—उस आशाके जो ऐसे परिवर्तनोको लाना सभव कर देगी—भविष्य अपना रूप ग्रहण करेगा, यह कार्य विचारकके विचार नही वरन् राजनीतिज्ञका वह क्रियात्मक मन करेगा जो उस समयके सामान्य विवेक और स्वभावको दर्शाता है और साधारणतया ऐसे कार्यको सपन्न करता है जो 'संभव'को अधिकतम मात्रामे नही वल्कि न्यूनतम मात्रामे चरितार्थ करता है। विशाल जनसमुदायका सामान्य औसत मन उन्ही विचारोको सुननेके लिये तैयार होता है जिन्हे ग्रहण करनेकी उसे शिक्षा मिल चुकी है, वह कभी इस विचारको और कभी उस विचारको एकपक्षीय आग्रहके साथ पकड़नेका आदी होता है, फिर भी वह अपने कार्यमे जितना अपने हितो, आवेशो और पक्षपातोद्वारा सचालित होता है उतना अपने विचारोंद्वारा नही। राजनीतिज्ञ और राज्य-विशारद (Statesmen) भी—और आजकल ससार राजनीतिज्ञोसे तो भरा हुआ है पर राज्य-विशारदोसे विल्कुल ही खाली है—जनसमुदायकी इसी औसत बुद्धिसे कार्य करते है; एक तो इसके द्वारा संचालित होता है और दूसरेको इसे सदा प्रमुख स्थान देना पड़ता है, किंतु वह इसे चाहे जिधर नही ले जा सकता, जवतक कि वह उन महान् प्रतिभाशाली और प्रभावपूर्ण व्यक्तियोमेसे ही न हो जिनमे व्यापक मन और विचारकी सक्रिय शक्ति होती है तथा जो मनुष्योपर अत्यधिक अधिकार और प्रभाव रखते है। इसके अतिरिक्त, जनसाधारणके सामान्य औसत मनकी सीमाओके साथ-साथ राजनीतिज्ञके मनकी अपनी सीमाएँ भी होती है, वल्कि वह पुरानी अवस्थाओके प्रति अधिक आदर-भाव रखता है। वह किसी ऐसे वडे साहसिक कार्यके लिये प्रयत्न करना पसद नही करता जिसमे पूर्वकालका सुरक्षित आधार छोडना पडे; किसी अनिश्चित और नये कार्यको हाथमे लेनेमे वह अधिक असमर्थ होता है। ऐसा करनेके लिये वह जनमत या किसी शक्तिशाली हितद्वारा वाधित किया जायगा या वह स्वयं ही किसी ऐसी महान् और नयी प्रेरणाके वशीभूत हो जायगा जो उस समयके मानसिक वातावरणमे व्याप्त है।

यदि राजनीतिज्ञको पूर्णतया अपने ऊपर ही छोड दिया जाय, तो हम

इतिहासमे घटित बडी-से-बडी अन्तर्राष्ट्रीय क्रांतिके इससे अधिक श्रेष्ठ और प्रत्यक्ष परिणामकी आशा नही कर सकते कि सीमातोपर पुनर्व्यवस्था स्थापित हो जाय, अधिकार और संपत्तिका पुर्नवितरण हो जाय और अन्तर्राष्ट्रीय, व्यापारिक और अन्य सबध कुछ अच्छे-बुरे रूपमे किसी हदतक विकसित हो जायँ। यह एक बडी दु.खद संभावना है जो उन अधिक दु.खद क्रातियोको जन्म देगी—जबतक इस समस्याका हल नही हो जाता—जिनके कारण संसारका भविष्य किसी भी प्रकार सुरक्षित नही है। फिर भी हम यह आशा कर सकते है कि पुरानी व्यवस्थाके नैतिक पतनके परिणामस्वरूप नयी व्यवस्थाके आरभ करनेके लिये कोई गंभीर प्रयत्न होना चाहिये। कारण, जातिका मन अब बहुत हदतक गतिशील हो गया है, उसकी भावनाएँ प्रबल रूपमे जाग उठी है तथा यह भाव खूब व्यापक हो रहा है कि पुरानी स्थिति अब और नही सही जाती, राजनीतिज्ञोको भी अब यह काफी स्पष्ट हो गया है कि ऐसे राष्ट्रीय अहभावोके घेरेपर टिका हुआ अंतर्राष्ट्रीय सतुलन अब और नही चल सकता जिन्हे पारस्परिक भय और सकोचने, असफल पचायती सधियो तथा हेग (Hague) की अदालतो एव यूरोपीय सहयोग (European Concert) के मूर्खतापूर्ण विरोधोने नियत्रणमे रखा हुआ है। युद्धजनित राग-द्वेप तथा राष्ट्रोकी स्वार्थपूर्ण आशाएँ निश्चित ही मार्गमे भारी बाधाएँ होती है और वह ऐसे किसी भी प्रारंभको आसानीसे या तो व्यर्थ कर सकती है या फिर उसे केवल अस्थायी वस्तु बना सकती हे। किंतु, और कुछ न भी हो, तो भी संघर्षकी कठोरताके शात होनेके बाद उत्पन्न हुई थकावट और आतरिक प्रतिक्रिया ही नयी भावनाओ, शक्तियो, घटनाओ तथा नये विचारोको ऊपर उठनेका अवसर दे सकती है जो इस घातक प्रभावको अशक्त कर देगे।[1]

फिर भी, जिसकी अधिक-से-अधिक आशा की जा सकती है वह भी

---

[1] यह १९१६ में युद्धकी समाप्तिसे पहले, लिखा गया था। यह अपेक्षाकृत सुखकर संभावना तत्काल हो चरितार्थ नहीं हो सकी थी, पर इस बढती हुई अरत्ता, अव्यवस्था तथा विपत्तिने यह अधिकाधिक अनिवार्य कर दिया हे कि यदि आधुनिक सभ्यताको रक्तपात और अव्यवस्थामें ही समाप्त नहीं होना है तो किसी अंतर्राष्ट्रीय प्रणालोका निर्माण अवश्य होना चाहिये। इस आवश्यकताका ही यह फल हुआ कि पहले राष्ट्रसंघ (League of Nations) और बादमें संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N O.) की स्थापना हुई; यद्यपि राजनीतिक दृष्टिसे इनमेंसे कोई भी अधिक संतोषप्रद प्रमाणित नही हुआ, फिर भी यह प्रत्यद्त हो गया है कि भविष्यमें व्यवस्थाके लिये किसी ऐसे संगठित केंद्रका होना अति आवश्यक है।

बहुत कम होगा।' राष्ट्रोंके अंतरीय जीवनमें युद्धके अंतिम फल तो गंभीर और प्रबल होंगे ही, क्योंकि वहाँ सब कुछ तैयार है, जो दबाव अनुभव किया जाता है वह बहुत अधिक है और इस दबावके दूर होनेके बाद इसकी व्यापकता भी अपने परिणामोंमें उतनी ही बड़ी होगी; किंतु अंतर्राष्ट्रीय जीवनमें हम केवल अधिक-से-अधिक आमूल परिवर्तनके उतने ही न्यूनतम भागकी आशा कर सकते हैं जो, कितना भी थोड़ा क्यों न हो, एक सुदृढ़ आरंभ-स्थल बन सकता है, एक काफी सशक्त बीज हो सकता है जिससे भावी विकास सुनिश्चित हो जायगा। वास्तवमें यदि इस विश्वव्यापी संघर्षकी समाप्तिमें पहले ही कुछ ऐसी घटनाएँ पैदा हो जाती जो यूरोपकी सामान्य मनोवृत्तिको बदलने, उसके शासकोंके क्षुद्र विचारोंको अधिक गहराई प्रदान करने तथा आमूल परिवर्तनकी आवश्यकताका जितना व्यापक भाव अबतक विकसित हुआ है उससे अधिक व्यापक भाव उत्पन्न करनेमें काफी सशक्त होती, तो इससे अधिककी आशा भी की जा सकती थी; पर यह महान् युद्ध जब समाप्तिपर आया, तो ऐसी कोई संभावना सामने नहीं आयी। यह गतिशील अवसर जिसमें ऐसे संकटके समय मनुष्योंके सफल विचारों और उनकी प्रवृत्तियोंका निर्माण होता है, बिना कोई महान् और गहन प्रेरणा पैदा किये ही चला गया। केवल दो बातें ऐसी थीं जिनके संबंधमें लोगोंकी सामान्य मनोवृत्तिपर प्रभाव पड़ा था। सबसे पहले तो इस बड़ी विपत्तिके दुबारा आनेकी संभावनाके विरोधमें एक विद्रोहका भाव पैदा हो गया। पर इससे भी अधिक प्रबल रूपमें इस बातकी आवश्यकता अनुभव की जाने लगी कि कोई ऐसे साधन ढूंढ़े जायँ जो क्रांतिके द्वारा उत्पन्न हुई जातिके आर्थिक जीवनकी अभूतपूर्व अस्तव्यस्तताको दूर कर दें। अतएव इन्हीं दो दिशाओंमें कुछ वास्तविक प्रगति होनेकी आशा की जा सकती थी; क्योंकि यदि सामान्य आशा और इच्छाको पूरा करना है तो इतना प्रयत्न तो होना ही चाहिये, इनकी उपेक्षा करनेका अर्थ होगा कि यूरोपकी राजनीतिक बुद्धिका दिवाला निकल गया है। इस असफलताके कारण यूरोपकी सरकारों और उसके शासक वर्गोंपर यह लाछन लगेगा कि वे नैतिक और बौद्धिक रूपसे शक्तिहीन हो गये हैं; और अंतमें तो यह यूरोपीय जातियोंको अपनी उस समयकी संस्थाओं और मूढ़ एवं दिग्भ्रांत नेतृत्वके विरुद्ध व्यापक विद्रोह करनेके लिये भड़का भी सकती है।

इसलिये अब यह आशा की जानी आवश्यक थी कि युद्धको कम और नियमित करनेके लिये, युद्ध-सामग्रीको परिमित करने तथा संकटपूर्ण झगड़ोंको

संतोषजनक रूपमे निवटाने और विशेषकर व्यापारिक उद्देश्यो और हितोके संघर्षका सामना करनेके लिये--यद्यपि यह सवसे अधिक कठिन है--कोई स्थायी और फलप्रद साधन जुटानेका प्रयत्न किया जाय, वास्तवमे, यह संघर्ष आजकल उन सव अवस्थाओमेसे एक प्रभावशाली अवस्था है जो युद्धके पुनरावर्तनको अनिवार्य कर देती है यद्यपि यही इसका एकमात्र कारण नही है। यदि इस व्यवस्थाके अंदर अंतर्राष्ट्रीय नियन्त्रणका वीज विद्यमान हो, यदि यह एक शिथिल अतर्राष्ट्रीय सघटनकी ओर उठाया गया पहला कदम वन जाय अथवा इसमे उसके तत्त्व या प्रारभिक रूपरेखाएँ ही निहित हो या यह एक ऐसी प्रथम योजना वन जाय जिसे अपनाकर मानवजीवन, संयुक्त अस्तित्वकी ओर वढते हुए, विकासका एक साँचा प्राप्त कर ले, तो शुरूमे चाहे यह व्यवस्था कितनी भी प्रारभिक या असतोपजनक क्यो न हो, भविष्यके लिये प्राप्तिकी आशा सुनिश्चित हो जायगी। एक वार इस व्यवस्थाके शुरू हो जानेपर मनुष्यजातिका इससे पीछे हटना असंभव हो जायगा, इस विकासके मार्गमे कितनी ही कठिनाइयाँ, निराशाएँ, प्रतिक्रियाएँ, वाधाएँ, कितने ही सघर्ष, या क्रूर विघ्न क्यो न आये, ये अतमे उस अतिम और अनिवार्य परिणाममे सहायक ही होगे।

फिर भी, यह आशा निर्मूल है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रणका सिद्धात आरभमे ही पूर्णतया सफल हो जायगा अथवा यह शिथिल रचना जो शुरूमे सभवत अर्ध-स्पष्ट और अर्ध-अस्पष्ट ही होगी भविष्यके सघर्षो, विस्फोटो और विपत्तियोको रोक देगी।* कठिनाइयाँ वहुत वडी है। जातिका मन अभी आवश्यक अनुभवसे वचित है, इसके शासकवर्गकी वुद्धिको विवेक और दूरदर्शिताका न्यूनतम आवश्यक अंश भी प्राप्त नही हुआ है; लोगोके स्वभावमे आवश्यक सहज-प्रेरणाएँ और भावनाएँ उन्नत नही हुई है। अतएव, जो भी व्यवस्था की जायगी वह राष्ट्रीय अहभावो, तृष्णाओ, लालसाओ और अधिकामनाओके पुराने आधारपर ही आगे वढेगी और उन्हे केवल उतना ही अनुशासित करनेका यत्न करेगी जितना कि अत्यत दुखदायी संघर्षोको रोकनेके लिये पर्याप्त होगा। जिन साधनोका पहले प्रयोग किया जायगा वे अवश्य ही काफी नही होगे, क्योकि उन्ही अहंभावोको जिन्हे नियन्त्रित करनेकी आवश्यकता है, अधिक महत्त्व दिया जायगा, सघर्पके

---

*इस भविष्यवाणीको—जो उस समय करनी काफी आसान थी—और इसके अनुमानित कारणोको घटनाक्रम तथा उससे भी वड़े तथा अधिक संकटपूर्ण युद्धके आरभने पूरी तरह सत्य सिद्ध किया है।

कारण फिर भी बने रहेगे। इसे उत्पन्न करनेवाली मनोवृत्ति भी जीवित रहेगी, शायद थक जाय या अपनी कुछ गति-विधियोमे थोडे समयके लिये दब भी जाय, पर जड-मूलसे यह नष्ट फिर भी नही होगी। संघर्षके साधनोपर नियत्रण रखा जा सकता है, पर उन्हे बना फिर भी रहने दिया जायगा। युद्ध-सामग्रीपर भी कुछ रोक हो सकती है, पर उसका पूरा बहिष्कार नही होगा, राष्ट्रीय सेनाओकी सख्याको सीमित किया जा सकता है—यद्यपि यह होगा भ्रातिपूर्ण—पर वे रखी फिर भी जायँगी; विज्ञान अब भी वडी चतुरतासे सामूहिक हत्याके ढग खोजनेमे लगा रहेगा। युद्ध केवल तभी समाप्त किया जा सकता है, यदि राष्ट्रीय सेनाओको भी समाप्त कर दिया जाय, तब भी यह कठिनाईसे तथा एक और ऐसी मशीनरीके निर्माणके द्वारा समाप्त हो सकता है जिसे मानवजाति अभीतक बनाना नही जानती और यदि वह इसे बना भी ले तो भी कुछ समयके लिये इसका प्रयोग करनेमे वह पूर्णतया समर्थ या इच्छुक नही होगी। और राष्ट्रीय सेनाओको समाप्त करना सभव भी नही है, क्योकि प्रत्येक राष्ट्र अन्य सब राष्ट्रोपर अत्यधिक अविश्वास करता है, उसकी अनेको महत्त्वाकाक्षाएँ है, तृष्णाएँ है, वह किसी औरके लिये नही तो अपने बाजारोकी रक्षा तथा अपने राज्य, उपनिवेश एवं अधीनस्थ जातियोको दबाये रखनेके लिये ही सशस्त्र रहनेकी आवश्यकता अनुभव करता है। व्यापारिक महत्त्वाकाक्षाएँ और प्रतिस्पर्द्धाएँ, राजनीतिक अभिमान, स्वप्न, अभिलाषाएँ और ईर्ष्याएँ—ये सब केवल जादूकी छड़ी घुमानेसे ही विलीन नही हो जायँगे, कारण यूरोपने चिरपोषित महत्त्वाकाक्षाओं, ईर्ष्याओ और घृणाओके मूर्खतापूर्ण संघर्षमे अपने पुरुष-समाजका दशमाश नष्ट कर डाला है और दशाब्दियोमें प्राप्त किये हुए साधन तीन वर्षमे ही युद्धकी भट्ठीमे झोक दिये है। इससे पहले कि राष्ट्रोका मनोविज्ञान एक ऐसी "आश्चर्यजनक, समृद्ध और विचित्र" वस्तुमे बदल जाय जो युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय मुठभेड़ोको हमारे दुःखी और लडखडाते हुए जीवनसे बिल्कुल निकाल दे, यह आवश्यक है कि जागृति और अधिक गहरी हो जाय तथा कार्यकी विशुद्धतर जडोपर अधिकार कर ले।

यदि राष्ट्रीय अहभाव विद्यमान है, सघर्षके साधन उपस्थित है तो उसके कारणो, अवसरो और बहानोका भी अभाव नही होगा। वर्तमान युद्धके छिडनेका कारण यह था कि सभी प्रमुख राष्ट्र दीर्घकालसे एक ऐसे रास्तेपर चल रहे थे कि उसका आना अनिवार्य हो गया। यह शुरू इसलिये हुआ कि एक तो बाल्कन प्रायद्वीपका झमेला खडा हो गया और

दूसरे उत्तरी अफ्रीकामे एक निकटपूर्वी आशा और व्यापारिक एव औपनिवेशिक प्रतिस्पर्द्धाएँ पैदा हो गयी, इससे बहुत पहले कि कोई एक या अधिक राष्ट्र हाथमे तोप-बंदूक लेकर लडे, प्रवल राष्ट्र शातिकालमे ही इन्ही वातोपर आपसमें लडते आ रहे थे। साराजैवो (Sarajevo) और वैल्जियमने तो केवल निर्धारक अवस्थाओका ही काम किया, इसके मूल कारणोतक पहुँचनेके लिये हमे पीछेतक, कम-से-कम अगादीर (Agadır) और ऐलजसिरास (Algecıras) तक जाना पडेगा। मौरोकोसे त्रिपोलीतक, त्रिपोलीसे थ्रेस और मैसेडोनियातक और मैसेडोनियासे हरट्सगोविना (Heızegovina) तक यह विजलीकी लहर कार्य-कारण और कर्म तथा उसके फलके उस अनिवार्य तर्कके अनुसार दौडती रही जिसे हम कर्म-सिद्धांत कहते है। इससे मार्गमे पहले तो छोटे-मोटे विस्फोट होते रहे, पर ज्योही इसे भडकनेका अवसर मिला, इसने वहाॅ एक ऐसा वडा विस्फोट उत्पन्न कर दिया जिससे यूरोप रक्तपात और ध्वसका क्षेत्र वन गया। वाल्कनका प्रश्न सभवत अंतिम रूपसे सुलझाया जा सकता है यद्यपि यह है वडा अनिश्चित, शायद अफ्रीकासे जर्मनीको निश्चित रूपसे निकाल देनेसे स्थिति कुछ सुधर सकती है, क्योकि तब वह महाद्वीप उन तीन-चार राष्ट्रोके अधिकारमे आ जाता है जो आजकल मित्र-राष्ट्र हैं। किंतु जर्मनीको नक्शेसे मिटा भी दिया जाय, और यूरोपमें उसके क्षोभो और उसकी महत्त्वाकाक्षाओको महत्त्व न भी मिले, तो भी युद्धके मूल कारण नष्ट नही होगे। निकट और सुदूर पूर्वका एशियाई प्रश्न फिर भी रहेगा; यह अब नयी अवस्थाओ और नये रूपोमे प्रकट होकर अपने अंगभूत तत्त्वोको फिरसे एकत्र कर सकता है, पर यह संकटसे इतना आक्रात रहेगा कि यदि यह बुद्धिमत्तापूर्वक न सुलझाया गया या सुलझा ही नही तो यह काफी निश्चित रूपमे पहलेसे कहा जा सकता है कि मनुष्यजातिके अगले महायुद्धका क्षेत्र या प्रारभ-स्थल एशिया होगा। यह कठिनाई हल हो भी जाय, तो भी जहाँ राष्ट्रीय अहभाव और लोलुपताकी भावना अपनी तुष्टि चाहती है वहाॅ युद्धके नये कारण अनिवार्य रूपसे उत्पन्न हो जायँगे। जवतक यह जीवित है, यह अपनी तुष्टि करना चाहेगी, परिपूर्त्ति इसे स्थायी सतोप कभी नही दे सकती। वृक्ष अपने फल अवश्य उत्पन्न करेगा और प्रकृति सदा ही एक परिश्रमी उद्यान-रक्षिका है।

सेना और युद्ध-सामग्रीको सीमित कर देना युद्धका झूठा इलाज है। नियत्रणका कोई सफल अतर्राष्ट्रीय साधन प्राप्त हो भी जाय तो भी युद्धका सयोग वास्तविक रूपमे सामने उपस्थित होनेपर यह साधन निष्क्रिय हो

जायगा। यूरोपीय संघर्षने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि युद्धकालमें देशको शस्त्र बनानेका एक विशाल कारखाना बनाया जा सकता है और राष्ट्र अपने सारे शांतिपूर्ण पुरुषसमाजको सेनामें बदल सकता है। इंग्लैंडके पास आरंभमें एक छोटी और बहुत साधारण-सी सशस्त्र सेना थी, पर केवल एक वर्षमें ही उसने लाखों पुरुष खड़े कर लिये और दो वर्षमें तो वह उन्हें शिक्षा देकर उन्हें लैस करने तथा सफलतापूर्वक मुकाबलेमें खड़ा करनेमें भी समर्थ हो गया। यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त हमें यह बतानेके लिये पर्याप्त है कि सेना और युद्ध-सामग्रीको सीमित कर देनेसे केवल शांतिकालमें राष्ट्रका बोझ तो हलका हो सकता है, किंतु इसी तथ्यके बलपर संघर्षके और अधिक साधन जमा हो जाते हैं; तो भी युद्धकी घातक तीव्रता और उसकी व्यापकता न तो रुक ही सकती है और न ही कम हो सकती है। न ही एक ऐसे अधिक दृढ़ अंतर्राष्ट्रीय विधानका निर्माण जिसके पीछे अधिक प्रभावपूर्ण स्वीकृतिका बल हो इसका कोई असंदिग्ध और पूर्ण प्रतिकार होगा। यह प्रायः कहा जाता है कि आवश्यक बात यही है; जिस प्रकार राष्ट्रमें विधानने व्यक्तियों, परिवारों और कुलोंके झगड़े मिटानेके पुराने असभ्य तरीकेको शक्तिशाली पंचायत-निर्णयके द्वारा स्थानच्युत कर दिया है और उसे दबा दिया है, उसी तरहकी कोई विधि राष्ट्रोंके जीवनमें भी संभव होनी चाहिये। शायद अंतमें ऐसा हो जाय, पर इसके तत्काल ही सफलतापूर्वक क्रियान्वित होनेकी आशा करनेका यह अर्थ होगा कि हम विधानकी सफल सत्ताके सच्चे आधारकी और एक विकसित राष्ट्रके अंगों तथा उस अंतर्राष्ट्रीय संगठनके अंगोंके भेदकी उपेक्षा कर रहे हैं जिसे आरंभ करनेका प्रस्ताव रखा गया है तथा जो अभी बहुत कम विकसित हुआ है।

राष्ट्रमें या समाजमें विधानकी सत्ता वास्तवमें मनुष्य-निर्मित नियमों और व्यवस्थाओंके किसी तथाकथित 'गौरव' और 'रहस्यमयी शक्ति' पर निर्भर नहीं करती। उसकी शक्तिके वास्तविक स्रोत दो हैं: बहुमत या प्रबल अल्पमत अथवा समूचे समाजकी इसे बनाये रखनेकी तीव्र अभिलाषा और दूसरा, पुलिस और सेनाकी एक ऐसी असाधारण सशस्त्र शक्तिपर अधिकार जो उस अभिलाषाको पूर्ण कर सके। न्यायकी आलंकारिक तलवार भी तभी कार्य कर सकती है जब कि विद्रोही और विपक्षीपर अपने कानून और दंड-विधान लागू करनेके लिये उसके पीछे सचमुचकी तलवार होती है। और इस सशस्त्र शक्तिका प्रधान गुण यह है कि यह किसीकी, किसी व्यक्ति या समाजके किसी निर्मित समुदायकी नहीं होती, यह केवल राज्यकी, राजाकी या उस शासक वर्ग या संस्थाकी होती है जिसमें राजकीय सत्ता केंद्रीभूत

है। सुरक्षा तव भी किसी प्रकारसे नही हो सकती यदि राज्यकी सशस्त्र शक्ति समुदायों और व्यक्तियोकी उन सशस्त्र शक्तियोके अस्तित्वद्वारा प्रतिसंतुलित हो गयी हो या उसका सर्वोपरि प्रभुत्व कम हो गया हो जो केंद्रीय नियंत्रणसे किसी-न-किसी रूपमे स्वतंत्र है या शासक सत्ताके विरोधमे अपनी शक्तिका प्रयोग कर सकती है। फिर भी, इस सत्ताके होने हुए भी, जिसे एकमात्र और केंद्रीकृत सशस्त्र शक्तिकी सहायता प्राप्त है, कानून व्यक्तियो और वर्गोमे होनेवाले कलहको नही रोक सका, क्योकि यह कलहके मनोवैज्ञानिक, आर्थिक और अन्य कारण दूर करनेमे समर्थ नही हुआ है। अपराध एव उसका दंड सदा ही एक प्रकारका पारस्परिक वल-प्रयोग, विद्रोह और नागरिक कलह होता है और पुलिसद्वारा भली प्रकार सुरक्षित और विधान-पालक समाजोमे भी अभीतक अपराधोका वाहुल्य है; यहाँतक कि संगठित अपराध भी हो सकता है यद्यपि यह साधारणत॰ न तो टिक सकता है और न ही अपनी शक्तिको एक स्थानपर स्थिर कर सकता है; कारण, समाजकी समस्त तीव्र भावना और उसका सफल संगठन उसके विरोधमे होते है। पर यहाँ अधिक प्रयोजनीय वात यह है कि विधान संगठित राष्ट्र-मे नागरिक कलह और उग्र या सशस्त्र विरोधकी सभावनाको अभीतक रोक नही सका है, हॉ, उसने इसे कम अवश्य कर दिया है। जव कभी किसी वर्ग या सिद्धातको यह प्रतीत हुआ कि उसके साथ असह्य अन्यायका व्यवहार हो रहा है या उसे दवाया जा रहा है और उसने देखा कि विधान और उसका सशस्त्र वल विरोधी हितके साथ इतनी समग्रतासे जुड़ गये है कि विधानके नियमोको स्थगित करना और अत्याचारकी उग्रताके विरुद्ध तीव्र रूपमे विद्रोह करना ही एकमात्र इलाज रह गया है या एकमात्र इलाज प्रतीत होता है, तो उसने, सफलताकी कुछ आशा दिखलायी देनेपर, शक्ति-द्वारा निर्णय करनेके प्राचीन सिद्धातका ही आश्रय लिया। अपने समयमे भी हमने यह देखा है कि विधानका अत्यधिक पालन करनेवाले राष्ट्र भी दु खदायी गृह-युद्धके किनारेतक पहुँच जाते है और उत्तरदायी राजनीतिज्ञ यह घोषित कर देते है कि यदि कोई अवांछनीय नियम लागू कर दिया गया तो वे गृह-युद्धका आश्रय लेनेको तैयार है, चाहे यह विधान सर्वोच्च व्यवस्थापिका शक्तिद्वारा राजाकी स्वीकृतिके साथ ही पास किया गया हो।

किंतु ऐसी किसी भी शिथिल अतर्राष्ट्रीय रचनामे जो वर्तमान समयमे संभव है सशस्त्र शक्ति फिरसे अपने अंगभूत समुदायोमे वंट जायगी, यह इन समुदायोकी ही होगी, इसपर किसी सर्वोच्च सत्ता, अति-राज्य या संघीय परिषद्का अधिकार नही होगा। यह अवस्था उस सामतिक युगके अस्त-

व्यस्त सगठनसे मिलती-जुलती होगी जिसमे प्रत्येक उमराव और सरदारके अपने अलग अधिकार-क्षेत्र और सैनिक साधन होते थे और यदि वह काफी शक्तिशाली होता या अपने वहुतसे उमराव-मित्रोमेसे आवश्यक जन-वल प्राप्त कर सकता तो वह राजसत्ताके विरोधमे खडा हो सकता था। पर इस अवस्थामे तो सामतिक राजाकी समकक्ष ऐसी सत्ता भी नही होगी--ऐसे राजाकी जो और कुछ न भी हो, वास्तविक राजा भी न हो, कम-से-कम राजाका प्रधान उमराव तो हो--जो प्रभुत्वका गौरव रखती हो और जिसके पास इस गौरवको सुदृढ, स्थायी और वास्तविक बनानेके कुछ साधन हो।

एक संघटित सशस्त्र शक्ति राष्ट्रो और उनके पृथक्-पृथक् सैनिक दलपर नियंत्रण कर भी ले तो भी अवस्थामे कुछ अधिक सुधार नही होगा। क्योकि यह सघटित शक्ति विघटित हो जायगी और इसके विभिन्न अंग युद्धके प्रत्यक्ष रूपमे छिडते ही अपने विरोधी उद्‌गमोकी ओर लौट जायँगे। विकसित राष्ट्रमे व्यक्ति एक इकाई है और वह व्यक्तियोके समुदायमे खो गया है। युद्धमे वह जितनी शक्ति लगा सकता है उसका वह ठीक-ठीक अनुमान नही कर सकता, जो व्यक्ति उससे सबधित नही है उन सबसे वह डरता है क्योकि उन्हे वह क्रुद्ध सत्ताके स्वाभाविक समर्थक मानता है; विद्रोह उसके लिये एक अत्यत अनिष्टकारी और अचितनीय व्यापार है, यहाँतक कि एक ऐसा प्रारंभिक षड्यत्र है जो हर समय हजारो संकटो और आतंकोसे परिपूर्ण रहता है; ये सकट जो दो-चार गिनी-चुनी संभावनाएँ है उनके विरुद्ध भी अपनी भयकर और ठोस दीवार खडी कर देते है। सिपाही भी एक अकेला व्यक्ति है, वह शेष सबसे डरता है, एक भयानक दड उसके ऊपर झूलता होता है, जरा-सी अविनय होते ही उसे उस दंडका भागी बनना पडता है, अपने साथियो-मेसे वह किसीकी सहायतापर निश्चित रूपसे भरोसा नही कर सकता। उनकी ओरसे थोडा विश्वास हो भी जाय पर नागरिकोमेसे तो उसे किसीसे भी वास्तविक सहायताके मिलनेका भरोसा नही होता। इस प्रकार वह उस नैतिक शक्तिसे वचित हो जाता है जो उसे विधान और सरकारकी सत्ता-की अवहेलना-करनेमे उत्साहित करती है। अपनी साधारण भावनामे भी वह किसी व्यक्ति, कुटुम्ब या वर्गका नही है, वह राज्य और देशका है, या कम-से-कम उस मशीनका है जिसका कि वह एक अग है। पर यहाँ ये अग वे थोडेसे राष्ट्र होगे--जिनमेसे कुछ शक्तिशाली साम्राज्य भी होगे--जो अच्छी तरह पर्यवेक्षण कर सकते है, अपनी शक्तिका अनुमान लगा सकते है तथा यह जान सकते है कि कौन-कौन उनके मित्र है, तथा कितनी शक्ति उनके विरोधमे है, उन्हे केवल सफलता या असफलताकी सभावनाओके

विषयमे ही सोचना पडेगा। सघटित सेनाके सिपाही हृदयसे अपने देशके होगे, उस अस्पष्ट सत्ताके नही जो उनका संचालन करती है।

अतएव, एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय राज्यके वास्तविक विकासके रुके रहनेपर, जिसका निर्माण इस ढगसे हुआ हो कि वह राष्ट्रोके एक शिथिल सघमात्र या फिर राष्ट्रीय सरकारोके प्रतिनिधियोके कोरे अधिवेशनसे अलग कुछ हो, आदर्शवादियोद्वारा कल्पित शाति और एकताका शासन इन राजनीतिक या प्रशासनीय साधनोद्वारा कभी स्थापित नही हो सकता अथवा यदि स्थापित हो भी जाय तो सुरक्षित तो कभी भी नही रह सकता। स्वय युद्धको उडा भी दिया जाय तो भी जिस प्रकार राष्ट्रमे व्यक्ति अपराध करते है, वर्गोके झगडोमे दु खदायी सामूहिक हडताले होती है वैसे ही इस अंतर्राष्ट्रीय राज्यमे झगडेके और ढंग निकल आयगे और ये युद्धसे भी अधिक भयकर हो सकते है। पर इनकी भी आवश्यकता है, प्रकृतिकी व्यवस्थित प्रणालीमे इनका आना अनिवार्य है, इनका प्रयोजन अहमूलक वैमनस्य, लालसा और महत्त्वाकांक्षाकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताको पूरा करना ही नही है बल्कि ये अन्याय, दमित अधिकारो और विफल सभावनाओके विचारके विकास और उसके विरुद्ध रक्षाके साधन भी है। नियम सदा वही है। जहाँ अहभाव कार्यका उद्‌गम है वहाँ इसके अपने वास्तविक परिणाम और प्रति-क्रियाएँ तो सामने आयेगी ही, वाह्य मशीनरी इन्हे कितना भी कम कर दे, इन्हे दबा दे, पर अतमे इनका विस्फोट निश्चित रूपमे होगा ही, इसमे समय लग सकता है पर सदाके लिये इसे रोका नही जा सकता।

इतना तो प्रत्यक्ष है कि किसी शक्तिशाली केद्रीय नियत्रणके विना कोई भी शिथिल रचना सतोपप्रद, सफल या स्थायी नही हो सकती, वह चाहे उस रचनासे कितनी भी कम शिथिल, कितनी भी अधिक दृढ क्यो न हो जिसका निकट भविष्यमे विकसित होना इस समय सभव प्रतीत हो रहा है। वस्तु-स्थितिकी यह माँग है कि अब अगला कदम उठाया जाना चाहिये, एक प्रवलतर कठोरताके लिये और राष्ट्रीय स्वाधीनताओके मिमटाव तथा एक ऐसी अद्वितीय केद्रीय सत्ताकी स्थापनाके लिये कार्य करना चाहिये जिसका पृथ्वीकी समस्त जातियोपर एक-सा नियत्रण हो।

पंदरहवॉ अध्याय

सफलताकी कुछ दिशाएँ

वर्तमान समयमे जो रूप, शक्तियॉ और प्रणालियॉ संभव है या भविष्यमें जिनके प्रकट होनेकी सभावना है उनमेसे किस भाग्यशाली रूप, शक्ति और प्रणालीको जगत्की गुप्त इच्छाशक्ति मनुष्यजातिके वाह्य एकीकरणका कार्य सौपेगी, यह एक मनोरंजक विपय है, तथा उनके लिये जो तात्कालिक घटनाओके सीमित क्षेत्रके पार देख सकते है चितनके योग्य आकर्षक विषय भी है, पर दुर्भाग्यसे इस समय यह इससे अधिक कुछ नही हो सकता। मानवजातिके इस युगकी अनेकों संभावनाएँ ही,—ऐसे युगकी जो अत्यधिक विभिन्न और प्रवल शक्तियोसे आच्छादित है तथा जिसमे नये आतरिक विकास और बाह्य परिवर्तन अधिकतासे हो रहे है,—एक अभेद्य कुहरा उत्पन्न कर देती है जिसमे बृहत् वस्तुओके केवल अस्पष्ट रूपोका ही आभास मिलता है। ऐसी अनिश्चित अवस्थामें हम केवल वही विचार प्रस्तुत कर सकते है जिनकी प्रेरणा हमे शक्तियोकी वर्तमान स्थिति और विगत अनुभवोसे प्राप्त होती है। आजकलकी अतर्राष्ट्रीय अवस्थाओ तथा अतर्राष्ट्रीय मनोवृत्ति एवं नैतिकताकी वर्तमान स्थितिमे स्वतत्र राष्ट्रीयताओके संगठनके आधार-पर की जानेवाली तात्कालिक व्यवस्थाके विचारको हमने क्रियात्मक रूपसे असभव समझकर छोड दिया है, यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि यह एक आदर्श आधार हो सकता था क्योंकि इसकी मूल प्रेरक शक्ति वर्तमान समयके दो महान् सिद्धातो, राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयताकी समस्वरतामे निहित होती। इसे अपनानेका यह अर्थ होता कि मानव-एकताकी समस्याको सुलझानेका प्रयत्न एक युक्तिपूर्ण तथा साथ ही दृढ नैतिक आधारपर किया जा रहा है; एक ओर तो मनुष्योके सभी विशाल और प्राकृतिक समुदायोके जीवित रहने तथा अपना स्वतत्र अस्तित्व रखनेका अधिकार स्वीकार करना पडता तथा राष्ट्रीय स्वाधीनताको मानव-व्यवहारका प्रतिष्ठित सिद्धात मानकर उसे सम्मानयुक्त स्थान देना होता, और दूसरी ओर एकीकृत और सघबद्ध मानव-जातिमे व्यवस्था, सहायता, सर्वसाधारणके पारस्परिक सहयोग तथा सामान्य जीवन और हितोकी आवश्यकता यथेष्ट मात्रामे अनुभव करनी होती। आदर्श समाज या आदर्श राज्य वह होता है जिसमे व्यक्तिकी पूर्णताके लिये उसकी

वैयक्तिक स्वाधीनता और स्वतत्र विकासको भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है जितना कि समष्टि—समाज या राष्ट्र—की आवश्यकताओ अर्थात् निपुणता, एकता, स्वाभाविक प्रगति और आभ्यतरिक पूर्णताको दिया जाता है। इसी प्रकार समस्त मनुष्यजातिके आदर्श समुदाय, अतर्राष्ट्रीय समाज या राज्य-मे भी राष्ट्रीय स्वाधीनता एव स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास और आत्म-चरितार्थता-को मानवजातिकी एकता और संयुक्त प्रगति एवं पूर्णताके साथ उत्तरोत्तर सगति प्राप्त करते जाना चाहिये।

अतएव, यदि यह मूल सिद्धात स्वीकार कर लिया जाता तो भी कुछ हेर-फेर अवश्य होते क्योकि उस अवस्थामे स्थितियोके एक पूर्ण कार्यकारी सयोगके उपस्थित होनेमे कठिनाई आती। राष्ट्रीय समुदायके विकासमे ऐसा ही हुआ था, एक समय उसमे स्वाधीनतापर जोर दिया गया था तो दूसरे समय निपुणता और व्यवस्थापर। पर, क्योकि समस्याकी ठीक स्थिति प्रारभसे ही समझ ली जाती और इसके सुलझानेका कार्य अज्ञानपूर्ण सघर्ष-पर न छोडा जाता, किसी उचित समाधानके शीघ्र ही हो जानेकी कुछ आशा हो सकती थी और तब इस प्रक्रियामे विशेष तनाव और उपद्रव भी न होता।

किंतु मानवजातिके ऐसे अपूर्व सौभाग्यकी सभावना कहाँ! और आदर्श अवस्थाओकी आशा की भी नही जा सकती क्योकि वे एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्पष्टता, व्यापक विवेकशीलता, वैज्ञानिक बुद्धि तथा सबसे बढ़कर एक ऐसी नैतिक उच्चता तथा सच्चाईकी माँग करती है जिनकी ओर न तो जन-समुदाय और न उसके नेता और शासक ही अभीतक प्रवृत्त हुए है। इनके अभावमे विवेक, न्याय और पारस्परिक दया-भावको नही वरन् शक्तियोकी प्रवृत्ति तथा उनके क्रियात्मक और वैधानिक समन्वयको इसका तथा अन्य समस्याओका समाधान करना पडेगा। वैयक्तिक अहंभाव और समाजके सामूहिक अहभावकी मुठभेडके साथ-साथ मध्यवर्ती शक्तियोके अनवरत सघर्षने, वर्ग-वैमनस्यने तथा चर्च और राज्यके, राजा और सामतोके, पूजीवादी मध्यवर्ग और श्रमी निम्नवर्गके झगडोने जिस प्रकार राज्य और व्यक्तिकी समस्याको आक्रांत और आच्छन्न कर दिया है उसी प्रकार ठीक ऐसी ही मध्यवर्ती शक्तियोकी माँगे राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय मानवताकी इस समस्याको भी निश्चित रूपसे आक्रांत कर देगी। व्यापारिक हित और मेलको, सास्कृ-तिक या जातीय समवेदनाओको तथा सर्व-इस्लामवाद, सर्व-स्लाववाद, सर्व-जर्मनवाद, सर्व-एग्लो-सैक्सनवाद और भविष्यमे प्रकट होनेवाले सर्व-अमरीकन-वाद एवं सर्व-मगोलियनवादको छोड भी दिया जाय, साथ ही उन भीमकाय

दैत्योंको भी छोड दिया जाय जो अभी उत्पन्न नही हुए है तो भी साम्राज्य-वादका, उस विशालकाय सशस्त्र और दुर्दांत राक्षसका, महान् मध्यवर्ती प्रश्न तो बना ही रहेगा जिसके स्वभावमे ही यह निहित है कि वह प्रत्येक पददलित अथवा असुविधाजनक राष्ट्रीय इकाईको हानि पहुँचाकर अपनी इच्छापूर्ति करना चाहता है और इस बातपर आग्रह करता है कि उसकी अपनी आवश्यकताओंको नवोदित अंतर्राष्ट्रीय सगठनकी आवश्यकताकी अपेक्षा प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। यह तो मानना पडेगा कि यह परितोष उसे कुछ समयके लिये मिलना चाहिये, उसकी इस माँगको बहुत समयतक रोकना सभव नही होगा। जो कुछ भी हो, उसकी माँगोकी अवहेलना करना या यह कल्पना करना कि वे कलमके जोरसे समाप्त की जा सकती है अस-भवनीय आदर्शवादकी स्वर्णिम बालूपर सुन्दर किले बनानेके समान होगा।

सिद्धातको वास्तविक रूपमे कार्यान्वित करनेमे प्रमुख स्थान शक्तियोंका होता है, नैतिक सिद्धातो, विवेक और न्यायको वहीतक स्थान मिलता है जहाँतक शक्तियाँ उन्हे स्वीकार करनेके लिये बाधित हो जाती है अथवा उकसा दी जाती है या फिर, जैसा कि प्राय होता है, उनका प्रयोग गौण साधनो या युद्धके उत्तेजक नारोंके रूपमे अथवा अपने हितोपर परदा डालने-के लिये किया जाता है। कभी-कभी विचार सशस्त्र शक्तियोंके रूपमे भी फूट पडते है और आदर्शविहीन शक्तियोंके घेरेको तोडकर अपना मार्ग बना लेते है, इसके विपरीत कभी-कभी वे हितोको अपने अधीनस्थ सहायक भी बना लेते है जो उनकी स्वार्थाग्निमे ईंधनका काम करते है और कभी तो वे बलिदानोंके द्वारा भी विजय प्राप्त करते है; पर साधारणतया उन्हे अप्रत्यक्ष दबावके द्वारा नही बल्कि प्रबल शक्तियोंके अनुकूल रहकर ही कार्य करना होता है, यहाँतक कि इन्हे रिश्वत देनी और इनकी लल्लो-पत्तो करनी पडती है, अथवा इनके द्वारा और इनके पीछे रहकर कार्य करना पडता है। इससे भिन्न और कोई स्थिति हो भी नही सकती जबतक कि साधारण सामाजिक मनुष्यमे बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुण अधिक और प्राणिक, भावुक तथा अविचारशील नर-पशुके गुण अपेक्षाकृत कम नही हो जाते। अचरितार्थ अतर्राष्ट्रीय विचारको तो अभी कम-से-कम कुछ समयके लिये इसी गौण विधिसे तथा राष्ट्रवाद और साम्राज्यवादकी प्राप्त शक्तियोंके अनुकूल रहकर ही कार्य करना पडेगा।

यह प्रश्न उठ सकता है कि जबतक दृढ और व्यवस्थित प्रणालीकी पूर्ण स्थापनाके लिये अवस्थाएँ तैयार होती है तबतक क्या न्याययुक्त अत-र्राष्ट्रीयताका विचार जिसके मूलमे स्वतत्र राष्ट्रीयताओंके सिद्धातके प्रति

आदरभाव है, कही ससारके विचारको और वुद्धिजीवियोके प्रयत्नोके फल-स्वरूप इतनी प्रगति तो नही कर लेगा कि उसका राज्यो और सरकारो-पर इतना प्रचड दवाव पडे कि वे उसकी मॉगोको पूर्ण रूपसे नही तो अधि-काशमे ही स्वीकार कर ले। इसका उत्तर यह है कि राज्य और सरकारे साधारणत एक नैतिक दवावके आगे केवल वहीतक झुकती है जहॉतक वह उन्हे अपने प्रधान हितोका वलिदान करनेके लिये विवश नही करता। कोई भी सुदृढ साम्राज्य अपने अधीनस्थ देशोको आसानीसे मुक्त नही करेगा, न ही वह, विवश हुए विना, किसी ऐसे राष्ट्रको जो इस समय उसके अधीन है, अंतर्राष्ट्रीय समितिके अधिवेशनमे, अपने समान ही स्वतत्र राष्ट्रके रूपमे भाग लेनेकी अनुमति देगा। स्वाधीनताका पुराना उत्साह एक ऐसा आदर्श है जिसने फ्रासको स्वतत्र इटलीके विकासमे सहायता देने अथवा फ्रांस और इंगलैडको एक नया ग्रीक राष्ट्र उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी। वे राष्ट्रीय स्वाधीनताये जिनकी प्रतिष्ठाकी मॉग युद्धके समयमे तलवारके वलपर की जाती थी—अव तो यूँ कहना चाहिये कि तोपकी आवाजके साथ की जाती है—केवल वही थी जो पहलेसे स्थापित हो चुकी थी और इसलिये उनका अभी भी जीवित रहनेका अधिकार समझा जाता था। इसके आगे केवल एक वातकी मॉग और की गयी कि इस समय जो स्वतत्र राज्य विद्यमान है उनमे वे प्रदेश मिला दिये जायँ जिनमे उनके अपने राष्ट्रके वे लोग रहते है जो अभीतक विदेशी जुएके नीचे है। यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि एक वृहत्तर सर्विया, एक वृहत्तर रूमानियाका निर्माण किया जाय, इटलीका 'अनधिकृत' प्रदेश पुन॰ प्राप्त कर लिया जाय और अलसास-लौरेन फ्रासको वापिस मिल जाय। पोलैडको केवल रूसी प्रभुत्वके नीचे ही स्वायत्त शासन देनेका वचन दिया गया था जवतक कि रूसके ऊपर जर्मनीकी विजयने मित्रराष्ट्रोकी रुचि और उसके साथ-साथ उनके आदर्शवादको ही नही वदल दिया। वहुतसे लोग आजकल साम्राज्यीय आधिपत्यके नीचे अथवा, जहाँ यह नही होता, साम्राज्यीय 'सरक्षण' या 'प्रभाव'के नीचे एक प्रकारके स्वायत्त शासनको राष्ट्रीय स्वतत्रताकी पुन. स्थापनासे अधिक क्रियात्मक विचार मानते है। यह शायद सघवद्ध साम्राज्योके एक ऐसे सिद्धातके अस्पष्ट विकासकी ओर सकेत करता है जिसपर हम भविष्यकी एक संभावनाके रूपमें विचार कर चुके है। राष्ट्रीय स्वाधीनताको एक पूर्ण आदर्शके रूपमे अव वह सामान्य स्वीकृति नही मिलती जो उसे पहले मिलती थी और न ही उसकी अव कोई सृजनात्मक शक्ति ही रही है। स्वाधीनताके लिये सघर्षरत राष्ट्रोको अव केवल अपने उत्साह और सामर्थ्यपर ही निर्भर रहना पडता है।

वे दूसरोंसे केवल एक साधारण-सी अथवा अनिश्चित सहायताकी ही आशा कर सकते हैं, कुछ उत्साही व्यक्ति या छोटे-मोटे समुदाय उन्हें अवश्य सहायता देते हैं, पर वह भी केवल मौखिक और निष्प्रभाव ही होती है। अत्युन्नत बुद्धिशाली व्यक्तियोंमेंसे भी बहुतसे आजकलके अधीन राष्ट्रोंके लिये आश्रित स्वायत्त शासनके विचारका उत्साहपूर्वक समर्थन करते हैं, पर प्रतीत ऐसा होता है कि वे उनकी पूर्ण स्वाधीनताकी हल्की-सी इच्छाको भी सहन नहीं करते। साम्राज्यवाद अपनी प्रगतिके मार्गपर इतनी दूर पहुँच गया है और साम्राज्यीय समुदायने अत्यधिक स्वतंत्र कल्पनावाले व्यक्तियोंको भी इतना प्रभावित कर दिया है कि वे भी इसे मानव-विकासमें एक चरितार्थ शक्ति मानने लगे हैं।

मानवजातिकी अपने अंतर्राष्ट्रीय अस्तित्वको अधिक विशाल और निर्बाध दिशाओंमें संगठित करनेकी नयी प्रेरणाके द्वारा चालित होकर यह भावना और कितनी आगे बढ़ेगी यह कौन कह सकता है! यह भी संभव है कि वह अधीरता जो जर्मन अपने साम्राज्यीय कालमें राष्ट्रोंके लगातार बने रहनेके विरुद्ध स्पष्ट रूपमें प्रकट करता था—ये राष्ट्र अपने विहित अधिकारोंद्वारा वृहत् राजनीतिक और व्यापारिक संघोंका दृढ़तापूर्वक विरोध करते थे—अपनी कठोरताको कम करके भी भविष्यमें अपनी माँगको उचित ठहरा सकती है, साथ ही मानवजातिकी सामान्य बुद्धिके द्वारा स्वीकार भी की जा सकती है यद्यपि तब इसका रूप इतना क्रूर, गर्वीला और अत्यंत अहंकारपूर्ण नहीं रहेगा। अर्थात् मनुष्यजातिके राजनीतिक विवेकमें एक अधिक बलवती प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है जो मिश्रित साम्राज्यों और स्वतंत्र राष्ट्रोंकी पूर्व दशाके आधारपर नहीं, वरन् विशाल साम्राज्यीय समुदायोंकी प्रणालीके अनुसार राज्योंकी पुनः व्यवस्था करना चाहेगी और शायद अंतमें उसपर आग्रह भी करेगी।*

परन्तु यह विकास न भी हो, अथवा समयपर अपने-आपको चरितार्थ न भी करे, तो भी वर्तमान समयके स्वतंत्र और असाम्राज्यीय राज्य अपने-आपको किसी भी ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परिषद् या अन्य प्रणालीके अंतर्गत पायेंगे जो उस समय स्थापित हो जायगी, पर उनकी यह स्थिति बहुत कुछ वैसी होगी जैसी मध्ययुगके छोटे उमरावोंकी बड़े सामंतिक उमरावोंकी तुलनामें थी, यह स्थिति समानताकी नहीं, वरन् अधीनताकी होगी। युद्धने

---

*यदि जर्मनी और जापानकी महत्त्वाकांक्षाओंकी तथा सामान्य रूपसे फासिस्ट सिद्धान्तोंकी विजय हो जाती तो उसके फलस्वरूप ऐसी व्यवस्था हो सकती थी।

यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है कि अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिसे केवल वड़ी शक्तियाँ ही महत्त्व रखती हैं; अन्य सवका अस्तित्व तो केवल अधीनता, सरक्षण या मित्रताके आधारपर होता है। जवतक ससारकी व्यवस्था पृथक् राष्ट्रीयताओके सिद्धातपर आधारित थी यह एक गुप्त तथ्यमात्र रहा और इससे छोटे राष्ट्रोके जीवनपर कोई वास्तविक महत्त्वपूर्ण प्रभाव नही पडा, पर जव संयुक्त कार्यकी अथवा एक अनवरत सक्रिय और अन्योन्य-कार्यकी आवश्यकता विश्व-प्रणालीका एक स्वीकृत अंग या आधार बन जायगी तो यह सुरक्षा समाप्त हो सकती है। जो छोटा राष्ट्र महान् शक्तियो या शक्तियोके एक समुदायकी इच्छाके विरोधमे खडा हो जाता है उसकी स्थिति वर्तमान युद्धमे तटस्थ रहनेवाली छोटी शक्तियो अथवा वड़े न्यासो-द्वारा घिरी हुई निजी कपनीकी स्थितिसे भी अधिक खराव हो जायगी। उसे किसी एक या दूसरे शोषकदलका नेतृत्व स्वीकार करनेके लिये विवश होना पड़ेगा जव कि राष्ट्र-परिपद्मे उसका अपना स्वतत्र महत्त्व या कार्य कुछ नही होगा।

इसमे कोई सदेह नही कि साम्राज्यीय उत्पीडनके विरोधमे छोटे राष्ट्रोका अपना अस्तित्व रखने और अपने हितोंका प्रवल समर्थन करनेका अधिकार अभीतक एक शक्तिशाली प्रवृत्ति है; कम-से-कम यह अतर्राष्ट्रीय सघट्टके विवादास्पद प्रश्नोमेसे एक अवश्य था। किंतु अकेली सत्ताकाक्षी शक्तिके उत्पीडनके विरोधमे इस अधिकारका आग्रह एक वात है और राष्ट्रोके सामान्य हितके लिये वडी शक्तियोके वहुमतद्वारा निर्णीत व्यवस्थाके विरुद्ध इसका आग्रह निकट भविष्यमे संभवत. एक विलकुल अलग चीज मानी जायगी; कुछ छोटी तटस्थ शक्तियाँ अलग रहनेकी तथा विशाल अंतर्राष्ट्रीय सघर्पमे यथासभव कम प्रभावित होनेकी इच्छा करती थी। इनकी असुविधाको उस समयके वे योद्धा-राष्ट्र ही तीव्र रूपमे अनुभव नही करते थे जिन्हे इन असुविधाओको कम करनेके लिये कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष दवावका प्रयोग करना पडता था, वल्कि वे शक्तियाँ स्वय भी अनुभव करती थी, क्योंकि वे तटस्थताकी वृत्तिको युद्धमे सक्रिय भाग लेनेके वोझ और कष्टसे कम अनिष्टकारी मानती थी, और इसीलिये वे इसे पसद भी करती थी। किसी भी अतर्राष्ट्रीय प्रणालीमे इन छोटी स्वतत्र शक्तियोकी यह मॉग एक तुच्छ अहभावना मानी जा सकती है, साथ ही यह वृहत् सामान्य हितोके लिये अथवा, यह भी सभव है, कि महान् विश्वव्यापी हितोके आपसी सघर्षोके निपटारेके लिये एक असह्य वाधा समझी जायगी। ऐसा वास्तवमे हो सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय एकताके किसी भी सविधानमे महान्

शक्तियाँ इस बातका ध्यान रखेंगी कि उनके अपने बल और प्रभावके अनुरूप ही उनकी आवाज भी होनी चाहिये; पर संविधानका बाह्य रूप जनतंत्रीय हो तो भी व्यवहार-रूपमे यह महान् शक्तियोंका कुलीन-तन्त्र ही बन जायगा। संविधान तथ्योंको केवल छिपा सकते हैं, उन्हें नष्ट नही कर सकते; कारण, संविधानके मूलमे कोई भी विचार क्यों न हों, पर इसका कार्य तो सदा उस समयकी उन चरितार्थ शक्तियोंका ही होता है, जो उसे कार्यान्वित कर सकती हैं। आजकल अधिकांश सरकारोंका रूप जनतन्त्रीय है या उनका यह रूप रहा है, पर वास्तवमें अभीतक सच्चा जनतंत्रीय राज्य कहीं भी नहीं हुआ। जो लोग जनताके नामसे शासन करते थे वे वास्तवमें सर्वत्र ही पूँजीपति, व्यावसायिक और मध्यवर्गीय लोग होते थे। इसी प्रकार किसी भी अंतर्राष्ट्रीय परिषद् या नियन्त्रणमें जनताके नामसे कुछ बड़े साम्राज्य ही शासन करेंगे।

यदि यह बात न भी हो, तो भी ऐसी स्थिति साधारणतया कुछ समयके लिये ही रह सकती है; अधिक देरतक तो यह तभी रह सकती है जब कि कुछ ऐसी नयी शक्तियाँ आगे आकर कार्य शुरू कर दें जिनका काम ही बड़े साम्राज्यीय समुदाय बनानेकी प्रवृत्तिको—यह प्रवृत्ति आजकल सारे संसारमें बड़ी प्रबल है—रोकना या नष्ट करना होगा। तब अवस्था कुछ कालके लिये लगभग उस समयके सामंतिक यूरोपकी अवस्थाके समान हो जायगी जब वह असमयमें संयुक्त ईसाई राज्य स्थापित करनेके लिये परिश्रम कर रहा था—कुछ अत्यन्त विरोधी, विषमजातीय, जटिल और उलझे हुए हित एक-दूसरेको पराभूत करनेकी चेष्टामें थे, कुछ छोटी कम महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ भी थी जो कुछ बडी शक्तियोंद्वारा आक्रांत तथा आंशिक रूपमें विवश कर दी गयी थीं, उधर बड़ी शक्तियां अपने संयुक्त, विभाजित और विरोधी हितोंकी अनिवार्य जटिलतामेंसे निकलनेके लिये संघर्ष कर रही थीं, इसके लिये वे उन सभी साधनोंका प्रयोग करती थी जो उन्हे नयी प्रणालीमे प्राप्त होते थे, वर्गों, विचारों, प्रवृत्तियों और संस्थाओंकी जो भी सहायता उन्हे मिल सकती थी उसका वे इस उद्देश्यके लिये उपयोग करती थी। तब एशियाई, अफ्रीकी और अमरीकी जागीरों और बाजारके एवं वर्गोंके संघर्षके प्रश्न भी उठ खड़े होंगे। ये प्रश्न प्रारंभ तो राष्ट्रीय प्रश्नोंके रूपमें होंगे, पर पीछे अंतर्राष्ट्रीय बन जायेंगे। समाजवाद, अराजकतावाद और मानवजातिका अवशिष्ट प्रतियोगीय युग प्रधानता प्राप्त करनेके लिये आपसमें संघर्ष करने लगेंगे; यूरोपीयवाद, एशियाईवाद, अमरीकनवादकी आपसी टक्करें शुरू हो जायेंगी। इस विशाल उलझनका

कोई-न-कोई हल तो निकालना ही पड़ेगा। ऐसा करनेके लिये शायद उन साधनोका भी प्रयोग करना पडेगा जो हमारे सुपरिचित ऐतिहासिक साधनोसे वहुत भिन्न होगे। अतर्राष्ट्रीय समानतंत्र या राजसंघमे युद्ध समाप्त किया जा सकता है अथवा उसे कभी-कभी होनेवाले गृहयुद्धतक सीमित किया जा सकता है। दवावके नये ढंग—उदाहरणार्थ व्यापारिक ढग जिन्हे हम आजकल वहुत वढते हुए देख रहे है—साधारणतया इसका स्थान ले सकते है; कई और ऐसी युक्तियाँ भी गढ़ी जा सकती है जिनकी हम इस समय कल्पना भी नही कर सकते। पर सामान्य मानवजातिकी स्थिति फिर भो आवश्यक रूपमे वैसी ही रहेगी जैसी भूतकालमे अपेक्षाकृत छोटे अनिर्मित समुदायोकी थी, इसे सफलता, आशिक सफलता या असफलताके उसी प्रकारके तथ्योकी ओर प्रगति करनी होगी।

इस समस्याको सुलझानेका सवसे अधिक स्वाभाविक और सरल समाधान यह होगा—यद्यपि यह समाधान आज संभव नही दीखता—कि संसारको कुछ ऐसे साम्राज्यीय समुदायोमे विभक्त कर दिया जाय जो कुछ अशमे सघीय और कुछ अंशमे राज्यसघाधीन समानतंत्रो या साम्राज्योसे निर्मित हो। राष्ट्रीय अहंभावोकी वर्तमान शक्तिको देखते हुए ऐसा समाधान यद्यपि किया नही जा सकता, पर विचारोकी प्रगति और वदलती हुई परिस्थितियोकी शक्ति किसी दिन एक ऐसी रचनाको जन्म दे सकती है और इसके फलस्वरूप एक अधिक सयुक्त राज्यसघ स्थापित हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमेरिका उत्तरोत्तर विश्ववधुत्वकी ओर वढ रहे संयुक्तराज्य और मध्य और दक्षिण अमेरिकाके लैटिन गणराज्योके वीच एक ऐसे श्रेष्ठतर समझौतेकी ओर अस्पष्ट रूपमे झुक रहा है जिससे कभी सयोगवश एक राज्यसंघाधीन अतर-अमेरिकन राज्य वनानेमे सफलता प्राप्त हो सकती है। यदि युद्धके परिणामस्वरूप जर्मनी और आस्ट्रियाके राज्य पूर्ण रूपसे भग न हो जाते तो राज्यसघाधीन टचूटौनिक साम्राज्यका सिद्धात निकट भविष्यमे कार्यान्वित हो भी सकता था; अव इनके टूट जानेपर भी यह सिद्धात सुदूर भविष्यमे चरितार्थ हो सकता है।[*] इसी प्रकारके समुदाय एशियाई ससारमे भी प्रकट हो सकते है। मनुष्यजातिको इन वड़े प्राकृतिक समुदायोमे विभाजित कर देनेसे एक लाभ यह होगा कि कुछ

---

*कुछ दिनोंतक ऐसा प्रतीत होता था कि जर्मनीमें नाजी तृतीय राइक, अधिकेंद्रित नायकत्वके अधीन मध्य-यूरोपमें जर्मन साम्राज्य स्थापित करके, इस संभावनाको एक दूसरे रूपमें ससिद्ध करनेका प्रयास कर रहा है।

कठिन विश्व-समस्याएँ सरल हो जायँगी और शांति, आपसी समझौते और महत्तर विचारोंके वर्द्धन और विकसित होनेमें विश्व-राज्यका सगठन अपेक्षाकृत कम कठिनाईसे हो सकेगा।

राष्ट्रके अपने पहले अनिश्चित सामतिक रूपमेंसे वर्तमान रूपमें विकसित होनेका उदाहरण एक अन्य संभवनीय समाधान उपस्थित करता है। जिस प्रकार वहाँ विभिन्न वलों और समान शक्तियोंके सतत संघर्षने अपनेमेंसे एकको, अपने वरावरीवालोंमेंसे प्रमुखको अर्थात् सामंतिक राजाको आवश्यक रूपसे उठनेका अवसर दिया जिसने एक केंद्रित राज्यतंत्रका रूप धारण कर लिया, उसी प्रकार यह सोचा जा सकता है कि यदि संसारके साम्राज्य और राष्ट्र आपसमें एक शांतिपूर्ण समाधानतक पहुँचनेमें असफल हो जायँ, यदि वर्ग-कठिनाइयों, अंतर्व्यावसायिक कठिनाइयों, अनेकों नये विचारों और प्रवृत्तियोंके सघर्षोंका फल एक लंवी अव्यवस्था, उत्पात या सतत परिवर्तन हो, तो एक ऐसा राजा-राष्ट्र उत्पन्न हो सकता है जिसका कार्य ही यह होगा कि वह अर्द्ध-अव्यवस्था या अर्द्ध-व्यवस्थामेंसे एक वास्तविक और स्थायी व्यवस्था विकसित कर ले। हम इस निष्कर्षपर पहुँच चुके हैं कि किसी एक राष्ट्रद्वारा संसारकी सैनिक विजय सभव नहीं है, और जिन अवस्थाओंमें ऐसा हो सकता है वे न तो आजकल उपस्थित हैं और न ही उनके प्रकट होनेकी कोई प्रत्यक्ष सभावना ही है। पर एक साम्राज्यीय राष्ट्र, उदाहरणार्थ इंग्लैंड, सारे संसारपर छा गया है, समुद्रोंपर उसका अधिकार है, अपने निर्मायक अगोंको सफलतापूर्वक संघवद्ध करना और उनके सपूर्ण अंतर्निहित वलकी व्यवस्था करना वह जानता है, अपने-आपको नवीन युगकी अत्यधिक उन्नतिशील उदार प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधि और संरक्षक वनानेमें प्रवीण है, वह अपनी विजयमें रुचि रखनेवाली अन्य शक्तियों और राष्ट्रोंके साथ मित्रता स्थापित करता है और इस वातका प्रमाण देता है कि वह एक न्याययुक्त और सफल अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाका भेद जानता है; वह सभवतः राष्ट्रोंका पंच और अंतर्राष्ट्रीय सरकारका सफल केंद्र वन सकता है; पर इस संभावनाका किसी भी रूपमें चरितार्थ होना अभीतक वहुत दूरकी वात है। किंतु नयी परिस्थितियोंमें यह भविष्यमें पूरी हो भी सकती है।

यदि विश्व-सगठनका कार्य वहुत कठिन सिद्ध हुआ, यदि एक स्थायी समझौता न हो सका अथवा एक सुनिर्मित वैधानिक सत्ता स्थापित न की जा सकी तो इस कार्यको एक साम्राज्य नहीं, वल्कि ऐसी दो या तीन महान् साम्राज्यीय शक्तियाँ हाथमें ले सकती हैं जिनकी रुचियाँ आपसमें

इतनी मिलती हो तथा जो विचारमे भी इतनी एकरूप हो कि वे अपने संभावित विरोधो और ईर्ष्याओको समाप्त कर दे; उनमे समस्त प्रतिरोधका दमन करने अथवा उसे दवा देने और एक प्रकारका सफल अंतर्राष्ट्रीय कानून और शासन लागू करनेकी सामर्थ्य भी होनी चाहिये। तव प्रक्रिया कष्टप्रद अवश्य होगी और साथ ही उसमे नैतिक और आर्थिक दवावकी अत्यधिक क्रूरता भी हो सकती है, पर यदि उसे सफलताका श्रेय प्राप्त हो जाय या वह वैधानिकता और न्यायका या कम-से-कम एक समृद्ध व्यवस्थाका व्यावहारिक-सा रूप भी विकसित कर ले तो वह अंतमे एक सार्वजनिक नैतिक सहायता प्राप्त कर सकती है तथा स्वतन्त्रतर और श्रेष्ठतर रूपोका प्रारभ-स्थल सिद्ध हो सकती है।

एक और संभावना, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती, यह है कि केवल अंत.सरकारी और राजनीतिक विकासमे—और हमने केवल इसीपर विचार किया है—वहुत समयसे उमडने-घुमड़नेवाला वर्ग-युद्ध व्याघात पहुँचा सकता है। युद्धकी भयानक कसौटीपर श्रमिक अंतर्राष्ट्रीयतावाद भी उसी प्रकार नष्ट हो गया जैसे अतर्राष्ट्रीयतावादके अन्य रूप—वैज्ञानिक, सास्कृतिक, शातिवादी और धार्मिक—नष्ट हो गये थे और महान् संकटके समय श्रम और पूँजीका आपसी सघर्ष भी रुक गया था। उस समय यह आशा की जाती थी कि युद्धके वाद एकता, मेल और समझौतेकी भावना प्रवल हो जायगी और जिस सघर्षका भय है वह टाला जा सकेगा। मानव-प्रकृति या इतिहासकी कोई भी चीज उस समयकी आशाओमे इस प्रकारका दृढ विश्वास नही वँधाती थी। यूरोपीय सघर्पकी भाँति अंतर्वर्गीय विरोध भी वहुत समयसे मँडरा रहा था। यूरोपीय सघर्षके आनेसे पूर्व विश्वशांतिकी अत्यधिक आशा की गयी थी तथा यूरोपीय सहयोग और पंच-निर्णय-विपयक संधियोके लिये प्रयत्न किये गये थे जिससे कि युद्ध अतिम रूपसे असभव हो जाय। यह आशा कि श्रमिक और पूँजीपति समरस होकर उच्चतर राष्ट्रीय हितोके लिये परस्पर मधुर समझौतेके गीत गाते हुए सघर्पके समस्त तीव्र कारणोको सरस ढगसे सुलझा देगे वचनापूर्ण और भ्रमात्मक है। सरकारोको समाजवादी रूप और उद्योगको अधिकाधिक राष्ट्रीय रूप दे देनेसे भी संघर्षके मूल कारण दूर नहीं होगे। कारण, नये राज्य-समाजवादके रूप तथा उसकी अवस्थाओका यह कठिन प्रश्न तव भी वना रहेगा कि इसकी व्यवस्था श्रमके हितमे होगी या पूँजीवादी राज्यके और इसका संचालन जनतन्त्रीय दिशामे स्वय कर्मियोद्वारा होगा अथवा वर्तमान शासक-वर्गो-द्वारा कुलीनतन्त्रीय या नौकरशाही ढंगसे।

यह प्रश्न उन विरोधोको जन्म दे सकता है जो बड़ी सरलतासे एक अतर्राष्ट्रीय या कम-से-कम एक अंतर्यूरोपीय संघर्पका रूप धारण कर सकते हैं; जैसा कि युद्ध-सकटके समय हुआ था यह एक राष्ट्रमे एकता लानेके स्थानपर उसे दोमे विभक्त भी कर सकता है। और इस प्रकारके संघर्पके परिणामोका वहुत भारी प्रभाव हो सकता है—या तो मनुष्योके विचार और उनका जीवन सक्रिय रूपमे नयी दिशाएं ग्रहण कर लेंगे और या फिर वर्तमान राष्ट्रो और साम्राज्योकी सीमाएँ ही समाप्त हो जायँगी।*

---

*यह कल्पित अनुमान राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवनके युद्धोत्तर विकासद्वारा पूरी तरह सत्य सिद्ध हुआ तथा अधिकाधिक सत्य सिद्ध होता गया। स्पेनमें अमानुषिक हत्याकांड, रूस, इटली और जर्मनीमें समाजवादके दो विरोधी रूपोका विकास, फ्रांसमें विक्षुब्ध राजनीतिक स्थिति—ये सव इन प्रवृत्तियोकी चरितार्थताके उदाहरण थे। पर जव साम्यवादका जन्म हुआ तो यह प्रवृत्ति अपने उच्चतम शिखरतक पहुंच गयी; और ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य नयी दुनियामें साम्यवाद और अभीतक जीवित पूँजीउद्योगवादमें अथवा पुरानी दुनियाके दो महाद्वीपोमें साम्यवाद और सामाजिक जनतंत्रकी अधिक नरम प्रणालीमें होनेवाले संघर्पका द्रष्टा बनेगा। पर सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि जिन विचारोका इस अध्यायमें उस समय उल्लेख किया गया था जव भविष्यकी संभावनाएँ वर्तमान संभावनाओसे कहीं अधिक भिन्न थीं और सव कुछ प्रवहमान, संदिग्ध और अस्त-व्यस्त था, वे अव पुराने पड़ गये हैं, क्योंकि एक इससे भी अधिक विस्मयजनक संघर्प वीचमें आ गया है और उसने उन सव अवस्थाओका सफाया कर दिया है जो पहले विद्यमान थीं। फिर भी उनमेंसे कुछ अभी जीवित हैं और वे नयी प्रायोगिक विश्व-व्यवस्थाके लिये अथवा, सच पूछो तो किसी भी भावी विश्व-व्यवस्थाके सुरक्षित विकासके लिये संकट उपस्थित करती हैं।

सोलहवाँ अध्याय

एकरूपता और स्वतन्त्रताकी समस्या

जिस प्रश्नसे हमने आरंभ किया था उसका कुछ उत्तर तो मिल गया है। राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्योके लिये तथा विशुद्ध राजनीतिक और प्रशासनीय साधनोद्वारा मनुष्यजातिके राजनीतिक एव प्रशासनीय एकीकरणकी सभावनाको उतनी पूर्णतासे जाँच लेनेके बाद, जितनी पूर्णताकी हमारा ज्ञान हमें अनुमति देता है, हम इस निष्कर्षपर पहुँचे है कि यह केवल संभव ही नही है, वरन् मनुष्यजातिके विचारो और प्रवृत्तियोने तथा तात्कालिक घटनाओ, वर्तमान शक्तियो और आवश्यकताओके परिणामने निश्चयात्मक रूपसे इस दिशामे कार्य करना आरंभ भी कर दिया है। यह संभावना मानव-विकासके प्रवाहमे विश्वप्रकृतिद्वारा उत्पन्न हुई एक प्रबल धारा है तथा मानवजातिके पिछले इतिहास और हमारी वर्तमान परिस्थितियोका युक्तियुक्त परिणाम है। तथापि पहलेसे यह भविष्यवाणी करनी उचित नही कि यह बिना कष्टके शीघ्र ही विकसित हो जायगी या अंतमे इसे निश्चित रूपसे सफलता ही प्राप्त होगी। इसके मार्गकी कुछ कठिनाइयाँ हम देख चुके हैं, साथ ही हम यह भी देख चुके है कि उन कठिनाइयोको पार करनेके लिये यह क्रियात्मक रूपसे किन दिशाओमें अग्रसर हो सकती है। हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि जो दिशा यह सभवत: नही ग्रहण करेगी वही आदर्श दिशा है, मानवजातिकी उच्चतम योग्यता और उसका सर्वश्रेष्ठ विचार तथा न्याय उसीकी माँग करते हैं, और इसे स्थायी सफलताकी अधिकतम सभावना भी उसीसे प्राप्त हो सकती है। यह सभव है कि जबतक हमारे सामूहिक विकासका अगला युग नही आ जाता, यह स्वतंत्र और समान राष्ट्रोके संघका रूप पूरी तरहसे नही धारण कर सकेगी, न ही यह राष्ट्रीयतावाद और अतर्राष्ट्रीयतावादके विरोधी सिद्धातोके पूर्ण समन्वयको अपने प्रेरक भावके रूपमे ग्रहण ही कर सकेगी।

अब हमे समस्याके दूसरे पक्षपर, अर्थात् मानवजीवन और मानवविकासके उद्गमोपर इसके प्रभावके विषयमे, विचार करना है। मानवजातिका राजनीतिक और प्रशासनीय एकीकरण केवल सभव ही नही है, वरन् हमारा वर्तमान विकास इसकी ओर इंगित भी कर रहा है। जो सामूहिक राष्ट्रीय

अहंभाव इसका विरोध करता है वह उस एकता लानेवाली वर्तमान प्रवृत्तिकी उत्तरोत्तर बढती हुई धाराद्वारा दबाया जा सकता है जिसे यूरोपीय युद्धके दारुण संकटने आकृति और स्पष्ट वाणी प्रदान की। किंतु अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या एक सुदृढ एकीकृत व्यवस्थाका, जो अपनी पहली अनिश्चित रचनावाली स्थितिमे नही है, बल्कि विकसित, पूर्णतर और साथ ही सबल भी हो चुकी है, आवश्यक रूपमें यह अर्थ नही है कि वह मनुष्यजातिकी वैयक्तिक और सामूहिक स्वाधीनताओको अत्यधिक दबा देगी और एक ऐसी आतंककारी मशीन बन जायगी जिसके द्वारा मनुष्य-जातिके आत्मिक जीवनके स्वतंत्र विकासके मार्गमे कम-से-कम कुछ समयके लिये गभीर बाधा उपस्थित हो जायगी, या उसका क्षेत्र संकुचित हो जायगा अथवा उसके अत्यधिक दबा दिये जानेका डर हो जायगा? हम देख चुके है कि ऐसे विकासमे, अनिश्चित रचनाके कालके बाद, साधारणतया प्रतिरोध और सिमटावका काल आता है। इस कालमे दृढतर एकीकरणके लिये प्रयत्न किया जायगा जिससे नयी एकताको दृढ साँचे प्रदान किये जा सके। पिछले एकीकरणोमे इसका परिणाम इस रूपमें दृष्टिगोचर हुआ कि मानव-जीवनकी स्वाधीनताका वह सिद्धांत दब गया जो मानवजातिके पिछले आध्यात्मिक, राजनीतिक और सामाजिक संघर्षोकी अमूल्य देन था, और भविष्यमे भी इसी परिणामके निकलनेकी संभावना है। विकासका क्रम आगे भी प्रगतिकी इसी नयी दिशामे अपने-आपको चरितार्थ करेगा।

इस प्रकारका विकास केवल संभव ही नही, बल्कि अनिवार्य हो जायगा, यदि मानवजातिका एकीकरण इस जर्मन सिद्धांतके अनुसार आगे बढे कि एक ही योग्य साम्राज्य, राष्ट्र या जातिका ससारपर उत्तरोत्तर प्रभुत्व होते जाना चाहिये। यदि भवितव्यता इस साधनका प्रयोग करे कि दो या तीन प्रबल साम्राज्यीय राष्ट्र समस्त मनुष्यजातिको अपने अधीन कर ले, या सुसगठित और ऐक्यबद्ध यूरोप एक ऐसी कार्यकारी शक्ति बन जाय जो राजनीतिक विचारकोकी एक विशेष योजनाको विकसित करके शेष ससारको हस्तगत कर ले और काली जातियोको अनिश्चित समयके लिये अपने संरक्षणमे ले ले तो इस प्रकारका विकास होना अनिवार्य हो जायगा।

इस सरंक्षणका प्रत्यक्ष उद्देश्य और हेतु कम उन्नत जातियोको सभ्य बनाना अर्थात् उन्हे यूरोपीय साँचेमे ढालना होगा। पर हम जानते है कि क्रियात्मक रूपमे इसका अर्थ उनसे अनुचित लाभ उठाना होगा, क्योकि मानव-प्रकृतिके अनुसार, उदार, पर सबल संरक्षक अपने विकास तथा समस्त ससारके हितमे इस सुअवसरसे अधिकतम लाभ उठाना उचित

समझेगा। अपनी सुरक्षाके लिये शासन सर्वोच्च शक्तिपर निर्भर रहेगा और शासित जातियोकी स्वाधीनताकी अभिलाषाओका इस आधारपर विरोध करेगा कि ये जातियाँ या तो अयोग्य है, और या उनकी स्वतंत्रताकी अभीप्सा अभी परिपक्व नही हुई है; ये दोनो युक्तियाँ सदा ही ठीक रह सकती है, क्योकि जो इन्हे प्रस्तुत करते है, उनके लिये यह सतोपजनक ढगसे कभी भी असत्य नही सिद्ध की जा सकती। शुरू-शुरूमे यह शासन इस प्रकार लागू किया जा सकता है कि शासक जातियोकी वैयक्तिक स्वाधीनताका सिद्धात तो सुरक्षित रहे और उधर शासितोपर एक हितकारी अधीनता लाद दी जाय, पर ऐसा शासन ठहर नही सकेगा। भूतकालका अनुभव हमे सिखाता है कि साम्राज्यीय जातिमे स्वाधीनताके सिद्धातसे सत्ताके सिद्धांतको अधिक महत्त्व देनेकी आदत उत्पन्न हो जाती है तथा वह उसके अपने अंदर प्रतिक्रिया करती है और पहले तो अलक्षित रूपमे और पीछे विचार-परिवर्तन तथा परिस्थितिके वश होनेवाले भाग्य-परिवर्तनके द्वारा उसकी अपनी आतरिक स्वतत्रताको नष्ट करनेका कारण बन जाती है। इस स्थितिसे निकलनेके केवल दो रास्ते हो सकते है, या तो उन जातियोमें स्वाधीनताका सिद्धांत विकसित हो जाय जो अभीतक अधीन है, या यूँ कहे कि जिनपर दूसरे अपने लाभके लिये शासन करते है अथवा ससारमे इस सिद्धातका सामान्य रूपसे ह्रास ही हो जाय। या तो उच्चतर अवस्थाको ऊपरसे आकर आच्छादित कर लेना चाहिये और या फिर हीनतर अवस्थाको नीचेसे उठकर आक्रात कर लेना चाहिये। एक ही व्यवस्थित मानव-प्रणालीमे दोनो सदा इकट्ठी नही रह सकती। इस संबधको समाप्त करनेवाली परिस्थितियोके अभावमे दसमेसे नौ बार तो अधिक अप्रीतिकर सभावनाकी ही विजय होती है।*

क्रियात्मक रूपमे, एकीकरणके ये सब साधन बल और दबावके प्रयोगसे ही आगे बढेगे और यदि किन्ही सीमित साधनोका पहलेसे सोच-विचारके अधिक समयके लिये व्यापक रूपमे प्रयोग किया जायगा तो इससे दबाव डालनेवाले लोगोमे स्वाधीनताके सिद्धांतके प्रति सम्मान घट जायगा और उधर जिनपर दबाव डाला जाता है उनके अदर स्वाधीनताकी भावना

---

*वर्तमान वस्तुस्थितिके साथ अब ये विचार संगत नही रहे। एशिया अब अधिकतर स्वतन्त्र है या स्वतन्त्र हो रहा है, प्रभुताशाली पश्चिम या प्रभुताशाली यूरोपके विचार-में अब वह शक्ति नही रही है; यह विचार, वास्तवमें, अब मनुष्यके मनसे ही हट गया है बल्कि क्रियात्मक रूपमें तो इसका अब कोई अस्तित्व ही नही रहा है।

भी क्षीण हो जायगी। यह प्रयोग प्रबल सत्ताके उस विरोधी सिद्धातकी वृद्धिके पक्षमे है जिसकी सपूर्ण प्रवृत्ति ही कठोरता, एकरूपता और जीवनकी एक यान्त्रिक और उसके फलस्वरूप अतमे अविकसनशील प्रणाली लानेकी ओर है। यह कार्य और कारणका एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सबंध है जिसका परिणाम टाला नही जा सकता जबतक कि इस बातका ध्यान न रखा जाय कि सत्ताका प्रयोग स्वतंत्र सहमतिके यथासंभव अधिक-से-अधिक व्यापक आधारपर किया जा रहा है। एकीकरणकी जो प्रणालियाँ इस तरह चलायी जायँगी वे अपनी प्रकृति और मूलस्वभावके कारण सुधार-भावनाका स्वतंत्र प्रयोग नही कर सकेंगी, क्योकि वे अत्यधिक अनिच्छुक तत्त्वके दबावसे कार्य करनेके लिये विवश हो जायँगी, साथ ही इसके लिये उन्हे समस्त प्रतिरोधी शक्तियों और प्रवृत्तियोको दूर करनेके लिये अपनी इच्छा-शक्तिका भी प्रयोग करना पड़ेगा। उन्हे स्वाधीनताके उन सब रूपोको दबा देने, कम कर देने, यहाँतक कि शायद उन्हे समाप्त कर देनेके लिये बाधित होना पड़ेगा जिनका प्रयोग, जैसा कि अनुभव उन्हे बताता है, विद्रोह या प्रतिरोधकी भावनाका पोषण करनेके लिये किया जा रहा है; इन रूपोसे हमारा अभिप्राय स्वतंत्र कर्म और स्वतंत्र आत्म-अभिव्यक्तिकी उन सब बृहत्तर स्वाधीनताओंसे है जो मानव-स्वतंत्रताके सर्वश्रेष्ठ, अत्यधिक सबल और प्रेरक भाग है। एकीकरणकी ये प्रणालियाँ पहले जोर-जबर्दस्ती तथा पीछे कानूनी निरोध और दमनके द्वारा उस स्वतंत्रताके सब तत्त्वोंको मिटा देनेके लिये विवश हो जायँगी जिसे आज हम राष्ट्रीय स्वतंत्रता कहते है। इस प्रक्रियामे वैयक्तिक स्वाधीनता मानवजातिके दोनो भागो—उत्पीडित जनता, और अनिवार्य प्रतिक्रिया और संक्रमणके परिणामस्वरूप, साम्राज्यीय राष्ट्र या राष्ट्रोमे नष्ट हो जायगी। इसमे पुरानी स्थिति सदा ही आ सकती है, कारण, अपनी प्रतिष्ठा और स्वतंत्रताका प्रतिपादन करना मनुष्यका एक ऐसा गुण है जिसे उसने सुदीर्घ विकास और कष्टप्रद प्रयासके बाद ही प्राप्त किया है; दूसरोकी स्वतंत्रताका आदर करना उसे अब भी स्वाभाविक रूपमे रुचिकर नही है, यद्यपि इसके बिना उसकी अपनी स्वाधीनता भी वस्तुत सुरक्षित नही रह सकती, पर जहाँ भी उसके लिये दबाव डालना और आधिपत्य जमाना संभव हो, वहाँ ऐसा करना—यह ध्यानमे रहे कि उसका उद्देश्य प्रायः अच्छा ही होता है—अथवा जो लोग अपना आधिपत्य जमा सकते है उनके द्वारा कुछ अशमे ठगा जाना और कुछ अंशमे उनका दास बन जाना उसकी जन्मजात पाशविक प्रवृत्तियाँ है। इसलिये जितनी भी थोड़ी-बहुत सामान्य स्वाधीनताएँ मनुष्य अपने

लिये निर्मित कर सका है उनका आवश्यक अवरोध करनेसे वह वस्तुत: एक कदम पीछे हट जाता है, इसका तात्कालिक लाभ चाहे जो हो। मानव-प्रकृति और मानवसमाजकी अपूर्ण अवस्थाएँ जितने उत्पीडन या दमनको अनिवार्य कर देती हैं उतनेसे अधिकको रखनेवाला प्रत्येक संगठन समूची जातिके विकासको आघात पहुँचाता है, इस बातका विशेष महत्त्व नही कि वह कहाँ और किसके द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।

इसके विपरीत, यदि जातिका बाह्य एकीकरण स्वतन्त्र राष्ट्रो और साम्राज्योको मिलाकर चरितार्थ किया जाय और यदि ये साम्राज्य मनोवैज्ञानिक सत्ताएँ तथा इसके फलस्वरूप स्वतन्त्र सगठन बनानेकी चेष्टा करे, अथवा यदि तबतक जाति इतनी उन्नति कर ले कि एकीभूत मानवजातिमे स्वतन्त्र राष्ट्रीय या सास्कृतिक समुदाय-निर्माणका सिद्धात अपनाया जा सके, तब पीछे हटनेका भय बहुत कम हो जायगा, फिर भी यह रहेगा अवश्य; क्योकि, जैसा हम देख चुके है, व्यवस्था और एकरूपताका सिद्धात एकीकरणके कालकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्वाधीनताका सिद्धात एकरूपताके विकासके मार्गमें एक स्वाभाविक बाधा उपस्थित करता है; यद्यपि यह सच्ची व्यवस्थासे पूर्णतया मेल रख सकता है और ऐसी पूर्व-स्थापित व्यवस्थाके साथ आसानीसे रह भी सकता है जिसमें इसे अपना उपयुक्त स्थान मिल चुका है, फिर भी, व्यावहारिक रूपमें, इसकी नयी व्यवस्थाके साथ उतनी आसानीसे मेल नही बैठता; कारण वह इससे उन नये बलिदानोकी मांग करती है जिनके लिये यह अभी मनोवैज्ञानिक रूपमे तैयार नही हुआ है। पर इस बातका अपने-आपमें कोई महत्त्व नही, क्योकि प्रगतिमात्रमे कुछ-न-कुछ संघर्ष और अनुकूलीकरणकी कठिनाई उपस्थित रहती ही है, और यदि इस क्रियामे एक ओर स्वाधीनताको और दूसरी ओर व्यवस्थाको कुछ हानि पहुँचे तो भी ये थोड़े अनुभवके बाद काफी आसानीसे नयी अनुकूलता प्राप्त कर लेगी। दुर्भाग्यसे, आत्मख्यापन करनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति या प्रत्येक सिद्धांतका अपने विकास-कालमे यह स्वभाव होता है कि, ज्योही उसे अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त होती है, वह अपने अधिकार तथा अपनी मागोकी अत्यधिक पुष्टि करने लगता है, अपनी इच्छाओकी एकागी सफलता प्राप्त कर लेता है, निरंकुश शासन स्थापित करना चाहता तथा अन्य प्रवृत्तियो और सिद्धातोको, विशेषकर उनको जो उसे सहजबुद्धिके द्वारा अपनी प्रकृतिसे बहुत दूर प्रतीत होते है, निरुत्साहित करता है, यहाँतक कि उन्हे कुचल भी देता है। और यदि वह देखता है कि ये विरोधी शक्तियाँ उसका सामना कर रही है, तो उसकी आत्मख्यापनकी प्रेरणा क्रोधित, प्रचंड और निष्ठुर हो उठती है;

अनुकूलताके लिये संघर्षके स्थानपर शत्रुतापूर्ण झगडा हो जाता है जो प्रवल परिवर्तनोमेसे, क्रिया-प्रतिक्रिया तथा विकास और विद्रोहमेसे गिरता-पडता तवतक आगे वढता रहता है जवतक कि संघर्षमें किसी एक पक्षको विजय ही नही प्राप्त हो जाती।

मनुष्यजातिके अतीत विकासमे यही हुआ है; स्वाधीनताके विरुद्ध व्यवस्था और एकरूपताका सघर्ष सभी वडे धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मानव-सगठनो और विकासोका प्रधान तथ्य रहा है। निकट भविष्यमे विकासका कोई अधिक युक्तियुक्त सिद्धात मिल जायगा यह भविष्य-वाणी करनेका अभीतक कोई कारण नही दिखायी देता। नि.संदेह ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अपने अतीत इतिहासके किसी भी ज्ञात कालकी अपेक्षा, अधिक सामान्य रूपसे विचारशील प्राणी वन गया है तथा वनता जा रहा है। पर इससे, दो-एक दिशाओको छोडकर, न तो उसका मन ही अधिक विवेकशील हुआ है और न उसकी भावनामे ही अधिक सामंजस्य आया है, कारण, वह अभी भी अपने विवेकका प्रयोग किसी वुद्धिमत्तापूर्ण समझौतेपर पहुँचनेकी अपेक्षा अधिकतर झगड़े और पारस्परिक विरोधको उचित ठहरानेके लिये करता है। साथ ही उसका मन और विवेक सदा उसकी प्राणिक इच्छाओ और लालसाओके दास रहते है। अतएव, हमे यह मानना होगा कि सर्वोत्तम परिस्थितियोमे भी विकासकी पुरानी प्रणाली अपना जोर जमायेगी और मानव-एकीकरणके प्रयत्नमे पुराने संघर्षका पुनरावर्तन भी अवश्य होगा। अधिकार और व्यवस्थाका सिद्धात एक यात्रिक सगठनकी स्थापनाके लिये प्रयत्न करेगा, उधर स्वाधीनताका सिद्धांत इसके विरोधमे खडा हो जायगा और एक अधिक नमनीय, स्वतंत्र और व्यापक प्रणालीकी माग करेगा। ये दो पुराने शत्रु मानव-एकताके नियंत्रणके लिये आपसमे उसी प्रकार संघर्ष करेंगे जैसा इन्होने पहले राष्ट्रके विकसनशील रूपके नियंत्रणके लिये किया था। इस क्रियामे राष्ट्रीय और वैयक्तिक स्वाधीनताओके नष्ट हो जानेकी सभावना है, क्योकि परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत सकुचित शक्तिके अनुकूल है; यदि ये कानून और प्रतिवन्धोकी गोलावारीके द्वारा जवर्दस्ती नही दवायी गयी तो यह इनके लिये सौभाग्यकी वात होगी।

यदि स्वयं राष्ट्रोमे ही वैयक्तिक स्वाधीनताकी भावना अपने पुराने उत्साहके साथ फलती-फूलती रही तो शायद ऐसा न भी हो। क्योकि तव यह सहज सहानुभूतिवश और स्वय अपने लिये भी सभी अंगभूत राष्ट्रोकी स्वाधीनताके सम्मानकी माग करेगी। पर, जहाँतक वर्तमान समयकी वाह्य परिस्थितियोसे पता चलता है, हम एक ऐसे युगमें प्रवेश कर रहे है

जिसमे वैयक्तिक स्वाधीनताके आदर्शकी यदि अस्थायी रूपसे मृत्यु न भी हुई या वह कम-से-कम एक गहरी मूर्च्छा, सुषुप्ति अथवा लबी नीदमें न भी चला गया तो भी वह राज्य-सिद्धात-रूपी राहुसे पूर्णरूपेण ग्रस अवश्य लिया जायगा। जव-जव एकीकरणमे सिमटाव और यत्रीकरणकी क्रिया की जायगी तव-तव प्रत्येक अगभूत इकाईमे भी इसी प्रकारकी क्रिया हो सकती है। अव इस दोहरी प्रक्रियामे स्वाधीनताकी भावनाको संरक्षण या पोपण कहाँसे प्राप्त होगा? स्वतत्रताके पुराने क्रियात्मक सिद्धांत इस दोहरी क्रियाम विलीन हो जायगे और स्वस्थ विकासकी एकमात्र आशा स्वाधीनताके एक ऐसे नये सिद्धातमे निहित रहेगी जिसे मानव-मनकी एक नयी शक्तिशाली---आध्यात्मिक या वौद्धिक---प्रवृत्ति जन्म देगी; यह प्रवृत्ति वैयक्तिक स्वाधीनताको सामाजिक जीवनके सामूहिक आदर्शके साथ तथा समुदाय-इकाईकी स्वाधीनताको मनुष्यजातिके लिये अधिक एकीभूत जीवनकी नवोदित आवश्यकताके साथ समन्वित कर देगी।

इस वीच हमें यह सोचना है कि वाह्य अर्थात् राजनीतिक और प्रशासनीय प्रणाली जिन अधिक वाह्य और यांत्रिक दिशाओको पसद करती है उनमे एकीकरणका सिद्धात किस हदतक लागू हो सकता है और कहाँतक वे अपने उग्रतर सिद्धातोके अनुसार जातिके सच्चे विकासके पूर्ण होनेमे सहायक या वाधक होगी। हमे यह भी सोचना है कि स्वय राष्ट्रीयताके सिद्धातपर इनका क्या प्रभाव पडेगा, क्या उसके पूर्ण रूपसे नष्ट हो जानेकी सभावना है, अथवा, यदि उसे वचा लिया गया, तो नये एकीभूत जीवनमे उस गौण राष्ट्र-इकाईका क्या स्थान होगा? इसमे नियत्रणके प्रश्न तथा 'मनुष्यमात्रकी संसद्' और राजनीतिक सगठनके अन्य विचार भी आ जाते है, जो सामूहिक जीवनके विज्ञानकी इस नयी और गभीर समस्यासे सवधित होगे। तीसरे, एकरूपताका प्रश्न है, एकरूपता कहाँतक जातिके लिये लाभदायक है अथवा एकताके लिये आवश्यक है? यह स्पष्ट है कि हम यहाँ उन समस्याओको हाथमे ले रहे है जिनपर हमे पूर्व-विचारित समस्याओकी अपेक्षा अधिक गूढ ढगसे तथा कम व्यावहारिक रूपमे विचार करना पडेगा; कारण, यह सव अभी भविष्यके गर्भमे है और जितना प्रकाश हमे प्राप्त हो सकता है वह पिछले अनुभव एव जीवन, प्रकृति और समाजशास्त्रके सामान्य नियमोका है; वर्तमान इनके समाधानपर केवल एक धुँधला-सा प्रकाश डालता है, क्योकि यह समाधान भविष्यकी अचित्य सभावनाओके अधकारमे छिपा पडा है। हम पहलेसे कुछ नही देख सकते; हम केवल विचार सकते है, सिद्धांत वना सकते है।

हम देखते हैं कि सदा दो चरम संभावनाएँ होती हैं और साथ ही इनमें समझौतेके भी कुछ-एक ढंग कम या अधिक संभव हो सकते हैं। वर्तमान समयमें राष्ट्र मानव-समुदायकी एक ऐसी दृढ़ सामूहिक इकाई है जिसकी अधीनता अन्य सब इकाइयाँ स्वीकार करती जा रही हैं; साम्राज्यीय इकाई भी अभीतक केवल राष्ट्रीय इकाईका विकास ही रही है और अभी हालमें साम्राज्य, रोमन साम्राज्यकी भांति, सचेतन रूपसे एक अधिक व्यापक समुदाय-निर्माणके कार्यमें नहीं लगे रहे हैं, बल्कि उनका उद्देश्य सदा अधिकार और विस्तारकी सहज-प्रवृत्तिको, भूमि और धन-धान्यकी तृष्णाको तथा शक्तिशाली और समृद्ध राष्ट्रोंके प्राणिक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक आधिपत्यकी भावनाको तुष्ट करना रहा है। पर यह राष्ट्र-इकाईको समुदायके बृहत्तर सिद्धांतमें अंतिम रूपसे विलीन होनेके विरुद्ध सुरक्षा प्रदान नहीं करता। किसी भी मानव-एकतामें, चाहे वह कितनी भी पूर्ण, अनुदार और एकरूप क्यों न हो, सामूहिक इकाइयाँ अवश्य होंगी, कारण, यह केवल मनुष्य-प्रकृतिका ही नहीं, बल्कि जीवन और समुदाय-निर्माणका सिद्धांत है; हमें यहाँ विश्व-सत्ताके मूल नियमका, सृष्टिके आधारभूत गणित और भौतिकशास्त्रका आभास मिलता है। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि राष्ट्रको ही सदा सामूहिक इकाईके रूपमें रहना चाहिये। यह बिलकुल समाप्त भी हो सकता है; इस समय भी लोग राष्ट्र-सिद्धांतको अस्वीकार करने लगे हैं, जन्मभूमि-विरोधी विचार अर्थात् विश्व-नागरिकका सिद्धांत जन्म ले चुका है और यह विचार लड़ाईसे पहले भी उत्तरोत्तर बढ़ रहा था; यद्यपि अब यह कुछ समयके लिये आतंकित, शांत और निरुत्साहित हो गया है, पर यह किसी भी प्रकार नष्ट नहीं हुआ है; बल्कि आगे चलकर यह दुगने जोरसे फिर उठ सकता है। दूसरी ओर राष्ट्र-सिद्धांत अपनी पूरी शक्तिके साथ जीवित रह सकता है अथवा ऐसी दशामें किसी भी संघर्ष और प्रत्यक्ष पतनके बाद भी, बृहत्तर एकतामें अपने जीवन, अपनी स्वतंत्रता और सबल विशिष्टताकी पुष्टि कर सकता है। अंतमें, यह भी संभव है कि यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य रहनेकी अपेक्षा फ्रेंच विभाग या इंगलिश प्रांतके समान सुविधाजनक एवं प्रशासनीय साधनमात्र रह जाय, किंतु तब उसकी शक्ति क्षीण और गौण हो जायगी, यहाँतक कि इसमें वास्तविक शक्ति या विशिष्टता अथवा पृथक्ताकी कोई सजीव भावना भी नहीं रहेगी। किंतु फिर भी मानव-एकताके अगले विघटनका प्रारंभ-स्थल बननेके लिये इसकी उतनी यांत्रिक विशिष्टता बनी रह सकती है जितनी इस प्रयोजनके लिये पर्याप्त हो; यदि एकीकरण

वास्तविककी अपेक्षा यांत्रिक अधिक हुआ अर्थात् यह राजनीतिक और प्रशासनीय उद्देश्योसे सचालित होता रहा और इसे मनुष्यजातिकी आध्यात्मिक एकताका स्थूल आधार वननेके लिये आर्थिक और सामाजिक अथवा केवल सास्कृतिक सुख-सुविधाओ और घटनाओके अनुभवका वल मिलता रहा तो इसका विघटित होना अनिवार्य हो जायगा।

यही वात एकरूपताके आदर्शपर भी लागू होती है; वहुतसे व्यक्तियोके लिये तो, विशेषतया उनके लिये जिनके मन कठोर और यात्रिक साँचेमे गढ़े हुए है और कल्पना एवं स्वतंत्र प्राणिक प्रेरणाकी अपेक्षा तर्क और वौद्धिकतासे अधिक प्रभावित है या किसी भी विचारकी सुन्दरतासे सहज ही वहककर उसकी सीमाओको भुला देते है, एकरूपता ही आदर्श है; कभी-कभी तो वह उनके लिये ऐसा सर्वोच्च आदर्श वन जाती है जिससे ऊचेकी वे कल्पना भी नही कर सकते। मनुष्यजातिकी एकरूपता, यद्यपि वर्तमान परिस्थितियोमे असाध्य है और अति सुदूर भविष्यको छोडकर कुछ दिशाओमे अकल्पनीय भी है, तथापि अंतमे यह असभव नही होगी, क्योकि जीवन-परिपाटी और ज्ञानकी एकरूपताके लिये तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और शिक्षासंवंधी एकरूपताके लिये असीम प्रयत्न अवश्य हो रहा है या हो चुका है; यदि इस सवको इसकी अंतिम पराकाष्ठातक पहुँचाया गया तो स्वभावतः ही यह संस्कृतिकी एकरूपताको भी जन्म देगा। यदि यह चरितार्थ हो गया तो पूर्ण विशुद्ध एकरूपताके मार्गमे केवल एक वाधा रह जायगी, वह भाषाकी विभिन्नता होगी, क्योकि भाषा ही विचारको उत्पन्न तथा निर्धारित करती है यद्यपि वह स्वय भी विचारसे उत्पन्न तथा निर्धारित होती है; जवतक भाषाकी विभिन्नता रहेगी, तवतक विचार, ज्ञान और संस्कृतिमे भी कुछ हदतक स्वतंत्र विविधता रहेगी। पर यह वात सहज ही कल्पनामे आ सकती है कि संस्कृतिकी सामान्य एकरूपता तथा घनिष्ठ जीवन-साहचर्य सार्वभौम भाषाकी पहलेसे अनुभव की हुई आवश्यकताको अदम्य शक्ति देंगे, और यह सार्वभौम भाषा यदि एक वार उत्पन्न हो जाय अथवा लोग इसे एक वार अपना ले तो यह अतमे प्रादेशिक भाषाओको समाप्त कर सकती है, जिस प्रकार लैटिनने गाल, स्पेन और इटलीकी भाषाओको समाप्त कर दिया था, या इगलिश भाषा कोरनिश, गेलिक और अर्स (Erse)को समाप्त करके वैल्श भाषामे अनुचित हस्तक्षेप करने लगी थी। दूसरी ओर, मानव-मनकी वढ़ती हुई निज-भावना (Subjectivism)के कारण, आजकल स्वतत्र विविधताका और एकरूपताकी अस्वीकृतिका सिद्धात पुन: जीवित हो रहा है। यदि

इस प्रवृत्तिकी विजय हुई तो जातिके एकीकरणको इस प्रकार संगठित होना पड़ेगा कि वह अपनी अंगभूत इकाइयोंकी स्वतंत्र संस्कृति और उनके विचार एवं जीवनका सम्मान कर सके। किंतु प्रबल एकरूपताकी एक तीसरी संभावना भी है, यह उन छोटे-मोटे भेदोंको, जो उसके प्रभुत्वकी नींवके लिये संकट नहीं पैदा करते, अनुमोदित करेगी, यहाँतक कि उन्हें उत्साहित भी करेगी। यहाँ भी ये भेद अपनी सीमाओंमें सबल, सशक्त और कुछ हदतक विशिष्ट—किंतु पृथक् नहीं—रह सकते हैं अथवा ये बिल्कुल गौण रंग-रूप भी रख सकते हैं, पर फिर भी विविध विकासके नये चक्रमें एकरूपताके विलयनका प्रारंभ-स्थल बननेके लिये ये पर्याप्त होंगे।

यही बात मनुष्यजातिको संचालित करनेवाले संगठनके विषयमें भी कही जा सकती है। यह केंद्रीय सत्ताके अधीन एक ऐसा कठोर साधन हो सकता है जिसकी कुछ समाजवादी योजनाएँ राष्ट्रके लिये कल्पना करती हैं,—ऐसा शासन जो मानव-प्रशिक्षण, आर्थिक जीवन, सामाजिक अभ्यास, सदाचार, ज्ञान, यहाँतक कि धर्म और मानव-व्यवहारके प्रत्येक क्षेत्रकी सुदृढ़ और एकरूप व्यवस्थाके हितमें सब वैयक्तिक और प्रादेशिक स्वाधीनताको दबा दे। ऐसा विकास असंभव प्रतीत हो सकता है, क्योंकि निकट भविष्यमें यह कार्य सचमुच ही नहीं हो सकेगा, इसके कई कारण हैं; इसे विशाल जन-समुदायोंको अपने अंतर्गत करना होगा, कई कठिनाइयोंको पार करना पड़ेगा, अपनेको चरितार्थ करनेके लिये कई समस्याओंका समाधान करना पड़ेगा। परंतु असंभवताका यह विचार दो महत्त्वपूर्ण तथ्योंको ध्यानमें नहीं लाता—एक तो विज्ञानका विकास जिसके द्वारा विशाल जनसमूहोंपर अधिकाधिक सरलतासे कार्य हो सकता है—वर्तमान युद्ध इसका साक्षी है—और साथ ही अत्यंत गुरु समस्याओंका समाधान भी जिसके द्वारा हो सकता है और दूसरा समाजवादकी द्रुत प्रगति।* मान लो कि समाजवादी सिद्धांतकी या उसके किसी भी क्रियात्मक रूपकी सब महाद्वीपोंमें विजय हो जाय तो यह स्वाभाविक रूपसे एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय समाजीकरणको ला सकता है जो विज्ञान और वैज्ञानिक संगठनके विकासद्वारा, स्थान और संख्याकी कठिनाइयोंको दूर करके, चरितार्थ किया जा सकता है। दूसरी ओर, यह भी संभव है कि शासन-प्रबंध और स्वाधीनताके दो आदर्शोंमें

*इस प्रकारकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रियाएं भी—इटलीका सद्यः पराजित फासिस्ट तन्त्र जिसका उदाहरण है—राजनियंत्रण और राज्यसंचालनके सिद्धांतकी नयी संभावनाओंको तैयार अथवा व्यक्त करती हैं, यही सिद्धांत समाजवादका सार है।

होनेवाले उग्र संघर्षके कालके वाद मानवजातिका समाजवादी युग यूरोपके निरंकुश राजतन्त्रके कालके समान अपेक्षाकृत अल्प-स्थायी सिद्ध हो और इसके वाद एक ऐसा काल आये जिसे दार्शनिक अराजकतावादके सिद्धांतो अर्थात् उस एकताके सिद्धांतोसे अधिक प्रेरणा मिलेगी जो पूर्णतम वैयक्तिक स्वतंत्रता और साथ ही सहज-स्वाभाविक समुदाय-निर्माणकी स्वतंत्रताके ऊपर आधारित होगी। इनमे समझौता होना भी संभव है, एक ऐसी प्रवल शासन-पद्धति स्थापित हो सकती है जिसमे थोडी-वहुत सजीव, पर आश्रित स्वतंत्रता रहेगी, परतु यदि वह कम सजीव भी हो तो भी जव मानवजाति यह अनुभव करने लगेगी कि शासन-पद्धति ही उसकी अतिम भवितव्यता नही है तथा खोज और प्रयोगके एक नये युगका आना उसके भविष्यके लिये अनिवार्य हो गया है, वह शासन-पद्धतिकी समाप्तिका प्रारभ-स्थल वन सकेगी।

इन विशाल समस्याओपर किसी प्रकारकी पूर्णताके साथ विचार करना यहाँ सभव नही है। हम केवल कुछ ऐसे विचार ही उपस्थित कर सकते है जो एकीकरणकी समस्याके विवेचनमे हमारा मार्गदर्शन करे। समस्या वहुत विशाल और अस्पष्ट है, इसके ऊपर जहाँ-तहाँ यदि प्रकाशकी एक किरण भी पड़ जाय तो इसकी कठिनाई अथवा धूमिलताके कम होनेमे सहायता मिल सकती है।
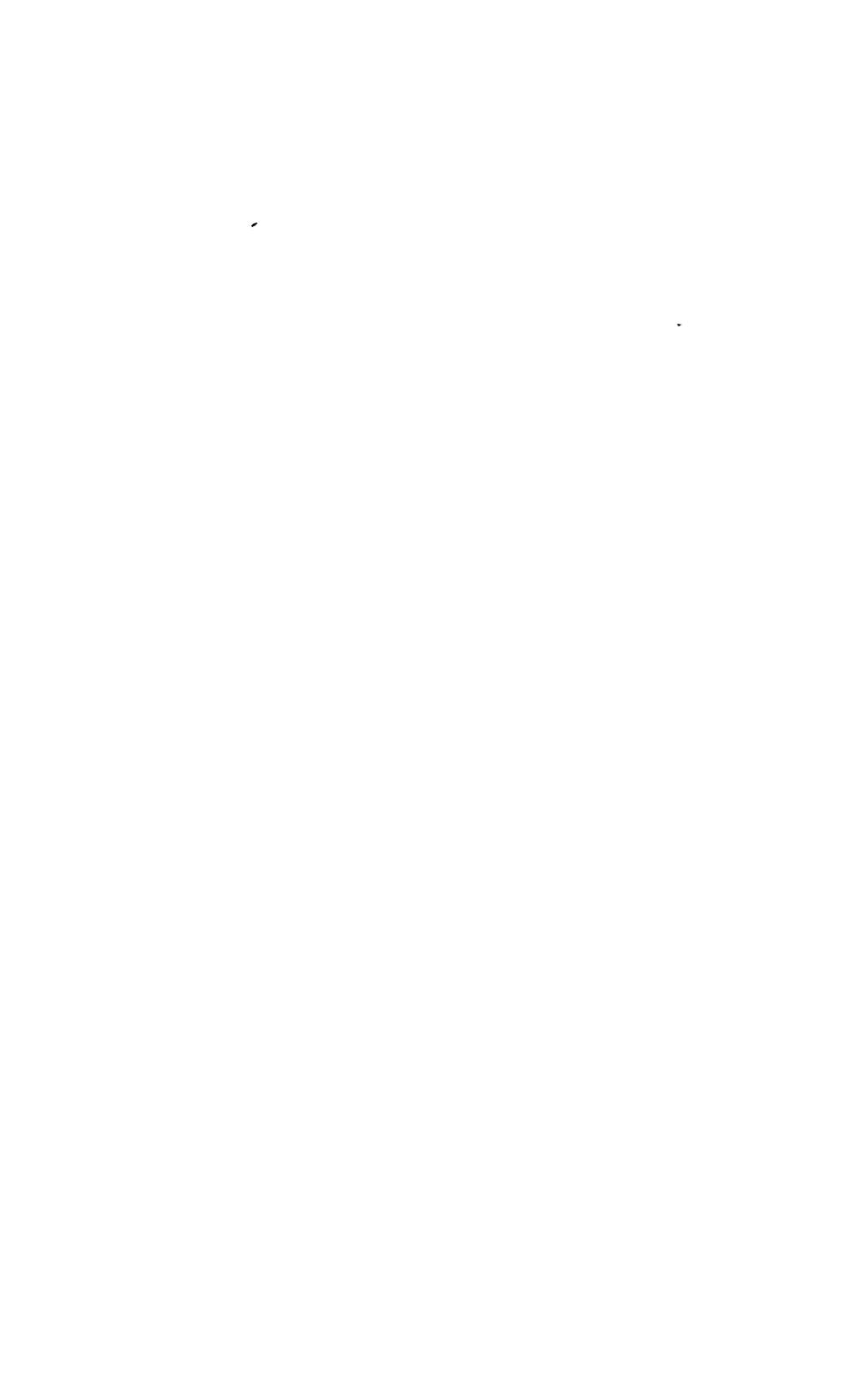
भाग दो

सत्रहवाँ अध्याय

हमारे विकासमें प्रकृतिका नियम–विभिन्नतामें एकता, विधि (Law) और स्वाधीनता

पृथ्वीके सब प्राणियोमेसे अकेले मनुष्यको ही ठीक ढगसे जीवन-यापन करनेके लिये ठीक ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता पडती है, चाहे यह ज्ञान वह, जैसा कि बुद्धिवादका कहना है, अपनी बुद्धिके एकमात्र या प्रधान साधनद्वारा प्राप्त करे अथवा अधिक व्यापक और जटिल रूपमे अपनी समस्त शक्तियोद्वारा। उसे सत्ताके सच्चे स्वरूप और जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रोमे उसकी सतत आत्म-चरितार्थताको,—सरल भाषामे कहे तो,—प्रकृतिके नियम विशेषतया अपनी प्रकृतिके नियम, तथा अपने अदर और अपने चारो ओरकी शक्तियोको जाननेकी आवश्यकता है; साथ ही उसे यह भी जानना है कि उसके अपने महत्तर सुख और उत्कर्षके लिये अथवा उसके और उसके साथियोके महत्तर सुख और उत्कर्षके लिये इन शक्तियोका ठीक उपयोग क्या है। पुरानी उक्तिके अनुसार, उसे प्रकृतिके अनुकूल जीवन वितानेका ढंग सीखना चाहिये। किंतु प्रकृतिका जो रूप पहले स्वीकार किया जाता था वह अव स्वीकार नही किया जा सकता; अब प्रकृति वह सनातन सत्य नियम नही मानी जाती जिससे मनुष्य विच्छिन्न हो गया है, वल्कि प्रकृति स्वयं एक ऐसी चीज है जो वदल रही है, वर्द्धित और विकसित हो रही है, एक शिखरसे अधिक उन्नत शिखरकी ओर वढ रही है, अपनी सभावनाओ-के एक छोरसे अधिक व्यापक छोरकी ओर विस्तृत हो रही है। तथापि इस समस्त परिवर्तनमे सत्ताके कुछ सनातन नियम या सत्य भी है जो सदा एकसे रहते है और इन्हीके आधारपर एव इन्ही प्रारंभिक साधनोसे तथा इन्हीके ढाँचेके भीतर हमारी प्रगति और पूर्णताको सपन्न होना है। नही तो शक्तियोके सघर्षमे भी व्यवस्थित रहनेवाले ससारका अस्तित्व न होता, वरन् चारो ओर अनत अस्तव्यस्तताका ही साम्राज्य होता।

पशु और वनस्पतिके अवमानवीय जीवनको न तो इस ज्ञानकी और न इस ज्ञानके साथ अनिवार्य रूपमे रहनेवाली उस चेतन इच्छा-शक्तिकी ही आवश्यकता पडती है जो सदैव प्राप्त ज्ञानको कार्यरूपमे परिणत करनेकी

प्रेरणा अनुभव करती है। इस छूटके मिल जानेसे वह अनगिनत भ्रांतियो, विकृतियों और व्याधियोसे वच जाता है, क्योकि वह सहज-स्वभाववश ही प्रकृतिके अनुसार चलता है; उसका ज्ञान और संकल्प दोनो प्रकृतिके है, चेतन हों अथवा अवचेतन, वे उसके नियमों और आदेशोको टाल नही सकते। इसके विपरीत, मनुष्यके पास एक ऐसी सामर्थ्य प्रतीत होती है जो प्रकृतिके ऊपर अपनी वुद्धि और इच्छाशक्तिका प्रयोग कर सकती है, उसमें उसकी गति-विधियोंको संचालित करने, यहाँतक कि जो मार्ग वह उसे वताती है उससे भिन्न मार्ग ग्रहण करनेकी भी क्षमता विद्यमान है। परंतु वास्तवमे यह भी भापाकी एक विकृतिपूर्ण चाल है, क्योकि मनुष्यका मन भी प्रकृतिका ही एक अंग है, और यह मन यदि उसकी अपनी प्रकृतिका सवसे वडा अंग नही तो सवसे प्रमुख अंग अवश्य है। हम कह सकते है कि यह भी प्रकृति ही है जो कुछ हदतक अपने नियमो और शक्तियो तथा अपने विकाससंवंधी संघर्पके प्रति सजग हो गयी है और जिसके अंदर अपने जीवन और अस्तित्वकी प्रक्रियाओपर एक अधिकाधिक उच्चतर नियम लागू करनेकी चेतन इच्छा जाग उठी है। अवमानवीय जीवनमें प्राणिक और भौतिक संघर्ष तो है पर मानसिक संघर्प नही। मनुष्य इस मानसिक उलझनमें ग्रस्त है और इसी कारण वह दूसरोके साथ ही नहीं, अपने साथ भी संघर्ष करता है और क्योकि उसमें अपने साथ इस प्रकारका सघर्ष करनेकी सामर्थ्य मौजूद है, उसमे आंतरिक विकासके, उच्चसे उच्चतर स्तरकी ओर वढ़ने तथा अनवरत आत्म-अतिक्रमण करनेके संघर्पकी भी सामर्थ्य विद्यमान है जो पशुओको प्राप्त नही है।

वर्तमान समयमें यह विकास जीवनसे संवद्ध विचारोके संघर्ष और उनकी प्रगतिद्वारा होता है। अपने प्राथमिक रूपमें मानवके जीवनविपयक विचार स्वयं जीवनकी शक्तियो और प्रवृत्तियोका, जैसे कि वे आवश्यकताओ, इच्छाओ और हितोंके रूपमे प्रकट होती है, मानसिक उल्थामात्न होते है। मनुष्यकी वुद्धि व्यावहारिक और थोड़ी-वहुत स्पष्ट एवं यथार्थ होती है। वह इन चीजोको अपनी दृप्टिमें रखती है तथा अपने अनुभव, मत और रुचिके अनुसार इनमेंसे एक या दूसरेको अधिक या कम महत्त्व देती है। इनमेंसे कुछको मनुप्य स्वीकार करता हे और अपनी इच्छा-शक्ति और वुद्धिद्वारा उनके विकासमे सहायता पहुंचाता है और कुछको अस्वीकार करके निरुत्साहित कर देता है, यहाँतक कि उनका उन्मूलन करनेमे भी सफल हो जाता है। परतु इस प्रारंभिक प्रक्रियासे मनुप्यके अंदर जीवनके विपयमे एक और प्रकार-के उन्नत विचार उत्पन्न होते है। वह उनके मानसिक उल्थामात्न और उनके साथ सहज सक्रिय संवंधसे आगे वढकर उन शक्तियो और प्रवृत्तियोंका निय-

मित रूपसे मूल्यांकन करने लगता है जो उसमें और उसके वातावरणमे प्रकट हो चुकी है या हो रही है। वह उन्हे प्रकृतिकी स्थिर प्रक्रियाएँ और नियम समझकर उनका अध्ययन करता है और उनके विधान और ढंगको जाननेका प्रयत्न करता है। वह अपने मन, प्राण और शरीरके नियम तथा अपने चारों ओरके उन तथ्यो और शक्तियोके विधान और नियम निर्धारित करनेकी चेष्टा करता है जो उसका वातावरण वनाते हैं तथा उसके कार्यका क्षेत्र और ढंग निश्चित करते है। क्योकि हम अपूर्ण और विकसनशील प्राणी है, जीवनसंवंधी नियमोंका यह अध्ययन अवश्य ही दो पहलुओको अपने विचारमें लायगा : एक तो उसका नियम जो इस समयमें है अर्थात् हमारी वर्तमान अवस्थाओका नियम और दूसरा उसका नियम जो हो सकता है या होना चाहिये अर्थात् हमारी संभावित शक्तियोंका नियम। यह पिछला नियम ही मानववुद्धिके निकट जो सदा ही वस्तुओके विषयमे मनमाना और आग्रहपूर्ण सिद्धांत वनानेकी प्रवृत्ति रखती है, एक स्थिर और आदर्श मानदंड या कुछ नियमोंका रूप ले लेता है जिनसे हमारा वर्तमान जीवन विचलित और च्युत हो गया है या जिनकी ओर वह प्रगति एवं अभीप्सा कर रहा है।

प्रकृति और जीवनका विकासवादी सिद्धात हमें एक गंभीरतर विचारकी ओर ले जाता है। जो है और जो हो सकता है दोनो सत्ताके उन्ही शाश्वत तथ्यो और हमारी प्रकृतिकी शक्तियो या सामर्थ्योंकी अभिव्यक्तियाँ है जिनसे हम न तो वच सकते हैं और न इनसे वचना अभिप्रेत ही है। कारण, जीवनमात्र वह प्रकृति है जो स्वयंको चरितार्थ कर रही है, वह प्रकृति नही जो अपने-आपको नष्ट या अस्वीकार कर रही है। किंतु हम अपनी प्रकृति और सत्ताके इन शाश्वत तथ्यों और शक्तियोके रूपो एवं महत्त्वो तथा इनकी व्यवस्थाओको उन्नत कर सकते है, और उन्हे उन्नत करना, वदलना तथा विस्तृत रूप देना हमारा निर्दिष्ट कार्य भी है। हमारे विकासक्रममे यह परिवर्तन और पूर्णत्व समूल रूपांतर जैसा प्रतीत हो सकता है, यद्यपि मल वस्तुमें कोई परिवर्तन नही होता। हमारी वर्तमान क्षमताएँ अभिव्यक्तिका वह रूप और महत्त्व अथवा सामर्थ्य है जिसे हमारी प्रकृति और हमारा जीवन प्राप्त कर चुके है, उनका मानदड या नियम विकासके उसी सोपानकी एक विशिष्ट और स्थिर व्यवस्था एवं प्रक्रिया है। हमारी संभावित शक्तियाँ अभिव्यक्तिके उस नये रूप, महत्त्व और सामर्थ्यकी ओर संकेत करती है जिनकी अपनी एक नयी और उपयुक्त व्यवस्था तथा प्रक्रिया होती है और वही इनका विशेप नियम और मानदंड है। इस प्रकार वर्तमान और सभवनीयके वीचमे स्थित हमारी वुद्धि वर्तमान नियम और रूपको हमारी प्रकृति

और हमारे अस्तित्वका सनातन नियम समझनेकी गलती करने लगती है, और जहाँ कोई परिवर्तन हुआ उसे वह नियम-भंग या पतन मान लेती है, या, इसके विपरीत, किसी भावी और प्रसुप्त नियम एवं रूपको हमारे जीवन-का आदर्श नियम माननेकी भूल कर बैठती है,—उसके अनुकूल यदि कार्य न किया जाय तो उसे वह हमारी प्रकृतिका दोष या पाप समझने लगती है। वास्तवमें, केवल वही नित्य है जो सब परिवर्तनोंके बीच भी स्थिर रहता है और हमारा आदर्श इसकी उत्तरोत्तर अभिव्यक्तिसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता। आत्म-अभिव्यक्तिकी उच्चता, व्यापकता और परि-पूर्णताकी जो चरम सीमा मनुष्यके लिये संभव है—यदि ऐसी कोई सीमा हो और उसका हमें ज्ञान हो, किंतु अभीतक हमें अपनी चरम संभावनाओं-का ज्ञान नहीं है—केवल उसीको सनातन आदर्श समझा जा सकता है।

जिन विचारों या आदर्शोंको मानव-मन जीवनसे संगृहीत करता है या उसपर लागू करनेकी चेष्टा करता है वे स्वयं जीवनकी, जब कि वह अपने नियमको अधिकाधिक प्राप्त करनेका तथा उसे ऊँचेसे ऊँचा उठाने और साथ ही अपनी सुप्त शक्तियोंको उपलब्ध करनेका यत्न कर रहा होता है, अभिव्यक्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकते। प्रकृतिकी मानवी जीवन-प्रणालीके महत्त्व तथा उसकी सुप्त शक्तियोंकी इस क्रमिक चरितार्थता और परिपूर्णतामें हमारा मन उसकी गतिके चेतन भागका प्रतिनिधि है। यदि यह मन पूर्ण होता तो यह अपने ज्ञान और संकल्पमें उस समग्र गुप्त ज्ञान और सकल्पके साथ एक होता जिसे प्रकृति ऊपरी तलपर लानेकी कोशिश कर रही है और तब कोई मानसिक संघर्ष भी न होता, क्योंकि तब हम उसकी क्रियाके साथ एक हो सकते, उसके उद्देश्यको जान लेते और उसके मार्गका बुद्धिमत्तापूर्वक अनुसरण कर सकते। तब हम वह सत्य जान लेते—जिसपर गीता भी बल देती है—कि केवल प्रकृति ही क्रियाशील है और हमारे मन एवं जीवनके कार्य उसके गुणोंके ही व्यापार हैं। अव-मानवीय जीवन प्राण और सहजबुद्धिके द्वारा और यान्त्रिक रूपसे यही कार्य करता है, वह अपनी श्रेणी-विशेषकी सीमाओंके भीतर प्रकृतिके अनुकूल बनकर ही रहता है और इस प्रकार आंतरिक संघर्षसे मुक्त हो जाता है, यद्यपि इतर जीवनके साथ उसका संघर्ष फिर भी चलता है। उधर अति-मानवीय जीवन सचेतन रूपमें इस पूर्णताको प्राप्त करेगा, वस्तुओंमें निहित गुप्त ज्ञान और संकल्पको अपना बना लेगा और प्रकृतिके द्वारा, उसीकी मुक्त, सहज और सामंजस्यपूर्ण गतिसे अपने-आपको चरितार्थ करेगा; प्रकृति धीर, अविश्रांत भावसे उस पूर्ण विकासकी ओर बढ़ रही है जो उसका

जन्म-जात और इसलिये पूर्व-निर्धारित लक्ष्य है। सच तो यह है कि हमारा मन अपूर्ण है, हमे उसकी प्रवृत्तियों तथा उद्देश्योका आभासमात्र ही मिलता है और ऐसे प्रत्येक आभासको हम अपने जीवन और व्यवहारका निरपेक्ष नियम वा आदर्श सिद्धांत वना लेते हैं; हम उसकी प्रक्रियाका केवल एक पहलू देखते है, उसे एक समग्र और पूर्ण प्रणालीके रूपमे प्रस्तुत करते है और फिर वही हमारी जीवन-व्यवस्थाका संचालन करती है। अपूर्ण व्यक्ति तथा उससे भी अधिक अपूर्ण सामूहिक मनद्वारा कार्य करते हुए वह हमारी सत्ताके तथ्यों तथा शक्तियोको उन विरोधी नियमो और सामर्थ्योंके रूपमें खड़ा कर देती है जिनके साथ हम अपनी वुद्धि और भावावेगोद्वारा अपना संवंध स्थापित कर लेते हैं। कभी वह एकको उत्साहित या निरुत्साहित करती है और कभी दूसरेको; इस प्रकार मनुष्यके मनमे वह उन्हे संघर्ष और विरोधके द्वारा उस पारस्परिक ज्ञान और उनकी पारस्परिक आवश्यकता-की भावना तथा उनकी गुप्त शक्तियोके उत्तरोत्तर समुचित संवध और समन्वयकी ओर ले जाती है जो मनुष्य-जीवनकी नमनीय सभाव्यतामे चरितार्थ शक्तियोंके वढ़ते हुए सामंजस्य तथा संगठनमे प्रकट होता है।

मानवजातिका सामाजिक विकास आवश्यक रूपसे तीन स्थायी तत्त्वो,—व्यक्ति, नाना प्रकारके समाज और मनुष्यजाति, के वीचके सवधोका विकास है। इनमेसे प्रत्येक अपनी परिपूर्णता और तुष्टि चाहता है। पर प्रत्येक ही इन्हे स्वतंत्र रूपमे नही अपितु दूसरोसे संवंध रखते हुए विकसित करनेको वाध्य होता है। व्यक्तिका पहला स्वाभाविक उद्देश्य उसकी अपनी आतरिक उन्नति और पूर्णता और अपने वाह्य जीवनमे इनकी अभिव्यक्ति है। पर यह कार्य वह दूसरे व्यक्तियोके साथ, अनेक प्रकारके धार्मिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक, राजनीतिक समुदायोके साथ जिनका वह अग है और सामान्य रूपमे मनुष्यजातिकी भावना और आवश्यकताके साथ संवंध रखकर ही कर सकता है। समुदाय भी अपनी परिपूर्णता चाहता है, पर उसकी समष्टि-चेतना और उसके सामूहिक सगठनमें कितनी भी शक्ति क्यो न हो, वह अपना विकास केवल व्यक्तियोके द्वारा ही कर सकता है। ऐसा वह अपने वातावरणद्वारा प्रस्तुत की गयी परिस्थितियोके दवावसे और उन अवस्थाओके अधीन होकर करता है जो दूसरे समुदायो और व्यक्तियो तथा समग्र मनुष्य-जातिके साथ उसके संवंधोद्वारा उसपर लाद दी जाती है। वर्तमान समयमे समूची मानवजातिका अपना कोई सचेतन रूपमे संगठित सामान्य जीवन नही है, उसके पास केवल एक ऐसा प्रारंभिक सगठन है जो मानवी वुद्धि और इच्छा-शक्तिसे कही अधिक परिस्थितियोद्वारा निर्धारित होता है।

तथापि हमारे सामान्य मानव-अस्तित्व, स्वभाव और भवितव्यताके विचार और तथ्यने सदा ही मनुष्यके विचारों और कार्योंपर अत्यधिक प्रभाव डाला है। नीति और धर्मका तो मुख्य कार्य ही मनुष्यजातिके प्रति मनुष्यके कर्त्तव्योंका बताना रहा है। जातिमें होनेवाले बृहत् आंदोलनों और परिवर्तनोके दबावसे उसके पृथक्-पृथक् समुदायोका भविष्य सदा ही प्रभावित हुआ है, साथ ही अपने विस्तारके लिये और यथासंभव समस्त जातिको अपनेमे मिला लेनेके लिये इन पृथक् सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक समुदायोंका प्रतिकारात्मक दबाव भी सदा ही रहा है। और यदि अथवा जब भी समस्त मनुष्यजाति एक संगठित सामान्य जीवन प्राप्त कर लेगी और सभीकी परिपूर्णता और तुष्टिकी इच्छा करने लगेगी, तो ऐसा वह समष्टिके अपने अंगोके साथ संबधद्वारा और व्यक्तियो और समुदायके विस्तारशील जीवनकी सहायतासे ही कर सकेगी। क्योंकि इनकी प्रगति ही मनुष्यजातिके जीवनकी अधिक व्यापक अवस्थाओंका निर्माण करती है।

प्रकृति सदैव इन तीन करणोके द्वारा काम करती है, और इनमेंसे किसीको भी हटाया नही जा सकता। वह एक और अनेककी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति तथा समष्टि और उसकी अवयवभूत इकाइयोंसे आरंभ करती है और फिर इन दोनोके बीचकी एकताओंका निर्माण करती है जिनके बिना न तो समष्टिका और न ही इकाइयोंका पूर्ण विकास हो सकता है। उद्भिज जीवनमे भी वह सदा जाति, उपजाति और व्यष्टिकी तीन अवस्थाओंकी रचना करती है। किंतु, जब कि पशु-जीवनमें वह तीव्र भेद करने और छोटे-छोटे वर्ग बनानेसे ही संतुष्ट हो जाती है, मानवजीवनमे वह अपने किये हुए विभाजनोको अतिक्रांत करने और समस्त जातिको ऐक्यकी भावना तथा एकत्वकी प्राप्तिकी ओर ले जानेका प्रयत्न करती है। मनुष्यके समुदाय एक ही जाति या उपजातिके कुछ व्यक्तियोकी सहजप्रेरणावश एकत्र होनेके द्वारा उतने नहीं निर्मित होते जितने कि स्थानीय संसर्ग और हितो एवं विचारोकी समानताके द्वारा निर्मित होते है। जैसे-जैसे जातियो, राष्ट्रों, हितों, विचारों और सस्कृतियोके निकटतर संमिश्रणसे मनुष्यके विचार और सद्भाव व्यापक रूप धारण करते जायंगे वैसे-वैसे ये सीमाएँ भी समाप्त होती जायंगी। फिर भी, अपने पृथक्त्वकी दृष्टिसे समाप्त होकर भी, तथ्य रूपमे ये समाप्त नही होती; कारण, ये प्रकृतिके मूल सिद्धांत—एकतामे विभिन्नता—पर आधारित होती है। अतएव, यह प्रतीत होता है कि प्रकृतिका आदर्श अथवा अंतिम उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति तथा समस्त व्यक्तियोका इनकी पूरी सामर्थ्यके अनुसार विकास हो जाय, प्रत्येक

समुदाय तथा समस्त समुदाय इस प्रकार विकसित हो जायं कि जिस अनेकागी अस्तित्व और क्षमताको व्यक्त करनेके लिये उनमे विभिन्नताएँ पैदा की गयी थी उसकी पूरी अभिव्यक्ति हो जाय, साथ ही मानवजातिका एकीकृत जीवन भी इस प्रकार विकसित हो जाय कि सभी अपनी पूर्ण योग्यता और सतोष-को प्राप्त कर ले। पर ऐसा वह व्यक्ति या छोटे समुदायके जीवनकी समृद्धिको दबाकर नही पर जिस विभिन्नताको वे विकसित करते है उससे पूरा लाभ उठाते हुए करेगी। मनुष्यजातिके सपूर्ण वैभवको वढाने तथा उसके द्वारा सर्वसामान्यकी सुख-संपत्तिके कोषमे वृद्धि करनेका यही सर्वोत्तम ढग प्रतीत होता है।

इस प्रकार मनुष्यजातिका सयुक्त विकास व्यक्ति व्यक्तिके बीच, व्यक्ति और समुदायके बीचे, समुदाय और समुदायके बीच, छोटे जनसमाज और समूची मनुष्यजातिके बीच, मनुष्यजातिके सामान्य जीवन और उसकी चेतनाके बीच तथा उसके स्वतन्त्र रूपमे विकसित होते हुए सामाजिक और वैयक्तिक अगोके बीच आदान-प्रदान एवं आत्मसात्करणके सामान्य सिद्धांतद्वारा साधित किया जायगा। चाहे अब भी प्रकृति इसी आदान-प्रदानको चलानेकी चेष्टा कर रही है, फिर भी तथ्य यह है कि जीवनका ऐसे स्वतन्त्र और समस्वर पारस्परिक सहयोगके सिद्धांतद्वारा परिचालित होना अभी बहुत दूरकी बात है। इसमे संघर्ष है, विचारो, आवेगो और हितोका परस्पर-विरोध है, प्रत्येक ही दूसरोके साथ अनेक प्रकारके सघर्ष करके लाभ उठानेका प्रयत्न करता है; ऐसा करनेके लिये वह स्वतंत्र और प्रचुर आदान-प्रदानकी अपेक्षा कही अधिक एक प्रकारकी बौद्धिक, प्राणिक और भौतिक चोरी-डकैतीका आश्रय लेता है, इतना ही नही, वह अपने साथियोके शोषण, उत्पीडन और भक्षणतककी इच्छा रखता है। अपने सर्वोच्च विचार और अभीप्साकी अवस्थामे मनुष्यजाति यह जानती है कि जीवनके इस पक्षसे उसे ऊपर उठना है, पर या तो उसे इसके ठीक साधनका पता ही नही चला और या फिर उसमे इसे प्रयोगमे लानेकी शक्ति नही है। इसके स्थानपर वह अब वैय-क्तिक जीवनको कठोरतापूर्वक सामाजिक जीवनके अधीन करके अथवा उसका सेवक वनाकर विकासके सघर्ष और उसकी अव्यवस्थासे मुक्त होना चाहती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि सामाजिक जीवनको प्रवल रूपसे मानवजातिके सयुक्त और संगठित जीवनके अधीन करके अथवा उसका सेवक बनाकर समाजोके पारस्परिक कलहके निवारणके लिये यत्न करना पडेगा। अव्यवस्था, सघर्ष और विनाशसे त्राण पानेके लिये स्वतन्त्रताका त्याग, पृथक्त्व और विरोधी जटिलताओसे मुक्त होनेके लिये विभिन्नताका

त्याग व्यवस्था और शासनप्रबंधकी एक ऐसी प्रेरणा है जिसके द्वारा बौद्धिक तर्ककी स्वच्छंद कठोरता प्रकृतिकी क्रियाके कठिन और विषम मार्गोंके स्थान-पर अपना सीधा मार्ग लानेका प्रयत्न करती है।

किंतु स्वतंत्रता भी जीवनके लिये उतनी ही आवश्यक है जितने कि विधान और शासन-पद्धति; विभिन्नताका भी हमारी सच्ची पूर्णतामें उतना ही स्थान है जितना कि एकताका। सत्ता अपने सार और अपनी समग्रतामें केवल एक है, जब कि अपनी क्रीड़ामें वह आवश्यक रूपसे बहुरूप है। पूर्ण एकरूपताका अर्थ होगा जीवनका अंत, उधर जीवन-धमनीकी शक्ति उन विभिन्नताओंकी समृद्धिसे नापी जा सकती है जिन्हें जीवन उत्पन्न करता है। साथ ही, यदि विभिन्नता जीवनकी शक्ति और विपुलताके लिये आव-श्यक है तो एकता भी उसकी व्यवस्था, क्रमबद्धता और सुस्थिरताके लिये जरूरी है। एकता तो हमें उत्पन्न करनी है पर एकरूपता उत्पन्न करना उतना आवश्यक नहीं। यदि मनुष्य एक पूर्ण आध्यात्मिक एकता प्राप्त कर सके तो किसी भी एकरूपताकी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि तब इस आधारपर विभिन्नताकी चरम क्रीड़ा सुरक्षित रूपमें संभव होगी। साथ ही यदि वह एक सुरक्षित, स्पष्ट और सुदृढ एकता सिद्धांतरूपमें चरितार्थ कर सके, तो उसे क्रियान्वित करनेमें एक समृद्ध यहाँतक कि एक असीम विभिन्नता भी प्राप्त की जा सकेगी और उसमें किसी संघर्ष, अव्यवस्था या अस्तव्यस्तताका भय भी नहीं होगा। क्योंकि वह इन दोनों बातोंमेंसे एक भी नहीं कर सकता, वह सदा सच्ची एकताके स्थानपर एकरूपता लानेके लिये लालायित रहता है। जब कि मनुष्यकी जीवन-शक्ति विभिन्नताकी माँग करती है, उसकी बुद्धि एकरूपताका पक्ष लेती है। वह एकरूपताको इसलिये अधिक पसंद करती है कि यह सच्ची एकताके स्थानपर—जिसे प्राप्त करना अत्यंत कठिन है—मनुष्यके अंदर सहज ही एकताका एक प्रबल भ्रम पैदा कर देती है। वह एकरूपताके पक्षमें इसलिये भी है कि यह उसके लिये विधान, व्यवस्था और शासन-प्रबंधके कार्यको आसान कर देती है जो वैसे कठिन होता है। उसकी पसंदका एक कारण यह भी है कि मनुष्यके मनकी प्रेरणा प्रत्येक अनुभवनीय विभिन्नताको पृथक्त्व और संघर्षका बहाना बना लेती है और इसलिये एकरूपता ही उसे एकत्व प्राप्त करनेकी एकमात्र सुरक्षित और सुगम पद्धति प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त, जीवनकी किसी एक दिशा या क्षेत्रमें एकरूपता उसे दूसरी दिशाओंमें विकास करनेके लिये शक्ति-संचय करनेमें सहायता देती है। यदि वह अपने आर्थिक जीवनको एक नियत रूप देकर उसकी समस्याओंसे बच सके तो उसे अपने

वौद्धिक और सास्कृतिक विकासकी ओर ध्यान देनेके लिये अधिक अवकाश और अवसर मिल सकता है। अथवा फिर, यदि वह अपने समस्त सामाजिक जीवनको भी एक नियत रूप दे दे और साथ ही भविष्यमे प्रकट हो सकनेवाली समस्याओका निराकरण कर दे तो उसे वह शाति और स्वतंत्र मानसिक अवस्था प्राप्त हो सकती है जिससे वह अपने आध्यात्मिक विकासकी ओर अधिक उत्साहपूर्वक ध्यान दे सकेगा। किंतु यहाँ भी सत्ताकी जटिल एकता अपने सत्यका प्रतिपादन करती है, अतमे मनुष्यके समग्र बौद्धिक और सास्कृतिक विकासको सामाजिक निष्क्रियतासे, उसके आर्थिक जीवनकी सीमाओ और हीनतासे हानि उठानी पडती है। जातिका आध्यात्मिक जीवन यदि अधिक ऊँचा उठ जाय और एक अत्यधिक नियमबद्ध और अनुशासित समाजपर निर्भर रहने लगे तो अतमे उसका वैभव और उसकी जीवन-शक्तिके अखड स्रोत क्षीण हो जाते है, तमस् नीचेसे उठकर शिखरोतकको जा छूता है।

अपनी मनोवृत्तिके दोषोके कारण हमे कुछ हदतक एकरूपताको स्वीकार तो करना पडता है तथा उसके लिये प्रयत्न भी करना पडता है। फिर भी प्रकृतिका वास्तविक उद्देश्य समृद्ध विभिन्नताको आश्रय देनेवाली सच्ची एकता ही है। उसका गुप्त भेद इस तथ्यसे काफी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वह एक ही सामान्य योजनाके अनुसार निर्माण करती है तथापि उसका आग्रह सदा असीम विविधतापर होता है। मानवीय आकृतिकी योजना एक ही है, तथापि कोई भी दो मनुष्य अपनी शारीरिक गठनमे एक समान नही है। मानव-प्रकृति अपने उपादानो और अपनी प्रधान दिशाओमे एक है पर किन्ही भी दो मनुष्योका स्वभाव, गुण या मनोवैज्ञानिक तत्त्व ठीक एक जैसा नही है। समस्त जीवन अपनी मूल योजना और सिद्धातमे एक है, यहाँतक कि पौदा भी पशुका सजातीय प्रतीत होता है परतु जीवनकी एकता प्रतिरूपोकी असीम विविधताको स्वीकार और उत्साहित करती है। मानव-समुदायोका एक-दूसरेसे स्वाभाविक भेद भी उसी योजनाके अनुसार होता है जिसके अनुसार व्यक्तियोमे परस्पर विभिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक ही अपना-अपना गुण, विभिन्न सिद्धात और स्वाभाविक नियम विकसित करता है। यह विभेद और मूल रूपसे अपने ही नियमका अनुसरण उसके जीवनके लिये तो आवश्यक है ही, पर मानवजातिके स्वस्थ और समग्र जीवनके लिये भी यह उतना ही आवश्यक है। क्योकि विविधताका सिद्धांत स्वतत्र आदान-प्रदानको नही रोकता और न ही वह एक ही भंडारके द्वारा सबकी और सबके द्वारा उस भंडारकी समृद्धिका विरोध करता है और यही,

जैसा कि हम देख चुके हैं, जीवनका आदर्श सिद्धांत है। इसके विपरीत, विना किसी सुरक्षित विविधताके इस प्रकारका आदान-प्रदान और पारस्परिक आत्मसात्करण संभव ही नही होगा। अतएव हम देखते हैं कि हमारी एकता और हमारी विभिन्नताके समन्वयमे ही हमारे जीवनका गुप्त भेद निहित है। प्रकृति अपने सब कार्योमें एकता और विभिन्नतापर समान रूपसे आग्रह करती है। हम देखेंगे कि सच्ची आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक एकता स्वतंत्र विभिन्नताको तो स्वीकार कर सकती है पर एकरूपता वह केवल उतनी ही रखती है जो स्वभाव और मूल तत्त्वकी समानताको मूर्त रूप देनेके लिये पर्याप्त होती है। जबतक हम उस पूर्णताको नही प्राप्त कर लेते, तबतक हमें एकरूपताकी प्रणालीको व्यवहारमें लाना पड़ेगा, पर हमें इसके प्रयोगमे अति नही करनी चाहिये, अन्यथा जीवनकी शक्ति, समृद्धि और उसकी स्वस्थ, स्वाभाविक आत्म-अभिव्यक्तिके मूल स्रोतोंके मद पड़नेका भय उपस्थित हो जायगा।

विधि और स्वाधीनताका झगड़ा भी इसी प्रकारका है और उसका समाधान भी यही होगा। विभिन्नता अथवा विविधता स्वतंत्रतापूर्ण होनी चाहिये। प्रकृति वस्तुएँ गढती नही, न ही उसका आग्रह किसी बाह्य प्रतिरूप या नियमपर होता है। वह जीवनको अपने अंदरसे विकसित होने तथा अपने स्वाभाविक नियम और विकासका प्रतिपादन करनेके लिये प्रेरित करती है। जीवनके इस नियम और विकासमें परिवर्तन केवल वातावरणके साथ उसके संबंधसे होता है। वैयक्तिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक और नैतिक—समस्त प्रकारकी स्वाधीनता हमारे जीवनके मूल सिद्धांतपर आधारित होती है। स्वाधीनतासे हमारा अभिप्राय है अपनी सत्ताके नियमके अनुसार चलना, अपनी स्वाभाविक आत्म-परिपूर्णतातक विकसित होना और अपने वातावरणके साथ स्वाभाविक और स्वतंत्र रूपमे समस्वरता प्राप्त करना। स्वाधीनताका दुरुपयोग करनेसे अव्यवस्था, सघर्ष, विनाश और अस्तव्यस्तताके रूपमें जो संकट आते हैं या हानियाँ होती हैं वे तो प्रत्यक्ष हैं ही, किंतु ये चीजे इस कारण ऊपर उठती हैं कि व्यक्ति व्यक्तिमें, समाज समाजमे, एकताकी भावनाका या तो अभाव होता या उसमें कुछ त्रुटि होती है जो उन्हें पारस्परिक सहायता और आदान-प्रदानद्वारा उन्नति करनेके स्थानपर दूसरेको हानि पहुँचाकर भी अपने स्वत्वकी स्थापना करनेके लिये तथा अपने साथियोंके स्वतंत्र विकासमें बाधा डालते हुए अपनी स्वतन्त्रताका समर्थन करनेके लिये प्रेरित करती है। यदि एक वास्तविक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक एकता प्राप्त कर ली जाय

तो स्वाधीनतामे न तो कोई सकट रहेगा और न ही उससे कोई हानि होगी, क्योकि एकताप्रिय स्वतंत्र व्यक्तियोको अपने-आप ही अपनी आवश्यकता-वश इस वातके लिये वाधित होना पड़ेगा कि वे अपने और अपने साथियोके विकासमे पूर्ण समन्वय स्थापित करे और तवतक अपने-आपको परिपूर्ण न समझे जवतक दूसरोका भी स्वतत्र विकास नही हो जाता। क्योकि हम अभी अपूर्ण हैं, हमारा मन और सकल्प भी अज्ञानग्रस्त है, वाह्य रोक और दवावके लिये हमे विधि और शासनकी सहायता लेनी पड़ती है। एक सवल विधि और दवावके सहज लाभ तो प्रत्यक्ष हैं ही, पर हानियाँ भी उतनी ही वड़ी हैं। जिस पूर्णताको लानेमे यह सफल होती है वह भी पीछे यान्त्रिक हो जाती है, यहाँतक कि जो व्यवस्था यह स्थापित करती है वह भी अंतमे कृत्रिम सिद्ध होती है और यदि पकड़ ढीली पड़ जाय या नियंत्रण हटा लिया जाय तो वह व्यवस्था टूट भी सकती है। यदि यह वाह्य व्यवस्था अधिक दूरतक ले जायी जाय तो यह स्वाभाविक विकासके उस सिद्धातको जो जीवनकी यथार्थ प्रणाली है, निरुत्साहित कर देती है, यहाँतक कि यह वास्तविक विकासकी सामर्थ्यको नष्ट भी कर सकती है। जीवनको दवाने और उसे आवश्यकतासे अधिक नियमित करनेसे हम सकटमे पड़ जाते हैं। शासन-प्रवधकी अति करनेसे हम प्रकृतिकी प्रेरणा और उसके सहज आत्म-अनुकूलनके स्वभावको कुचल डालते हैं। नमनीयतासे कम या अधिक वचित निष्प्राण व्यक्तित्व ऊपरसे सुन्दर और सुडौल प्रतीत होनेपर भी अदरसे नष्ट हो जाता है। जो विधि हमारी अपनी नही है या जिसे हमारी सच्ची प्रकृति आत्मसात् नही कर सकती, उसके लगातार वने रहनेसे तो अराजकता अच्छी है। दवाने या रोकनेवाली प्रत्येक विधि एक उपाय अथवा सच्ची विधिकी स्थानापन्नमात्र होती है; सच्ची विधि तो अदरसे ही विकसित होनी चाहिये, उसे स्वाधीनताका प्रतिवधक नही, वल्कि उसका वाह्य स्वरूप तथा उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होना चाहिये। जहाँतक विधि स्वतत्रताका शिशु वनकर रहती है, मानव-समाज वास्तविक और सजीव रूपमे उन्नति करता है। वह अपनी पूर्णतातक तभी पहुंचेगा जव मनुष्य अपने साथियोके साथ आध्यात्मिक रूपमे एक होना जान लेगा और एक हो जायगा, एवं जव उसके समाजकी सहज विधि केवल उसकी स्व-शासित आंतरिक स्वाधीनताका वाह्य साँचामात्र रह जायगी।

अठारहवाँ अध्याय

आदर्श समाधान—
मनुष्यजातिका स्वतन्त्र समुदायीकरण

मानवजीवनके विकासमें प्रकृतिकी प्रधान और शाश्वत प्रवृत्तियोपर स्थापित इन सिद्धांतोको स्पष्ट ही मनुष्यजातिके एकीकरणके किसी भी विवेकपूर्ण प्रयत्नमें प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। यह एकीकरण लिकुरजन (Lycurgan)-सविधानकी प्रणालीके अनुसार अथवा एक सिद्ध राजर्षि, आदर्श मनुकी विधिद्वारा चरितार्थ हो जाय तो ऐसा हो भी सकता है। यदि इसके लिये अत्यत विभिन्न ढंगसे वड़े जन-समुदायोकी इच्छाओं, लालसाओं और हितोको ध्यानमें रखकर प्रयत्न किया गया—जैसा कि किया ही जायगा—और यह ससारके बुद्धिजीवियोके अर्ध-प्रबुद्ध विवेक तथा ससारके राज्य-विशारदो और राजनीतिज्ञोके व्यावहारिक अवसरवादसे किसी अधिक अच्छे प्रकाशसे परिचालित न हुआ तो यह अस्तव्यस्त प्रयोगो, पराजयो और पुनः-प्रयत्नों तथा प्रतिरोधो और दृढ प्रयासोके क्रमसे ही चरितार्थ होगा। मानवीय अविवेकके होते हुए भी यह विरोधी विचारो और हितोके कोलाहलमे विकसित होगा, सिद्धातोके युद्धमेसे जैसे-तैसे गुजरता और उग्र दलोके संघर्षके द्वारा आगे बढता हुआ कम या अधिक अशोभन समझौतोमें समाप्त हो जायगा। जैसा कि हम कह चुके है यह एकीकरण अत्यत असुविधाजनक ढगसे तो नही, पर अत्यंत आदर्शहीन ढंगसे, कुछ हदतक बल-प्रयोगद्वारा भी साधित किया जा सकता है। कुछ वृहत् और शक्तिशाली साम्राज्य अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते है, यहाँतक कि एक अकेले प्रबल विश्व-साम्राज्य, अथवा एक ही सम्राट्के राज्यका भी उदय हो सकता है जिसे मनुष्यजाति अपना शासक नही तो अपना पंच स्वीकार कर ही लेगी या स्वीकार करनेको बाध्य होगी। कोई विवेकपूर्ण सिद्धात नहीं, वरन् आवश्यकता और सुविधा, अनिवार्य प्रकाश नही, बल्कि अनिवार्य शक्ति जातिके किसी भी राजनीतिक, प्रशासनीय और आर्थिक एकीकरणमे एक प्रभावशाली शक्ति हो सकती है।

यह आदर्श तत्काल चरितार्थ न भी हो सके तो भी हमे अधिकाधिक

इसी दिशामे कार्य करना चाहिये। यदि श्रेष्ठ पद्धति सदा व्यवहारमे न भी लायी जा सके तो भी श्रेष्ठ पद्धतिको जान लेना अच्छा है, जिससे सिद्धातो, शक्तियो और हितोके सघर्षमे इसका कुछ अंश हमारे आपसी व्यवहारोमे प्रवेश कर सके और उन भूलो, भ्रातियो और कष्टोको कम कर सके जिन्हे अपने विकासके मूल्यके रूपमे स्वीकार करनेको हमारा अज्ञान और अविवेक हमे बाधित करते है। अतएव, सिद्धातरूपमे मानवजातिका आदर्श एकीकरण एक ऐसी प्रणाली होगा जिसमे सर्वसाधारण और सामंजस्य-पूर्ण जीवनका प्रथम नियम मनुष्यजातिको यह अवसर प्रदान करेगा कि वह स्थान, जाति, सस्कृति और आर्थिक सुविधाके स्वाभाविक विभाजनोके अनुसार अपने समुदायोका निर्माण करे न कि इतिहासकी उग्रतर घटनाओ अथवा उन शक्तिशाली राष्ट्रोकी अहकारपूर्ण इच्छाके अनुसार जिनकी नीति सदा यही होती है कि वे छोटे राष्ट्रो अथवा उन राष्ट्रोको जिनका सगठन समयानुकूल नही हुआ है वाधित करे कि या तो वे अधीन रहकर उनके हितोका पोषण करे या फिर अधीनस्थ प्रजाकी तरह उनके आदेशोका पालन करे। विश्वकी वर्तमान व्यवस्था आर्थिक शक्तियो, राजनीतिक कूटनीतियो, सधियो और क्रयो तथा सैनिक उग्रताद्वारा क्रियान्वित की गयी है, इसमे मनुष्यजातिके हितके किसी नैतिक सिद्धात या सामान्य नियमका विचार नही किया गया है। इसने जगत्-शक्तिके विकासमे उसके कुछ उद्देश्योकी पूर्तिके लिये थोडा-वहुत प्रयत्न अवश्य किया है, साथ ही रक्तपात, कष्ट, क्रूरता, अत्याचार और विद्रोहके वाद मनुष्योको एक-दूसरेके अधिक निकट लानमे भी सहायता पहुँचायी है। इसकी भी उन सब चीजोके समान जो अपने-आपमें आदर्श न होती हुई भी अपना अस्तित्व रख चुकी है और वलपूर्वक अपनी स्थापना कर चुकी हैं, प्रकृतिकी उग्र प्रणालियोकी आवश्यकतामे, सार्थकता रही है, पर वह सार्थकता जीवशास्त्रीय है, नैतिक नही, प्रकृतिको इन प्रणालियोका प्रयोग पशु-जगत्की भाँति अर्ध-पशु मनुष्यजातिके साथ भी करना पडता है। किंतु, एकीकरणका विशाल कार्य एक वार आरभ कर देनके वाद, जो कृत्रिम व्यवस्थाएँ उत्पन्न हो चुकी हैं उनके अस्तित्वका फिर और कोई कारण नही रह जायगा, क्योकि अव हमारा लक्ष्य कुछ विशेप राष्ट्रोके अहकार, अभिमान और लालसाकी तृप्ति नही, वलिक समस्त ससारकी सुख-सुविधा होगा। दूसरे, एक राष्ट्रका दूसरेपर कितना भी न्यायसगत अधिकार—उदाहरणार्थ आर्थिक हित और विस्तारकी आवश्यकताएँ—क्यो न हो उसकी व्यवस्था एक सुसगठित विश्व-ऐक्य या विश्व-राज्यमे अव संघर्ष और प्रतियोगिताके सिद्धातके अनुसार नही, वरन्

सहयोग या अनुकूलीकरणके अथवा कम-से-कम ऐसी प्रतियोगिताके सिद्धांतके अनुसार की जायगी जो कानून और न्याय तथा उचित आदान-प्रदानद्वारा नियन्त्रित होगी। अतएव, अनैच्छिक और कृत्रिम समुदायोंका निर्माण करनेके लिये ऐतिहासिक परंपरा और चरितार्थ तथ्यको छोड़कर और कोई आधार नही रह जायगा और प्रत्यक्ष ही इस आधारका जागतिक स्थितिके महान् परिवर्तनमें कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही होगा; यह परिवर्तन तबतक नही लाया जा सकता जबतक कि जाति ऐसी सैकड़ों परंपराओंको तोड़ने और ऐसे अनेकों चरितार्थ तथ्योंको अस्तव्यस्त करनेके लिये तैयार नही हो जाती।

समुदायोंके निर्माणकी आवश्यकताको देखते हुए मानव-एकताका पहला सिद्धांत स्वतन्त्र और स्वाभाविक समुदायोंकी एक ऐसी प्रणाली होना चाहिये जिसमे जाति जातिमे अथवा समाज समाजमे होनेवाले आंतरिक कलह, विभेद, दमन और विद्रोहके लिये जरा भी अवकाश न रहे। नही तो विश्व-राज्यकी स्थापना कम-से-कम आंशिक रूपमे विधान-संगत अन्याय और दमनकी प्रणालीपर अथवा अधिक-से-अधिक बल-प्रयोग और दबावके सिद्धांतपर—चाहे वह कितना दुर्बल क्यों न हो—आधारित होगी। उस प्रणालीमे ऐसे असंतुष्ट तत्त्व निहित होंगे जो परिवर्तनकी किसी भी आशाको आक्रांत करने तथा जितनी भी नैतिक शक्ति और भौतिक बल अभीतक उनके पास है उसे उन इच्छाओंकी पूर्तिमे लगानेके लिये उत्सुक होंगे जो प्रणालीको अस्तव्यस्त करने, उससे पीछे हटने तथा उसे समाप्त करनेके और शायद पुरानी व्यवस्थाको पुनः लानेके लिये जातिमे उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार विद्रोहके नैतिक केंद्र सुरक्षित रहेंगे और मानव-मनकी अस्थिरताको स्वीकार करते हुए हम कह सकते है कि अनुकूल समय पाकर ये संक्रमण और आत्म-प्रसारणकी महान् शक्ति प्राप्त करके ही रहेंगे। वास्तवमे, कोई भी ऐसी प्रणाली, जो अनियमितता, अन्याय और असमानताको दृढ और स्थायी रूप देती प्रतीत होती हो अथवा जो सदा ही दबाव और अनैच्छिक अधीनताके सिद्धांतपर आधारित हो, सुरक्षित नही रह सकती; वह अपने स्वभावसे ही अल्पकालिक होगी।

अभी जो विश्व-क्रांति हुई थी उसके बादकी वास्तविक स्थितिपर आधारित विश्व-व्यवस्थाकी युद्धकालीन प्रवृत्तिकी विशेष दुर्बलता यही थी। इस प्रकारकी व्यवस्थामे उन अवस्थाओंको स्थायी बना देनेका दोष अवश्य रहा होगा जो अपने स्वभावसे ही अस्थायी थी। इसका अर्थ केवल यही नही था कि कोई एक राष्ट्र असंतुष्ट विदेशी अल्पसंख्यकोंपर शासन

करता, पर यह भी कि एशियाके अधिकांश भागपर और समस्त अफ्रीकापर यूरोपीय प्रभुत्व स्थापित हो जाता। इन अवस्थाओमे राष्ट्रोका एक संघ या उनकी एक प्रारभिक एकता मनुष्यजातिके अत्यधिक विशाल समुदायपर कुछ श्वेत जातियोद्वारा किये गये कुलीनतंत्रीय शासनके तुल्य होगी। यह विश्वकी चिरस्थायी व्यवस्थाका सिद्धात नही बन सकता था, क्योकि तब दोमेसे एक-न-एक बात अनिवार्य हो जाती। नयी प्रणालीको, कानून और बल-प्रयोगद्वारा तात्कालिक वस्तु-स्थितिको प्रश्रय देकर, आमूल परिवर्तनके किसी भी प्रयत्नका विरोध करना पडता, परतु इसका फल यह होता कि महान् प्राकृतिक और नैतिक शक्तियोको अस्वाभाविक रूपसे दबा दिया जाता और इसका अतिम परिणाम भयंकर अव्यवस्था और एक ऐसे विस्फोटकी उत्पत्ति होता जो शायद समस्त ससारको नष्ट कर देता। या फिर एक ऐसी सामान्य विधायक सत्ताकी स्थापना करनी पडती और परिवर्तनके साधन जुटाने पडते जिनके द्वारा मानवजातिकी भावना और उसका मत साम्राज्यीय अहभावोपर विजय पानेमे समर्थ हो जाते और जो अधीनस्थ यूरोपीय, एशियाई और अफ्रीकी जातियोको विश्व-परिषदोमे अपनी बढती हुई आत्म-चेतनाकी माँगोको प्रस्तुत करनेकी सामर्थ्य प्रदान करते,* कितु एक ऐसी सत्ता जो विशाल और शक्तिशाली साम्राज्योके अहभावोमे हस्तक्षेप कर सके, स्थापित करनी कठिन होगी; इसके कार्यकी गति धीमी होगी और किन्ही भी साधनोद्वारा अपनी शक्ति अथवा नैतिक प्रभावको यह सुविधापूर्वक कार्यान्वित नही कर सकेगी; इसके विचारोमे भी सुस्थिरता और सामजस्यका अभाव हो सकता है। या तो यह महान शक्तियोके किसी शासक कुलीनवर्गकी भावनाओ और हितोका प्रतिनिधित्व करनेवाली सत्तातक ही सीमित रह जायगी और या फिर राज्योके सबध-विच्छेद और गृहयुद्धकी ऐसी घटनाओमे समाप्त होगी जिन्होने अमेरिकामे दासप्रथाकी समस्याको सुलझाया था। इसका केवल एक ही और समाधान सभव हो सकता है कि प्रारंभमे यूरोपके अदर युद्धके द्वारा जो उदार भाव और सिद्धात पैदा हुए थे वे कार्यकी दृढ और स्थिर शक्तियाँ बन जायँ तथा

---

*राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना इसी प्रकारके अस्पष्ट आदर्श-को लेकर हुई थी। पर साम्राज्यीय अहंभावोके विरोधमें किये गये उसके पहले दुविधापूर्ण प्रयत्न भी अंतमे असफल रहे, और अपने वचनोंसे पीछे हटकर ही उसके सदस्य गृहयुद्धको टाल सके। वास्तवमें यह कुछ महान् शक्तियोकी नीतिके अधीन एक यत्रसे अधिक कभी कुछ नही रहा।

अयूरोपीय अधीनस्थ प्रदेशोंके साथ यूरोपीय राष्ट्रोंके व्यवहारोंमें उनका समावेश हो जाय। दूसरे शब्दोंमें, यूरोपीय राष्ट्रोंका यह एक स्थायी राजनीतिक सिद्धात बन जाना चाहिये कि वे अपने साम्राज्यवादका ढंग बदल दे और जितना जल्दी हो सके अपने साम्राज्योंको कृत्रिम एकताओंसे सच्ची मनोवैज्ञानिक एकताओमे परिणत कर दें।

परतु इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि जो सिद्धांत हम प्रस्तुत कर चुके है उसे स्वीकार कर लिया जायगा, संसारकी व्यवस्था आजकी भाँति कुछ अंशमे स्वतत्र और कुछ अंशमें अनैच्छिक समुदायोंकी प्रणालीके अनुसार नही, वरन् स्वतंत्र और स्वाभाविक समुदायोंकी प्रणालीके अनुसार की जायगी। कारण, मनोवैज्ञानिक एकता केवल इसी प्रकार सुनिश्चित हो सकती है कि आजके अधीनस्थ राष्ट्र साम्राज्यीय समुदायमें सम्मिलित होनेके लिये स्वतत्रतापूर्वक अपनी स्वीकृति दे दे; स्वतंत्र स्वीकृतिकी शक्तिमे स्वतंत्र अस्वीकृति और सबध-विच्छेदकी शक्ति भी निहित होगी। यदि संस्कृति या स्वभावकी अथवा आर्थिक या किन्ही और हितोंकी विपमताके कारण मनोवैज्ञानिक एकता स्थापित न की जा सके तो या तो इस प्रकारसे अलग होना आवश्यक हो जायगा, या फिर बल-प्रयोगके पुराने सिद्धांतका आश्रय लेना पडेगा, पर विशाल जन-समुदायोंके साथ इस प्रकारका व्यवहार करना कठिन होगा, क्योंकि नयी प्रक्रियाके फलस्वरूप इनमे जागृति पैदा हो गयी होगी और उन्होने अपनी सयुक्त जीवन-शक्ति और बौद्धिक बल पुन प्राप्त कर लिये होगे। मानव-समुदायीकरणमें इस प्रकारकी साम्राज्यीय एकताओंको एक ऐसा अगला कदम मानना होगा जो अनिवार्य तो नही, पर संभव अवश्य है और जिसे वर्तमान अवस्थाओमे चरितार्थ करना मानवजातिको एकीकृत करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है। किंतु ऐसी एकताओंके केवल दो संगत उद्देश्य हो सकते है—एक तो संसारके समस्त राष्ट्रोंकी एकताका मध्य-पडाव और बडे पैमानेपर प्रशासनीय और आर्थिक राज्य-संघका प्रयोग हो सकता है, और दूसरा एक ऐसा साधन हो सकता है जिसके द्वारा विभिन्न जाति और वर्णके तथा विभिन्न परंपरा और सभ्यता रखनेवाले राष्ट्रोंमे एक ही राजनीतिक कुटुवके भीतर एक साथ रहनेका अभ्यास डाला जायगा, क्योंकि समस्त मनुष्यजातिको एकताकी किसी-न-किसी ऐसी प्रणालीके अंतर्गत तो रहना ही पडेगा जो विविधताके सिद्धांतका मान करते हुए भी पूर्ण एकरूपताके लिये बाध्य न करे। प्रकृतिकी प्रक्रियाओमे साम्राज्यीय विपम इकाईका महत्त्व केवल इस वृहत्तर एकताको प्राप्त करनेके साधनके रूपमे ही है और यदि पीछे यह किसी स्वाभाविक

आकर्षण या पूर्ण विलयनके किसी चमत्कारद्वारा स्थिर न रखी जा सकी—जो संभव होते हुए भी व्यवहार्य नही है—तो वृहत्तर एकता प्राप्त हो जानेपर इसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। विकासकी इस दिशामे, और वास्तवमे, विकासकी किसी भी दिशामे जातियोके स्वतंत्र और स्वाभाविक समुदायीकरणका सिद्धात ही चरम परिणाम तथा अतिम और पूर्ण आधार होगा, और ऐसा होना आवश्यक भी है, क्योकि और किसी आधारपर मनुष्यजातिका एकीकरण सुरक्षित अथवा दृढ़ नही रह सकता, और क्योकि एक बार जब एकीकरण दृढतापूर्वक स्थापित हो जायगा और परस्पर-सबंध और परस्पर-अनुकूलताके श्रेष्ठतर साधन युद्ध और ईर्ष्यापूर्ण राष्ट्रीय प्रतियोगिताका स्थान ले लेगे तो किसी अन्य अधिक कृत्रिम प्रणालीके बनाये रखनेका कोई प्रयोजन नही रह जायगा। अतएव, विवेक और सुविधा दोनो ही परिवर्तनको अनिवार्य कर देगे। तब समुदायीकरणकी स्वाभाविक प्रणालीकी प्रथा भी किसी देशकी अपने प्राकृतिक प्रदेशोके आधारपर की गयी प्रशासनीय व्यवस्थाकी तरह ही सामान्य हो जायगी; विवेक या सुविधाकी दृष्टिसे इसकी भी इतनी ही आवश्यकता है जितनी उस सम्मानकी जो हस्तातरण या स्वतत्र सघीकरणकी किसी भी प्रणालीमे आवश्यक रूपसे जाति, राष्ट्रीय भावना या चिर-स्थापित स्थानीय एकताओको दिया जाता है। अन्य विचार इस सिद्धांतके व्यवहारमे कुछ हेर-फेर ला सकते है, किन्तु इतना प्रबल कोई भी नही होगा जो इसका निषेध कर सके।

इस प्रकारके समुदायीकरणमे स्वाभाविक इकाई राष्ट्र है, क्योकि यही वह आधार है जिसकी प्रकृतिने अपने विकासक्रममे दृढतापूर्वक रचना की है। वास्तवमे ऐसा प्रतीत होता है कि वृहत्तर एकताको दृष्टिमे रखकर ही उसने हमे यह आधार प्रदान किया है। अतएव, यदि एकीकरणको हमारे इतिहासके किसी भविष्यकालके लिये स्थगित ही नही कर दिया जाता और इस बीच समुदायीकरणका राष्ट्रीय सिद्धात अपनी शक्ति और सजीवता खोकर किसी दूसरे सिद्धातमें अपने-आपको विलीन नही कर देता तो स्वतंत्र और स्वाभाविक राष्ट्र-इकाई और शायद राष्ट्र-समुदाय सुदृढ और सामजस्य-पूर्ण विश्व-प्रणालीका उचित और जीवंत आधार बन जायगा। जातिका महत्त्व फिर भी रहेगा और वह एक तत्त्व पर केवल एक गौण तत्त्वके रूपमें ही स्वीकार की जायगी। कुछ समुदायोमे वह प्रधान और निर्णायक होगी, और दूसरोमे कुछ हदतक तो भाषा और जातिके विभेदोका अतिक्रमण करनेवाली ऐतिहासिक और राष्ट्रीय भावनाके कारण और कुछ हदतक स्थानीय सपर्क अथवा भौगोलिक एकतासे उत्पन्न आर्थिक और दूसरे संबधोके

कारण उसका महत्त्व नहीके बराबर रह जायगा। सांस्कृतिक एकताका भी अपना स्थान होगा, पर सब अवस्थाओमे उसका प्रधान होना आवश्यक नही है; यहाँतक कि जाति और संस्कृतिकी संयुक्त शक्ति भी इतनी प्रबल नही हो सकती कि वह इस संबंधमे निर्णायक बन सके।

इस जटिलताके उदाहरण सर्वत्र मिलते है। स्विटजरलैंडमें भाषा, जाति और संस्कृति, यहाँतक कि भावनाओंकी समानताकी दृष्टिमे भी कई विभिन्न राष्ट्रीय समुदाय हैं,—दो समुदायो, लैटिन और ट्यूटौनिक, का आधार भावना और संस्कृति है और तीन, जर्मन, फ्रेंच और इटैलियन, जाति और भाषापर आधारित है। इन विभेदोने राष्ट्रोंके संघर्षमे स्विस लोगोकी समवेदनाओको काफी हद्दतक भटकाया और विभाजित किया है। किंतु अन्य सबसे प्रबल और निर्णायक भाव हैलवैशियन (Helvetian) राष्ट्रीयताकी भावना है जो, ऐसा प्रतीत होता है, स्विटजरलैंडकी प्राचीन, प्राकृतिक, स्थानीय और ऐतिहासिक एकताके स्वेच्छाकृत विभाजन या विलयनके किसी भी विचारको आज या कभी भी क्रियान्वित नही होने देगी। अलसास, मुख्यतया, जाति, भाषा और प्राचीन इतिहासकी दृष्टिसे, जर्मन-संघका अंग है, पर जर्मनोने व्यर्थ ही इन विशेषताओंकी दुहाई देकर अलसास-लौरेन (Alsace-Lorraine) को ऐलसास-लोतरिंजन (Elsass-Lothringen) मे बदलनेकी चेष्टा की। वहाँकी जनताकी राष्ट्र, इतिहास और संस्कृतिसंबंधी सजीव भावनाओ और समानताओंने उसे अभीतक फ्रांसके साथ बाँध रखा था। कैनेडा और आस्ट्रेलियाका ब्रिटिश द्वीपसमूहके साथ या आपसमे एक-दूसरेके साथ कोई भौगोलिक संबंध नही है और इनमेसे कैनेडा तो, पूर्व-नियतिके अनुसार, अमरीकी समुदाय-एकताका ही एक भाग प्रतीत होता है, किंतु, निश्चय ही, जबतक भावनाका परिवर्तन नही हो जाता, जिसके विषयमे अभी कुछ कहना कठिन है, दोनों ही ब्रिटिश संघके अंग बनना अधिक पसंद करेंगे : न तो कैनेडा अधिकाधिक सार्वभौम रूप धारण करते हुए अमरीकी राष्ट्रमें विलीन होना चाहेगा और न आस्ट्रेलिया ही आस्ट्रेलेशियन संघके रूपमे अलग रहना पसंद करेगा। उधर आस्ट्रो-हंगरीके स्लावनिक और लैटिन अंग, चाहे वे इतिहास, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक सुविधाकी दृष्टिसे उसी साम्राज्यके भाग थे, पृथक्त्वके लिये और जहाँ स्थानीय भावनाएँ उनके अनुकूल थी वहाँ अपनी ही जाति, संस्कृति और भाषावालोंसे संयुक्त होनेके लिये प्रबल रूपमे यत्नशील हो उठे। यदि आस्ट्रियाने अपनी स्लाव प्रजाके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया होता जैसा कि उसने मग्यरोंके साथ किया था अथवा अपने जर्मन, स्लाव, मग्यर

और इटैलियन अंगोमेसे ही अपनी राष्ट्रीय सस्कृतिका निर्माण करनेमे समर्थ हो जाता तो स्थिति कुछ और ही होती और उसकी एकता भी विघटनकी समस्त वाह्य शक्तियोसे सुरक्षित रहती। जाति, भापा, स्थानीय संवंध और आर्थिक सुविधा भी शक्तिशाली तत्त्व है, किंतु निर्णायक तत्त्व तो वह प्रवल मनोवैज्ञानिक तत्त्व ही है जो एकता लानेमे सहायक होता है। इस सूक्ष्मतर शक्तिके आगे और सव शक्तियोको चाहे वे कितनी भी आतुर क्यो न हो, सिर झुकाना पडेगा; एक वृहत्तर एकतामे अपनी स्वतंत्र एव पृथक् अभिव्यक्ति और स्वत्वके लिये ये कितनी भी चेष्टा करे, इन्हे अपनेको अधिक शक्तिशाली आकर्पणके अधीन करना ही होगा।

इसी कारणसे, जो आधारभूत सिद्धात अपनाया जाय वह ऐतिहासिक परपरा या राष्ट्रोंपर लादी गयी वास्तविक स्थितिका कोई काल्पनिक अथवा व्यावहारिक नियम या सिद्धात नही वल्कि स्वतत्र समुदायीकरणका सिद्धात होना चाहिये। मनमे एक प्रणाली गढ लेना और उसे उन आधारोपर, जो प्रथम दृष्टिमे युक्तियुक्त और सुविधाजनक प्रतीत होते है, खडा कर लेनेका विचार करना आसान है। पहली दृष्टिमे तो ऐसा लगेगा कि मनुष्यजाति-की एकता अत्यधिक युक्तियुक्त और सुविधापूर्ण ढंगसे यूरोपीय समुदायी-करण, एशियाई समुदायीकरण और अमरीकी समुदायीकरणके आधारपर ही स्थापित हो सकती है, इसके साथ अमरीकामें दो या तीन, लैटिन और इंगलिश-भाषी उप-समुदाय होगे; एशियामे भी मगोलियन, हिन्दुस्तानी और पश्चिमी-एशियाई ये तीन समुदाय होगे,—शायद इनमेसे तीसरेके साथ मुस्लिम उत्तरी अफ्रीका भी स्वभावतया जुडा होगा। इसी प्रकार यूरोपमे लैटिन, स्लावनिक, टयूटौनिक और एग्लो-कैल्टिक ये चार समुदाय होगे, इनमेसे एंग्लो-कैल्टिकके साथ वे सव उपनिवेश भी होगे जो अभी उसीके साथ जुडे रहना चाहते है; उधर मध्य और दक्षिणी अफ्रीकाको वर्तमान स्थितिमे, किंतु उन अधिक सद्भावपूर्ण और प्रगतिशील सिद्धातोके आधार-पर विकास करनेके लिये स्वतत्र छोड़ा जा सकता है जिनपर एकीकृत मान-वताकी भावना आग्रह करेगी। इस कार्यकी जो वास्तविक और प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ है उनमेसे कुछ-एकका एक अधिक श्रेष्ठ प्रणालीमे कोई विशेप महत्त्व नही रहेगा। उदाहरणार्थ, हम यह जानते है कि जो राष्ट्र सभी प्रतीयमान वधनोद्वारा घनिष्ठ रूपसे जुडे हुए है, वे वास्तवमे ऐसे विरोधो-द्वारा विभाजित भी है जो अधिक काल्पनिक और कम यथार्थ विरोधोसे अधिक प्रवल है, ये काल्पनिक और कम यथार्थ विरोध उन्हे उन लोगोसे अलग कर देते है जिनका उनके साथ कोई साम्य नही है। मगोलियन

जापान और मंगोलियन चीन अपनी भावनामें एक-दूसरेसे अत्यंत विभिन्न हैं; अरब, तुर्किस्तान और फारसके निवासी धर्म और संस्कृतिकी दृष्टिसे इस्लामी होते हुए भी, यदि उनकी वर्तमान भावनाएँ एक-दूसरेकी ओर ऐसी ही बनी रहीं, तो एक कुटुंबकी भाँति मिल-जुलकर सुखपूर्वक नहीं रह सकेंगे। स्कैंडेनेवियाके नार्वे और स्वीडनकी प्रत्येक चीज ऐसी थी, जो उन्हें एक-दूसरेके निकट लाने तथा उनके ऐक्यको स्थायी रखनेवाली थी,— फिर भी उनमें एक ऐसी प्रबल किंवा अविवेकपूर्ण भावना काम कर रही थी जिसने उस मेलका स्थायी रहना असंभव कर दिया। किंतु ये विरोध वास्तवमें केवल तभीतक रहते हैं जबतक कोई वास्तविक अमित्रतापूर्ण दबाव अथवा अधीनता या अधिकारका भाव रहता है अथवा एकके अस्तित्व-के दूसरेके अस्तित्वद्वारा दबाये जानेकी आशंका होती है; एक बार इसके दूर हो जानेपर ये विरोध समाप्त भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह बात ध्यान देने योग्य है कि जबसे नार्वे और स्वीडन अलग हो गये हैं, स्कैंडेनेविया-के तीनों राज्योंमें मिलकर काम करनेकी तथा अपने-आपको यूरोपमें एक स्वाभाविक समुदाय समझनेकी प्रवृत्ति उत्तरोत्तर प्रबल होती गयी है। आय-र्लैण्ड और इंगलैंडका बहुत पुराना विरोध भी इन दो पृथक् राष्ट्रोंके बीच अपूर्ण पर अधिक न्याययुक्त संबंधके स्थापित हो जानेसे वैसे ही दूर होता जा रहा है जैसे आस्ट्रिया और मग्यरके राज्योंके बीच न्याययुक्त संबंध स्थापित होनेपर इनका सब वैर-विरोध समाप्त हो गया था। अतएव यह सहज ही समझमें आ सकता है कि जिस प्रणालीमें विरोधके कारण समाप्त हो जायँगे उसमें स्वाभाविक समानताएँ अधिक होंगी और जिस समुदायीकरणकी हम कल्पना करते हैं वह अधिक सरलतापूर्वक क्रियान्वित किया जा सकेगा। यह भी कहा जा सकता है कि एकीकरणकी प्रवृत्तिके अधिक प्रबल होनेपर मानवजाति स्वभावतः ही इस प्रकारके समन्वयको साधित करनेकी दिशामें अग्रसर होगी। संभव है कि एक महान् जागतिक परिवर्तन और क्रांति प्रबल रूपमें शीघ्र ही सब बाधाओंको दूर कर दे, जिस प्रकार फ्रांसमें फ्रांसीसी क्रांतिने एकरूप जनतंत्रीय प्रणालीकी उन बाधाओंको दूर कर दिया था जो पुरानी शासन-पद्धतिद्वारा पैदा की गयी थीं। परंतु इस प्रकारकी कोई भी व्यवस्था व्यवहारमें नहीं लायी जा सकेगी जबतक लोगोंकी वास्तविक भाव-नाएँ ही विवेकपूर्ण सुविधाकी इन प्रणालियोंके अनुकूल न बन जायँ; पर आज संसारकी स्थिति ऐसी किसी भी आदर्श अनुकूलतासे कोसों दूर है।

एक बार ऐसा प्रतीत हुआ था कि राष्ट्रीय भावनाके सिद्धांतपर स्थापित एक नये आधारका विचार, एक परिमित क्षेत्रमें, व्यावहारिक रूप ग्रहण

कर रहा है, किंतु यह केवल यूरोपकी पुनर्व्यवस्थातक ही सीमित रहा और वहाँ भी यह विजित साम्राज्योपर युद्ध और बल-प्रयोगकी युक्तिद्वारा ही लागू किया जाना था। दूसरोंने भी इसे एक सीमित रूपमे ही अपने लिये स्वीकार करनेका विचार किया था, उदाहरणार्थ, रूसने पोलैंडको स्वायत्त शासन देना स्वीकार कर लिया, उधर इंग्लैंडने भी आयर्लैण्डको स्वराज्य देकर अपने उपनिवेशोको सघबद्ध कर लिया। पर इस सिद्धातके विरोधी कई एक सिद्धात अभी भी बने रहे, यहाँतक कि साम्राज्यीय महत्त्वाकांक्षाओ और आवश्यकताओको पूरा करनेके लिये इसके विरोधमे नये सिद्धात भी स्थापित किये गये। नये आधारके इस विचारको एक नाम भी दे दिया गया; कुछ समयके लिये आत्म-निर्णयके इस विचारको शासकीय स्वीकृति भी मिलती रही और इसने एक सत्य सिद्धातका-सा रूप धारण कर लिया। अपूर्ण रूपसे कार्यान्वित किये जानेपर भी, यदि यह व्यवहारत· सफल हो जाता तो एक नया आदर्श मूर्त्त रूपमे जन्म लेकर बढने लगता तथा मनुष्य-जातिके लिये यह आशा उत्पन्न कर देता कि अतमे यह अधिक व्यापक क्षेत्रमें चरितार्थ किया जायगा और पीछे तो यह सार्वभौम रूप भी धारण कर लेगा। मित्र-राष्ट्रोकी विजय यदि इन बडी-बडी बातोका अत भी कर दे, तो भी अब यह माननेका कोई कारण नही है कि स्वतत्र राष्ट्रीय समुदायोके आधारपर ससारकी पुनर्व्यवस्था करनेका यह आदर्श एक असभव स्वप्न है या सर्वथा कपोल-कल्पित आदर्श है।

तथापि इसके विरोधमे बहुतसी शक्तियाँ है और यह आशा करना व्यर्थ है कि बिना लबे और कठिन सघर्षोके इनपर विजय प्राप्त हो जायगी। इन विरोधी शक्तियोमेंसे सबसे अधिक प्रबल और प्रधान राष्ट्रीय और साम्राज्यीय अहंभाव है। जहाँ शासन और आधिपत्य पिछले प्रयत्नोका पुरस्कार रह चुका हो वहा आधिपत्यकी सहज-प्रवृत्तिका तथा अभी भी शासक और सर्वोच्च अधिकारी बने रहनेकी इच्छाका त्याग करना, अधीनस्थ प्रदेशों तथा उपनिवेशोके व्यापारिक शोषणद्वारा प्राप्त हुए उस लाभको छोड देना जो केवल अधिकार और प्रभुत्वको दृढ़ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है, उन सशक्त और कभी-कभी तो उन विशाल जनसमूहोके अदर स्वतत्र राष्ट्रीय कर्मण्यताके उदयको निष्पक्ष भावसे देखना जो कभी आश्रित और उनकी समृद्धिके निष्क्रिय साधनमात्र थे पर अब उनके बलशाली समकक्ष और शायद उनके उग्र प्रतिद्वद्वी भी बन जायँगे,—ये सब अहभावयुक्त मानव-प्रकृतिके लिये इतनी बडी माँगे है कि इन्हे आसानी और सहज भावसे स्वीकार नही किया जा सकता जबतक कि किसी ऐसे बडे प्रत्यक्ष लाभकी वास्तविक आव-

उन्नीसवाँ अध्याय

केन्द्रीकरण और एकरूपताकी प्रवृत्ति, शासन-प्रबन्ध और वैदेशिक विषयोंका नियंत्रण

यदि यह मान लिया जाय कि स्थायी विश्व-ऐक्यका अतिम आधार राष्ट्रोका वह स्वतंत्र समुदायीकरण होगा जो उनकी स्वाभाविक समानताओ, भावनाओ तथा आर्थिक एवं अन्य सुविधाओके विचारके अनुसार चरितार्थ हुआ हो तो अगला प्रश्न यह उठेगा कि मनुष्यजातिकी बृहत्तर और जटिलतर एकतामे इन राष्ट्र-इकाइयोकी अपनी यथार्थ स्थिति क्या होगी। क्या ये केवल नाममात्रका पृथक्त्व रखेगी और एक मशीनके पुर्जे बन जायँगी या इनका एक वास्तविक और सजीव व्यक्तित्व तथा प्रभावपूर्ण स्वातत्र्य और सुघटित जीवन भी बना रहेगा ? क्रियात्मक रूपमे हम इस प्रश्नको यूँ भी रख सकते है कि क्या मानव-एकताका आदर्श यह है कि मनुष्यजाति एक ही वृहत् राष्ट्र और अनेक प्रातोवाले केंद्रीभूत विश्व-राज्यमे बलपूर्वक या कम-से-कम सबल रूपमे एकीभूत या गठित हो जायगी अथवा यह कि वह एक अधिक जटिल, तरल और नमनीय प्रणालीके आधारपर समवेत होकर स्वतत्र राष्ट्रोके विश्व-ऐक्यका रूप धारण कर लेगी। यदि इनमेसे पहले अधिक कठोर विचार, प्रवृत्ति या आवश्यकताकी प्रधानता रही तो निश्चय ही दबाव, सिमटाव और राष्ट्रीय एव वैयक्तिक स्वाधीनताके निषेधका एक ऐसा युग आयगा जैसा कि यूरोपमे राष्ट्रीय रचनाकी तीन ऐतिहासिक अवस्थाओ-मेसे दूसरीमे आया था। यह प्रक्रिया यदि पूर्णतया सफल हो जाय तो इसकी परिणति विश्वकी एक ऐसी केंद्रीभूत सरकारमे होगी जो अपना एक ही नियम और कानून, एक ही प्रशासन, वित्त और शिक्षासबधी एक ही प्रणाली, एक ही सस्कृति, एक ही सामाजिक नियम, एक ही सभ्यता और शायद एक ही भाषा और धर्म भी समस्त मनुष्यजातिपर लागू कर देगी। केंद्रीभूत होनेके कारण यह अपने कुछ अधिकार राष्ट्रीय सत्ताओ और परिषदोको भी सौंपेगी पर केवल उसी प्रकार जिस प्रकार केंद्रीभूत फ्रेंच सरकार—उसकी ससद् और नौकरशाही सरकार—अपने कुछ अधिकार विभिन्न विभागोके अधिनायको तथा परिषदो और उनके अधीनस्थ अधिकारियो एवं जनपदोको सौपती है।

ओर आकृष्ट होता है। इतिहास और अतीतके दृष्टांत भी इस बातकी पुष्टि करते प्रतीत होते हैं। क्योंकि राष्ट्रीय एकताकी रचनामे केंद्रीकरण और एकरूपताकी प्रवृत्ति ही सदा निर्णायक तत्त्व रही है और एकरूपताकी अवस्था अंतिम लक्ष्य। जातिके विभिन्न तथा प्रायः परस्पर-विरोधी अंगोके एक राष्ट्रीय राज्यमे परिणत हो जानेका पूर्व दृष्टांत स्वभावत. ही इस बातकी निश्चित आशा बधायेगा कि ससारकी समस्त जनता अर्थात् समस्त मनुष्यजाति एक विश्व-राष्ट्र और विश्व-राज्यका रूप धारण कर लेगी। आधुनिक समयमे एकरूपताकी इस प्रबल प्रवृत्तिके बहुतसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते है और सभ्यताकी उन्नतिके साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी जोर पकडती जाती है। तुर्की आदोलनका आरभ तो इस आदर्शके साथ हुआ था कि अस्तव्यस्त तुर्क-साम्राज्यके सभी विषमजातीय तत्त्वो—जातियो, भाषाओ, धर्मो और सस्कृतियोके प्रति उदारता दिखायी जाय, परंतु स्वभावत ही वहाँकी उद्दाम युवावृत्ति इस प्रेरणाके वशीभूत हो गयी कि चाहे जोर-जबर्दस्तीसे ही क्यो न हो, एकरूप उस्मानी सस्कृति और उस्मानी राष्ट्रीयताको स्थापित कर देना चाहिये। ग्रीक अंशके बहिष्कार तथा साम्राज्यके विनाशके बाद यह प्रवृत्ति आजके छोटे विशुद्ध तुर्की राज्यके रूपमे फलीभूत हो गयी है, पर यह आश्चर्यकी बात है कि राष्ट्रीय एकरूपताके साथ यूरोपीय सस्कृति और सामाजिक आचार-व्यवहारोके मिल जाने तथा उसके अदर इनके आत्मसात् हो जानेसे वह अभिभूत-सी हो गयी है। बैल्जियममे टयूटौनिक फ्लैमिगस् (Teutonic Flemings) और गेलिक वलून (Gallic Walloons) दोनो प्राय समान रूपसे विद्यमान है। इसीलिये फ्रैको-बल्जियम संस्कृतिके सुदृढ सरक्षणके नीचे वह एक राष्ट्रमे विकसित हो गया, इसकी प्रधान भापा फ्रेच थी। उधर फ्लैमिग आंदोलनका, जिसे वास्तवमे दोनो भाषाओके समान अधिकारोसे संतुष्ट हो जाना चाहिये था, लक्ष्य यह हो गया कि यह सारी स्थिति बदल जाय और फ्लैमिश भाषा और देशीय फ्लैमिश संस्कृतिको स्वीकृति ही नही प्रमुखता भी प्राप्त हो जाय। जर्मनीने अपने पुराने अगोको एक कर लिया और अपने वर्तमान राज्यो, उनकी सरकारो और शासन-व्यवस्थाओको उसी तरह चलने दिया, पर इस प्रकार अत्यधिक विभिन्नताओ-की जो सभावना पैदा हो गयी वह बर्लिनमे राष्ट्रीय जीवनको केंद्रित कर देनेसे समाप्त हो गयी। नाममात्रकी पृथक्ता अवश्य रही पर वह भी एक ऐसी वास्तविक और प्रबल एकरूपताद्वारा आच्छादित हो गयी जिसने, दक्षिणी राज्योकी अधिक जनतत्रीय और मानवतावादी प्रवृत्तियो और सस्थाओके होते हुए भी, जर्मनीको पूर्णतया बृहत्तर प्रशिया (Prussia) का रूप

दे दिया। स्विटजरलैंड, सयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका एक स्वतंत्र प्रकारके राज्यसंघके प्रत्यक्ष उदाहरण अवश्य है, किंतु वास्तवमें वहाँ भी एकरूपताकी भावना प्रबल है अथवा प्रबल होनेकी प्रवृत्ति रखती है यद्यपि बारीकियोमे जायँ तो अगभूत राज्योकी विभिन्नता तथा गौण विषयों-मे स्वतत्र व्यवस्थाकी छूट भी प्राप्त है। सर्वत्र ही एकता कम या अधिक एकरूपताकी आवश्यकता अनुभव करती हुई उसे लानेका प्रयत्न करती प्रतीत होती है,—क्योकि उसे वह अपना सुरक्षित आधार मानती है।

पहली एकरूपता जिससे शेष सब एकरूपताएँ आरंभ होती है केंद्रीभूत सरकारकी एकरूपता है; इसका स्वाभाविक कार्य है एक समान प्रशासनका निर्माण करना तथा उसे दृढ बनाना। ऐसे प्रत्येक समुदायके लिये जो अपने राजनीतिक और आर्थिक जीवनकी सुगठित एकता प्राप्त करना चाहता है केंद्रीय सरकार आवश्यक है। यद्यपि प्रारंभमे अथवा केवल नामके लिये यह केंद्रीय सरकार उन अनेक राज्योद्वारा निर्मित एक संगठनमात्र हो सकती है जो अपनी सीमाओमे अभी भी सर्वोच्च बने रहनेका दावा करते है, एक ऐसा यत्र जिसे वे सुविधाके लिये कुछ समान उद्देश्योकी खातिर अपने कुछ अधिकार दे देते है। फिर भी, वास्तवमे, इस सरकारकी प्रवृत्ति सदा ही पीछे सर्वोच्च सस्था बन जानेकी होती है। और इसकी इच्छा सदा यही रहती है कि अधिकाधिक शक्ति इसके हाथोमे आ जाय जब कि स्थानीय विधानमंडलो और सत्ताओके पास केवल कुछ सौंपे हुए अधिकार ही रह जायँ। अधिक शिथिल प्रणालीकी व्यावहारिक असुविधाएँ इस प्रवृत्तिकी पुष्टि करती है और धीरे-धीरे उन संरक्षणोकी शक्तिको निर्बल कर देती है जो किसी भी बाह्य हस्तक्षेपसे बचनेके लिये बनाये जाते है; यह हस्तक्षेप, अधिकाधिक, पूर्ण रूपसे हितकारी और सामान्य उपयोगिताके विचारसे युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है। संयुक्त राज्यमें भी, यद्यपि उसके अंदर अपने पुराने सविधानके लिये अत्यधिक मोह है और वह स्थानीय दिशाओं-को छोडकर और किसी दिशामे वैधानिक परिवर्तन बडी कठिनाईसे स्वीकार करता है, यह प्रवृत्ति प्रकट हो रही है और यदि पुराने संविधानमे किसी भी वैधानिक हस्तक्षेपका निषेध करनेके लिये सर्वोच्च न्यायालय न होता, अथवा यदि वैदेशिक विषयो और उलझनोसे बचकर रहनेकी अमरीकन नीतिने उन आवश्यकताओके दबावको न हटा दिया होता जिन्होने अन्य राष्ट्रोमे केंद्रीय सरकारको समस्त वास्तविक शक्ति हथिया लेने और अपने-आपको राष्ट्रीय गतिविधियोका स्रोत, साथ-ही-साथ उनका अध्यक्ष या केंद्र बना लेनेमे सहायता पहुँचायी है, तो अबतक निश्चित ही इस प्रवृत्तिके परिणाम-

स्वरूप महान् और मौलिक परिवर्तन हो जाते। सयुक्त राज्यकी परंपरागत नीति, उसकी शातिप्रियता, उसके युद्धविरोधी विचार, यूरोपीय उलझनोमें फँसने अथवा यूरोपकी राजनीतिके साथ कोई भी निकट सबध रखनेके प्रति उसकी अरुचि, यूरोपीय शक्तियोके पश्चिमी गोलार्धमे उपनिवेश और हित होते हुए भी उनके द्वारा अमरीकाके मामलोमे हस्तक्षेप करनेके प्रति उसकी असहिष्णुता—इन सबके मूलमे मुख्यतया यह सहज-प्रेरणा काम कर रही है कि यह पृथक्त्व ही उसकी सस्थाओ तथा उसके राष्ट्रीय जीवनके विशिष्ट रूपको बनाये रखनेका एकमात्र सुरक्षित साधन है। एक बार युद्धवादी बननेपर, एक बार पुरानी दुनियाकी राजनीतिके चक्करमे पड जानेपर जैसी कि कई बार आशंका होती है—सयुक्त राज्यको कोई भी वस्तु केंद्रित होने तथा सघीय सिद्धातको निर्बल करनेकी दिशामे होनेवाले महान् परिवर्तनोकी आवश्यकतासे अधिक समयतक बचा नही सकती*। स्विटजरलैंड भी अपने संघीय सविधानको इसी प्रकारकी स्वकेंद्रित तटस्थताके कारण सुरक्षित रख सका है।

राष्ट्रीय केंद्रीकरणका विकास मुख्यतया दो आवश्यकताओके कारण होता है; इनमेसे पहली और अत्यधिक अनिवार्य भी, सुदृढता, एकचित्तता और अन्य राष्ट्रोके सयुक्त और केंद्रीभूत प्रतिकारकी आवश्यकता है, चाहे यह प्रतिकार बाह्य उत्पीड़नसे बचनेके लिये किया गया हो या राष्ट्रीय हितो और महत्त्वाकाक्षाओकी पूर्त्तिमे दूसरोपर दबाव डालनेके लिये। युद्ध और सैनिकवादका केंद्रीकारक प्रभाव, अर्थात् शक्तियोको केंद्रीभूत करनेकी उसकी माँग बहुत पुराने समयसे इतिहासका एक सामान्य तथ्य बन चुकी है। केंद्रीभूत और पूर्ण स्वेच्छाचारी राजतत्रोके विकासमे, सगठित और शक्तिशाली कुलीन तंत्रोकी सुरक्षामे, विरोधी अगोके पारस्परिक मेल तथा केंद्र-विरोधी प्रवृत्तियोके शमनमे भी यह एक प्रधान तत्त्व रही है। इस आवश्यकताके सामने जो राष्ट्र शक्तियोके इस केंद्रीकरणका विकास या इसकी रक्षा नही कर सके वे जीवन-सग्राममे सदा ही असफल रहे है, चाहे उन्होने विधिका वह विधान न भी सहा हो जिसे यूरोपमे इटली और पोलैंडने तथा एशियामे भारतवर्षने सहा था। केंद्रित जापानकी शक्ति और विकेंद्रित चीनकी दुर्बलता इस बातका स्थायी प्रमाण थी कि आधुनिक स्थितियोमे भी प्राचीन शासन-प्रणाली ही उचित प्रतीत होती है। अभी

---

*रूजवेल्टकी नीति तथा वे कठिनाइयां जिनका इसे सामना करना पडा था सयुक्त राज्यकी इन दो विरोधी शक्तियोके बलका सजीव चित्रण करती हैं; सघीय स्थिति-को सुदृढ बनानेकी प्रवृत्ति, चाहे वह कितनी धीमी क्यों न हो असदिग्ध रूपमें अपना कार्य कर रही है।

कलकी बात है, पश्चिमी यूरोपके स्वतंत्र राज्योंको अपनी कठिनाईसे उपलब्ध स्वाधीनताका परित्याग कर देने तथा अनुत्तरदायी सीनेटकी पुरानी रोमन प्रणालीका, यहाँतक कि एक ऐसे राष्ट्रकी केंद्रित शक्तिका सामना करनेके लिये गुप्त तानाशाहीका आश्रय लेनेको विवश होना पड़ा था जो सैनिक आक्रमण और रक्षाके लिये प्रबल रूपसे केंद्रित तथा सुसंगठित था। यदि इस आवश्यकताकी भावना, प्रकट या अप्रकट रूपसे, युद्धके दिनोंके बाद भी बनी रह सकती, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जनतंत्र और स्वाधीनताको एक ऐसा भयंकर और संभवतः विनाशकारी आघात पहुँचता जैसा कि वर्तमान समयमें उनकी पुनः स्थापनासे लेकर अबतक उन्हें कभी नहीं पहुँचा था।*

जर्मनीके जीवनको पूर्णतया अपने अधिकारमें कर लेनेकी प्रशियाकी शक्तिका एकमात्र कारण प्रायः यही था कि वह जानता था कि दो महान् और शत्रु राष्ट्रोंके बीचमें जर्मनीकी स्थिति अरक्षित अवस्थामें है और उसका साम्राज्य यूरोपमें अपनी विशेष स्थितिके कारण चारों ओरसे घिरा हुआ है, अतः उसका विस्तार करनेमें संकटकी संभावना हो सकती है। इसी प्रवृत्तिका एक और उदाहरण वह शक्ति भी है जो राज्य-संघके सिद्धांतको इंगलैंड और उसके उपनिवेशोंमें युद्धके फलस्वरूप प्राप्त हुई थी। जबतक ये उपनिवेश इंगलैंडके युद्धों और विदेशी नीतिसे अलग रह सके और उससे प्रभावित नहीं हुए इस सिद्धांतको व्यवहाररूपमें आनेका अवसर नहीं मिला; किंतु, ऐसा प्रतीत होता है, कि युद्ध और उसकी कठिनाइयोंके अनुभव और लगभग पूर्ण विकेंद्रीकरणकी प्रणालीके अधीन साम्राज्यकी संभाव्य शक्तिको जबर्दस्ती केंद्रित करनेकी प्रत्यक्ष अयोग्यताने यह अनिवार्य कर दिया कि ब्रिटिश साम्राज्यकी अपूर्ण और शिथिल रचनाको दृढ़ कर देना चाहिये; एक बार इस सिद्धांतको स्वीकार करने और उसे प्रारंभिक रूपमें व्यवहारमें लानेके बाद यह कार्य विस्तृत रूपमें हो सकता है।† जहाँ शांति ही

---

*वर्तमान परिस्थितिमें भी शक्तियोंकी प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः जनतंत्रसे हटकर राज्यके अधिकाधिक नियंत्रण और शासनप्रबंधकी ओर झुकती प्रतीत होती है।

†अबतक यह बात समान स्थिति और वैदेशिक विषयोंमें निकट परामर्श तथा एक अधिक घनिष्ठ आर्थिक सहयोगके प्रयत्नोंतक ही पहुंची है, किन्तु महायुद्धोंके चलते रहनेसे या तो अबतककी शिथिल प्रणाली नष्ट हो जायगी या फिर अत्यधिक ठोस बननेको बाध्य हो जायगी। तो भी इस समय औपनिवेशिक स्थितिके आने और वैस्टमिनिस्टर-सविधिके निर्माणसे यह संभावना रुक गयी है क्योंकि ये राज्यसंघको किसी भी क्रियात्मक प्रयोजनके लिये अनावश्यक यहांतक कि शायद व्यावहारिक स्वाधीनताकी पोषक भावनाके लिये अवांछनीय भी बना देते हैं।

राज्यका सिद्धात है वहाँ शिथिल सघका कोई-सा भी रूप चल जाता है, पर जहाँ कही शाति खतरेमे है या जीवन-सघर्ष कठिन और दु खदायी है, शिथिलता हानिका रूप धारण कर लेती है, यहाँतक कि एक भयकर दोष वन जाती है, विधिको सहारका एक अवसर मिल जाता है।

वाह्य सकटका दवाव एवं विस्तारकी आवश्यकता केवल एक दृढ राजनीतिक और सैनिक केंद्रीकरणकी ही प्रवृत्ति पैदा करते हैं; एकरूपताका विकास एक ऐसे दृढ आतरिक सगठनकी आवश्यकतासे जन्म लेता है जिसका इस प्रकारसे उत्पन्न केंद्र एक साधन वन जाता है। इस सगठनका निर्माण कुछ हदतक तो उन्ही आवश्यकताओके कारण होता है जो इस केंद्ररूपी साधनको उत्पन्न करती है, पर अधिकतर इसका निर्माण इसलिये किया जाता है कि सुविधापर आधारित सुव्यवस्थित सामाजिक और आर्थिक जीवनके लिये एकरूपता अनेक प्रकारसे उपयोगी है; इस सुविधाको जीवन कुछ अधिक महत्त्व नही देता परंतु मनुष्यकी वुद्धि सदा इसकी माँग करती है,—यह व्यवस्थाका एक स्पष्ट, सहज और जीवनकी जटिलताके वीच यथासभव सरल सिद्धात है। जव मानवीय वुद्धि जीवनमे निहित सुघटित व्यवस्थाके अधिक सहज रूपमे कोमल और नमनीय सिद्धातको छोडकर अपने ढगसे जीवनको अनुशासित करना आरभ करती है तो उसका उद्देश्य आवश्यक रूपमे स्थूल प्रकृतिके व्यवस्थासवधी एकरूप और मूल सिद्धातोकी स्थिरताका अनुकरण करना होता है, पर साथ ही वह उन्हे यथासभव समान रूपसे प्रयोगमे लानेका प्रयत्न भी करती है। वह सभी महत्त्वपूर्ण विभिन्नताओको दवानेकी प्रवृत्ति रखती है। जव वह अपने-आपको व्यापक वनाकर प्रकृतिकी जटिलताओको समझने और उनसे निवटनेके अधिक योग्य अनुभव करने लगती है तभी वह उस स्वतत्र विविधता और समान सिद्धातोके सूक्ष्म रूपसे विभिन्न प्रयोगको कार्यान्वित करनेमे सुविधा अनुभव करती है जिसका जीवन-सिद्धात सदा ही माँग करता प्रतीत होता है। राष्ट्रीय समाजकी व्यवस्थामे सर्वप्रथम तो वह स्वभावतया एकरूपताके राजनीतिक और सैनिक कार्य-संबधी पक्षको प्राप्त करनेकी चेष्टा करती है, क्योकि यह पक्ष व्यवस्थाके उस केंद्रकी, जो वन चुका है, विशेष आवश्यकतासे निकटतम सवध रखता है। पहले तो वह प्रशासनकी पर्याप्त एकता और एकरूपता चाहती है, पर वादमे उसका लक्ष्य पूर्ण एकता और एकरूपता हो जाता है।

केंद्रीकरणकी आवश्यकताने जिन राजतत्रोका निर्माण किया था उनकी पहली प्रवृत्ति एक प्रारभिक केंद्रीकरण अर्थात् शासन-प्रवधके सभी प्रमुख

सूत्रोंको केंद्रीय सत्ताके हाथमें सौंप देनेकी ओर थी। यह हम सर्वत्र देखते हैं, परंतु इस प्रक्रियाकी क्रमिक अवस्थाएँ फ्रांसके राजनीतिक इतिहासमें अत्यधिक स्पष्टतासे दृष्टिगोचर होती हैं, क्योंकि वहाँ सामंतिक पृथक्त्व और सामंतिक न्यायक्षेत्रकी अव्यवस्थाने अत्यंत भीषण कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी थीं, फिर भी केंद्रीकरणके सतत आग्रहसे तथा अपने अवशिष्ट परिणामोंकी अंतिम उग्र प्रतिक्रियाके फलस्वरूप वे वहींपर अत्यधिक सफलता-पूर्वक सुलझा तथा दूर कर दी गयी थीं। केंद्रीकारक राजतंत्रने, जिसे अंगरेजोंके आक्रमणों, स्पेनिश दबाव तथा गृहयुद्धोंसे प्राप्त अनेक अनुभवोंके द्वारा सर्वोच्च शक्ति प्राप्त हो गयी थी, स्वभावतः ही उस पूर्ण स्वेच्छा-चारिताको विकसित कर लिया था जिसका कि महान् ऐतिहासिक व्यक्ति चौदहवाँ लूई एक अत्यत ज्वलंत प्रतीक है। उसका यह प्रसिद्ध वाक्य, "मैं ही राज्य हूँ" वास्तवमें देशकी एक ऐसी सर्वसम्मत राज्यशक्तिके विकासकी आवश्यकताको व्यक्त करता था जो सामंतिक फ्रांसके शिथिल और अस्तव्यस्त-प्राय संगठनके विरोधमें समस्त सैनिक, विधायक और प्रशासनीय सत्ता अपने अंदर केंद्रित कर ले। बुरबों लोगों (Bourbons) की प्रणालीका पहला उद्देश्य प्रशासनीय केंद्रीकरण और एकता था; साथ ही, कुछ हदतक प्रशासनीय एकरूपता प्राप्त करना भी उसे अभीष्ट था। वह इस दूसरे उद्देश्यको पूर्ण सफलताके साथ चरितार्थ नहीं कर सकी, क्योंकि वह उस कुलीनतंत्रके अधीन थी जिसका उसने स्थान तो लिया था, परंतु जिसे वह अपने सामंतिक अधिकारोंके ध्वंसावशेष सौंपनेके लिये विवश थी। बादमें फ्रेंच क्रांतिने इस कुलीनतंत्रको भी शीघ्र ही समाप्त कर दिया, साथ ही पुरानी प्रणालीके अवशेष भी उसके प्रवाहमें बह गये। एक कठोर एकरूपताकी स्थापना करते हुए इसने राजतंत्रके कार्यमें कुछ भी उलट-फेर नहीं किया, बल्कि उसे पूर्णता ही प्रदान की। पूर्ण विधायक, राजकोषीय, आर्थिक, न्याय-संबंधी और सामाजिक एकता और एकरूपता ही वह लक्ष्य था जिसकी ओर स्वेच्छाचारी फ्रांसीसी सत्ता—चाहे वह राजतंत्रीय थी या जनतंत्रीय—सबसे पहले प्रबल रूपमें प्रेरित हुई थी। जैकोबिन लोगों तथा नपोलियनके शासनने केवल उस कार्यको शीघ्र ही संपन्न कर दिया जो राजतंत्रके अधीन सामंतिक फ्रांसकी अस्तव्यस्त सत्तामेंसे धीरे-धीरे विकसित हो रहा था।

अन्य देशोंमें यह आंदोलन कम प्रत्यक्ष था और पुरानी संस्थाएँ अपने अस्तित्वके मूल कारणके न रहनेपर भी दृढतापूर्वक जमी रहीं। किंतु

यूरोपमें सर्वत्र ही, जर्मनी* और रूसमे भी, यही प्रवृत्ति रही है और इसका अतिम परिणाम भी अवश्य सामने आयेगा। इस विकासका अध्ययन भविष्यके लिये अत्यधिक महत्त्व रखता है; कारण जिन कठिनाइयोको पार करना है वे, चाहे अपने रूप और विस्तारमे कितनी भी भिन्न क्यो न हों, अपने मूल रूपमे उन्ही कठिनाइयोके समान है जो आधुनिक सभ्य जगत्के शिथिल और अभी भी अस्तव्यस्त सगठनमेसे विश्व-राज्यके विकसित होनेके मार्गमे आयँगी।

---

*यह ध्यान देने योग्य है कि जर्मनोमें यह प्रवृत्ति एक अभूतपूर्व केंद्रीकरणमें, और हिटलरके अधीन राष्ट्रीय-समाजवादी शासनके कठोर निर्धारण तथा एकरूपतामें अपनी चरम सीमाको प्राप्त हुई थी।

बीसवाँ अध्याय

आर्थिक केन्द्रीकरणकी प्रवृत्ति

राष्ट्रीय एकताका बाह्य संगठन एक अखंड केंद्रीय सत्ता तथा उसके राजनीतिक, सैनिक और कठोर प्रशासनीय व्यापारोकी एकता एवं एकरूपताको अधिगत कर लेनेपर भी पूर्ण नही होता है, उसके सुघटित जीवनका एक और पक्ष--विधान-कार्य और उससे संबद्ध न्यायसबंधी कार्य--भी है जो उतना ही महत्त्वपूर्ण है। वस्तुत: विधायिनी शक्तिका प्रयोग अतमें राजाका विशेष लक्षण हो जाता है, यद्यपि सदा वह ऐसा नही रहा है। तार्किक दृष्टिसे मनुष्य यह समझेगा कि अपने जीवनके नियमोको सचेतन और संगठित रूपसे निर्धारित करना समाजका प्रथम कर्तव्य होना चाहिये। और, क्योकि अन्य सब कर्तव्य इसी द्वारा निश्चित और इसीपर आश्रित भी होगे, स्वभावत: ही इसका विकास सबसे पहले होना चाहिये। परतु जीवन स्व-चेतन मनके नियमों और युक्तियोके अनुसार नही, वरन् अपने नियमो और शक्तियोके दबावके अनुसार विकसित होता है। उसकी पहली क्रिया अवचेतनके द्वारा निर्धारित होती है, सचेतन स्थितिको तो वह पीछे, विकासके परिणामस्वरूप ही, प्राप्त करती है। मानव-समाजका विकास भी इस नियमका अपवाद नही रहा है, अपनी मूल प्रकृतिमे मनोमय प्राणी होते हुए भी मनुष्य क्रियात्मक रूपमे प्रारंभसे ही एक ऐसा सचेतन प्राणी, एवं प्रकृतिका मानव-पशु रहा है जिसका मन अधिकतर यांत्रिक है; केवल बादमे ही वह स्व-चेतन प्राणी और अपने-आपको अधिकतर पूर्ण बनानेवाला 'मनु' बन सकता है। यही वह मार्ग है जिसका व्यक्तिको अनुसरण करना होता है। सामुदायिक मनुष्य व्यक्तिके पद-चिह्नोका अनुसरण करता है और वह सर्वोच्च वैयक्तिक विकाससे सदा बहुत पीछे रहता है। इसलिये अपनी आवश्यकताओंकी सचेतन और पूर्ण रूपमे व्यवस्था करनेवाले संगठनके रूपमे समाजका विकास, जो तर्क-बुद्धिके अनुसार पहला अनिवार्य पग होना चाहिये, वास्तवमे जीवनके तर्ककी दृष्टिसे अंतिम और चरम पग है। अतमे यह समाजको इस योग्य बना देता है कि वह सचेतन रूपमे अपने जीवनके सपूर्ण संगठन--सैनिक, राजनीतिक, प्रशासनीय, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक--को राज्यकी सहायतासे पूर्ण रूप

प्रदान करे। इस प्रक्रियाकी पूर्णता उस विकासकी पूर्णतापर आश्रित है जिसके राज्य और समाज—जितना भी संभव हो—एक ही वस्तु वन जाते है। जनतंत्रकी यही विशेषता है; समाजवादकी भी यही विशेषता है। ये इस वातके लक्षण है कि समाज पूर्णतः स्व-चेतन और इसके परिणामस्वरूप स्वतत्र और सचेतन रूपसे स्व-नियामक संगठन वननेकी तैयारी कर रहा है।* परंतु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आधुनिक जनतत्र और आधुनिक समाजवाद इस पूर्णताको लानेके केवल अधूरे और मूर्खतापूर्ण प्रयत्न है, एक स्वतत्र रूपकी विवेकपूर्ण उपलब्धि नही, वरन् एक निष्प्रभाव सकेत है।

समाजकी प्रारभिक अवस्थामे प्रथम तो ऐसी कोई वस्तु नही होती जिसे हम विधि अर्थात् रोमन विधि (Roman lex) कहते है; केवल कुछ आवश्यक अभ्यासो अर्थात् आचारोका एक समूह होता है जो सामुदायिक मनुष्यकी आतरिक प्रकृतिद्वारा तथा उसपर उसके वातावरणकी शक्तियों और आवश्यकताओकी क्रियाके अनुसार निर्धारित होता है। ये आचार ही फिर परिपाटियाँ या ऐसी वस्तुएँ वन जाते है जो स्थिर और वैधिक रूप ग्रहण करके प्रथाओका आकार धारण कर लेती है और अंतमे विधियोमे रूपातरित हो जाती है। इतना ही नही, ये आचार समाजके समूचे जीवनको अपने अतर्गत कर लेते है। राजनीतिक और प्रशासनीय विधिमे तथा सामाजिक और धार्मिक विधिमे कोई अतर नही होता। ये एक ही प्रणालीमे केवल सयुक्त ही नही हो जाती, वरन् एक-दूसरेके साथ घुल-मिल जाती है तथा एक-दूसरेके द्वारा निर्धारित भी होती है। प्राचीन यहूदी विधान और हिंदूशास्त्रका यही रूप था। इसने, विशिष्टीकरण और पृथक्करणकी उन प्रवृत्तियोके रहते हुए भी जो मनुष्यजातिकी विश्लेपणात्मक और व्यावहारिक बुद्धिके सहज विकासके परिणामस्वरूप दूसरे स्थानोपर विजय कर चुकी है, समाजके इस प्रारंभिक सिद्धातको अभी कुछ समय पहलेतक सुरक्षित रखा था। इस प्रचलित जटिल विधानका विकास अवश्य ही सामाजिक अभ्यासोके उस स्वाभाविक विकासद्वारा हुआ था जो परिवर्तनशील विचारो और अधिकाधिक जटिल आवश्यकताओंके अनुसार संपन्न हुआ था। ऐसी कोई एक निश्चित विधायक सत्ता नही थी जो

---

*फासिस्टवाद और राष्ट्रीय समाजवादने इस सूत्रमेंसे 'स्वतंत्र' शब्दको निकालकर उग्र शासनद्वारा एक संगठित और स्व-नियामक चेतनाको उत्पन्न करनेका कार्य आरंभ कर दिया है।

सचेतन निर्माण और चुनावद्वारा अथवा सर्वसाधारणकी सहमतिकी आशामे या आवश्यकता और विचारकी सामान्य सहमतिके ऊपर की गयी प्रत्यक्ष क्रियात्मक क्रियाके द्वारा इन्हे निर्धारित करती। राजा, सिद्ध, ऋषि और ब्राह्मण स्मृतिकार अपने बल और प्रभावके अनुसार ऐसी क्रियाका प्रयोग चाहे कर सकते थे, पर इनमेसे भी कोई सविहित और विधायक सर्वोच्च सत्ता नही था; भारतवर्षमे राजा धर्मका परिचालक तो था, पर विधायक या तो बिलकुल नही था या केवल किसी विशेष अवस्थामे और नगण्य रूपमे ही होता था।

यह वस्तुतः ध्यान देने योग्य है कि इस प्रचलित विधानका संबंध प्रायः एक मूल विधान-निर्माता मनु, मूसा अथवा लिकरजस (Lycurgus) के साथ जोड़ा जाता था; पर ऐसी किसी भी परंपराके ऐतिहासिक सत्यका आधुनिक अन्वेषणने निराकरण कर दिया है और यदि हम केवल वास्तविक ज्ञेय तथ्यों तथा मानव-मन और उसके विकासकी साधारण प्रक्रियापर विचार करे तो शायद यह ठीक भी लगेगा। वस्तुतः यदि हम भारतवर्षकी गहन पौराणिक परपराका पर्यालोचन करें तो हमे पता चलेगा कि मनुके विषयमे उसका विचार और कुछकी अपेक्षा प्रतीकात्मक अधिक है। उसके नामका अर्थ मनुष्य अर्थात् मनोमय प्राणी है। वह दैवी विधान-निर्माता है, मनुष्यजातिमे मनोमय अर्ध-देव है जो उन प्रणालियोको निश्चित करता है जिनके अनुसार जाति या समाजको अपने विकासका संचालन करना है। एक पुराणमे कहा गया है कि वह और उसके पुत्र सूक्ष्म लोकोमे राज्य करते है अथवा, जैसा कि हम कह सकते है, वे बृहत्तर मनपर राज्य करते है जो हमारे लिये अचेतन है; वहाँसे वे मनुष्यके सचेतन जीवनके विकासकी दिशाएँ निर्धारित कर सकते है। उसका विधान है मानव-धर्म-शास्त्र, यह मनोमय प्राणी या मनुष्यके आचार-व्यवहारके नियमका शास्त्र है और इस अर्थमें हम यह सोच सकते है कि किसी भी मानव-समाजका विधान उस प्रतिरूपका और उन दिशाओका चेतन विकास है जिन्हे उसके मनुने उसके लिये निश्चित किया है। यदि कोई शरीरधारी मनु, जीवित मूसा या मोहम्मद आविर्भूत होता है तो वह केवल अवतार अथवा भगवान्का प्रतिनिधि होता है जो अग्नि और बादलमे छुपा हुआ है। वह सिनाई पर्वतपर प्रकट होनेवाला जेहोवा तथा अपने देवदूतो-द्वारा संदेश देनेवाला अल्लाह है। यह हम जानते ही है कि मुहम्मदने अरब-निवासियोके उस समयके सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनीय रीति-रिवाजोको केवल एक नयी प्रणालीका रूप दिया था जिसका निर्देश उसे

वहुधा समाधि-अवस्थामे मिलता था जव कि वह अपनी चेतन सत्तासे अति-चेतन सत्तामे चला जाता था; यह निर्देश उसे अपने गुप्त संवोधि-मनमें भगवान्से प्राप्त होता था। यह सव अतिवौद्धिक हो सकता है अथवा इसे अवौद्धिक भी कह सकते है, पर यह मानव-विकासकी समाजके उस प्रकारके शासनसे भिन्न अवस्थाको सूचित करता है जो उसके वौद्धिक और व्यावहारिक मनद्वारा परिचालित होता है। यह मन जीवनकी परिवर्तन-शील इच्छाओ और स्थायी आवश्यकताओके संवधसे एक ऐसे निर्मित और निवद्ध विधानकी माँग करता है जो एक निश्चित विधायक सत्ता अर्थात् समाजके सुसंगठित मस्तिष्क अथवा केंद्रद्वारा निर्धारित हुआ हो।

हम देख ही चुके है कि इस युक्तिसगत विकासका अर्थ है एक केंद्रीय सत्ताका निर्माण; प्रारभमे यह एक पृथक् केंद्रीय शक्ति होती है, पर वादमें यह समाजके साथ अधिकाधिक सवद्ध होती जाती है अथवा उसका प्रत्यक्ष रूपसे प्रतिनिधित्व करने लगती है। यह सत्ता फिर धीरे-धीरे सामाजिक कार्योके विशिष्ट और पृथक्कृत अगोको अपने हाथमे ले लेती है। शुरूमे यह सत्ता राजाकी थी, चाहे वह निर्वाचित हो या वशानुगत; अपने मूल गुणकी दृष्टिसे वह युद्धका नायक था और अपने देशमे केवल एक मुखिया, वडे-वूढे और शक्तिशाली मनुष्योका प्रधान और राष्ट्र एव सेनाका सचालक; उनके कार्यका वह केंद्र था, पर निर्धारक नही। केवल युद्धमे जहाँ शक्तिका सपूर्ण केंद्रीकरण ही सफल कार्यकी पहली शर्त होती है, वह पूर्णतया सर्वोच्च सत्ता रखता था। गणनायकके साथ-साथ वह आदेश देनेवाला सर्वाध्यक्ष भी था। जव वह प्रधानता और शासनके इस सयोगको वाहरसे अदरकी ओर विस्तृत करता था तव वह कार्यवाहिका शक्ति वन जाता था, सामाजिक प्रशासनका केवल प्रधान साधन ही नही, वरन् कार्यवाहक शासक हो जाता था।

इस प्रकार आतरिक राजनीतिकी अपेक्षा वैदेशिक राजनीतिमे प्रधान वनना स्वभावतः ही उसके लिये अधिक सुगम था। अभी भी वे यूरोपीय सरकारे जिन्हे आतरिक विषयोमे लोकमतका मान करना पड़ता है अथवा राष्ट्रको प्रसन्न एव सतुष्ट रखना पडता है, वैदेशिक राजनीतिमे पूर्णतया या अधिकाशमे अपने विचारोके अनुसार ही कार्य कर सकती है, क्योकि वे अपने कार्योको एक ऐसी गुप्त कूटनीतिद्वारा निर्धारित करनेमे स्वतन्त्र है जिसमे सर्व-साधारणकी कुछ नही चल सकती और राष्ट्रके प्रतिनिधियोके पास भी इसके परिणामोकी आलोचना या अनुमोदन करनेकी सामान्य शक्तिमात्र होती है। वैदेशिक राजनीतिमे उनका कार्य नाममात्रका होता

है, नहीं तो न्यूनतम मात्रातक तो सीमित रहता ही है, क्योकि वे गुप्त आयोजनाओ और संधियोको नही रोक सकती। इनमेंसे जो शीघ्र ही जनताके सामने आ जाती है उनके लिये भी वे अपनी स्वीकृतिको केवल स्थगित ही रख सकती है, किंतु इसमे भी राष्ट्रके वाह्य कार्यकी निश्चितता, अविरामता और आवश्यक एकरूपताके नष्ट होनेका और इस प्रकार विदेशी सरकारोके विश्वासको खो वैठनेका डर रहता है जिसके विना न तो समझौतेकी वातचीत चल सकती है और न ही स्थायी मैत्री और सवंध स्थापित हो सकते है। संकटके समयमे भी जव कि युद्ध या शांतिमेंसे एकका आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है और अंतिम घड़ी या अंतिम क्षणमे जव उनसे वास्तविक रूपमें सलाह माँगी जाती है तव भी वे अपनी स्वीकृतिको—चाहे वह युद्धके लिये हो अथवा शांतिके लिये—रोक नही सकती। पुराने राजतंत्रोमे तो ऐसी स्थितिका होना और भी आवश्यक था, जव कि राजा युद्ध और शांतिका निर्णायक होता था तथा देशके वाह्य विषयोका संचालन राष्ट्रीय हित-विषयक अपने वैयक्तिक विचारके अनुसार करता था; इसपर उसके प्रधान आवेगों, पक्षपातो तथा वैयक्तिक और कौटुम्बिक हितोंका अत्यधिक प्रभाव पड़ता था। किंतु, इसके साथ कितनी भी हानियाँ जुडी हों, युद्ध एवं शांति तथा वैदेशिक राजनीतिका संचालन और साथ ही युद्धक्षेत्रमे सेनाका संचालन कम-से-कम सर्वोच्च सत्तामे ही केंद्रित और एकीभूत था। वैदेशिक नीतिके वास्तविक संसदीय नियंत्रणकी, यहाँतक कि प्रत्यक्ष कूटनीतिकी माँग—जो हमारे वर्तमान विचारोके लिये कठिन-सी वात प्रतीत होती है यद्यपि पहले वह व्यवहारमे लायी भी जा चुकी है और पूर्णतः व्यवहारमे लायी भी जा सकती है—रूपांतरकी दिशामे एक और कदम अर्थात् राजतंत्रीय और कुलीनतंत्रीय प्रणालीसे जनतंत्रीय प्रणालीकी प्रगतिको सूचित करती है, जिसका अर्थ है समस्त राजकार्योको एक सर्वोच्च प्रशासक या कुछ प्रधान कार्यवाहक मनुष्योके हाथोसे लेकर उस समूचे समाजको सौप देना जो जनतंत्रीय राज्यमें संगठित हो चुका है, यद्यपि जनतंत्रकी आजकलकी लंवी-चौडी वातोंके होते हुए भी ऐसी प्रगति पूर्णतासे अभी कोसों दूर है।

केंद्रीय सत्ता जव आंतरिक व्यापारोंको अपने हाथमे लेती है तो उसका कार्य अधिक कठिन हो जाता है; कारण, उन्हे पूर्ण अथवा मुख्य रूपसे अपने हाथमे ले लेनेसे वह प्रवल प्रतियोगी या परिवर्तनकारी शक्तियो, और हितोके तथा पूर्वस्थापित एव प्रायः-पोषित राष्ट्रीय आचारो और वर्तमान स्वत्वों और विशेषाधिकारोकी शक्तिके मुकाविलेमें आ जाती है।

परतु अंतमे वह उन व्यापारोपर एक प्रकारका एकीभूत नियंत्रण अवश्य प्राप्त कर लेगी जो वस्तुतः प्रवध और प्रशासनसे संबंध रखते है। राष्ट्रीय सगठनके प्रशासनीय पक्षके तीन मुख्य अग है—अर्थ, वास्तविक कार्य-व्यवस्था और न्याय। आर्थिक शक्ति राष्ट्रीय कार्योके लिये समाजद्वारा प्राप्त धन और उसके व्ययपर नियत्रण रखती है और प्रत्यक्षत· ही यह नियंत्रण किसी भी ऐसी सत्ताके हाथमे आ जाना चाहिये जो समाजके सयुक्त कार्यको संगठित करने तथा उसे सफल वनानेका बीडा उठा लेती है। किंतु शक्तियोको अखड और अमर्यादित रूपमे अपने अधिकारमे कर लेने तथा उन्हे पूर्ण रूपसे एकीभूत करनेकी अपनी प्रवल प्रवृत्तिमे वह सत्ता स्वभावतः ही अपनी स्वतत्र इच्छाके अनुसार न केवल व्ययका ही निर्धारण करेगी, वरन् इस वातका भी निर्धारण करेगी कि समाज सार्वजनिक कोपमे कितना धन देता है और राष्ट्रके अगभूत व्यक्तियो और वर्गोमे उसका किस प्रकार वितरण करता है। राजतंत्रने भी सदा ही अपने स्वेच्छाकारी केंद्रीयताके आवेगमे इस शक्तिको हस्तगत करनेकी चेष्टा की है, साथ ही इसे वनाये रखनेके लिये सघर्ष भी काफी किया है। कारण, राष्ट्र-कोपपर नियंत्रण वास्तविक राजसत्ताका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण लक्षण तथा प्रभावक अग है, यह शायद जीवन और शरीरके नियत्रणसे भी अधिक आवश्यक है। अत्यत स्वेच्छाचारी शासनोमे यह नियंत्रण पूर्ण होता है, यहाँतक कि न्याययुक्त कार्रवाईके विना भी नि.स्वीकरण और सर्वस्वहरण करनेकी शक्तिकी सीमातक पहुँच जाता है। इसके विपरीत जिस शासकको अपनी प्रजाके साथ इस विषयमे सौदा करना पडता है कि वह उसे कितना धन दे और कर लगानेके क्या नियम हो, उसका प्रभुत्व सीमावद्ध हो जाता है। वह वास्तवमे एकमात्र और पूर्ण अधिकारी नही होता, इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण शक्ति राज्यके एक हीन भागके हाथमे आ जाती है और वह ऐसे किसी भी सघर्षमे, जो सत्ताके उसके हाथसे दूसरे भागके हाथमे जानेके लिये किया जाता है, घातक रूपसे उसके विरुद्ध प्रयुक्त की जा सकती है। इसी कारण राजतत्रके साथ सघर्ष मे, अगरेज लोगोकी श्रेष्ठ राजनीतिक वुद्धिका सारा ध्यान कर-निर्धारणके प्रश्नपर ही केंद्रित था। इसे वह कोष-नियंत्रणके सघर्पमे पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न समझती थी। स्टुअर्ट लोगोकी पराजयसे जव इसका एक वार ससद्मे निवटारा हो गया, तो वाकी कार्योके लिये तो केवल समयकी आवश्यकता थी। ये कार्य थे राजतत्रीय प्रभुत्वका जनतत्रीय प्रभुत्वमे परिवर्तित हो जाना अथवा अधिक ठीक रूपमे कहा जाय तो प्रधान नियत्रणका राज्यसत्ताके हाथसे कुलीनतत्रके

हाथमें, वहाँसे मध्यवर्गके और फिर सर्वसाधारणके हाथमे आ जाना। पिछली दो स्थितियोमे गत अस्सी वर्षोका विकास निहित है। फ्रांसमें राजतन्त्रकी शक्ति यही थी कि उसने इस नियत्रणको सफल और व्यावहारिक रूपमें हस्तगत कर लिया था। सार्वजनिक धनकी न्याय और मितव्ययताके साथ व्यवस्था करनेमे उसकी असमर्थता, सर्वसाधारणपर भारी कर, उधर अत्यंत धनी कुलीन और पादरी वर्गसे कर लेनेकी उसकी अनिच्छा, और इन सबके फलस्वरूप अंतमे पुनः राष्ट्र-मत प्राप्त करनेकी आवश्यकताने ही फ्रांसीसी क्रांतिको उभड़नेका अवसर दिया था। वर्तमान समयके उन्नत देशोमे एक ऐसी नियत्रक सत्ता होती है जो कम-से-कम समस्त राष्ट्रका थोड़े-बहुत पूर्ण रूपसे प्रतिनिधित्व करनेका दावा करती है। व्यक्तियो और वर्गोको झुकना पड़ता है, क्योकि पूरे समाजकी इच्छा उनके पक्षमे नही होती। फिर भी कर-संबधी प्रश्न नही, बल्कि समाजके आर्थिक जीवनकी समुचित व्यवस्था एवं प्रशासनसबंधी प्रश्न ही भावी क्रातियोंकी तैयारी कर रहे है।

इक्कीसवाँ अध्याय

विधायक और सामाजिक केन्द्रीकरण एवं एकरूपताकी प्रवृत्ति

प्रशासनकी प्रधान शक्तियोका सर्वोच्च सत्ताके हाथोमे आ जानेका कार्य तव पूरा होता है जव कि न्यायसवधी प्रशासनकी, विशेषकर उसके आप-राधिक (criminal) पक्षकी एकता और एकरूपता प्राप्त हो जाती है, क्योकि व्यवस्था और आंतरिक शातिकी स्थापनाके साथ इसका घनिष्ठ सवंध है। इसके साथ ही शासकके हाथोमे आपराधिक न्याय-सत्ताका आना आवश्यक भी है जिससे वह अपने प्रति सव विद्रोहको राजद्रोह मानकर उसे कुचलने और यथासभव आलोचना और विरोधका गला घोटकर स्वतंत्र विचार और स्वतत्र भाषणपर भी कानूनी प्रतिवध लगानेमे इसका प्रयोग कर सके। ये सदा एक पूर्णतर सामाजिक नियमको ढूँढने तथा विकासको सूक्ष्म या प्रत्यक्ष रूपमे प्रोत्साहन देनेके कारण पूर्वस्थापित शक्तियो और सस्थाओके लिये भयावह हो जाते है तथा भविष्यकी श्रेष्ठतर वस्तुको पानेकी प्रवृत्ति रखनेके कारण वर्तमान समयकी प्रवल शक्तिको नष्ट कर देते है। अधिकतर-क्षेत्र (jurisdiction) की एकता अर्थात् न्यायाधिकरणो (tribunals) का निर्माण, न्यायाधीशोको नियुक्त करने, उनके वेतनका निश्चय करने तथा उन्हे पदच्युत करनेकी शक्ति और अपराध और उनके दड निश्चित करनेका अधिकार, दंड-विभागकी दृष्टिसे, शासककी समस्त न्याय-शक्ति है। अधिकार-क्षेत्रकी भी इसी प्रकारकी एकता, अर्थात् उन न्यायाधिकरणोका निर्माण करनेकी शक्ति जो व्यवहार-विधि (civil law) को कार्यान्वित करते है, तथा सपत्ति, विवाह और अन्य सामाजिक विषयो-संवंधी उन कानूनोको सशोधित करनेका अधिकार जो समाजकी सार्वजनिक व्यवस्थासे संवधित होते है, उसका व्यवहार-पक्ष है। किंतु व्यवहार-विधिकी एकता और एकरूपता राज्यके लिये जब कि वह एक स्वाभाविक और सुघटित समाजका स्थान ले रहा होता है, कम अनिवार्य तथा कम तात्कालिक महत्त्व रखती है। यह साधनके रूपमे उतनी प्रत्यक्षतया आवश्यक भी नही है। अतएव, यह आपराधिक अधिकार-क्षेत्र ही पहले कम या अधिक पूर्णताके साथ राज्यके अंतर्भूत हो जाता है।

प्रारंभमें ये सब शक्तियाँ सुघटित समाजके अधिकारमें थीं और प्रमुखतः विभिन्न प्रकारके स्वाभाविक साधनोद्वारा कार्यान्वित की जाती थीं; ये साधन कुछ शिथिल पर पूर्णतया व्यावहारिक ढगके होते थे, जैसे भारतवर्षकी पंचायत अथवा ग्राम-न्याय-समिति, सघों अथवा अन्य स्वाभाविक समुदायोका अधिकार-क्षेत्र, व्यवस्थापक परिषद् या नागरिकोके समाजोंकी न्यायशक्ति, जैसी कि रोमन लोगोकी अनेक व्यवस्थापक परिपदोंमे होती थी अथवा वे वडी-वडी असुविधापूर्ण न्याय-समितियाँ जो मतदान द्वारा या और किसी तरहसे चुनी जाती थी जिनका उदाहरण रोम और एथेसमे मिलता है; साथ ही कुछ हदतक राजा या सरदारोका, प्रशासककी हैसियतसे, न्यायसंवधी कार्य भी एक प्रकारका साधन होता था। इसलिये अपने प्रारंभिक विकासमे मानव-समाजोंका रूप वहुत समयतक न्यायिक प्रशासनके क्षेत्रमे काफी जटिल वना रहा। उन्हे न्यायसत्ताके मूल स्रोतमे अधिकार-क्षेत्रकी एकरूपता अथवा किसी केंद्रीभूत एकताकी आवश्यकता न तो थी और न ही कभी अनुभव हुई। पर ज्यो-ज्यो राज्य-सिद्धात विकसित होता जायगा, यह एकता और एकरूपता भी आती जायगी। प्रारंभमें यह इन सव विभिन्न न्याय-क्षेत्रोके राजाके हाथमें आ जानेसे चरितार्थ होती है; राजा उनकी स्वीकृतिका स्रोत तथा अपीलके लिये उच्च न्यायालय होनेके साथ-साथ मौलिक शक्तियोको भी रखता था जिनका प्रयोग दंड देने, विशेपतया उन अपराधोका दंड देनेके लिये होता था जो स्वयं राजा अथवा राज्यसत्ताके विरुद्ध किये जाते थे; ऐसा प्राचीन भारतमे भी न्यायिक कार्रवाईद्वारा पर कभी-कभी अधिक निरंकुश राजपद्धतिमे कठोर राजादेशद्वारा किया जाता था, इनमेंसे पिछला विशेषकर दंड-विभागमें प्रयुक्त होता था। एकीकरण तथा राज्यसत्ताकी इस प्रवृत्तिके विरुद्ध प्राय. ही समाजमें एक धार्मिक भावना काम करती रहती है जो उसके कानूनो और रीति-रिवाजोंको धार्मिक वाना पहनाकर राजा अथवा राज्यपर अंकुश रखनेकी प्रवृत्ति रखती है, जैसा कि पूर्वीय देशोंमे अधिकतर देखनेमे आता है। शासक न्यायका परिचालक तो स्वीकार किया जाता है पर वह उस कानूनद्वारा कठोरतापूर्वक वँधा हुआ माना जाता है जिसका वह स्रोत नहीं वलिक साधन है। कभी-कभी तो यह धार्मिक भावना समाजमें एक धर्मतंत्रवादी तत्त्व ले आती है—अर्थात् एक ऐसे चर्चको विकसित कर देती है जिसकी अपनी पृथक् धार्मिक सत्ता तथा अधिकार-क्षेत्र होता है अथवा एक ऐसे शास्त्र या कानूनका निर्माण करती है जो ब्राह्मण न्यायज्ञों या उलेमाओके हाथमे होता है। जहाँ यह धार्मिक भावना प्रबल रहती है वहाँ इसका हल इस प्रकार होता है कि ब्राह्मण

न्यायज्ञ राजा या उसके द्वारा प्रत्येक राज्याधिकरणमे नियुक्त न्यायाधीश-के साथ मिलकर काम करते है तथा न्यायसबधी समस्त विवादास्पद प्रश्नोमे पडितो या उलेमाओकी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की जाती है। जहाँ यूरोपकी भाँति राजनीतिक प्रेरणा धार्मिक प्रेरणाकी अपेक्षा अधिक वलवती होती है, वहाँ धार्मिक अधिकार-क्षेत्र समय आनेपर राज्यके अधिकारक्षेत्रके अधीन होकर अंतमे लुप्त हो जाता है।

इस प्रकार अतमे राज्य या राजतंत्र, जो एक सुघटित समाजको वौद्धिक समाजमे परिर्वातित करनेका महान् साधन है, कानूनका अध्यक्ष और सार्व-जनिक व्यवस्था एवं कार्यक्षमताका मूर्त्तरूप वन जाता है। न्यायाधिकारी-वर्गको पूर्णतया उस कार्याधिकारी-वर्गके अधीन करनेमे, जो चाहे कितनी भी कम स्वच्छद और अनुत्तरदायी शक्तियाँ रखता हो, स्पष्ट रूपसे एक खतरा है। केवल इंग्लैड ही ऐसा देश है जहाँ स्वाधीनताको भी सदा उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना व्यवस्थाको, और जहॉ स्वाधीनताको किसी भी प्रकार कम आवश्यक या अनावश्यक नही समझा गया। यहाँ प्रारंभसे ही राज्यकी न्यायिक शक्तिको एक मर्यादामे रखनेके लिये प्रयत्न किया गया था और उसमे सफलता भी प्राप्त हुई थी। यह कार्य कुछ हदतक तो अदालतोकी स्वाधीनताकी दृढ़ परपराद्वारा—इन अदालतोको इस वातसे भी प्रश्रय मिलता था कि एक वार नियुक्त हो जानेके वाद न्यायाधीशोका पद और वेतन पूर्ण रूपसे सुरक्षित रहते थे—और कुछ हदतक न्याय-समितिकी स्थापनाके द्वारा सपन्न हुआ था। उत्पीड़न और अन्यायके लिये इसमे काफी अवकाश था, जैसा कि मनुष्यकी सव सामाजिक या राजनीतिक सस्थाओमे होता है, परतु इसका उद्देश्य स्थूल रूपमे अवश्य पूरा हो गया था। स्मरण रहे, कुछ अन्य देशोने भी न्याय-समितिकी प्रणाली अपनायी है, पर उनमे व्यवस्था और पद्धतिकी सहज-प्रेरणाके अधिक प्रवल होनेके कारण न्यायाधिकारी-वर्ग कार्याधिकारी-वर्गके नियत्रणमे आ जाता है। तथापि यह दोष वहाँ उतना गभीर नही रहता जहाँ कार्याधिकारी-वर्ग समाजका प्रतिनिधित्व ही नही करता वल्कि उसके द्वारा नियुक्त और नियत्रित भी होता है जितना कि उस जगह जहाँ वह सार्वजनिक नियत्रणसे स्वतत्र होता है।

विधिकी एकरूपता न्यायिक प्रशासनकी एकता और एकरूपताकी अपेक्षा भिन्न ढंगसे विकसित होती है। अपने प्रारभिक कालमे विधि सदैव लोक-व्यवहारपर आश्रित होती है और जहॉ वह स्वतंत्र रूपसे व्यावहारिक होती है अर्थात् जहाँ वह केवल लोगोके सामाजिक आचार-व्यवहारको ही प्रकट करती है वहॉ, छोटे समाजोको छोडकर, अन्यत्र उसका परिणाम आचार-

व्यवहारकी अत्यधिक विभिन्नता होता है अथवा वह ऐसी विभिन्नताके लिये अनुमति देती है। भारतवर्षमें कोई भी संप्रदाय, कुटुंब भी, धार्मिक और नागरिक आचार-व्यवहारमें परिवर्तन कर सकता था जिसे समाजकी सामान्य विधि कुछ सीमित क्षेत्रमें स्वीकार करनेके लिये वाध्य होती थी, और यह स्वतंत्रता अभी भी हिन्दू-विधिके सिद्धांतका एक अंग है, यद्यपि अब व्यावहारिक रूपमें कोई नया हेर-फेर स्वीकार कराना वहुत कठिन हो गया है। विविधताकी यह सहज स्वतंत्रता समाजके उस प्राचीन स्वाभाविक अथवा सुघटित जीवनका अवशिष्ट चिह्न है जो वौद्धिक रूपसे व्यवस्थित, तर्काश्रित या यंत्रीकृत जीवनसे सर्वथा विपरीत है। समुदायके सुघटित जीवनने तर्कके कठोरतर ढाँचेकी अपेक्षा कहीं अधिक अपनी सामान्य भावना, सहज-प्रेरणा या स्फुरणाके द्वारा ही अपनी सामान्य दिशाएँ और विशेष उपदिशाएँ निश्चित की थीं।

युक्तियुक्त विकासका पहला विशेष चिह्न विधि-ग्रंथ (Code) और संविधानकी आचार-व्यवहारको अभिभूत करनेकी प्रवृत्ति है। ये विधि-ग्रंथ भी तो कई प्रकारके होते हैं। कुछ तो ऐसी प्रणालियाँ हैं जो लिपिवद्ध नहीं हैं अथवा केवल कुछ अंशमें ही लिपिवद्ध हैं, ये यथार्थ विधि-ग्रंथका रूप ग्रहण नहीं करतीं, ये नियमों, विधानों और पूर्वदृष्टांतोंका एक तरल संघात होती हैं जिसमें अभी भी केवल प्रथात्मक नियमोंके लिये वहुत अधिक अवकाश रह जाता है। कुछ ऐसी प्रणालियाँ भी हैं जिन्होंने हिन्दू-शास्त्रके समान यथार्थ विधि-ग्रंथका रूप अवश्य ग्रहण किया है, पर वास्तवमें वे केवल प्रथाओंको पक्का कर देती हैं और समाजके जीवनको वौद्धिक नहीं वरन् रूढ़ वनानेमें सहायक होती हैं। अंतमें कुछ ऐसे विधि-ग्रंथ आते हैं जो विचारपूर्वक व्यवस्थित किये गये हैं; ये विवेकपूर्ण व्यवस्था लानेके प्रयत्न होते हैं। सर्वोच्च सत्ता विधिका स्थायी रूप स्थिर कर देती है और फिर समय-समयपर नयी आवश्यकताओंके अनुसार विवेकपूर्ण परिवर्तनोंको भी समाविष्ट कर लेती है, ऐसे परिवर्तन जो प्रणालीकी विवेकपूर्ण एकता और उचित स्थिरताको अव्यवस्थित नहीं वल्कि उसे केवल संशोधित और विकसित ही करते हैं। इस पिछली प्रणालीका पूर्णताको प्राप्त होना समाजकी विशालतर पर अधिक शिथिल और अधिक निःशक्त जीवन-प्रेरणापर अधिक संकुचित किंतु अधिक स्व-चेतन, सवल और वौद्धिक जीवन-प्रेरणाकी विजय है, जव यह एक ओर एक स्थिर और एकरूपता संविधानके द्वारा और दूसरी ओर एकरूप एवं वुद्धिद्वारा गठित नागरिक और आपराधिक कानूनके द्वारा अपने जीवनके पूर्ण सचेतन और नियमित एवं वौद्धिक निर्धारण और व्यवस्थाकी

विजयको प्राप्त कर लेती है, तो समाज अपने विकासकी अगली अवस्थाके लिये तैयार हो जाता है। तब वह अपने समस्त जीवनकी सचेतन और एकरूप व्यवस्था अपने हाथमे ले सकता है और ऐसा वह बुद्धिकी सहायतासे करेगा जो आधुनिक समाजवादका सिद्धात है और जिसकी ओर सभी आदर्शवादी विचारकोका झुकाव रहा है।

पर इससे पहले कि हम इस अवस्थापर पहुँचे, यह महान् प्रश्न हल हो जाना चाहिये कि 'राज्य' कौन होगा? क्या समाजकी बुद्धि, उसका संकल्प और अत.करण ही साकार रूप धारण करके राजा और उसके सलाहकार बनेगे अथवा शासन एक ऐसे पुरोहित-वर्ग, स्वेच्छाचारी या धनिक वर्ग या किसी ऐसे संगठनके हाथमे आ जायगा जो कम-से-कम संपूर्ण समाजका पर्याप्त प्रतिनिधित्व करता प्रतीत हो अथवा क्या इन सभावनाओमेसे कुछ या सभीका एक समझौता-सा होगा? सविधानीय इतिहासकी संपूर्ण क्रम-परंपरा ही इसी प्रश्नपर कद्रित रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्थिति विभिन्न सभावनाओके बीचमें कुछ अस्पष्ट और डाँवाडोलसी रही है; किंतु हम देख सकते है कि वस्तुत प्रारभसे ही एक ऐसी आवश्यकताका दवाव कार्य करता रहा है जिसे राजतत्रीय, कुलीनतत्रीय और अन्य अवस्थाओमेसे गुजरते हुए अंतमे निश्चय ही शासनके जनतंत्रीय रूपमें विकसित होना पडा। 'राज्य' वननेके अपने प्रयत्नमे राजाको—उस प्रयत्नमे जो उसके विकासकी प्रेरणाद्वारा उसपर लादा जाता है—वस्तुतः इस वातके लिये प्रयत्न करना चाहिये कि वह विधिका उद्गम वननेके साथ-साथ उसका अध्यक्ष भी वन जाय। उसे समाजके व्यवस्था और प्रशासन-संवधी कार्यको तथा उसके निपुण विचारके पक्षको ही नही, वल्कि निपुण कर्मके पक्षको भी अपने अदर समाविष्ट कर लेना चाहिये। कितु ऐसा करते हुए भी, वह जनतत्रीय राज्यके लिये ही रास्ता साफ कर रहा होता है।

राजा, उसकी नागरिक और सैनिक परिषद्, पुरोहित-वर्ग और स्वतत्र नागरिकोकी व्यवस्थापक सभा, जो युद्धके समय सेनाका रूप धारण कर लेती थी, शायद सभी जगहपर, आर्यजातियोमें तो निश्चित रूपसे ही, ऐसे तत्त्व थे जिनके द्वारा समाजका सचेतन विकास आरंभ हुआ। ये स्वतत्र राष्ट्रके, उसके प्रारभिक और मूल रूपमे, तीन वर्गोको सूचित करते है और राजा इस सब ढाँचेका प्रधान स्तभ होता है। राजा पुरोहित-वर्गकी शक्तिसे मुक्त हो सकता है, वह अपनी परिषद्को अपनी इच्छाके यत्रका रूप दे सकता है और उन सामतोको जिनकी वह प्रतिनिधि है अपने कार्योका

राजनीतिक और सैनिक आधार बना सकता है, पर जबतक वह अपनेको व्यवस्थापक सभासे अथवा उसका अधिवेशन बुलानेकी आवश्यकतासे मुक्त नही कर लेता—जैसा कि फ्रांसीसी राज्यतंत्रमें राज्य-संचालकोकी सभा कई शताब्दियोमें और भारी कठिनाइयोका दबाव पडनेपर केवल एक या दो बार ही बुलायी गयी—तबतक वह प्रधान नही हो सकता, अकेली विधायिनी सत्ता बनना तो दूरकी बात है। वह विधानका वास्तविक कार्य फ्रेंच पार्लमेंट जैसी अराजनीतिक या न्यायिक संस्थापर भी छोड़ दे, फिर भी वहाँ उसे विरोधका सामना करना ही पडेगा। अत. यदि व्यवस्थापक सभा रहे ही न, या राजामे इतनी शक्ति हो कि सभाको बुलाना या न बुलाना उसकी इच्छापर निर्भर हो तो यह उसके पूर्ण रूपसे स्वतंत्र होनेका वास्तविक चिह्न है। किंतु जब वह सामाजिक जीवनके अन्य सब अधिकारोंको समाप्त कर देता है या उन्हे अपने अधीन कर लेता है, तो ठीक उसकी सर्वोच्च सफलताके इसी स्थलपर उसकी असफलता आरंभ हो जाती है। राजतंत्रीय प्रणाली सामाजिक विकासमे अपना प्रत्यक्ष कार्य पूरा कर चुकी है और उसके लिये जो कार्य बचा है वह इतना ही है कि वह या तो राज्यके संगठनको तबतक सुरक्षित रखे जबतक वह अपने-आपको रूपांतरित ही न कर ले अथवा उत्पीड़नद्वारा उस क्रांतिको जन्म दे जो जनताकी सत्ताको स्थापित करेगी।

इसका कारण यह है कि विधायिनी शक्तिको हस्तगत करनेमें राजतन्त्रने अपनी सत्ताके सच्चे नियम तथा अपने धर्मका अतिक्रमण किया है और उसने ऐसे कार्योंको अपने हाथमे लिया है जिन्हे वह स्वस्थ और सफल रूपमे पूरा नही कर सकता। प्रशासन तो लोगोंके बाह्य जीवनकी व्यवस्था-मात्र है, उनकी विकसित या विकासोन्मुख सत्ताकी बाह्य गतिविधियोको व्यवस्थित रूपमे बनाये रखनेका साधन है; हाँ, राजा उनका व्यवस्थापक हो सकता है। जो कार्य भारतीय शासन-पद्धतिमे उसे सौंपा गया था उसे भी वह कर सकता है, अर्थात् वह 'धर्म'का धारण करनेवाला बन सकता है। किंतु विधान, सामाजिक उन्नति, संस्कृति और धर्म, यहाँतक कि लोगोंके आर्थिक जीवनका निर्धारण भी उसके अपने विशेष क्षेत्रसे बाहरकी वस्तुएँ है, ये समाजके जीवन, विचार और उसकी आत्माकी अभिव्यक्तियाँ है; यदि राजाका अपना व्यक्तित्व शक्तिशाली हो और वह अपने युगकी भावनासे परिचित हो तो वह इनपर प्रभाव डालनेमें सहायक तो हो सकता है, परतु इन्हे निर्धारित नही कर सकता। ये राष्ट्रीय 'धर्म'का निर्माण करते हैं—हमे भारतीय शब्दका ही प्रयोग करना

चाहिये, क्योंकि केवल यही पूरे विचारको व्यक्त करनेमें समर्थ है। कारण, हमारे धर्मका अर्थ है हमारी प्रकृतिका नियम, साथ ही इसका अर्थ उसकी सूत्रवद्ध अभिव्यक्ति भी है। केवल समाज ही अपने धर्मका विकास निर्धारित कर सकता है अथवा अपनी अभिव्यक्तिको एक निश्चित रूप दे सकता है; और यदि यह कार्य एक स्वभावतः सुघटित और स्वयं-स्फूर्त्त विकासके पुराने तरीकेसे नही, वरन् व्यवस्थित राष्ट्रीय विवेक और सकल्पके द्वारा एक सचेतन नियमके अनुसार किया जाना हो तो एक ऐसी शासक सत्ताका निर्माण होना ही चाहिये जो सपूर्ण समाजके विवेक और सकल्पको पूरी तरहसे व्यक्त न भी करे पर कम या अधिक पर्याप्त रूपमें उसका प्रतिनिधित्व अवश्य करेगी। एक शासकवर्ग, चाहे वह कुलीनवर्ग हो या वुद्धिशाली पुरोहितवर्ग, यथार्थमे राष्ट्रीय विवेक और संकल्पके इस भागका नही, वरन् किसी सवल या श्रेष्ठ भागका प्रतिनिधित्व कर सकता है, किंतु वह भी केवल जनतंत्रीय राज्यके विकासकी एक अवस्था है। निश्चय ही जनतत्र, जो व्यावहारिक रूप उसका आज है, अतिम या अंतिमसे पहलेकी अवस्था नही है। कारण, यह प्राय केवल अपने वाह्य रूपमे ही जनतत्रीय है, अधिक-से-अधिक यह वहुसख्यकोका शासन है और दल-शासनकी दूपित प्रणाली तथा कुछ त्रुटियोंके अधीन कार्य करता है; इन त्रुटियोका अधिकाधिक ज्ञान होनेसे ससदीय प्रणालियोके प्रति लोगोका असतोप आजकल वढता जा रहा है। पूर्ण राजतत्र भी सामाजिक विकासकी अतिम अवस्था नही हो सकता, फिर भी यह एक आवश्यक और विस्तृत आधार-भूमि है जिसपर सामाजिक सत्ताकी स्व-चेतनता अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर सकती है। जनतत्र और समाजवाद, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस वातके चिह्न हैं कि उस स्व-चेतनताने परिपक्व अवस्थाको प्राप्त होना आरभ कर दिया है।[1]

प्रथम दृष्टिमे विधान एक वाह्य वस्तु, प्रशासनका एक रूपमात्र प्रतीत हो सकता है, वह सामाजिक जीवनके आर्थिक रूपो, उसके धर्म तथा उसकी शिक्षा और सस्कृतिके समान उसकी भीतरी रचनाका अग नही प्रतीत होता। ऐसा प्रतीत होनेका कारण यह है कि यूरोपीय राष्ट्रोकी

---

[1]इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि वास्तविक जनतंत्र कभी अवश्य स्थापित होगा। मनुष्यके लिये, वैयक्तिक या सामूहिक रूप से, पूर्ण आत्म-चेतनता प्राप्त कर लेना एक अत्यंत कठिन समस्या है। इससे पहले कि सच्चे जनतंत्रका स्थापना हो सके इसकी प्रक्रिया किसी भी अपरिपक्व समाजवादी प्रयलसे अभिभूत हो सकती है।

पुरानी राज्य-पद्धतिमें यह पूर्वी विधान अथवा शास्त्रकी भाँति सभी कुछको अपने अंदर समा लेनेवाला नही रहा है, वरन् अभी कुछ समय पहलेतक यह राजनीति, सविधान-शास्त्र, प्रशासनके नियमों और प्रक्रियाओं तथा सामाजिक और आर्थिक विधानके केवल उतने अंशतक ही सीमित रहा है जितने अशकी सपत्ति-रक्षा और सार्वजनिक व्यवस्थाकी दृढ़ताके लिये कम-से-कम आवश्यकता पडती थी। और, ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह सब राजाके करने योग्य कार्य समझा जाता था और यह भी माना जाता था कि वह उसे जनतत्रीय सरकारके समान ही कुशलतापूर्वक पूरा कर सकता है। पर वास्तवमे ऐसी वात नही है, जैसा कि इतिहास भी इसका साक्षी है। राजा एक अयोग्य व्यवस्थापक होता है और विशुद्ध कुलीनतत्रीय शासन भी कोई इससे अधिक अच्छा नही होता। कारण, समाजके नियम और संस्थाएँ वे ढाँचा होती है जिन्हें वह अपने जीवन और धर्मके लिये खड़ा करता है। जव वह अपने विवेक और संकल्पकी सचेतन क्रियाके द्वारा किसी भी सीमामे अपने लिये इन्हे निर्धारित करना शुरू करता है तो उसने उस कार्यकी ओर अपना पहला कदम वढा लिया होता है जिसकी समाप्ति अनिवार्य रूपसे उसके समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनको चेतन रूपमे नियमित करनेके प्रयत्नमे होगी। जैसे-जैसे इसकी चेतनताकी वृद्धि होगी वैसे-वैसे यह विचारकके 'आदर्श समाज' जैसी किसी वस्तुको उपलव्ध करनेके प्रयत्नकी ओर वढेगा, क्योकि आदर्शवादी विचारक वह व्यक्ति है जिसकी विचार-धारा पहलेसे ही उस दिशामे प्रवृत्त हो जाती है जिसे समाजका मन अंतमे ग्रहण करेगा।

परंतु जिस प्रकार कोई भी एक विचारक वौद्धिक और स्व-सचेतन समाजके विकासको अपने मनमाने तर्कसे विचारतः निर्धारित नही कर सकता, उसी प्रकार व्यक्तियोका अनुक्रम भी अपनी मनमानी शक्तिका प्रयोग करके उसे तथ्यतः निर्धारित नही कर सकता। यह स्पष्ट है कि वह राष्ट्रके संपूर्ण सामाजिक जीवनका निर्धारण नही कर सकता, क्योकि वह उसके लिये अतीव विशाल है; कोई भी समाज अपने संपूर्ण सामाजिक जीवनपर एक स्वेच्छाचारी व्यक्तिका भारी दवाव नही सहन करेगा। वह आर्थिक जीवनको भी निर्धारित नही कर सकता, क्योकि वह भी उसके लिये वहुत वड़ा है। वह केवल उसकी देखभाल कर सकता है और जिस दिशामे सहायताकी आवश्यकता हो वहाँ सहायता पहुँचा सकता है। वह धार्मिक जीवनका भी निर्धारण नही कर सकता, यद्यपि ऐसा प्रयत्न किया जा चुका है; वह इसके लिये अत्यधिक गहन है; कारण, धर्म व्यक्तिका

आध्यात्मिक और नैतिक जीवन है, यह भगवान्से उसकी आत्माका संबंध है। दूसरे व्यक्तियोके साथ उसके सकल्प और चरित्रका घनिष्ठ सपर्क है, और वास्तवमे कोई राजा या शासकवर्ग यहाँतक कि धर्मतंत्र अथवा पुरोहितवर्ग भी व्यक्तिकी आत्मा अथवा राष्ट्रकी आत्माका स्थान नही ले सकता। न ही वह राष्ट्रीय सस्कृतिको निर्धारित कर सकता है। वह केवल उसके महान् अभ्युदय-कालमे अपने संरक्षणद्वारा उसकी उस दिशाको निश्चित करके उसे सहायता पहुँचा सकता है जिसे वह अपनी प्रवृत्तिके बलपर ग्रहण कर रही थी। इससे अधिकके लिये प्रयत्न करना असगत होगा, क्योकि वह एक बौद्धिक समाजका विकास चरितार्थ नही कर सकता। वह इस प्रयत्नकी निरंकुश उत्पीडनद्वारा केवल सहायता ही कर सकता है जिसके परिणामस्वरूप अतमे समाज निर्बल हो जायगा तथा उसकी गति अवरुद्ध हो जायगी। साथ ही वह राजाओके या एक विशेष प्रकारकी दैवी सस्था अर्थात् राजतत्रके दैवी अधिकार-विषयक रहस्यमय असत्यके द्वारा उसे उचित ठहरा सकता है। शार्लमाइन (Charlemagne), अगस्टस, नैपोलियन चद्रगुप्त, अशोक अथवा अकबर जैसे असाधारण शासक भी समयानुकूल कुछ नयी सस्थाओके स्थापित करने तथा विषम समयमें समाजकी श्रेष्ठतम या फिर प्रबलतम प्रवृत्तियोके उदयमे सहायता पहुँचानेसे अधिक कुछ नही कर सकते। जब वे इससे अधिक करनेका प्रयत्न करते है, उन्हे असफलता मिलती है। भारतीय राष्ट्रके लिये अकबरने जो अपनी प्रदीप्त बुद्धिसे एक नया धर्म स्थापित करनेकी चेष्टा की वह एक ज्वलत असफलता थी। अशोकको राजाज्ञाएँ स्तभो और शिलाओपर अभीतक खुदी हुई है, पर भारतवर्षकी सस्कृति और धर्म, अपने ढगसे, उन दूसरी प्रकारकी तथा काफी अधिक जटिल दिशाओमे विकसित हुए है जो एक महान जातिकी आत्माद्वारा निश्चित की गयी थी। केवल कोई एक विरला 'मनु', अवतार या पैगबर ही, जो शायद सहस्रों वर्षोमे एक बार पृथ्वीपर आता है, अपने दैवी अधिकारका सच्चा दावा कर सकता है, क्योकि उसकी शक्तिका रहस्य राजनीतिक नही, वरन् आध्यात्मिक होता है। एक साधारण राजनीतिक शासक या राजनीतिक सस्थाके लिये ऐसा दावा करना मानवी मनकी अनेक मूर्खताओमेसे एक अत्यत आश्चर्यजनक मूर्खता है।

फिर भी यह प्रयत्न, उसके मिथ्या औचित्य और व्यावहारिक असफलताको छोडते हुए भी, अपने-आपमे अनिवार्य एव लाभदायक तथा सामाजिक विकासकी ओर एक आवश्यक कदम था। यह अनिवार्य था, क्योकि इस संक्रातिकालीन साधनने मानवी बुद्धि और सकल्पके प्रारभिक विचारका

प्रतिनिधित्व किया था; इसने सामुदायिक जीवनको अपनी इच्छा, सामर्थ्य तथा विवेकपूर्ण अभिरुचिके अनुसार ढालने, गढने तथा व्यवस्थित करनेके लिये उसे अपने अधिकारमे कर लिया था, क्योंकि यह जनसमूहकी प्रकृतिपर शासन करना चाहता था जैसा कि वह व्यक्तिकी प्रकृतिपर शासन करना आशिक रूपमे पहले ही सीख चुका था। और, जब समुदाय इस प्रकारके विवेकपूर्ण प्रयत्नके लिये अभी प्रबुद्ध और समर्थ नही है तो उसके लिये यदि यह काम एक समर्थ व्यक्ति या बुद्धिमान और समर्थ व्यक्तियोकी एक संस्था न करे तो फिर और कौन करेगा? यही निरंकुशतंत्र, कुलीनतत्र तथा धर्मतंत्रकी समस्त युक्ति है। इसका विचार असत्य या केवल अर्द्ध-सत्य अथवा क्षणिक सत्य है, कारण, किसी भी उन्नत वर्ग या व्यक्तिका वास्तविक कार्य समस्त संस्थाको उत्तरोत्तर आलोकित और शिक्षित करना है जिससे वह सचेतन रूपमें अपना कार्य स्वय करने लगे और वह वर्ग या व्यक्ति ही सदा उसके लिये कार्य न करता रहे।* पर इस विचारको अपनी प्रक्रियामेसे गुजरना था और विचारके सकल्पको—क्योंकि प्रत्येक विचारके अंदर अपने-आपको चरितार्थ करनेकी एक बलवती इच्छा होती है—अपनी चरम सीमातक पहुँचनेका आवश्यक रूपमे प्रयत्न करना था। कठिनाई यह थी कि कोई एक शासक या शासकवर्ग समाजके जीवनके अधिक यान्त्रिक भागको ही हस्तगत कर सकता था, पर वह सब जो उसकी अधिक अतरीय सत्ताका प्रतिनिधित्व करता था उनकी पकड़मे नही आता था, फलस्वरूप वे उसकी आत्माको अधिगत नही कर सकते थे। तो भी, जबतक वे ऐसा नही कर सकते, उनका यह उद्देश्य न तो पूरा होगा और न ही वे अपना प्रभुत्व सुरक्षित अनुभव करेंगे, क्योंकि किसी भी समय वे अधिक समर्थ शक्तियाँ उनका स्थान ले सकती हैं जो उन्हे अभिभूत करने और उनका प्रभुत्व हस्तगत करनेके लिये मनुष्यजातिके विशालतर मनसे अवश्यमेव ऊपर उठेंगी।

समाजके जीवनपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करनेके ऐसे सभी प्रयत्नोंके लिये केवल दो मुख्य उपाय ही उपयुक्त प्रतीत होते थे और उन्हीका प्रयोग भी किया गया है। एक तो मुख्यत: निषेधात्मक था; उसके कार्य करनेका

---

*इसका यह अर्थ नहीं कि एक पूर्ण समाजमें राजतंत्रीय, कुलीनतंत्रीय अथवा धर्मतंत्रीय तत्त्वका कोई स्थान नहीं होगा। किंतु वहाँ वे एक अचेतन संघातको नहीं बनाये रखेंगे और न ही उसका संचालन करेंगे वल्कि एक सचेतन संगठनमें अपना स्वाभाविक कार्य पूरा करेंगे।

ढग समाजके जीवन और उसकी आत्माका उत्पीडन करना तथा उसके विचार, भाषण, सवंध और वैयक्तिक और संयुक्त कार्यकी स्वतंत्रतापर कुछ हदतक प्रतिवध लगाना था—इसके साथ ही प्राय: न्यायरूपी अन्वेषण और हस्तक्षेपके तथा वैयक्तिक और सामाजिक प्राणी मनुष्यके अत्यत पवित्र सवधो और उसकी स्वाधीनताओपर दवाव डालनेके अत्यत घृणित तरीके भी वरते जाते थे, केवल ऐसे विचार, सस्कृति और कार्योको ही प्रोत्साहन और सरक्षण प्राप्त होता था जो स्वेच्छाचारी शासनको स्वीकार करते थे तथा उसकी चापलूसी एवं सहायता करते थे। दूसरा उपाय विधेयात्मक था; इसका कार्य समाजके धर्मपर नियंत्रण करना तथा राजाके आध्यात्मिक सहायकके रूपमे पुरोहितको आमत्रित करना था। कारण, स्वाभाविक समाजोमे और उनमे भी जो कुछ अगमे बौद्धिक होते हुए भी अभी हमारी सत्ताके प्राकृतिक नियमोके साथ चिपटे हुए है, धर्म, यदि यह पूरा जीवन ही नही है तो, व्यक्ति और समाजके समूचे जीवनकी देखभाल करनेके साथ-साथ उसपर अपना प्रवल प्रभाव डालता है तथा उसे गढ़ता भी है, जैसा कि अभी कुछ दिन पहलेतक भारतवर्षमे और वहुत अशोमे सव एशियाई देशोमे यह करता रहा है। सव राज्य-धर्म इसी प्रयत्नके प्रकट रूप है, परंतु राज्य-धर्म एक कृत्रिम तथा भयकर मूर्खता है। यद्यपि एक राष्ट्रीय धर्म एक सजीव वास्तविकता भी हो सकता है, पर यदि यह धार्मिक भावनाको लोकाचारका रूप नही देना चाहता और अतमे उसे नष्ट ही नही कर देना चाहता अथवा आध्यात्मिक विस्तारको नही रोकना चाहता तो उसे भी उदार, अनुकूलनशील, नमनीय तथा समाजकी गभीरतर आत्माका दर्पण वनना चाहिये। ये दोनो उपाय, चाहे कुछ समयके लिये ये कितने भी सफल क्यो न प्रतीत होते हों, एक दिन अवश्य असफल होगे, इस असफलताका कारण उत्पीडित सामाजिक प्राणीका विद्रोह भी हो सकता है अथवा ये इसकी क्षीणता, दुर्वलता और मृत्यु अथवा मृत-जीवनके कारण भी असफल हो सकते है। जैसी अवरुद्धता और दुर्वलताने ग्रीस, रोम, मुसलमान राष्ट्रो, चीन तथा भारतको आक्रात कर लिया था वैसी ही अवरुद्धता तथा दुर्वलता या फिर एक रक्षाकारी आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रातियाँ ही स्वेच्छाचारिताके एकमात्र परिणाम होती है। तथापि यह मानव-विकासकी एक अनिवार्य अवस्था थी, यह एक ऐसा परीक्षण था जो किया ही जाना था। असफल होते हुए भी, यहाँतक कि अपनी असफलताके कारण भी यह लाभप्रद था, क्योंकि स्वेच्छाचारी राजतत्रीय और कुलीनतंत्रीय राज्य उस स्वेच्छाचारी और

समाजवादी राज्यके आधुनिक विचारका जन्मदाता था जो अब जन्म ले रहा प्रतीत होता है। सब दोषोंके होते हुए भी यह एक आवश्यक कदम था, क्योंकि केवल इसी प्रकार ज्ञानपूर्वक अपना शासन करनेवाले समाजका स्पष्ट विचार दृढतापूर्वक विकसित हो सकता था।

जो कार्य राजा या कुलीनतंत्र नहीं कर सकता था उसके लिये जन-तंत्रीय राज्य शायद सफलताकी अधिक संभावना और अधिक सुरक्षाके साथ प्रयत्न कर सकता है और उसे सिद्धिके अधिक निकट ला सकता है; यह कार्य है एक चेतन और संगठित एकता, एकरूप और विवेकपूर्ण सिद्धांतोंके आधारपर प्राप्त की गयी एक नियमित कार्य-क्षमता, एक विकसित समाजकी बौद्धिक व्यवस्था और एक स्वशासित पूर्णता। आधुनिक जीवनका यही विचार है और कितना भी अपूर्ण हो, यही उसका प्रयत्न भी है; यह प्रयत्न आधुनिक विकासका सपूर्ण आधार रहा है। एकता और एक-रूपता इसकी प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं; नहीं तो इस विशाल और गहन वस्तुकी जिसे हम जीवन कहते हैं अपरिमेय जटिलताओंको एक तार्किक बुद्धि और एकीभूत इच्छा-शक्ति कैसे अधिकृत करेगी, कैसे उनपर प्रभुत्व स्थापित करेगी और कैसे उनका आकलन तथा उनकी व्यवस्था करेगी? समाजवाद इस विचारकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। जो सामाजिक और आर्थिक सिद्धात और प्रक्रियाएँ समूहको शासित करती हैं उनकी मौलिक समानताद्वारा प्राप्त एकरूपता और राज्यद्वारा समस्त सामाजिक और आर्थिक जीवनकी उसके सब भागोंमें व्यवस्था, वैज्ञानिक ढंगसे संचालित राज्य-शिक्षाकी प्रणालीके द्वारा प्राप्त सांस्कृतिक एकरूपता, इस सबको नियमित रूपमें लाने और बनाये रखनेके लिये एक ऐसी एकीभूत, एकरूप और पूर्ण रूपसे संगठित सरकार और प्रशासन, जो संपूर्ण सामाजिक सत्ताका प्रतिनिधित्व करेंगे तथा उसके लिये कार्य करेंगे,—यही आधुनिक 'आदर्श समाज' है। ऐसी आशा की जाती है कि यह सब वर्तमान बाधाओं और विरोधी प्रवृत्तियोंके होते हुए भी, किसी-न-किसी रूपमें एक सजीव वास्तविकतामें परिणत हो जायगा। प्रतीत होता है कि मानव-विज्ञान प्रकृतिकी विशाल और अस्पष्ट प्रक्रियाओंका स्थान ले लेगा और सामूहिक मानवजीवनमें पूर्णताको प्राप्त कर लेगा या कम-से-कम उसके कुछ निकट पहुँच जायगा।

बाईसवाँ अध्याय

विश्व-ऐक्य या विश्व-राज्य

यही सिद्धांत-रूपमे राज्यके विकासका इतिहास है। यह उस यथार्थ एकीकरणका इतिहास है जो केंद्रीय सत्ताके, तथा प्रशासन, विधान, सामाजिक और आर्थिक जीवन एवं सस्कृति और सस्कृतिके प्रमुख साधन शिक्षा और भापाकी बढती हुई एकरूपताके विकासद्वारा साधित हुआ है। इन सबमें केंद्रीय सत्ता उत्तरोत्तर निर्धारक और व्यवस्थापक शक्ति बनती जाती है। इस प्रक्रियाकी समाप्ति तब होती है जब यह अकेली शासक सत्ता या सर्वोच्च शक्ति केंद्रीय कार्यवाहक व्यक्ति या एक समर्थ वर्गके हाथसे एक ऐसी सस्थाके हाथमे चली जाती है जिसका प्रस्तावित कार्य ही समूचे समाजके विचार और सकल्पका प्रतिनिधित्व करना होता है। सिद्धात-रूपमे इस परिवर्तनका अर्थ एक ऐसा विकास है जो समाजको अपनी स्वाभाविक और सुघटित अवस्थासे एक बौद्धिक तथा यात्रिक रूपसे सगठित अवस्थामे ले आता है। एक विवेकपूर्ण केंद्रीभूत एकीकरण जिसका उद्देश्य एक पूर्ण बौद्धिक दक्षता हो उस तरल और स्वाभाविक एकताका स्थान ले लेता है जिसकी कुशलता इस बातमे है कि जीवन आतरिक प्रेरणा और परिस्थितिकी आवश्यकताओ तथा अस्तित्वकी मुख्य शर्तोके दबावमे, एक प्रकारके सहज भावके साथ, अपने अंगो तथा अपनी शक्तियोको विकसित कर लेता है। एक बौद्धिक, सुव्यवस्थित और यथार्थ एकरूपता तरल तथा प्राकृतिक जटिलताओ और विविधताओसे परिपूर्ण एकत्वका स्थान ले लेती है। सपूर्ण समाजकी विवेकपूर्ण इच्छाशक्ति जो एक सुविचारित नियम और सुव्यवस्थित विधिमे प्रकट हुई है उसकी स्वाभाविक और सुघटित इच्छाशक्तिका स्थान ले लेती है। इस स्वाभाविक और सुघटित इच्छाशक्तिकी अभिव्यक्ति उन आचार-व्यवहारो और सस्थाओके समूहमे होती है जो उसकी प्रकृति और उसके स्वभावके परिणामस्वरूप विकसित हुए है। राज्यकी पूर्णताकी अतिम अवस्थामे एक ऐसा सुयोजित यत्र, जो अतमे एक विशाल उत्पादक तथा व्यवस्थापक यंत्र बन जाता है, जीवनकी शक्ति और उर्वरताका और साथ ही उसकी महान् दिशाओकी स्वाभाविक सरलता और उसकी बारीकियोकी अस्पष्ट, भ्रात तथा अपरिमित जटिलताका स्थान ले लेता है। राज्य

मनुष्यका प्रभुतापूर्ण किंतु स्वच्छंद और अनुदार विज्ञान और तर्क है जो सफलतापूर्वक प्रकृतिकी सहज-स्फुरणाओं और विकास-संबंधी परीक्षणोंका स्थान ले लेता है; बुद्धिमत्तापूर्ण संगठन प्राकृतिक संस्थानोंकी जगह ले लेता है।

राजनीतिक और प्रशासनीय साधनोंद्वारा प्राप्त की गयी मनुष्यजातिकी एकताका अंतिम अर्थ उसकी नवनिर्मित पर अभीतक अस्पष्ट और स्वाभाविक एवं सुघटित एकतामेंसे एक अखंड विश्व-राज्यका निर्माण और संगठन है। कारण, स्वाभाविक और सुघटित एकता अर्थात् जीवनकी एकता, अनैच्छिक संबंधकी तथा उस अवयवभूत अंगोंकी घनिष्ठ रूपमें परस्पर-आश्रित सत्ताकी एकता तो पहलेसे ही विद्यमान है जिसमें एकका जीवन और उसकी क्रिया दूसरोंके जीवनको इस प्रकार प्रभावित करते हैं जैसा करना सौ वर्ष पहले असंभव होता। एक महाद्वीपका जीवन अब दूसरे महाद्वीपके जीवनसे अलग नहीं है; कोई भी राष्ट्र अब अपनी मर्जीसे अलग नहीं रह सकता, न ही अपना अलग जीवन बिता सकता है। विज्ञान, व्यापार तथा यातायातके द्रुत साधनोंने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि मनुष्यजातिके विभिन्न समुदाय जो पहले कभी अपनेतक ही सीमित रहते थे, अब एक सूक्ष्म एकीकरणकी प्रक्रियाद्वारा एक-दूसरेके निकट आकर एक ऐसा अभिन्न समुदाय बन गये हैं जिसका एक सामान्य प्राणिक अस्तित्व तो पहलेसे है और जो एक सामान्य मानसिक अस्तित्व वेगपूर्वक निर्माण कर रहा है। एक ऐसे बड़े द्रुत और परि-वर्तनकारी आघातकी आवश्यकता थी जो इस सूक्ष्म और सुघटित एकताको व्यक्त करे तथा एक घनिष्ठतर और संगठित ऐक्यकी आवश्यकताको प्रकाशमें लाकर उसकी इच्छाको जन्म दे; और यह आघात महायुद्धसे प्राप्त हुआ। विश्व-राज्य या विश्व-ऐक्यका सिद्धांत केवल विचारकके चिंतनशील और पूर्वदर्शी मनमें ही नहीं उत्पन्न हुआ वरन् इस नवीन सर्व-सामान्य अस्तित्वकी आवश्यकताके कारण मानवजातिकी चेतनामें भी उत्पन्न हुआ है।

विश्व-राज्य अब या तो पारस्परिक समझौतेसे या फिर परिस्थितिके दबाव और नये एवं संकटपूर्ण आघातोंके क्रमसे चरितार्थ होगा क्योंकि वस्तुओं-की पुरानी और अभी भी प्रचलित व्यवस्था उन परिस्थितियों और अवस्थाओं-पर आधारित थी जिनका अब कोई अस्तित्व नहीं रहा है। नयी अवस्थाएँ अब नयी व्यवस्थाकी माँग करती हैं और जबतक यह नयी व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो जाती, तबतक उन अनवरत कष्टों या पुनरावर्त्ती अव्यवस्थाओं और अवश्यभावी संकटोंका संक्रांति-युग बना रहेगा जिसके द्वारा प्रकृति अपने उग्र ढंगसे उस आवश्यकताको पूर्ण करनेमें सफल होगी जिसका उसने

विकास किया है। राष्ट्रीय और साम्राज्यीय अहकारोके संघर्षसे इस प्रक्रिया-मे अधिकसे अधिक हानि तथा कष्ट उत्पन्न हो सकते है; हाँ, यदि विवेक और सद्भावनाका साम्राज्य रहा तो ये न्यूनतम भी हो सकते है। इस प्रयोजनके लिये दो वैकल्पिक सभावनाएँ, अतएव दो आदर्श हमारे सामने उपस्थित होते है: एक विश्व-राज्य, जो केद्रीकरण और एकरूपताके सिद्धात-पर आधारित होगा, अर्थात् एक यात्रिक और बाह्य एकता, या फिर एक विश्व-ऐक्य जो स्वाधीनताके और स्वतत्र एव विवेकपूर्ण एकतामे विविधताके सिद्धातपर आश्रित होगा। इन दो विचारो और सभावनाओपर हमें बारी-बारीसे विचार करना है।

तेईसवाँ अध्याय

शासनके रूप

स्वतंत्र राष्ट्रों और साम्राज्योके एक ऐसे विश्व-ऐक्यका विचार, जो प्रारभमे कमजोर होता हुआ भी समय और अनुभवके साथ-साथ अधिकाधिक सुदृढ होता जायगा, पहली दृष्टिमे राजनीतिक एकताका अत्यधिक व्यावहारिक रूप प्रतीत होता है। यदि यह मान लिया जाय कि एकताका सकल्प जातिके मनमे शीघ्र ही फलीभूत हो जायगा तो एकताका यही रूप तत्काल ही व्यवहारमे लाया जा सकेगा। पर अभी तो राज्यका सिद्धात ही प्रवल है। राज्य ही एकीकरणका सवसे अधिक सफल और समर्थ साधन रहा है, यही उन अनेक आवश्यकताओंको, जिन्हे समाजोके विकसनशील सामुदायिक जीवनने अपने लिये उत्पन्न किया है और अभी भी उत्पन्न कर रहा है, सर्वोत्तम ढंगसे पूरा करनेमे समर्थ हुआ है। इसके अतिरिक्त यह एक ऐसा उपाय है जिससे आज मानव-मन परिचित है, साथ ही अपने तार्किक और व्यावहारिक दोनो कारणोसे यह काम चलानेके लिये एक अत्यंत सुलभ साधन भी है, क्योकि यह उसे सगठनका एक ऐसा कटा-छँटा और निश्चित यत्र और स्थिर प्रणाली प्रदान करता है जिसे हमारी सीमित वुद्धि सदा ही अपना सर्वश्रेष्ठ साधन समझनेके लिये प्रेरित होती है। इसलिये यह किसी तरह भी असंभव नहीं है कि राष्ट्र एक ढीले-ढाले ऐक्यसे आरभ करते हुए भी उन अनेक समस्याओंके दवावसे इसे एक दृढतर रूपमें परिणत करनेके लिये प्रेरित होगे जो उनकी आवश्यकताओ और रुचियोकी अधिकाधिक घनिष्ठ परस्पर-क्रियासे उत्पन्न होगी। इसके निर्माणकी तात्कालिक अव्यवहार्यता अथवा उन अनेक कठिनाइयोके आधारपर जो इसके मार्गमें आयँगी हम कोई सुरक्षित मत नहीं वना सकते, क्योंकि पिछला अनुभव हमें वताता है कि अव्यवहार्यताके तर्कका कुछ अधिक मूल्य नही है। जिसे आजका व्यावहारिक मनुष्य मूर्खतापूर्ण और अव्यवहार्य समझकर त्याग देता है प्रायः उसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये भावी संतति यत्न करती है और अंतमे वह उसे चरितार्थ करनेमें किसी-न-किसी रूपमे सफल भी हो जाती है।

किंतु विश्व-राज्यका अर्थ शक्तिका एक ऐसा दृढ़ केंद्रीय संगठन है जो

राष्ट्रोंके एकीभूत संकल्पका प्रतिनिधित्व करेगा अथवा कम-से-कम उसका समर्थन करेगा। तव इस केंद्रीय और सार्वभौम शासक संस्थाके हाथमें सब आवश्यक शक्तियों—सैनिक, प्रशासनीय, न्यायिक, आर्थिक, विधायक, सामाजिक और शैक्षणिक—का, कम-से-कम उनके मूल स्रोतमें, संयुक्त हो जाना अनिवार्य हो जायगा। और, प्राय. आवश्यक रूपमें इसका परिणाम यह होगा कि ससारमे सर्वत्र इन सब विभागोमे, मानवजीवन अधिकाधिक एकरूप होता जायगा, यहाँतक कि शायद लोग एक सामान्य और सार्वभौम भाषा भी चुन लेगे अथवा उसका निर्माण कर लेगे। यही वस्तुतः एकीकृत विश्वका स्वप्न है जिसे आदर्शवादी विचारक हमारे सामने रखनेके लिये अधिकाधिक प्रेरित हुए है। इस परिणामतक पहुँचनेके मार्गमे जो कठिनाइयाँ है वे आज स्पष्ट ही है, किंतु वे इतनी वड़ी नही है जितनी वे पहली दृष्टिमे प्रतीत होती है, इनमे ऐसी तो कोई भी नही है जिसका हल न हो सके। यह अब ऐसा आदर्श नही है जिसे आदर्श-विचारकका अव्यवहार्य स्वप्न समझकर छोड़ा जा सकता हो।

पहली कठिनाई इस शासक संस्थाके स्वरूप और सगठनसबंधी होगी और यह एक ऐसी समस्या है जो शकाओ और संकटोसे आक्रात है। प्राचीन समयमे तो इसका हल, अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्रोमे, निरकुश राजतत्रीय प्रणालीके द्वारा इस प्रकार काफी सुगमतासे किया गया था कि विजयी जाति राज्यकी बागडोर अपने हाथमे ले लेती थी, जैसा कि पर्शियन और रोमन साम्राज्योंमे किया गया था। पुराने समयमे शक्तिशाली राष्ट्रो या उनके जारो और कैसरोके मनमे जो भी स्वप्न आये हों, पर इस साधन-को मानवसमाजकी नयी अवस्थाओमे अब उतनी आसानीसे प्रयोगमे नही लाया जा सकता। स्थायी रहने और पुनर्जीवित होनेके अल्पकालिक और भ्रांतिपूर्ण प्रयत्नके बाद अब राज्यतंत्रका सिद्धांत स्वयमेव ही लुप्त होता जा रहा है। यह प्रायः अब अपनी अंतिम वेदनाकी अवस्थातक पहुँच गया प्रतीत होता है; काल-रात्रिकी मुहर इसपर लग चुकी है। शासनसबधी वर्तमान रूप प्रायः काफी भ्रांतिपूर्ण है, किंतु बहुतसे अन्य दृष्टांतोकी अपेक्षा इस दृष्टातमे ये शायद कम ही ऐसा हो सकते है, क्योंकि वह शक्ति जो अभी भी जीवित राजतत्रोकी समाप्तिका कारण बन रही है अत्यंत बलशाली, मूलगामी तथा नित्य वृद्धिशील है। सामाजिक समुदाय अपनी प्रौढ स्व-चेतन अवस्थाको प्राप्त कर चुके है। और, शायद ब्रिटिश साम्राज्य जैसे कुछ-एक अपवादभूत दृष्टातोको छोडकर, उन्हे अब इस बातकी आवश्यकता नही रही है कि कोई वशानुगत राजा उनका शासन-

कार्य चलाये या उनकी एकताका प्रतीक बनकर रहे। उस दशामे या तो राजतंत्र केवल नामको ही जीवित रह सकता है—जैसा कि इंग्लैडमें जहाँ राजाकी शक्ति कम होती है, यहाँतक कि, यदि संभव हो तो, फ्रेंच प्रधानसे भी कम और अमरीकी गणतंत्रोके प्रधानोंसे तो बहुत ही कम होती है—अथवा यह अपराधका स्रोत और लोगोकी बढ़ती हुई जनतंत्रीय मानवताके लिये प्रतिबंधक तथा प्रतिक्रियाकी शक्तियोके लिये कम या अधिक मात्रामें एक केंद्र, एक आश्रम-स्थल या कम-से-कम एक अवसर तो बन ही जाता है। अतः उसकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढनेके स्थानपर घटती जाती है और किसी संकटके समयमे जब वह राष्ट्र-भावत्ताके साथ प्रबल रूपसे संघर्षमे आ जाता है तो वह इस प्रकार मिट जाता है कि उसमे स्थायी रूपसे पुनर्जीवित होनेकी कम ही संभावना रह जाती है।

इस प्रकार राजतंत्र प्रायः सर्वत्र ही या तो समाप्त ही हो गया है या खतरेमे है और जिन देशोमे इसकी परंपरा एक समय सबसे अधिक बलवती थी उन्हीमे यह अत्यंत आकस्मिक रूपमे समाप्त हो गया है। वर्तमान समयमे भी यह जर्मनी और आस्ट्रियामे तथा चीन, पुर्तगाल और रूसमे समाप्त हो गया है। ग्रीस और इटलीमे यह संकटकी अवस्थामें है* और स्पेनने तो इसका बहिष्कार ही कर दिया है। कुछ छोटे राज्योको छोडकर पश्चिमी महाद्वीपके किसी भी देशमे यह वस्तुतः सुरक्षित नही है। कुछ देशोमे तो इसका अस्तित्व केवल ऐसे कारणोंसे बचा हुआ है जो भूतकी वस्तु बन चुके हैं और जिनकी शक्ति यदि अभी नष्ट नही हुई है तो शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। यूरोपके महाद्वीपके भाग्यमे यह लिखा प्रतीत होता है कि समय पाकर यह दोनों अमरीकाओके समान ही व्यापक रूपमे गणतंत्रीय बन जायगा। कारण, राजप्रथा यहाँ अब केवल संसारके भूतकालके अवशेषके रूपमे ही बची हुई है, वर्तमान समयकी मनुष्यजातिकी क्रियात्मक आवश्यकताओमे या उसके आदर्शों अथवा उसके स्वभावमे इसकी जड़े गहरी नही हैं। जब वह पूर्णतया समाप्त हो जायगी तब इसके विषयमे यह कहनेकी अपेक्षा कि इसका जीवन समाप्त हो गया है यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसका अवशेष समाप्त हो गया है।

वास्तवमे गणतंत्रीय प्रवृत्ति अपने मूलमे पश्चिमीय है। ज्यों-ज्यों

---

*और अब तो इटलीसे भी यह मिट गया है और इसके पुनर्जीवित होनेकी वहाँ कोई वास्तविक आशा नही है।

हम पश्चिमकी ओर बढ़ते है यह अधिकाधिक प्रबल होती जाती है, विशेषकर पश्चिमीय यूरोपमे यह ऐतिहासिक रूपमे शक्तिशाली तथा अमरीकाके नवीन समाजोमे भी काफी प्रबल रही है। यह सोचा जा सकता है कि ससारके सक्रिय और सयुक्त जीवनमे एशियाके प्रवेशसे, जब कि पूर्वीय महाद्वीप सक्राति-युगके वर्तमान कठिन कष्टोको पार कर लेगा, राजतत्रीय सिद्धात अपने बलको पुनः अधिगत करके एक नया जीवन-स्रोत प्राप्त कर सकता है, क्योकि एशियामे राज्यप्रथा केवल राजनीतिक आवश्यकताओ और अवस्थाओपर आधारित एक स्थूल तथ्य ही नही, वरन् एक आध्यात्मिक प्रतीक रही है, साथ ही उसमे धार्मिक तत्त्व भी सदा विद्यमान रहा है। किंतु एशियामे भी यूरोपकी ही भॉति राजतत्रका विकास ऐतिहासिक रूपमे अर्थात् परिस्थितियोके परिणामस्वरूप हुआ है। जब वे परिस्थितियॉ नही रहेगी तो वह समाप्त भी हो सकता है। एशियाकी यथार्थ मनोवृत्ति वस्तुतः राजनीतिक नही, वरन् सदा सामाजिक रही है, ऊपरी तलपर राजतत्रीय और कुलीनतत्रीय होते हुए भी उसका झुकाव मूल रूपमे राज-तत्रीय प्रवृत्ति और धर्मतत्रीय भावनाकी ओर रहा है। अपनी दृढ राज-तंत्रीय भावनाके साथ जापान ही इस सामान्य नियमका एकमात्र प्रधान अपवाद है। पर परिवर्तनकी महान् प्रवृत्ति प्रकट हो चुकी है। चीन अपनी जनतत्रीय प्रणालीमे बुद्धिमान् कुलीन अधिकारी वर्ग तथा प्रतिनिधि रूपमे सम्राट्को स्थान देता हुआ भी भीतरसे सदा जनतत्रीय देश रहा है और अब तो वह निश्चित रूपसे गणतत्रीय है। राजतत्रको पुन· जीवित करनेके अथवा उसे अस्थायी अधिनायकवादद्वारा स्थानापन्न करनेके प्रयत्नमे जो कठिनाई है उसका कारण एक ऐसी अतर्जात जनतत्रीय भावना है जो जनतत्रीय शासनको ही सर्वोच्च शासन स्वीकार कर लिये जानेसे सशक्त हो गयी है। यह पश्चिमी अनुभवके द्वारा उस समस्याका एक अमूल्य समाधान है जिसपर पूर्वके पुराने विशुद्ध सामाजिक जनतत्र नही पहुँच सके थे। राजवशोकी लबी परपरामेसे अतिमको त्याग करके चीनने अपने भूतकालके एक ऐसे तत्त्वसे सबध-विच्छेद कर लिया था जो उसकी केद्रीय सामाजिक प्रकृति और उसके अभ्यासोका अग होनेकी अपेक्षा बाह्य अधिक था। भारतवर्षमे राजतत्रीय भावना, जो धर्मतत्रीय और सामाजिक भावनाके साथ विद्यमान तो थी, परंतु मुगलोके अपेक्षाकृत अल्पकालिक शासनको छोडकर और किसी भी समय उसे अभिभूत नही कर सकी थी, ब्रिटिश नौकरशाहीके शासन तथा जातिके सक्रिय मनके राजनीतिक यूरोपीय-करणके कारण बुरी तरहसे निर्बल पड गयी थी, यद्यपि वह बिलकुल ही

नष्ट नही हो गयी थी।* पश्चिमी एशियामे टर्कीमें भी राजतंत्र समाप्त हो चुका है, वहाँ वह केवल उन राज्योंमे ही विद्यमान है जिन्हे केंद्रीकारक या केंद्रीय तत्त्वके रूपमे राजाकी आवश्यकता है।

एशियाई जगत्के दो सिरोपर जापान और टर्कीमे युद्ध-समाप्तिके बाद भी राजतत्रने अपने धार्मिक स्वरूपका ही कुछ अंश सुरक्षित रखा, साथ ही जातिकी भावनापर उसका प्रभाव भी बना रहा। जापानमें, जो कि अभी अधूरे रूपसे ही जनतत्रीय हुआ है, मिकाडोसे संबंधित भावना प्रत्यक्ष रूपमें अशक्त हो गयी है; उसकी प्रतिष्ठा अभी बाकी है, पर उसकी वास्तविक शक्ति बहुत परिमित हो गयी है। जनतंत्र और समाजवादका विकास निर्बल और सीमित करनेवाली प्रक्रियाको अवश्य सहायता पहुँचायगा और वहाँ भी वह संभवतः वही परिणाम उत्पन्न करेगा जैसे कि उसने यूरोपमें किये थे। मुस्लिम खलीफा जो प्रारंभमें धर्मतंत्रीय जनतंत्रका प्रधान होता था पीछे मुस्लिम साम्राज्यके द्रुत विकाससे—यह साम्राज्य अब छिन्न-भिन्न हो चुका है—एक राजनीतिक अधिकारीके रूपमे परिणत हो गया था। खलीफाओंका शासन जो अब समाप्त हो गया है केवल विशुद्ध धार्मिक प्रधानताके रूपमे ही जीवित रह सकता था और उस रूपमें भी पर्शिया, अरब और मिस्रमे नये आध्यात्मिक और राष्ट्रीय आंदोलनोंके उदयसे उसकी एकता संकटमे पड़ गयी थी। किंतु आजके एशियामे एक वास्तविक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसके भविष्यकी संपूर्ण सक्रिय शक्ति पुरोहित या कुलीनवर्गमे नही, वरन् जैसी कि वह पुराने समयमे क्रांतिसे पहले रूसमें थी, नवनिर्मित बुद्धिजीवी वर्गमें केंद्रित हो गयी है; प्रारंभमे इन बुद्धिजीवियोंकी संख्या कम थी परंतु अब इनका बल और लक्ष्य-सिद्धिका स्थिर संकल्प बढ़ रहा है और ये आध्यात्मिकताकी परंपरागत शक्तिके कारण एक दिन अवश्य ही अत्यधिक क्रियाशील हो जायँगे। एशिया अपनी प्राचीन आध्यात्मिकताको सुरक्षित भी रख सकता है। अपनी सबसे बड़ी दुर्बलताके समयमे भी वह यूरोपके प्रत्यक्षवादी मनमे अपनी प्रतिष्ठाको अधिकाधिक स्थापित कर सका है। पर यह आध्यात्मिकता जो भी दिशा ग्रहण करे, इसका निर्धारण इसी नये बुद्धिजीवी वर्गकी मनो-

*अब जब कि देश स्वाधीन हो गया है और एक गणतंत्रीय और जनतंत्रीय संविधान स्थापित हो गया है, शासक राजा या तो लुप्त हो गये हैं या फिर अपने छोटे-छोटे राज्योंके अधीनस्थ अध्यक्ष रह गये हैं। ये छोटे राज्य अब आंशिक अथवा पूर्ण रूपमें जनतंत्रीय बन रहे हैं, अथवा भविष्यमें वे संयुक्त भारतमें विलीन हो जायेंगे।

वृत्तिके द्वारा ही होगा और यह पुराने विचारों और प्रतीकोकी अपेक्षा निश्चित ही किन्ही अन्य माध्यमोंद्वारा प्रकट होगी। अतएव, ऐसा प्रतीत होता है कि एशियाई राजतंत्र और धर्मतत्रके पुराने रूप अवश्यमेव नष्ट हो जायँगे, वर्तमान समयमे नये रूपोमे उनके पुनर्जीवित होनेकी कोई संभावना नही है, यद्यपि भविष्यमे ऐसा हो सकता है।

अंततः राजतत्रके सिद्धांतके लिये प्रत्यक्ष सुयोग केवल यही है कि उसका रूप उन विषमजातीय साम्राज्योकी एकताके लिये एक सुविधापूर्ण प्रतीकके रूपमे रखा जा सकता है, जो संसारके वर्तमान राजनीतिक समूहीकरणपर आधारित किसी भी एकीकरणके सवसे वडे अग होगे। पर इन साम्राज्योके लिये भी यह प्रतीक कोई अनिवार्य सिद्ध नही हुआ है। फ्रांसने इसके विना काम चला लिया है और रूसने अभी हाल ही मे इसका त्याग कर दिया है। आस्ट्रियामे तो कुछ अंगभूत जातियाँ इसे अधीनताका चिह्न समझकर इससे घृणा करने लगी है। महायुद्धमे आस्ट्रियाकी पराजयके विना भी इसे नष्ट होना ही था, केवल इंग्लैड और कुछ छोटे देशोमे ही यह निर्दोष और लाभकारी सिद्ध हो रहा है और तभी वहाँ इसे लोकमतका समर्थन भी प्राप्त हुआ है। यह सोचा जा सकता है कि यदि ब्रिटिश साम्राज्यको*, जो अभी भी संसारकी प्रमुख और अत्यत प्रभावशाली एव प्रवल शक्ति है, भविष्यके एकीकरणका प्रधान केंद्र अथवा दृष्टात वनना हो तो एक वाह्य रूपमे राजतत्रीय तत्त्वके जीवित रहनेका कुछ अवकाश हो सकता है—और कभी-कभी कोरा वाह्य रूप भी भविष्यकी सभावनाओसे विकसित होने तथा जीवत वननेके लिये आधार और केंद्रके रूपमे उपयोगी होता है। किंतु समूचे अमरीकाकी स्थिर गणतत्रीय भावना तथा उसके गणतत्रीय रूपका उत्तरोत्तर विस्तार इसके विरोधमे है। इसमे इस वातके लिये कम ही अवकाश है कि केवल नाममात्रका राजा भी जो अति विषम-जातीय समुदायके एक अगका प्रतिनिधित्व करता है सामान्य एकीकरणकी किसी भी पद्धतिमे शेष अगोके द्वारा स्वीकार कर लिया जायगा। कम-से-कम प्राचीन कालमे ऐसा केवल विजयके दवावके कारण ही हुआ था। विश्व-राज्यको अनुभवके आधारपर अपने सविधानके अदर राजतत्रीय तत्त्वको स्थान देना या पुनः स्थान देना सुविधाजनक भी लगे तो भी वह केवल जनतत्रीय राजप्रथाका कोई विलकुल नया रूप ही होगा। किंतु आधुनिक जगत्को राजतत्रके निष्क्रिय रूपके विरोधमे एक गणतत्रीय राजप्रथाको विकसित करनेमे सफलता प्राप्त नही हुई है।

---

*अव वह साम्राज्य नही वरन् समानतन्त्र है।

वर्तमान अवस्थाओंमें दो निर्वारक तथ्य जो संपूर्ण समस्याको पलट देते हैं, ये हैं कि इस प्रकारके एकीकरणमें राष्ट्र व्यक्तियोंका स्थान ले लेते हैं और ये राष्ट्र परिपक्व स्व-चेतन समाज होते हैं; अतएव, भविष्यमें इन्हें सामाजिक जनतंत्रके घोषित रूपों अथवा समाजवादके किसी अन्य रूपमेंसे गुजरना आवश्यक हो जाता है। यह मानना युक्तिसंगत है कि विश्व-राज्यका झुकाव रचनाके उसी सिद्धांतके अनुसार कार्य करनेकी ओर होगा जो उसका निर्माण करनेवाले समाजोंमें प्रचलित है। यदि हम यह मान सकें कि परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय स्वभावों, रुचियों और संस्कृतियोंद्वारा उत्पन्न कठिनाइयाँ भेदमूलक राष्ट्रीयतावादी भावनाके ह्रासके और एक सार्वभौम अंतर्राष्ट्रीयताके विकासके द्वारा या तो दूर हो जायँगी या फिर उन्हें दबाने और कम करनेमें सफलता प्राप्त हो जायगी तो यह समस्या और भी सरल हो जायगी। अंतर्राष्ट्रीयताके मार्गमें गभीर प्रतिरोध तथा विश्व-युद्धद्वारा विकसित हुई राष्ट्रीयतावादी भावनाके सुदृढ़ विकासके होते हुए भी यह समाधान नितांत असंभव नहीं है। युद्धजनित भावोंका दबाव हट जानेके बाद अंतर्राष्ट्रीयता दुगुने बलसे पुनः जीवित भी हो सकती है। उस दिशामें एकीकरणकी प्रवृत्ति एक ऐसे विश्वव्यापी गणतंत्रके आदर्शकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देख सकती है जिसमें राष्ट्र प्रांत बनकर रहेंगे यद्यपि प्रारंभमें वे अत्यंत विभिन्न प्रांतोंके रूपमें होंगे; यह गणतंत्र एक ऐसी परिषद् या संसद्के द्वारा संचालित होगा जो विश्वके संयुक्त जनतंत्रोंके प्रति उत्तरदायी होगी। अथवा यह एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय परिषद्के प्रच्छन्न कुलीनतंत्र जैसी कोई वस्तु भी हो सकती है जिसका शासन चुनावद्वारा या किसी अन्य ढंगसे प्रकाशित मतपर आधारित होगा; यह मत उसके प्रथम प्रतीकके रूपमें अर्ध-निष्क्रिय जनतंत्रका होगा। वास्तवमें आधुनिक जनतंत्रका यही स्वरूप है; जनमत, नियत समयपर होनेवाले चुनाव और जनताकी उन लोगोंके पुनर्निर्वाचनको अस्वीकार कर देनेकी शक्ति ही, जिनसे वह संतुष्ट नहीं है, जनतंत्रके तत्त्व हैं। इसका शासन वास्तवमें मध्यवर्ग, व्यवसायी और व्यापारी लोगों तथा जमींदारों—जहाँ यह वर्ग अभी भी विद्यमान है—के हाथमें होता है; हालमें ही श्रमजीवी-वर्गमेंसे भी कुछ लोगोंके आनेसे इसे बल प्राप्त हुआ है, ये लोग अपने-आपको शीघ्र ही शासक वर्गों*के राजनीतिक स्वभाव और विचारोंके

*अब यह स्थिति बदल गयी है; व्यापार-संघों तथा इस प्रकारकी अन्य संस्थाओंने भी दूसरे वर्गोंके समान ही अधिकार प्राप्त कर लिये हैं।

अनुकूल बना लेते है। यदि विश्वराज्यकी स्थापना मानव-समाजके वर्तमान आधारपर की जानी हो तो वह अपनी केंद्रीय सरकारको इस सिद्धांतके अनुसार विकसित करनेका यत्न कर सकता है।

पर यह समय संक्रांतिका समय है और मध्यवर्गीय विश्वराज्य ही अतिम प्राप्ति इस समय नही हो सकता। अधिक उन्नतिशील राष्ट्रमे मध्यवर्गकी प्रधानता दो ओरसे सकटापन्न है। एक ओर तो उन बुद्धि-जीवियोका असतोष है जो उसकी कल्पनारहित व्यापारिक बुद्धि और हठीले व्यवसायवादको अपने आदर्शोकी सिद्धिमे बाधक पाते है और दूसरी ओर श्रमिकवर्गका असतोप है जिनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढती जा रही है, जो यह देखते है कि जनतत्रीय आदर्शो और परिवर्तनोसे मध्यवर्ग निरतर अनुचित लाभ उठा रहा है, यद्यपि अभीतक इन्हे उस ससद्प्रणालीको जिसके द्वारा यह वर्ग अपना शासन सुरक्षित रखता है स्थानापन्न करनेके लिये कोई प्रणाली नही मिली है।* इन दो असतुष्ट दलोकी मैत्री क्या परिवर्तन लायगी यह पहलेसे नही कहा जा सकता। हम देख चुके है कि रूसमे जहाँ इनकी मैत्री अत्यधिक सुदृढ थी वहाँ इन्होने क्रातिका नेतृत्व किया तथा मध्यवर्गको अपने नियत्रणमे रहनेको बाधित कर दिया, यद्यपि इस प्रकारका किया गया समझौता युद्धकी आवश्यकताओके बाद अधिक देरतक नही ठहर सका। तबसे वहाँकी पुरानी व्यवस्था समाप्त हो गयी है और नयी प्रवृत्तियोकी पूर्ण विजय हो गयी है। यह विजय दो दिशाओमें सशोधित कुलीनतत्रके एक ऐसे नये रूपको जन्म देगी जिसका आधार जनतत्रात्मक होगा। आधुनिक समाजका शासन अब बड़ी जटिल वस्तु बनता जा रहा है, इसके प्रत्येक भागमे विशेप ज्ञान, विशेष योग्यता और विशेष क्षमताओकी आवश्यकता है और राज्य-समाजवादकी ओर उठाया गया प्रत्येक नया पग इस प्रवृत्तिको प्रबल ही करेगा। पारिषद् और प्रशासककी इस प्रकारकी विशेष प्रशिक्षा या उनकी योग्यताकी आवश्यकता और साथ ही इस युगकी जनतत्रीय प्रवृत्तियाँ शासनके पुरान चीनी सिद्धातके किसी आधुनिक रूपको भी जन्म दे सकती है, अर्थात् नीचेकी ओर जीवनका एक जनतात्रिक सगठन होगा और ऊपर एक प्रकारकी बौद्धिक नौकरशाही अर्थात् विशेष ज्ञान और योग्यता-प्राप्त उस कुलीनतत्रीय अधिकारीवर्गका

*यह रूसमें सोवियट राज्यके तथा फासिस्ट राज्योंके उदयसे पूर्व लिखा गया था। फासिस्ट राज्योंमें तो स्वयं मध्य-वर्ग ही जनतत्रके विरुद्ध खड़ा हो गया था तथा कुछ समयके लिये इसने शासन और समाजका एक नया रूप स्थापित कर लिया था।

शासन होगा जो बिना किसी वर्ग-भेदके सामान्य जनतामेंसे चुना गया है। यह आवश्यक है कि सबको समान अवसर मिले, किंतु ये सर्वश्रेष्ठ अधिकारी-जन समाजके संविधानमें फिर भी अपने-आपमें एक पृथक् वर्ग बन जायँगे। दूसरी ओर, यदि आधुनिक राष्ट्रोंके उद्योगवादमें कुछ परिवर्तन हो जाय—जैसा कि कुछ लोग सोचते हैं हो जायगा—और वह एक प्रकारके श्रेणि-समाजवादका रूप धारण कर ले तो श्रमका श्रेणि-कुलीनतंत्र भी समाजमें शासक संस्था बन सकता है।* यदि इनमेसे कोई भी बात पूर्ण हो गयी, तो विश्व-राज्यके लिये किया गया कोई भी प्रयत्न यही दिशा ग्रहण करेगा और इसी आदर्शके अनुसार एक शासक संस्थाको विकसित कर लेगा।

किंतु इन दो संभावनाओपर विचार करते समय हमने राष्ट्रीयताके महान् तथ्य और उससे उत्पन्न होनेवाले परस्पर-विरोधी हितो और प्रवृत्तियोको छोड दिया है। यह सभी मानते हैं कि इन विरोधी हितोंको समाप्त करनेका सबसे बढिया तरीका एक ऐसी विश्व-संसद्‌को विकसित करना है जिसमे सभवतः बहुसख्यकोकी स्वतंत्रतापूर्वक निर्मित और व्यक्त सम्मति ही प्रबल होगी। संसद्-प्रणाली जो अंगरेजोंकी राजनीतिक बुद्धिका आविष्कार है जनतत्रके विकासमे एक आवश्यक अवस्था है, क्योकि इसके बिना इतने बड़े मानव-समुदायोकी महान् राजनीतिक, प्रशासनीय, आर्थिक तथा विधायक समस्याओको कम-से-कम संघर्षके साथ विचारने तथा उनकी व्यवस्था करनेकी व्यापक सामर्थ्य सहज ही विकसित नही हो सकती। राज्यकी कार्यवाहक समितिको व्यक्ति और राष्ट्रकी स्वाधीनताको कुचलनेसे रोकनेका अभीतक यही एक सफल तरीका आविष्कृत हुआ है। इसलिये ऐसे राष्ट्र जो समाजके आधुनिक रूपमे विकसित हो रहे है स्वभावतः और ठीक ही शासनके इस यंत्रके प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। पर अभीतक ससद्-प्रणाली और जनतत्रीय जनतंत्रकी आधुनिक प्रवृत्तिको मिलाना संभव नही हो पाया है। यह सदा ही एक सशोधित कुलीनतंत्र अथवा मध्य-वर्गके शासनका साधन रही है। इसके अतिरिक्त इस प्रणालीमे समय और शक्तिका अत्यधिक अपव्यय होता है और इसका कार्य भी अस्तव्यस्त, अस्थिर

---

*कुछ समयके लिये सोवियट रूसमें इस प्रकारका प्रयत्न किया गया था, पर उस समयकी अवस्थाएं अनुकूल नही थी और इसी कारण आज शासनका एक ऐसा निश्चित रूप जो क्रांतिकारी और अस्थायी न हो कही भी दिखायी नहीं देता है। फासिस्ट इटलीमें भी एक सहकारी राज्यकी घोषणा की गयी थी, पर उसका भी कोई सफल अथवा पूर्ण रूप सामने नहीं आया।

तथा अनिश्चित होता है यद्यपि इन सबमेसे अंतमे जैसे-तैसे कोई कामचलाऊ परिणाम निकल ही आता है। यह प्रणाली एक निपुण शासन तथा प्रशासनके उन अधिक कठोर विचारोके अनुकूल नही बैठती जिनकी शक्ति और आवश्यकताएँ अब बढ रही हैं; विश्वसबधी कार्योकी व्यवस्था-जैसी किसी भी जटिल वस्तुमें निपुणता प्राप्त करनेके लिये यह अत्यंत हानिकर सिद्ध हो सकती है। व्यावहारिक रूपमे ससद्-प्रणालीका अर्थ बहुमत, यहाँतक कि अत्यंत छोटे बहुमतका शासन और प्रायः उसका अत्याचार भी होता है, जब कि आधुनिक व्यक्ति अल्पमतोके अधिकारोको अधिकाधिक महत्त्व दे रहा है। ये अधिकार एक ऐसे विश्व-राज्यमें और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जायँगे जहाँ इन्हे अभिभूत करनेके किसी भी प्रयत्नके सहज परिणामस्वरूप भारी असतोप, कुप्रबध, यहाँतक कि विप्लव भी पैदा हो सकते हैं जो सारे ढाँचेके लिये घातक सिद्ध होगे। सबसे पहले राष्ट्रोकी ससद् आवश्यक रूपमे स्वतंत्र राष्ट्रोकी एक संयुक्त संसद् होनी चाहिये और यह आज ससारमे शक्तिके अप्राकृतिक और अस्तव्यस्त विभाजनकी उपस्थितिमे सफलतापूर्वक जन्म नही ले सकती। एशियाई समस्या अकेली ही, यदि अभी भी न सुलझायी गयी, तो एक घातक बाधा सिद्ध होगी और यह अकेली ही नही है, असमानताएँ और विषमताएँ भी अनेको हैं और सर्वत्र फैली हुई हैं।

शासनका अधिक व्यवहार्य रूप तो वर्तमान विश्व-प्रणालीके स्वतत्र और साम्राज्यीय राष्ट्रोकी एक सर्वोच्च परिषद् ही होगा, पर इसकी भी अपनी कठिनाइयाँ हैं। यह कार्य तभी कर सकेगा यदि यह प्रथम तो वस्तुतः कुछ ऐसे सबल साम्राज्यीय राष्ट्रोके कुलीनतत्र जैसा होगा जिनकी आवाज तथा शक्ति प्रत्येक विषयमे संख्यामे अधिक, पर अपेक्षाकृत छोटे असाम्राज्यीय समानतंत्रोकी आवाज और शक्तिसे प्रबल होगी। और, यह तभी स्थायी हो सकता है यदि यह इस प्रकारके वास्तविक शक्ति-संपन्न कुलीनतत्रसे एक ऐसी अधिक न्याययुक्त और आदर्श प्रणालीमे उत्तरोत्तर और यथासभव शातिपूर्वक विकसित हो जाय जिसमे साम्राज्यवादी विचार समाप्त हो जायगा और बडे साम्राज्य अपना पृथक् अस्तित्व एकीकृत मनुष्य-जातिके अस्तित्वमे खो देगे। एक ऐसी ऊपरी उदारताके होते हुए भी, जो सर्वत्र घोषित की जा रही है, राष्ट्रीय अहकार बिना उग्र सघर्षों और सकटपूर्ण क्रातियोके इसे विकसित होनेकी कहाँतक अनुमति देगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जो अभीतक गभीर और अशुभ शकाओसे आक्रांत है।

अतएव, जिस ओरसे भी हम देखे यही कहा जा सकता है कि विश्व-

राज्यके स्वरूपका यह प्रश्न ऐसी शंकाओं और कठिनाइयोसे घिरा हुआ है जो इस समय तो हल नही हो सकती। कुछका स्रोत भूतकालकी अवशिष्ट भावनाओ और हितोमे है और कुछ भविष्यकी द्रुत वेगसे विकसित होती हुई क्रांतिकारी शक्तियोसे उत्पन्न हो सकती है। इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि इनका समाधान हो नही सकता या कभी होगा नही। जो ढंग और दिशा ऐसा कोई भी समाधान ग्रहण करेगा उसके विषयमे कोई अनुमान लगाना कठिन है; ये वास्तवमे केवल क्रियात्मक अनुभव और परीक्षणद्वारा तथा आधुनिक जगत्की शक्तियो और आवश्यकताओके दबावसे ही निर्धारित किये जा सकते है। बाकी, शासनका स्वरूप कोई अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु नही। वास्तविक समस्या तो शक्तियोके एकीकरण और एकरूपताकी है जिसे विश्व-राज्यकी कोई भी संभवनीय प्रणाली अनिवार्य बना देगी।

चौबीसवाँ अध्याय

सैनिक एकीकरणकी आवश्यकता

केद्रीकरणकी प्रक्रियामें जिसके द्वारा एक सगठित जनसमाजकी समस्त शक्तियाँ एक प्रभुतापूर्ण शासक-सस्थामे केद्रित हो जाती है—यह प्रक्रिया राष्ट्रीय सघटनोकी एक प्रधान विशेषता रही है—सैनिक बलकी अनिवार्यता शुरू-शुरूमे अत्यंत प्रत्यक्ष रूपमे प्रभावशाली रही है। यह अनिवार्यता वाह्य और आंतरिक दोनो प्रकारकी थी, वाह्य इस कारण कि राष्ट्रकी बाहरके आक्रमण और आधिपत्यसे रक्षा की जाय और आतरिकका प्रयोजन यह था कि वह गृह-कलह और दुर्व्यवस्थासे बच जाय। यदि किसी राष्ट्रके निर्माण-कालमे उसके अवयवभूत अंगोको आपसमे मिलाये रखनेके लिये एक ही प्रशासक सत्ता होनी आवश्यक है तो उस केद्रीय सत्ताकी पहली आवश्यकता और माँग यह होगी कि उसके हाथमे उस सुघटित समुदायको निर्बल अथवा नष्ट कर देनेवाले घातक विरोध और प्रवल सघर्षको रोकनेके साधन होने चाहिये। राजतत्र या और किसी भी केद्रीय सस्थाको यह कार्य आशिक रूपमे नैतिक बल तथा मनोवैज्ञानिक प्रेरणाद्वारा सपन्न करना चाहिये। कारण, यह ऐक्यका प्रतीक है और अपने अवयवभूत अगोको उनकी प्रत्यक्ष और पवित्र एकताका आदर करनेके लिये विवश करता है, चाहे पृथक्ताकी उनकी स्थानीय, जातीय, कौटुविक अथवा वर्गीय सहज-प्रवृत्तियाँ कितनी भी प्रवल क्यो न हो। राजतत्र राष्ट्रकी एकीभूत सत्ताका मूर्त्त रूप होता है। इसकी शक्ति पृथक् अगोके नैतिक अधिकारकी अपेक्षा, चाहे ये अंग उपराष्ट्रोके समान ही क्यो न हो, अधिक महान् है। यह उसका बलपूर्वक प्रयोग कर सकती है और उन अंगोसे अपने आदेशका पालन भी करवा सकती है पर जव विद्रोही हित अथवा भावनाये प्रवल होती हैं और आवेग अपने पूरे जोरपर होते हैं, ये उद्देश्य किसी भी समय विफल हो सकते हैं। ऐसी अवस्थामे अतिम साधनके रूपमे शासक सस्थाके पास सदा अत्यधिक सैनिक शक्ति होनी चाहिये जिससे वह अपने अवयवभूत अगोको भयभीत करके कलहकारी गृह-युद्धको उभडनेसे रोक सके। अथवा यदि गृह-युद्ध किंवा विद्रोह फूट ही पडे, जैसा कि उस अवस्थामे सदा ही हो सकता है जव कि राजतत्र या सरकार कलहमे किसी एक दलके साथ घनिष्ठ रूपमें

संबंधित होती है अथवा वह स्वयं ही असंतोषजनक और आक्रमणका विषय वन जाती है, तो उसके पीछे इतनी प्रवल शक्ति अवश्य होनी चाहिये कि उसे नैतिक रूपमें इस वातका निश्चय हो जाय कि वह संघर्षमे विजय प्राप्त कर लेगी। ऐसा अधिकतम पूर्णताके साथ केवल तभी हो सकता है—पूर्ण रूपसे तो यह वास्तविक निरस्त्रीकरणके विना हो ही नहीं सकता—जव समस्त सैनिक सत्ता केंद्रीय सस्थामें केंद्रित हो जाय और समाजकी समस्त वास्तविक अथवा सभावित सैनिक शक्ति उसके अविभाजित नियत्रणमें आ जाय।

विश्व-राज्यके निर्माणकी प्रवृत्तिमे, चाहे वह कितनी भी अचेतन, अस्पष्ट और आकारहीन क्यो न हो, सैनिक वलकी अनिवार्यताने उतना ही वड़ा और प्रत्यक्ष भाग लेना आरभ कर दिया है। संसारकी जातियोमे जीवनकी एक ऐसी शिथिल और अस्तव्यस्त एकता पहलेसे ही है जिसमें कोई भी अव पृथक्, स्वाधीन और स्व-आश्रित जीवन नही विता सकता। प्रत्येक अपनी संस्कृति और राजनीतिक प्रवृत्तियों एवं आर्थिक जीवनपर संसारके दूसरे भागोमे होनेवाली घटनाओं और आदोलनोका प्रभाव तथा प्रतिक्रिया अनुभव करता है। प्रत्येक, सूक्ष्म अथवा प्रत्यक्ष रूपमे, अपने पृथक् जीवन-को समष्टिके जीवनसे अभिभूत अनुभव करता है। विज्ञान, अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य तथा एशिया और अफ्रीकामे प्रवल पश्चिमी देशोंका राजनीतिक और सास्कृतिक प्रभाव इस महान् परिवर्तनके अभिकर्ता हैं। इस शिथिल, अस्वीकृत और मूलभूत एकतामे महान् युद्धोका होना अथवा उनके होनेकी सभावना समूचे ढाँचेको अस्तव्यस्त करनेकी प्रवल सामर्थ्य रखती है और यह अस्तव्यस्तता एक दिन जातिके लिये घातक हो सकती है। यूरोपीय युद्धसे पहले भी एक या दो राष्ट्रोके वीचके सघर्षको, जो सवके लिये विनाश-कारी सिद्ध हो सकता था, टालने या कम करनेकी तीव्र आवश्यकता अनुभव हुई थी और इस उद्देश्यको सामने रखकर अनेको सदिच्छित किंतु निर्वल और त्रुटिपूर्ण उपाय परीक्षण रूपमे प्रयुक्त किये गये थे। इन कामचलाऊ साधनोंमेंसे यदि कोई भी साधारण रूपसे ही सफल हो जाता तो ससार अपनी वर्तमान अतिसाधारण अवस्थाओसे अधिक समयतक सतुष्ट रह सकता था और तव एक घनिष्ठतर अतर्राष्ट्रीय संगठनकी अनिवार्य आवश्यकता जातिके सामान्य मनपर अपना अधिकार न जमा सकती। पर यूरोपीय युद्धने पुरानी अस्तव्यस्त शासन-पद्धतिका अनिश्चित कालके लिये वना रहना असभव कर दिया है। एक समय तो इस विपत्तिके किसी भी पुनरावर्तनको टालनेकी आवश्यकता सर्वत्र ही स्वीकार की जाती थी। अंतर्राष्ट्रीय शांतिको

बनाये रखने तथा एक ऐसी सत्ताको उत्पन्न करनेके साधनका किसी-न-किसी प्रकार ढूढना या उत्पन्न करना आवश्यक था जिसके पास सकटपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नोको हल करनेकी तथा जातियोके परस्पर-युद्धको, जिसे हम मानव-एकताके नये दृष्टिकोणसे गृहयुद्ध कह सकते है, रोकनेकी शक्ति हो।

अंतर्राष्ट्रीय शातिकी आवश्यक शर्तोके रूपमे कम या अधिक प्रामाणिक कई एक विचार उपस्थित किये गये। इनमेसे सबसे अधिक स्थूल एक-पक्षीय प्रचारद्वारा उत्पन्न हुआ वह मूर्खतापूर्ण विचार था जो यह मानता था कि जर्मन सैनिकवादका विनाश ही एकमात्र उपाय है और ससारकी भावी शातिको प्राप्त करनेके लिये वह अकेला ही पर्याप्त है। जर्मनीकी सैनिक शक्ति, उसकी राजनीतिक और व्यापारिक महत्त्वाकांक्षाएँ और यह तीव्र भान कि उसकी भौगोलिक स्थिति परिसीमित है तथा वह द्वेषपूर्ण गुटद्वारा घिरा हुआ है इस विशेष युद्धके तात्कालिक नैतिक कारण थे, किंतु इसका असली कारण अतर्राष्ट्रीय स्थितिके मूल स्वरूपमे तथा राष्ट्रीय जीवनके मनोविज्ञानमे निहित था। इस मनोविज्ञानकी मुख्य विशेषता देशभक्तिके पवित्र नामपर राष्ट्रीय अहभावकी प्रधानता और पूजा है। सभी राष्ट्रीय अहभाव सभी सुघटित जीवनोकी भाँति, एक दोहरी, अर्थात् घनीभूत और व्यापक या विस्तृत परिपूर्णताकी आकाक्षा करते है। उनकी सीमाओके अदर ही उनकी संस्कृति, उनके राजनीतिक बल तथा आर्थिक हितको उन्नत और समृद्ध करना तबतक पर्याप्त नही समझा जाता जबतक बाहर भी उनकी सस्कृतिका विस्तार अथवा प्रसार और उनकी राजनीतिक सीमा, प्रभुता, बल अथवा प्रभावकी वृद्धि न हो जाय और वह विश्वका कुशलता-पूर्वक अधिकाधिक व्यापारिक शोषण न कर ले। यह स्वाभाविक और सहजप्रेरित इच्छा कोई असामान्य नैतिक भ्रष्टता नही है, वरन् यह अहकार-पूर्ण जीवनकी मूल प्रेरणा है; और फिर कौनसा जीवन आज अहकारपूर्ण नही है? किंतु शातिपूर्ण और अनुग्र उपायोद्वारा यह केवल एक बड़े सीमित अशतक ही सतुष्ट हो सकता है। और जहाँ यह ऐसी बाधाओद्वारा आक्रात अनुभव करता है जिन्हे यह समझता है कि यह पार कर सकता है, अथवा जहाँ यह विघ्नोद्वारा प्रतिहत तथा अन्योसे घिरा हुआ और अधिकार और आधिपत्यके उस भागसे असतुष्ट अनुभव करता है जिसे यह अपनी आवश्यकताओ और शक्तिके अनुपातसे कम समझता है या जहाँ विस्तार-की कुछ ऐसी नयी सभावनाएँ उसके सामने प्रकट हो जाती है जिनमे केवल यह अपनी शक्तिके बलपर ही अपने लिये वाछित भाग प्राप्त कर सकता है, वहाँ यह तत्काल ही किसी प्रकारकी शक्तिका प्रयोग करनेके लिये

प्रेरित हो जाता है; तव यह केवल उस प्रतिरोधद्वारा ही रुक सकता है जिसका उसे सामना करना पडेगा। यदि उसे असंगठित अथवा कम संगठित राष्ट्रोके दुर्वल प्रतिरोधका सामना करना पड़े तो वह पीछे नहीं हटेगा; पर यदि उसे शक्तिशाली शत्रुओके विरोधका भय हो तो वह रुक जायगा, मैत्री-संवंध स्थापित करनेकी चेष्टा करेगा अथवा अवसरकी प्रतीक्षा करेगा। जर्मनीका विस्तारकी इस सहज-प्रवृत्ति और अहंभावनापर एकाधिकार तो नहीं था, किंतु उसकी अहंभावना अधिकतम संगठित तथा न्यूनतम संतुष्ट थी, वह अत्यधिक युवा, स्थूल, क्षुधित, आत्मविश्वासी तथा दु:साहसी थी; वह अपनी इच्छाओकी क्रूरतासे जो उसके विचारमे उचित थी अत्यंत संतुष्ट थी। जर्मन सैनिकवादका नाश वहुपक्षीय व्यापारिक तनातनीकी तीव्रताको कुछ समयके लिये शात तो कर सकता है पर वह भीपण और व्यग्र प्रतियोगी-को हटाकर उसे समाप्त नही कर सकता। जवतक किसी प्रकारका भी सैनिकवाद वचा रहता है, जवतक राजनीतिक अथवा व्यापारिक उन्नतिके क्षेत्र विद्यमान हैं और जवतक राष्ट्रीय अहंभाव जीवित हैं और पवित्र माने जाते हैं तथा राज्य-विस्तारकी उनकी अंतर्निहित सहज-प्रेरणापर कोई अतिम प्रतिवध नही लगाया जाता, तवतक युद्धकी सभावना वरावर वनी रहेगी और यह प्राय: ही मानवजातियोके जीवनकी आवश्यकता मानी जायगी।

एक और विचार जो उच्च अधिकारपूर्ण संपोपणोंके साथ उपस्थित किया गया था स्वतंत्र और जनतंत्रीय राष्ट्रोके सघका विचार था, यह दवाव-द्वारा अथवा आवश्यकता पड़नेपर वलप्रयोगद्वारा भी शांति स्थापित कर सकता था। यह हल कम स्थूल होते हुए भी इसी कारणसे दूसरेकी अपेक्षा अधिक सतोपप्रद हो ऐसी वात नही है। यह एक पुराना विचार है। नैपोलियनकी पराजयके वाद मैटरनिचने इसे व्यावहारिक रूप दिया था। शाति और राजतत्रीय व्यवस्था सुरक्षित रखने तथा जनतंत्रका दमन करनेके लिये राजाओकी 'पवित्र' मैत्रीके स्थानपर स्वतत्र—और साम्राज्यीय—जातियोका एक सघ वनानेका प्रस्ताव रखा गया था जिसका उद्देश्य जनतत्रीय शासनको लागू करना तथा शाति स्थापित करना था। एक वात पूर्ण रूपसे निश्चित है कि नया सघ भी पुराने संघके रास्तेपर ही चलता। ज्योही उसकी निर्माणकारी 'शक्तियों'की महत्त्वाकांक्षाएँ तथा उनके हित पर्याप्त रूपसे असंगठित हो जाते अथवा एक ऐसी नयी स्थिति उत्पन्न हो जाती, जैसी कि सन् १८४८में पीडित जनतंत्रके दुवारा प्रवल रूपमे उदय होनेसे उत्पन्न हो गयी थी अथवा जैसी कि युवा-दानव, समाजवाद तथा मध्वर्गीय-जनतंत्रीय जगत्के प्राचीन ओलिंपियन देवताओके वीचके अनिवार्य भावी द्वंद्वयुद्धके

द्वारा उत्पन्न हो जाती, यह संघ समाप्त हो जाता। क्रातिकारी रूसमें यह सघर्ष अपनी भयानक छाया पहलेसे ही डाल रहा था पर अब इसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया; अतएव, समस्त यूरोपमे भी इसे फैलते अब अधिक देर नही लगती। कारण, चाहे युद्ध और उसके पीछेके परिणाम कुछ समयके लिये रुक जाय पर उसका वास्तविक और अंतिम परिणाम यह हो सकता है कि युद्ध शीघ्र ही छिड जाय और साथ ही उसकी शक्ति भी बढ जाय। एक या दूसरा कारण या दोनो मिलकर एक प्रकारका विघटन ले आयँगे। कोई भी ऐच्छिक सघ अपने स्वरूपमे स्थायी नही हो सकता। जिन विचारोने उसे प्रश्रय दिया था, वे बदल जाते हैं, जो हित उसे संभव तथा शक्तिशाली बनाते थे बुरी तरहसे परिवर्तित हो जाते हैं या पुराने पड जाते हैं।

यह माना जाता है कि राजतन्त्रोकी अपेक्षा जनतत्र युद्धमे भाग लेनेके लिये कम सहमत होगे। पर यह केवल एक सीमित अशमें ही सत्य है। जो जनतत्र कहलाते हैं वे वस्तुतः मध्यवित्तीय राज्य हैं, इनका रूप या तो संविधानीय राजतत्र है या मध्यवर्गका गणतत्र। किंतु सर्वत्र ही मध्यवर्गने कुछ परिवर्तनोके साथ पूर्ववर्ती राजतत्रीय अथवा, कुलीनतत्रीय सरकारोंकी कूटनीतिक आदते, उनकी विदेशीय नीतियाँ और अतर्राष्ट्रीय विचार ग्रहण कर लिये हैं।* ऐसा प्रतीत होता है कि यह निरवच्छिन्नता शासकवर्गकी मनोवृत्तिका एक स्वाभाविक नियम बन गयी है। जर्मनीमे तो कुलीनतंत्रीय और पूजीवादी दलने ही मिलकर सर्व-जर्मन दलका निर्माण किया था जिसकी महत्त्वाकाक्षा विकृत-प्राय और बहुत बढी-चढी थी। नये रूपमे मध्यवित्तीय वर्गने अपने अल्प शासनकालमे जारोके अतर्देशीय विषयसबधी विचार स्वीकार नही किये। उन्होने निरकुशताका उन्मूलन करनेमे सहायता पहुँचायी थी किंतु विदेशी विषयोमे उनके विचार वही रहे; हाँ, उसमे जर्मन प्रभावको स्थान नही मिला, साथ ही रूसके विस्तार तथा कौंस्टैंटीनोपल (कुस्तुनतुनिया) के विजयके पक्षमे भी वे थे। निश्चित ही इसमे एक महत्त्वपूर्ण भेद है। राजतत्रीय अथवा कुलीनतत्रीय राज्यकी मनोवृत्ति राजनीतिक होती है। सर्वप्रथम वह प्रदेश-विस्तार और राष्ट्रोमे राजनीतिक प्रभुत्व अथवा नेतृत्व चाहती है; व्यापारिक उद्देश्योको दूसरे उद्देश्योके सहायकके रूपमे केवल गौण स्थान ही दिया जाता है। उधर मध्यवित्तीय राज्यमे इससे उलटा

*इसी प्रकार समाजवादी रूसने भी बहुत कम परिवर्तनके साथ अथवा बिना किसी परिवर्तनके जारोंसे ये विचार और ढंग ले लिये हैं।

क्रम है, क्योंकि उनकी दृष्टि मुख्यतया बाजार तथा धनके नये क्षेत्रोंकी प्राप्ति-पर और ऐसे उपनिवेशो अथवा अधीन राज्योके निर्माण या विजयपर रहती है जिनसे व्यापारिक या औद्योगिक रूपमे अनुचित लाभ उठाया जा सकता है; राजनीतिक उन्नतिकी ओर तो वे इस अधिक प्रिय उद्देश्यकी प्राप्तिके साधनके रूपमे ही ध्यान देते है। इसके अतिरिक्त, राजतंत्रीय अथवा कुलीनतत्रीय राजनीति-विशारदने युद्धको प्रायः अपने पहले उपायके रूपमें ही अपनाया है। अपनी कूटनीतिकी प्रतिक्रियासे वह ज्योही असंतुष्ट होता है, त्योही वह तलवार या बंदूकका आश्रय ले लेता है; उधर मध्य-वित्तीय राजनीति-विशारद थोडा हिचकता है, हिसाब लगाता है, कूटनीतिको लबा अवसर देता है, अपनी उद्देश्यप्राप्तिके लिये सौदा करता है, किसी समझौते, शातिपूर्ण दबाव या शक्ति-प्रदर्शनका सहारा लेता है। अतमे वह युद्धका आश्रय लेनेके लिये भी तैयार रहता है पर केवल तभी जब ये युक्तियाँ असफल हो जाती है और उसे यह आशा हो जाती है कि अंतमे प्राप्ति साधनोके अनुपातमे अधिक होगी और युद्धकी यह गुरु कल्पना सफलता और ठोस लाभका बहुत बड़ा आश्वासन देगी। इसके विपरीत मध्यवर्गके जनतंत्रीय राज्यने एक ऐसा विशाल सैनिक सगठन बना लिया है जिसके विषयमे अत्यत शक्तिशाली राजतत्र और कुलीनतत्र कल्पना भी नही कर सकते। और यदि यह महायुद्धोको स्थगित करनेकी प्रवृत्ति रखता है तो साथ ही यह अंतमे उनके आगमनको निश्चित भी कर देता है, तथा उनके परिणाम और विस्तार अत्यधिक बढा देता है जो आजकल अकल्पनीय और अपरिमेय हो गये है।

उस समय एक प्रबल सुझाव भी सामने आया था कि उदार राष्ट्रोकी विजयद्वारा शाति स्थापित हो जानेके बाद एक अधिक यथार्थ जनतंत्रीय और इसलिये अधिक शातिप्रद भावना एवं अधिक पूर्ण रूपसे जनतत्रीय सस्थाएँ शासन करने लगेगी। नयी अतर्राष्ट्रीय स्थितिका एक नियम यह बननेवाला था कि राष्ट्रोको अपने भाग्यका फैसला आप करनेका तथा केवल अपनी स्वतत्र स्वीकृतिसे ही शासित होनेका अधिकार होना चाहिये। पिछली शर्तका तत्काल ही पूर्ण होना यूरोपके अतिरिक्त और कही भी संभव नही है। और यूरोपके लिये भी यह सिद्धात वस्तुतः अपने पूरे अर्थमे स्वीकार नही किया गया है, और न इसे पूरी तरह कार्यान्वित ही किया गया है। यदि यह व्यापक रूपमे कार्यान्वित किया जा सकता, यदि जातियोके वर्तमान सबध और राष्ट्रोका मनोविज्ञान इस प्रकार बदले जा सकते कि यह एक कार्यकारी सिद्धात बन जाता, तो युद्ध और क्रातिका एक अत्यधिक

उर्वर कारण अवश्य दूर हो जाता, पर सब कारण तब भी दूर न होते। यूरोपीय जातियोंका विशालतर जनतत्रीकरण ऐसा कोई भरोसा नही दिलाता। यह ठीक है कि एक प्रकारका जनतत्र, ऐसा जनतत्र जो अपने स्वाभाविक सगठनके लिये वैयक्तिक स्वाधीनतापर निर्भर है, महान् और विश्वव्यापी उत्तेजनाके क्षणोको छोडकर और समय युद्धके प्रति अनिच्छुक हो सकता है। युद्ध समस्त शक्तियोके प्रवल केंद्रीकरणकी, अधीनताकी भावनाकी तथा स्वतत्र इच्छा, स्वतत्र कर्म और आलोचनाके उस अधिकारकी रोक-थामकी माँग करता है जो सच्ची जनतंत्रीय सहजप्रेरणाके विरुद्ध है। पर यह सभव है कि भविष्यके जनतत्र प्रवल रूपसे ऐसी केंद्रित सरकारे वन जायंगे जिनमे स्वाधीनताका सिद्धात राज्य समाजवादके किसी रूपद्वारा समाजके निपुण जीवनके अधीन कर दिया जायगा। इस प्रकारका जनतत्रीय राज्य युद्धके लिये और भी अधिक शक्ति रख सकता है, वह विरोधके समय मध्यवित्तीय जनतंत्रोसे भी अधिक प्रवल रूपमे केंद्रित सगठन निर्मित कर सकता है और यह किसी तरहसे भी निश्चित नही है कि वह अपने साधनो तथा शक्तिका प्रयोग करनेके लिये कम लालायित होगा। समाजवाद अपनी प्रवृत्तियोमे अतर्राष्ट्रीय तथा शातिप्रिय रहा है, क्योकि युद्धकी तैयारीकी आवश्यकता ऊँचे वर्गोके शासनके अनुकूल होती है और युद्धका उपयोग भी सरकारो और पूजीवादियोके हितोके लिये ही किया जाता है। जिन विचारो और वर्गोका यह प्रतिनिधित्व करता है वे आजकल दब गये है, युद्धके उपयोगोके द्वारा न तो उनकी वृद्धि होती है और न उसके लाभोका वे कोई प्रत्यक्ष भाग ही प्राप्त करते है। जब वे शासनको तथा उसके प्रलोभनो और अवसरोको अधिकारमे कर लेगे तब क्या होगा, यह अभी हमे देखना है, पर इसके विषयमे आसानीसे भविष्यवाणी की जा सकती है। अधिकारकी प्राप्ति समस्त आदर्शवादोकी महान् कसौटी है और अभीतक ऐसे कोई भी आदर्शवाद नही है—न ही धार्मिक और न ही लौकिक—जो इसके सामने ठहर सके हो अथवा अवनति और भ्रष्टतासे बच सके हो।

राष्ट्रोमे शाति वनाये रखनेके लिये विरोधी राष्ट्रीय अहंभावोकी सामान्य स्वीकृतिपर निर्भर करना एक तार्किक विरोधपर निर्भर करना है। एक ऐसी व्यावहारिक असभावना जो तर्क और अनुभवसे जाँचनेपर असभवसी जान पडती है, भविष्य-निर्माणका दृढ आधार नही वन सकती। शाति-सघ कुछ समयके लिये केवल सशस्त्र युद्ध रोक सकता है। वलपूर्वक लागू की हुई पच-प्रणाली, चाहे उसमे अपराधीको एक बड़े सशस्त्र सगठनका डर ही क्यो न हो, युद्धके अवसर कम अवश्य कर सकती है और छोटे या

निर्वल राष्ट्रोके लिये तो इसे पूर्ण रूपसे वद भी कर सकती है। किंतु एक वडा राष्ट्र, जिसे सुव्यवस्थित स्थितिको अपने लाभकी खातिर उलटनेमें रुचि रखनेवाली जातियोके शक्तिशाली संगठनका केंद्र वननेका सुअवसर प्राप्त होता है, इस दु:साहसपूर्ण कार्यका खतरा उठाना सदा ही पसंद करेगा, इसमे उसे यह आशा होती है कि उसे कई ऐसे लाभ प्राप्त होंगे जो उसके विचारमे उन खतरोसे कही अधिक वढे-चढे है।* इसके अतिरिक्त, महान् क्रांति और हलचलोके समयमें जव कि वडे-वड़े विचार, विशाल हित और प्रज्वलित आवेग संसारकी जातियोको विभाजित कर देते है, यह सारी प्रणाली छिन्न-भिन्न हो सकती है और साथ ही उसकी सफलताके तत्त्व भी नष्ट हो सकते है। कोई भी परीक्षणात्मक एवं अपूर्ण उपाय शीघ्र ही अपनी अयोग्यताको प्रकट कर देगा और तव अंतर्राष्ट्रीय जीवनके पूर्वविचारित संगठनके लिये प्रयत्न करना छोड देना पड़ेगा और कार्यको घटनाओके वल-पर अस्तव्यस्त रूपमे सपन्न होनेके लिये छोड दिया जायगा। केवल एक ऐसी वास्तविक, कुशल और शक्तिशाली सत्ताका निर्माण ही, जो मानवजाति-के सामुदायिक जीवन और भावनामे उसकी सामान्य वुद्धि तथा सामान्य शक्तिका प्रतीक होगी तथा जो एक टूट सकनेवाले नैतिक समझौतेके निर्वल वधनसे वंधे हुए विशेप रूपसे पृथक् राज्योके समूहसे कोई अविक वड़ी वस्तु होगी, इस मार्गपर सफल पग हो सकता है। इस प्रकारकी सत्ता क्या वास्तवमे समझौतेद्वारा पैदा की जा सकती है अथवा क्या इसे आंशिक रूपमे विचारोकी प्रगतिके द्वारा किंतु इससे भी अविक शक्तियोंके आघातके द्वारा अपना निर्माण आप करना होगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर केवल भविष्य ही दे सकता है।

इस प्रकारकी सत्ताको मनुष्यजातिकी मनोवैज्ञानिक सहमति प्राप्त करनी होगी, इसे राष्ट्रोपर उनकी अपनी राष्ट्रीय सत्तासे अधिक वड़ी नैतिक शक्तिका प्रयोग करना पडेगा तथा सभी सामान्य परिस्थितियोमे उन्हे अपने आदेशका अधिक तत्परतासे पालन करनेके लिये वाधित करना होगा। इसे जातिकी एकताका केवल एक चिह्न और केंद्र ही नही वल्कि संसारके लिये स्थिर रूपमे उपयोगी वनना होगा; ऐसा वह उन विशाल और सार्वभौम हितो और लाभोको सफलतापूर्वक सुरक्षित रखकर तथा उनकी वृद्धि करके ही कर सकती है जो सव पृथक् राष्ट्रीय हितोको अतिक्रांत कर जायगे तथा

---

*यह लिखते समय राष्ट्र-संघ 'League of Nations' का निर्माण नहीं हुआ था, इसके वादके इतिहासने इन युक्तियोकी असमर्थता भलीभांति सिद्ध कर दी है।

आवश्यकताकी जिस भावनाने इसे जन्म दिया था उसे भी वह पूर्णतया संतुष्ट कर देंगे। इस सत्ताको सर्वसामान्य मानवताके तथा एक ऐसे सर्वसामान्य जीवनके प्रगतिशील भावको सुदृढ़ करनेमें अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये जिसमे वे तीव्र भेद, जो देशको देशसे, जातिको जातिसे, वर्णको वर्णसे, महाद्वीपको महाद्वीपसे अलग कर देते हैं, धीरे-धीरे अपनी शक्ति खो देंगे और फिर उत्तरोत्तर मिटते चले जायगे। ऐसी अवस्थाएँ यदि पैदा हो जाय तो यह एक ऐसी नैतिक सत्ता विकसित कर लेगी जो इसे कम-से-कम विरोध और संघर्षके साथ मनुष्यजातिका एकीकरण साधित करनेके योग्य वना देगी। जो मनोवैज्ञानिक सहमति इसे शुरूसे ही प्राप्त होगी वह कैसी है यह अधिकतर इसकी रचना और स्वभावपर निर्भर करेगा और वह फिर यथासमय उस नैतिक सत्ताके स्वरूप और शक्तिका निर्धारण करेगी जिसका यह विश्वकी जातियोपर प्रयोग कर सकेगी। यदि इसकी रचना और स्वरूप इस प्रकारके हो कि वह मनुष्यजातिके सभी अथवा अधिक-से-अधिक विभिन्न विभागो या कम-से-कम उन विभागोकी भावनाको जिनकी भावना और सहायताका अत्यधिक महत्त्व हो, संतुष्ट कर सके और इसकी सुरक्षामे सक्रिय सहायता देनेके लिये उनमे रुचि पैदा कर सके और उस समयके प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक विचारो और हितोका प्रतिनिधित्व कर सके, तो इसे अधिकतम मनोवैज्ञानिक सहमति और नैतिक वल प्राप्त हो जायँगे और इसका मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सुगम हो जायगा। यदि इन वातोमे इसकी कुछ त्रुटि रह गयी तो इसे उस त्रुटिको पूरा करनेके लिये अपने पीछे सैनिक शक्तिका संचय और प्रदर्शन करना पडेगा, साथ ही मनुष्यजातिके सामान्य जीवन, उसकी सस्कृति और उन्नतिके लिये इसे विशेष प्रकारकी ऐसी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ करनी पडेगी जैसी सेवाओके द्वारा भूमध्य तथा पश्चिमी प्रदेशोकी जातियोने रोमकी साम्राज्यीय सत्ताको अपने राष्ट्रीय जीवनके अधीन रखने तथा मिटा देनेकी चिरकालके लिये एक सामान्य स्वीकृति दे दी थी।

किंतु दोनो अवस्थाओमे सैनिक शक्तिका आधिपत्य एव केंद्रीकरण अभी वहुत समयतक उसकी सुरक्षाकी पहली शर्त रहेगा; इस सत्ताका यथासभव शीघ्र ही अपने नियन्त्रणकी प्रभावशालिता और इस आधिपत्यपर एकमात्र अधिकार हो जाना चाहिये। वर्तमान समयमे यह पहलेसे कह सकना कठिन है कि ससारके राष्ट्र पूर्ण रूपसे अपने निरस्त्रीकरणके लिये सहमत हो जायँगे। कारण, जवतक किसी भी तरहके शक्तिशाली राष्ट्रीय अहभाव वने रहेगे और साथ ही पारस्परिक अविश्वास भी रहेगा, राष्ट्र

सशस्त्र सेनाके आधिपत्यका त्याग नही करेंगे, क्योंकि अब उनके हितोंको, कम-से-कम उन हितोंको, जिन्हे वे अपनी समृद्धि और अपने अस्तित्वके लिये आवश्यक समझते है, खतरा होगा, और वे इसी सशस्त्र सेनापर स्व-रक्षाके लिये निर्भर रह सकते है। अंतर्राष्ट्रीय शासनकी निश्चित निष्पक्षतापर किसी प्रकारका भी अविश्वास इसी दिशामे कार्य करेगा। तथापि किसी महान् मूलगत मनोवैज्ञानिक और नैतिक परिवर्तनके अभावमें इस प्रकारका निरस्त्रीकरण युद्धको निश्चित रूपसे बंद करनेके लिये आवश्यक होगा। यदि राष्ट्रीय सेनाएँ रहेंगी तो उनके साथ-साथ युद्धोका होना संभव ही नही, वरन् अनिवार्य भी होगा। शांतिकालमें ये कितनी भी कम क्यों न कर दी जायँ, अंतर्राष्ट्रीय सत्ता अपने पीछे सैनिक शक्तिको रखते हुए उस सामंतिक राजाके समान ही रहेगी जो अपने सामंतोपर सफल नियन्त्रण कभी भी नही रख सकता। संसारभरकी शिक्षित सैनिक शक्ति एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय सत्ताके हाथमें होनी चाहिये जिससे वह राष्ट्रोंकी रक्षाका प्रबंध कर सके, नही तो उसके एकाधिकारमे कुछ बल नही रहेगा। साथ ही अकेले उसीके पास शस्त्रास्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्री बनानेके साधन होने चाहियें। युद्ध-सामग्री तथा शस्त्र बनानेके राष्ट्रीय और निजी कारखाने बंद हो जाने चाहिये। राष्ट्रीय सेनाओको पुराने सरदारोकी सेनाओंकी भांति अतीत और विगत युगोंकी स्मृतिमात्र रह जाना चाहिये।

ऐसा हो जानेके बाद वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय अवस्थाओके स्थानपर एक विश्व-राज्यके निर्माणके निश्चित लक्षण प्रकट हो सकते है। वास्तवमें इसका सफल निर्माण तभी हो सकता है यदि अंतर्राष्ट्रीय सत्ता केवल झगड़े सुलझानेके लिये पच ही न बने, वरन् कानूनका स्रोत तथा उसे कार्य-रूपमें परिणत करनेके लिये अतिम शक्ति भी बन जाय। प्रतिरोधी देशों और वर्गोंके विरुद्ध अपने आदेशोको कार्यान्वित करनेके लिये, राजनीतिक ही नही, बल्कि व्यापारिक, औद्योगिक और अन्य सभी प्रकारके झगड़ोको रोकनेके लिये अथवा कम-से-कम कानून और पंच-निर्णयके शांतिपूर्ण साधनको छोडकर किन्ही अन्य साधनोसे उनका फैसला रोकनेके लिये तथा उग्र परिवर्तन और क्रांतिके किसी भी प्रयत्नको दबानेके लिये विश्व-राज्यको, चाहे वह अत्यधिक शक्तिशाली ही क्यो न हो, समस्त शक्ति अपने हाथोंमे केंद्रित करनेकी आवश्यकता पड़ सकती है। जबतक मनुष्य जैसा वह है वैसा ही रहता है, तबतक शक्ति, समस्त आदर्शवादो और शांतिकी उदार आशाओंके होते हुए भी, उसके जीवनका अतिम निर्णायक तथा परिचालक रहती है और तबतक इसका अधिपति ही वास्तविक शासक भी रहता है।

साधारण समयमें शक्ति अपनी स्थूल उपस्थिति छुपा सकती है और केवल हलके सभ्य रूप धारण कर सकती है, हलके ये केवल तुलनात्मक दृष्टिसे होगें, क्योंकि कारागृह और वधिक क्या अभीतक भी सामाजिक व्यवस्थाके दो विशाल स्तंभ नही है ? किंतु यह मौन भावमे हमारी सभ्यताके प्रत्यक्षतः ठीक आकारोको वनाये रखती है और सामाजिक जगत्के अधिक न्यायकारी, पर अभी भी अविक दुर्वल देवताओके कार्योंमे जव वुलाओ हस्तक्षेप करनेके लिये तैयार रहती है। विकेंद्रित शक्ति प्रकृतिके स्वतत्र कार्योंको पूरा करती है तथा जीवनकी ही नही, वरन् वैर-विरोध और सघर्षकी भी सेविका होती है और केंद्रित होनेपर यह संगठनका सुनिश्चित आधार तथा व्यवस्थाकी दृढ़ ग्रथि वन जाती है।

पच्चीसवाँ अध्याय

युद्ध और आर्थिक एकताकी आवश्यकता

सैनिक अनिवार्यता अर्थात् राष्ट्रोंके वीचमे युद्धका आतंक और किसी अतर्राष्ट्रीय सस्था, विश्व-राज्य, सघ अथवा शांति-संगठनके शक्ति और सत्ताको अपने हाथोमे लेकर इस आतंकको दूर करनेकी आवश्यकता ही वे कारण है जो अतमें मनुष्यजातिको सीवे एक प्रकारके अंतर्राष्ट्रीय ऐक्यकी ओर ले जायँगे। किंतु इनके पीछे एक और आवश्यकता भी है जो आधुनिक मनपर अत्यधिक प्रवल रूपमे कार्य करती है। यह व्यापारिक और औद्योगिक आवश्यकता है, इसकी उत्पत्ति आर्थिक अन्योन्याश्रिततासे हुई है। व्यवसायवाद समाज-विज्ञानका आधुनिक तथ्य है; यह भी कहा जा सकता है कि यह आधुनिक समाजका संपूर्ण तथ्य है। एक संगठित जनसमाजके लिये जीवनका आर्थिक पक्ष सदा ही महत्त्वपूर्ण यहाँतक कि अनिवार्य होता है; किंतु प्राचीन कालमे आर्थिक आवश्यकता केवल प्राथमिक आवश्यकता ही थी, यह मनुप्योके विचारोको न तो व्यस्त रखती थी और न ही सामाजिक जीवनको पूरी शक्ति प्रदान करती थी; यह सवसे प्रमुख भी नही थी और न ही स्पष्ट रूपसे सामाजिक सिद्धांतोके मूलतत्त्वके रूपमें स्वीकार ही की जाती थी। जवसे प्राचीन मनुष्यने मुख्यतः धार्मिक प्राणी रहना छोड़ दिया, तभीसे, अरस्तूके विचारके अनुसार, वह समूहमे मुख्यतः एक राजनीतिक प्राणी ही रहा। और, जहाँ कही उसे पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो सकी, उसने इस कार्यके साथ विचार, कला और संस्कृतिके कार्य भी जोड दिये। समुदायकी आर्थिक प्रवृत्तियाँ मनके प्रमुख विचारकी अपेक्षा कही अधिक यान्त्रिक आवश्यकता तथा प्राणकी वलवती इच्छाके रूपमे कार्यान्वित की गयी थी। अत्यत ऊपरी पहलूको छोड़कर समाज तव आर्थिक संगठन नही माना जाता था और न उसे इस रूपमे समझनेका प्रयत्न ही किया जाता था। आर्थिक मनुप्यको समाजमे एक माननीय, पर अपेक्षाकृत निम्न कोटिका पद प्राप्त था; वह तीसरे वर्णका अर्थात् वैश्यका था। नेतृत्व वौद्धिक और राजनीतिक वर्गो अर्थात् ब्राह्मण, विचारक, पडित, दार्शनिक और पुरोहित तथा क्षत्रिय, शासक एवं योद्धाके हाथमे था। इन्हीके विचार और कार्य समाजको वल देते थे, उसकी

चेतन प्रवृत्ति और कार्यका निर्धारण करते थे तथा उसके उद्देश्योको अत्यधिक बलशाली रूप प्रदान करते थे। व्यापारिक हितोका राज्योके सबधोमे तथा युद्ध एव शातिके उद्देश्योमे प्रवेश तो था, पर यह था मैत्री और शत्रुताके निम्न और गौण निर्धारक कारणोके रूपमे ही, बहुत ही कम और वह भी अचानक ही ये हित शाति, मैत्री और युद्धके प्रत्यक्ष और चेतन कारणोमे गिने जाते थे। राजनीतिक चेतना और राजनीतिक उद्देश्य ही प्रधान थे, धनसपत्तिकी वृद्धि मुख्यत. राजनीतिक शक्ति और महानता तथा राज्यके प्रयोज्य विभवोकी समृद्धिका साधनमात्र मानी जाती थी, यह अपने-आपमे लक्ष्य अथवा पहली आवश्यकता नही थी।

अब सब कुछ बदल गया है। आधुनिक सामाजिक विकासका तथ्य अब यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, चर्च, सैनिक कुलीनतत्र और विद्वानों और सुसस्कृत लोगोके कुलीनतंत्रका ह्रास हो गया है और व्यापारिक और औद्योगिक वर्गो अर्थात् वैश्य और शुद्र, पूँजीपति और श्रमजीवीकी शक्ति और प्रधानता बढ रही है। इन सबने मिलकर अपने प्रतिद्वद्वियोको या तो ग्रस लिया है या फिर उनका बहिष्कार कर दिया है और अब ये एकाधिपत्य प्राप्त करनेके लिये अपने भाइयोका नाश करनेमे लगे हुए है, विधिका यह स्पष्ट विधान प्रतीत होता है कि समाजको नीचेकी ओर ले जानेवाली शक्ति अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेगी, श्रमिक वर्गकी अतमे जीत होगी और सब सामाजिक सस्थाएँ और विचार नये सिरेसे गढे जायँगे जिनमे 'श्रमिक' नामको सबसे प्रधान और सबसे अधिक माननीय पद प्राप्त होगा और यह अपने अनुरूप ही अन्य सबको महत्त्व प्रदान करेगा। पर अभीतक तो वैश्य वर्गकी ही प्रधानता है और ससारपर इसका प्रभाव व्यापारवाद और आर्थिक मानवकी प्रधानतामे तथा व्यापारिक महत्त्वकी व्यापकता अथवा मनुष्य-जीवनमे सभी वस्तुओको उपयोगितावादी और स्थूल रूपमे कुशल और उत्पादक दृष्टिसे मूल्य प्रदान करनेमे दृष्टिगोचर होता है। यहाँतक कि ज्ञान, विचार, विज्ञान, कला, कविता और धर्म-विपयक दृष्टिमे भी जीवनकी आर्थिक भावना अन्य सब भावनाओको आक्रात कर लेती है।*

*यह ध्यान देने योग्य है कि व्यापारवादकी प्रधानताके मध्यवित्तीय स्वभावको नये समाजवादी जनसमाजोने अपना लिया है तथा उसे और भी अधिक परिमाणमें सुरक्षित रखा है, यद्यपि इसके लिए उन्होंने मध्यवर्गीय अर्थनीतिके स्थानपर श्रमको और साथ ही लाभोंको नये ढगसे वितरण करनेके या फिर विशेष रूपसे उन सबको राज्यके हाथोमें केन्द्रित करनेके प्रयत्नको अपना आधार बनाया है।

जीवनके आधुनिक आर्थिक दृष्टिकोणके लिये संस्कृति और उसके परिणाम मुख्यतः आलंकारिक महत्त्व ही रखते हैं। ये आमोद-प्रमोदके मूल्यवान् और वांछनीय साधन तो हैं, पर अनिवार्य आवश्यकताएँ कदापि नही हैं। इस दृष्टिसे धर्म मानव-मनकी एक गौण उपज है; वह यदि व्यर्थकी और बाधक वस्तु न भी हो, तो भी उसकी उपयोगिता कुछ अधिक नही है। शिक्षाका महत्त्व सब स्वीकार करते हैं, किंतु इसके उद्देश्य और रूप अब उतने सांस्कृतिक नही रहे है जितने वे वैज्ञानिक, उपयोगितावादी और आर्थिक बन गये हैं, शिक्षाका महत्त्व अब इसमें है कि यह कुशल व्यष्टिको आर्थिक संगठनके ढाँचेमें स्थान लेनेको तैयार करे। विज्ञानका भी अत्यधिक महत्त्व है, पर इसलिये नही कि वह ज्ञानकी वृद्धिके लिये प्रकृतिके रहस्योंको खोज निकालता है, बल्कि इसलिये कि वह उनका यंत्र-निर्माणके लिये उपयोग करता है और समाजके आर्थिक साधनोको विकसित तथा व्यवस्थित करता है। समाजकी विचारशक्ति जो उसकी प्रायः आत्मशक्ति है—यदि समाजमें अभीतक आत्मा जैसी कोई साररहित और अनुत्पादक वस्तु बाकी है तो—उसके धर्म या उसके साहित्यमें निहित नहीं है। धर्म जैसे-तैसे अपना निर्बल अस्तित्व चलाये जाता है जब कि साहित्य बढ़ और फैल रहा है, परंतु साहित्यके रूपमें संस्कृतिके प्रत्यक्ष साधनकी तरह नहीं, बल्कि दैनिक समाचारपत्रोमें व्यापारवादके एक ऐसे साधनके रूपमें, जो राजनीतिक और व्यापारिक भावनासे निर्धारित है। राजनीति और शासन स्वयं भी उत्तरोत्तर औद्योगिक समाजकी उन्नतिके साधन बनते जा रहे हैं तथा इनकी शक्ति मध्यवित्तीय पूँजीवादकी सेवा और आर्थिक समाजवादके उदयके लिये एक अर्ध-अनैच्छिक प्रणालीके कार्यमें विभाजित हो रही है। स्वतंत्र विचार और संस्कृति व्यापारवादके इस विशाल वृद्धिशील सघातके ऊपरी तलपर रहते है और उसे प्रभावित तथा संशोधित करते हैं, किंतु वे स्वयं मानव-जीवनके आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक दृष्टिकोणसे अधिकाधिक ओत-प्रोत और प्रभावित हो जाते है, उनपर उसीका रग चढ़ जाता है तथा उसीद्वारा वे अभिभूत भी हो जाते हैं।

इस महान् परिवर्तनने अतीतमें अंतर्राष्ट्रीय संबंधोंके स्वरूपपर बड़ा गंभीर प्रभाव ढाला है और भविष्यमे यह संभवतया उन्हे और भी अधिक प्रत्यक्ष और प्रबल रूपमें प्रभावित करेगा। कारण, निकट भविष्यमे यह कोई नयी दिशा ग्रहण करेगा इसकी कोई प्रत्यक्ष सभावना नही है। कुछ भविष्यवाणियाँ ऐसा अवश्य घोषित करती हैं कि व्यापारवादके युगका शीघ्र ही अंत हो जायगा, किंतु यह देखना आसान नही है कि यह कैसे

होगा; निश्चय ही यह कार्य भूतकालकी मुख्यत: राजनीतिक भावना या पुराने कुलीनतत्रीय सामाजिक ढगके स्वभाव और रूपोको दुवारा अपनानेसे सपन्न नही होगा। अतीतके उस स्वर्णयुगके लिये, जो उतना स्वर्णिम नही था जितना कि वह दूरसे कल्पनाशील दृष्टिको प्रतीत होता है, अत्यधिक अनुदार मनका आतुर नि.श्वास, व्यर्थका नि.श्वास है जो काल-पुरुषकी गाडीकी प्रचंड गतिमे उसके वेगके द्वारा हवामे उड जाता है। व्यापारवादका अत या तो स्वयं व्यापारवादकी आशातीत उन्नतिके द्वारा और या फिर जातिमे आध्यात्मिकताकी पुनर्जागृतिद्वारा हो सकता है। जीवनके राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्योको आध्यात्मिक उद्देश्यके अधीन कर देनेसे यह अपनी ठीक स्थितिको प्राप्त करके भी समाप्त हो सकता है।

कुछ चिह्न इस दिशाकी ओर इंगित कर रहे प्रतीत होते हैं। धार्मिक भावना पुन. जीवित हो रही है, यहाँतक कि पुराने निरुत्साहित धार्मिक मत और रूप भी एक प्रकारका नया वल प्राप्त कर रहे हैं। मनुष्य-जातिके ऐहलौकिक विचारमे एक ऐसे आदर्शवादके लक्षण विद्यमान है जो अपने उद्देश्योमे आध्यात्मिक भावनाका प्रवेश अधिकाधिक स्वीकार कर रहा है। पर यह सव अभीतक वहुत कम मात्रामे तथा ऊपरी है; विचार और व्यवहारका स्वरूप, प्रभावशाली उद्देश्य और प्रेरक प्रवृत्ति अभीतक सव वैसे ही है, उनमे कोई परिवर्तन नही हुआ है। यह प्रवृत्ति अभीतक मनुष्यजातिके औद्योगीकरण और एक आर्थिक और फलप्रद संगठनके रूपमे समाजके जीवनकी पूर्णताकी ओर वढ रही है। और न ही इस भावनाके थककर नष्ट होनेकी कोई आशा है, क्योकि अभीतक इसने अपने-आपको चरितार्थ नही किया है; इसकी शक्ति अब वढ ही रही है, कम नही हो रही। इसके अतिरिक्त इसे आधुनिक 'समाजवाद'से भी सहायता मिल रही है जो भविष्यका स्वामी वननेवाला है। कारण, समाजवाद कार्ल मार्क्सके इस सिद्धातपर चलता है कि उसके अपने शासन-कालसे पहले मध्यवित्तीय पूँजीवादका एक ऐसा काल आयगा जिसका वह उत्तराधिकारी होगा; वह उसके कार्य तथा संगठनको इस प्रकार अपना लेगा कि वह उसे अपने उपयोगमे ला सके तथा उसे अपने सिद्धातो और प्रणालियोके द्वारा परिवर्तित कर सके। इसका असली उद्देश्य ही पूँजीपतिके स्थानपर श्रमिकको स्वामी वना देना है;* किंतु इसका अर्थ केवल यह

---

*समाजवाद और जनतंत्रीय या समानतावादी सिद्धांत अथवा श्रमिकके विद्रोहका संबंध तो उसके इतिहासकी सांयोगिक घटना है, उसका तत्त्व नहीं। इटलीके

होगा कि सब कार्योका मूल्य संपत्तिके अनुदान और उत्पादनसे नही, वरन् कितने श्रमिकोने काम किया है और कितना कार्य संपन्न हुआ है उसके अनुसार निर्धारित होगा। परिवर्तन अर्थवादके एक पहलूसे दूसरे पहलूमे होगा, पर यह अर्थवादसे मनुष्यजीवनके किसी अन्य और उच्चतर उद्देश्यके प्रभुत्वमे नही होगा। परिवर्तन स्वय भी संभवत. एक ऐसा प्रमुख तत्त्व होगा जिसके साथ अतर्राष्ट्रीय एकीकरणको निवटना होगा, यह या तो उसके लिये सबसे वडा सहायक हो सकता है या सबसे वड़ा वाधक।

भूतकालमे व्यापारवादका परिणाम मनुष्यजातिको उसके प्रत्यक्ष राजनीतिक पृथक्त्वके पीछे एक वास्तविक आर्थिक एकतामें वाँधता रहा है। किंतु यह एकता अविभाजनीय पारस्परिक सवधो तथा घनिष्ठ पारस्परिक निर्भरताकी अवचेतन एकता थी, यह आत्मा अथवा एक चेतन संगठित जीवनकी एकता नही थी। इसलिये इन पारस्परिक सवंधोने एक साथ ही शांतिकी आवश्यकता और युद्धकी अनिवार्यता पैदा कर दी। शाति उनके सामान्य कार्यके लिये आवश्यक थी और युद्ध उनके अस्तित्वकी सपूर्ण प्रणालीको वुरी तरह अस्तव्यस्त कर देता था। पर, क्योकि सगठित इकाइयाँ राजनीतिक रूपसे पृथक् और विरोधी राष्ट्र थी, इनके पारस्परिक व्यापारिक सवध प्रतिद्वंद्विता और सघर्पके संवंध वन गये थे अथवा उन्होने पारस्परिक लेन-देन, अन्योन्याश्रितता और शत्रुतापूर्ण पृथक्त्वकी एक अस्त-व्यस्त उलझनका रूप धारण कर लिया था। आयात-निर्यात-करकी दीवारके द्वारा एक-दूसरेसे अपनी रक्षा, वंद वाजारो और शोपणके क्षेत्रोके लिये दौड़-धूप, उन वाजारो और क्षेत्रोमे स्थान या प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये सघर्ष जिनपर एकाधिकार नही किया जा सकता था और आयात-निर्यात-करकी दीवारोके होते हुए भी पारस्परिक अत:प्रवेशके लिये प्रयत्न इस शत्रुता और इस पृथक्त्वके मुख्य अंग थे। इन अवस्थाओमे युद्धका छिडना केवल समयकी वात होती थी; ज्योही एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रोका एक समूह शातिपूर्ण साधनोके द्वारा या तो आगे वढ़नेमे असमर्थ अनुभव करता या फिर उसे इस वातका डर रहता कि उसके विरोधी-गुटके वढनेसे उसके विस्तारकी सीमा निश्चित रूपसे वद्ध हो जायगी, युद्धका आना अवश्यभावी

→फासिस्टवादमें एक ऐसा समाजवाद उत्पन्न हो गया था जो अपने रूप, सिद्धांत और स्वभाव में अजनतंत्रीय तथा असमानतावादी था। फासिस्टवाद अब चला गया है, किंतु समाजवाद और श्रमिक प्रभुत्व में अभी भी कोई अनिवार्य संबंध नही स्थापित हुआ है

हो जाता था। फ्रेंच-जर्मन युद्ध वह अंतिम युद्ध था जो राजनीतिक उद्देश्योसे किया गया था। तबसे राजनीतिक उद्देश्य मुख्यतः व्यापारिक उद्देश्यकी सिद्धिका बहानामात्र रहा है। सर्वियाकी राजनीतिक अधीनता नहीं, जो आस्ट्रियन साम्राज्यके लिये एक नया सिर-दर्द हो सकती थी, किंतु सालोनिका (Salonica)मेसे होकर जानेवाले निकास-मार्गका व्यापारिक आधिपत्य आस्ट्रियन नीतिका उद्देश्य था। सर्व-जर्मनवादने जर्मन उद्योगकी उन तीव्र इच्छाओको दवा दिया था जो वडे-वडे साधनो तथा उत्तर-सागरके विशाल निकास-मार्गके आधिपत्यके लिये की गयी थी, ये साधन उसे राइन नदीके प्रदेशोद्वारा प्राप्त हो रहे थे। फ्रेंच राज्यपर शासन करना नही, वरन् अफ्रीकी शोपण-क्षेत्रो और शायद फ्रांसके कोयलेके क्षेत्रोपर अधिकार जमाना ही इसका वास्तविक उद्देश्य था। अफ्रीका, चीन, पर्शिया तथा मैसोपोटेमियामे व्यापारिक उद्देश्य ही राजनीतिक और सैनिक कार्योका निर्धारण करते थे। युद्ध अव महत्त्वाकाक्षा और भूमि-तृष्णाकी वैध सतान नही रही है, वरन् धन-तृष्णा अथवा व्यापारवादकी वर्णसकर सतान वन गयी है और महत्त्वाकाक्षा उसका तथाकथित पिता है।

दूसरी ओर, युद्धका प्रभाव और उसका आघात मनुष्य-जीवनके औद्योगिक सगठन और राष्ट्रोकी व्यापारिक अन्योन्याश्रितताके कारण असह्य वन चुका है। यह कहना तो वहुत अधिक होगा कि इसने उस सगठनको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है, पर इसने उसे उलट-पलट अवश्य दिया है, उसकी सपूर्ण प्रणालीको अस्तव्यस्त कर दिया है तथा उसका रुख अस्वाभाविक उद्देश्योकी ओर मोड दिया है। साथ ही इसने योद्धा वर्गमे एक ऐसा व्यापक कष्ट और अभाव पैदा कर दिया है तथा देशोके जीवनमे एक ऐसी असुविधा एवं अस्तव्यस्तता ले आया है जिसका ससारके इतिहासमे और कोई भी दृष्टात नही मिलता। यह क्रुद्ध आवाज कि ऐसा दुवारा नहीं होना चाहिये तथा ससारकी आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था अर्थात् तथाकथित सभ्यताको सकटमे डालनेवालो तथा उसे उद्वेलित करनेवालोको उचित दड मिलना चाहिये तथा कुछ समयके लिये उनपर प्रतिवध लगाकर उन्हें वहिष्कृत कर देना चाहिये इस वातका उदाहरण थी कि इस शिक्षाने कितना गहरा प्रभाव डाला है। किंतु इसने यह भी दिखा दिया है, जैसा कि युद्धोत्तर मनोवृत्तिने दिखाया है, कि इस सवका वास्तविक और अतरीय सत्य अभी समझा नही गया है और न ही इसका मूल ही अभी पकडमे आया है। निश्चय ही, इस दृष्टिकोणसे भी, युद्धकी रोक-थाम अतर्राष्ट्रीय जीवनकी नयी व्यवस्थाका पहला कार्य होना चाहिये। पर युद्धको पूर्णतया

रोका भी कैसे जा सकता है यदि राजनीतिक रूपमे पृथक् राष्ट्रोकी व्यापारिक प्रतिद्वंद्विताकी पुरानी अवस्थाको जीवित रखा जाय? यदि शातिको अभी भी एक गुप्त युद्ध, सघर्ष और प्रतिद्वंद्विताका सगठन रहना है तो उसके भौतिक आघातको कैसे रोका जा सकता है? यह कहा जा सकता है कि अवश्यभावी सघर्ष और प्रतिद्वद्विताको किसी कानून-व्यवस्थाद्वारा नियममें बाँधनेसे ऐसा किया जा सकता है जैसा कि समाजवादके उदयसे पहले राष्ट्रके प्रतियोगितावादी व्यापारिक जीवनमें किया गया था। किंतु यह संभव इसलिये था कि प्रतियोगी व्यक्ति अथवा सघ एक अकेले सामाजिक संगठनके अंग थे तथा एक ही शासक सत्ताके अधीन थे, वे इसके विरुद्ध अपना अस्तित्व बनाये रखनेकी वैयक्तिक इच्छाको आग्रहपूर्वक प्रदर्शित नही कर सकते थे। अतएव, राष्ट्रोके बीचके ऐसे नियमनका केवल एक ही तर्कसगत अथवा क्रियात्मक परिणाम निकल सकता है—एक केंद्रित विश्व-राज्यका निर्माण।

हम यह मान लेते हैं कि युद्धके आघातको कानूनसे नही, वरन् युद्धको जन्म देनेवाली चरम अवस्थाओमे पचनिर्णयके सिद्धांतको बलपूर्वक लागू करनेसे, किसी अतर्राष्ट्रीय सत्ताके निर्माणसे नही, वरन् अंतर्राष्ट्रीय दबावके आसन्न भयसे, रोका जा सकता है। पर गुप्त युद्धकी अवस्था फिर भी बनी रहेगी, वह नये और भयंकर रूप भी धारण कर सकता है। दूसरे शस्त्रोसे वचित होकर राष्ट्र व्यापारिक दबावके शस्त्रका निश्चय ही अधिकाधिक सहारा लेगे, जैसा कि पूँजीपति और श्रमिकने राष्ट्रीय जीवनकी सीमाओके भीतर 'शातिपूर्ण' संघर्षकी अपनी पुरानी अवस्थामे किया था। साधन भिन्न होगे, किंतु वे हड़ताल और तालाबंदीके उसी सिद्धांतका अनुसरण करेगे; इनका अर्थ एक ओर तो यह होता है कि दुर्बल दल सामूहिक और निष्क्रिय रूपमे अपने अधिकारोंको प्राप्त करनेके लिये प्रतिरोध करता है और दूसरी ओर यह कि सबल दल अपनी इच्छाओकी पूर्त्तिके लिये निष्क्रिय दबाव डालता है। राष्ट्रोके बीचमे हड़तालसे मिलता-जुलता शस्त्र व्यापारिक बहिष्कार होगा; यह एशिया और यूरोप दोनोमे अव्यवस्थित ढगसे अनेक बार प्रयोगमे लाया भी जा चुका है और यदि यह राजनीतिक और व्यापारिक दृष्टिसे किसी दुर्बल राष्ट्रद्वारा भी आयोजित किया गया तो भी यह निश्चित रूपसे अत्यधिक प्रभावशाली और सफल होगा। क्योकि सबल राष्ट्रको दुर्बल राष्ट्रकी आवश्यकता होती ही है, किसी और रूपमे यदि न भी हो तो बाजारके रूपमे या व्यापारिक और औद्योगिक शोषण-क्षेत्रके रूपमे तो होती ही है। उधर तालाबंदीके मुकाबलेके अस्त्र होंगे

पूँजी और यंत्र देनेसे इनकार, तथा अपराधी और शोषित देशमें सभी या किन्ही आवश्यक आयातोंका निषेध, यहाँतक कि समुद्री नाकेबंदी भी एक अस्त्र हो सकती है जिसका फल, यदि वह अधिक समयतक रखी गयी तो उद्योगका नाश अथवा राष्ट्रव्यापी भुखमरी भी हो सकता है। नाकेबंदी एक ऐसा अस्त्र है जो प्रारंभमे केवल युद्धकी अवस्थामें ही प्रयुक्त किया गया था, किंतु ग्रीसके विरुद्ध यह युद्धके स्थानापन्नके रूपमे भी बरता गया था और इस प्रकारका प्रयोग भविष्यमे भी सरलतासे किया जा सकता है। साथ ही निषेधात्मक आयात-निर्यात-कर भी सदा ही एक अस्त्र होता है।

यह स्पष्ट है कि इन शस्त्रोका प्रयोग व्यापारिक प्रयोजनों अथवा उद्देश्योंसे नही किया जाना चाहिये, इनका आश्रय किसी राष्ट्रीय हितकी रक्षा अथवा उसपर आक्रमणके लिये या राष्ट्र-राष्ट्रके बीचमे न्याय या अन्यायके अधिकारकी स्थापनाके लिये ही लेना चाहिये। यह देखा जा चुका है कि व्यापारिक दबाव जब युद्धके सहायकके रूपमे प्रयुक्त होता है तो वह कितना प्रचड हो उठता है। यदि जर्मनी अंतमे कुचल दिया गया था तो उसकी जीतके वास्तविक कारण थे नाकेबंदी, धन, साधन-सामग्री और रसदका रोक दिया जाना तथा उसके उद्योग एवं व्यापारका नाश। सैनिक ह्रासका प्रत्यक्ष कारण सैनिक दुर्बलता नही था, इसके मुख्य कारण थे साधनोकी कमी और उनका अभाव, शक्तिका क्षय, आंशिक भुखमरी और ऐसी असह्य अवस्थाकी नैतिक हीनता जिसके सुधार और उपायकी कोई आशा नहीं रही थी। भविष्यमे 'शाति'के समय भी इस अनुभवका काफी लाभ उठाया जा सकता है। कुछ स्थानोपर एक समय तो यह प्रस्ताव भी रखा गया था कि राजनीतिक युद्ध समाप्त हो जानेके बाद भी व्यापारिक युद्ध जारी रखा जाय, जिससे जर्मनीका नाम विशाल साम्राज्यीय राष्ट्रोकी सूचीमेंसे कट ही न जाय, वरन् व्यापारिक और औद्योगिक प्रतिद्वद्वीके रूपमे उसपर स्थायी प्रतिबध लगा दिये जायँ, उसे असमर्थ बनाकर उसका नाशतक कर दिया जाय। पूँजी और व्यापारिक संबधोके निषेधकी नीतिका तथा यातायातको रोकने अथवा शत्रुतापूर्ण नाकेबदीका खुले रूपमें समर्थन किया गया है, कुछ समयके लिये तो बोलशेविस्ट रूसके विरोधमे इसका काफी प्रयोग भी हुआ था। यह सुझाव भी दिया गया है कि 'शातिसघ'* व्यापारिक दबावके इस अस्त्रका किसी भी विरोधी राष्ट्रके विरुद्ध सैनिक शक्तिके स्थानपर प्रयोग कर सकता है।

---

*पीछे जो राष्ट्रसंघ (League of Nations) के रूपमें चरितार्थ हुआ था।

किंतु जबतक कोई सवल अतर्राष्ट्रीय सत्ता स्थापित नही हो जाती, तवतक यह सभव नही दीखता कि इस अस्त्रका प्रयोग केवल ऐसे अवसरोतक ही सीमित रहेगा और यह केवल न्याययुक्त और उचित उद्देश्योके लिये ही प्रयुक्त किया जायगा। इसका प्रयोग एक ऐसे सवल राष्ट्रके द्वारा जो जनमतकी उदासीनतासे सुरक्षित रह सकता है किसी निर्वल राष्ट्रको कुचलने और दवानेके लिये भी किया जा सकता है। यह कुछ सवल साम्राज्यीय शक्तियोके गुटद्वारा ससारपर अपनी स्वार्थपूर्ण और अशुभ इच्छा लादनेके लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। किसी प्रकारकी शक्ति और दवाव, यदि ये एक न्यायी और निष्पक्ष सत्ताके हाथोमे केद्रित न हो, तो सदा ही हानिकारक हो सकते है, साथ ही इनका दुरुपयोग भी हो सकता है। अतएव, मनुष्यजातिकी वृद्धिशील एकतामे इस प्रकारकी सत्ताके विकासको शीघ्र ही एक अनिवार्य आवश्यकता वन जाना चाहिये। अपने प्रारभिक और अपूर्ण सगठनमे भी विश्व-राज्यको अपने कार्यका आरभ सैनिक शक्तिको अपने हाथोमे केद्रित करनेसे ही नही करना चाहिये, किंतु प्रारंभमे ही सचेतन रूपमें जातिके व्यापारिक, औद्योगिक और आर्थिक जीवनकी उस व्यवस्थासे आरभ करना चाहिये जिसतक राष्ट्रीय राज्य मंद और सहज विकासके द्वारा ही पहुँच पाया था; नि.सदेह उसे शुरूमे अतर्राष्ट्रीय व्यापार*के मुख्य सवधोपर नियत्रण करना चाहिये पर अतमें उसका अनिवार्य रूपसे उसकी सपूर्ण प्रणाली तथा सिद्धातोपर भी अधिकार हो जाना चाहिये। क्योकि अव उद्योग और व्यापार सामाजिक जीवनके पॉच वटा छ: भाग है और आर्थिक सिद्धात समाजका सचालक सिद्धात है। एक ऐसा विश्व-राज्य जो मनुष्य-जीवनको उसके मुख्य सिद्धात तथा उसके बृहत्तम कार्यमे नियत्रित नही करता केवल नामके लिये ही अस्तित्व रखेगा।

---

*इस प्रकारकी प्रवृत्तिके प्रथम चिह्न राष्ट्रसंघ (League of Nations) के कार्योंमें दृष्टिगोचर होनेकी कोशिश कर रहे थे जो वहुत हदतक अव मृत्युके निकट पहुंच चुका है। ये प्रवृत्तियां अभी भी केवल सिद्धांतमात्र तथा परामर्शरूप हो थी, जैसा कि निरस्त्रीकरणसम्वन्धी निरर्थक वादविवादोसे तथा पूँजी और श्रमके कुछ सम्वन्धोकी व्यवस्था करनेके इसके कुछ निष्फल प्रयत्नोंसे प्रकट था। किन्तु इससे यह प्रकट हो गया कि इस वातकी आवश्यकता अनुभव हो गयी थी तथा ये प्रयत्न भविष्यका मार्ग दिखानेवाले स्तम्भ थे।

छब्बीसवाँ अध्याय

प्रशासनीय एकताकी आवश्यकता

अतर्राष्ट्रीय सगठनकी ओर उठाये जानेवाले पहले कदमके सवंधमे जो विचार आजकल प्रचलित है, प्राय उन सवमे यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्र अपने पृथक् अस्तित्व और अपनी स्वतत्रताका उपभोग पहलेकी भाँति ही करते रहेगे और अतर्राष्ट्रीय कार्यपर युद्धके रोकने तथा सकटपूर्ण झगडोकी व्यवस्था करनेका ही दायित्व होगा तथा उसे उन महान् अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नोके सुलझानेका अधिकार होगा जिन्हे राष्ट्र साधारण उपायोसे नही सुलझा सकते। विकास यही रुक जाय यह असंभव है। यह पहला कदम आवश्यक रूपसे उन अगले कदमोकी ओर ले जायगा जो केवल एक ही दिशामे वढ सकते है। जो सत्ता भी स्थापित हो, यदि उसे एक कोरा प्रशसावाची सगठन नही वल्कि किसी भी अशमे सच्ची सत्ता वनना है, तो उससे अधिकाधिक कार्य करनेकी माँग की जायगी तथा उसे सदा अधिकाधिक अधिकार अपने हाथमे लेने पडेगे। रुक सकने योग्य उपद्रव और सघर्षको टालना, उन विपत्तियो और सकटोको भविष्यमे दुवारा प्रकट होनेसे रोकना जिन्हे शुरूमे नयी सत्ता अपने अधिकारोकी सीमाओके कारण समयपर हस्तक्षेप करके उनके उभडनेसे पहले ही रोक सकनेमे असमर्थ थी, सार्वजनिक उद्देश्योके लिये कार्योमे सह-व्यवस्था स्थापित करना वे प्रमुख उद्देश्य होगे जो मनुष्य-जातिको शिथिलतर एकतासे घनिष्ठतर एकताकी ओर तथा महान् और असाधारण विषयोमे ऐच्छिक अधीनतासे अधिकतर विषयोमे अनिवार्य अधीनताकी ओर वढनेके लिये प्रेरित करेगे। शक्तिशाली राष्ट्रोकी अपने उद्देश्यो-के लिये इसका प्रयोग करनेकी इच्छा, निर्वल राष्ट्रोकी अपने हितोकी रक्षार्थ इससे सहायता माँगनेके लिये इसकी उपयोगिता, वास्तविक अथवा आसन्न आतरिक उपद्रवो और क्रातियोका आघात, ये सव अतर्राष्ट्रीय सत्ताको अधिक वडी शक्ति प्रदान करनेमे सहायक होगे तथा उसके सामान्य कार्यको व्यापक रूप देनेके अवसर प्रदान करेगे। विज्ञान, विचार और धर्म ऐसी तीन महान् शक्तियाँ है जो आधुनिक समयमे राष्ट्रीय विभेदोको अधिकाधिक अतिक्रात करनेकी प्रवृत्ति रखती हैं तथा जातिको जीवन और आत्माकी एकताकी ओर मार्ग दिखाती है, इनके लिये राष्ट्रीय प्रतिरोध, शत्रुता और

विभाजन अधिकाधिक असह्य हो जायंगे, साथ ही ये परिवर्तनके लिये अपने शक्तिशाली प्रभावद्वारा सहायता भी प्रदान करेंगे। 'पूंजी' और 'श्रम'के बीचका महान् संघर्ष शीघ्र ही विश्व-व्यापक हो सकता है, वह एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय सगठनको जन्म दे सकता है जो अनिवार्य कदमको उठानेके लिये शीघ्र ही अवसर देगा, अथवा यहाँतक कि वह परिवर्तनको लानेवाले वास्तविक संकटकालको भी उपस्थित कर सकता है।

इस समय तो हमारा विचार यह है कि एक सुसंगठित विश्व-राज्य, जिसके प्रात राष्ट्र होगे, अंतिम परिणाम होगा। प्रारंभमे अंतर्राष्ट्रीय झगडो तथा आर्थिक संधियों और संबधोकी व्यवस्थाको हाथमें लेते हुए, अतर्राष्ट्रीय सत्ता मध्यस्थके रूपमें तथा समय-समयपर कार्यकारी शक्तिके रूपमे भी अपना काम आरंभ करेगी। व्यवस्थापक सस्था और स्थायी कार्यकारिणी शक्तिमे तो वह धीरे-धीरे ही परिवर्तित होगी। यदि नयी क्रातियोसे वचना हो तो अतर्राष्ट्रीय विपयोंमें उसका व्यवस्थापन नितांत आवश्यक होगा, क्योकि यह मानना व्यर्थ है कि कोई भी अंतर्राष्ट्रीय प्रबंध, कोई भी विश्व-व्यवस्था, जो किसी महान् युद्धकी समाप्ति एवं किसी हलचलके बाद की जायगी, स्थायी और निश्चित हो सकती है। अन्याय, विपमताएँ, असामान्यताएँ और कलह एवं असंतोपके कारण तो राष्ट्र राष्ट्र और महाद्वीप महाद्वीपके आपसी सबधोंमे रहेंगे ही, जो नये विरोधों और विस्फोटोंको जन्म देगे। जिस प्रकार ये सब वस्तुएँ राष्ट्र-राज्यमें व्यवस्थापक सत्ताके द्वारा, जो नये विचारो, हितों तथा नयी शक्तियो और आवश्यकताओंके अनुसार वर्तमान व्यवस्थाको निरंतर संशोधित करती रहती है, रोकी जाती है, उसी प्रकार ये विकासोन्मुख विश्व-राज्यमे भी रोकी जायंगी। यह व्यवस्थापक शक्ति ज्यों-ज्यों विकसित और विस्तृत होती जायगी तथा अपने कार्यो, शक्तियो और प्रक्रियाओंको नियमित कर लेगी, यह अधिक जटिल हो जायगी और निश्चित ही कई वातोंमे हस्तक्षेप करने लगेगी तथा पृथक् राष्ट्रीय कार्रवाईको अतिक्रात कर देगी अथवा उसके स्थानपर अपनी कार्रवाई आरंभ कर देगी। इसका अर्थ यह होगा कि उसकी अपनी व्यापारिक शक्ति भी बढ जायगी और साथ ही अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाहक संगठन भी विकसित हो जायगा। प्रारंभमे वह अपने-आपको उन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो और विषयोतक सीमित रख सकती है जो प्रत्यक्षतः उसके नियंत्रणकी माँग करते है, किंतु वह उन सब अथवा अधिकतर विषयोमे भी अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगेगी जिनके बारेमे यह समझा जायगा कि वे अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव और महत्त्व रखते है। शीघ्र ही यह उन क्षेत्रोको भी आक्रांत और

अधिकृत कर लेगी जिनमें राष्ट्र अव अपने अधिकारो और अपने प्रभुत्व-के लिये स्पर्द्धा करते है। और अंतमे तो यह राष्ट्रीय जीवनकी संपूर्ण प्रणालीमे ही व्याप्त हो जायगी और एकीभूत जीवन. सस्कृति, विज्ञान, सगठन, शिक्षा, मानवजातिकी कार्यक्षमताके श्रेष्ठतर समन्वयके लिये उसे अतर्राष्ट्रीय नियत्रणके अधीन कर देगी। यह वर्तमान स्वतत्र और पृथक् राष्ट्रोको पहले तो अमरीकन संघ अथवा जर्मन साम्राज्यके राज्योका रूप दे देगी और अतमे शायद यह उन्हे मनुष्यजातिके एक ही राष्ट्रके भौगोलिक प्रात या विभाग वना देगी।

इस प्रकारकी चरम और अतिम प्राप्तिकी वर्तमान वाधा है राष्ट्रीयता-वादका वह शक्तिशाली सिद्धांत जो अभी भी प्रभावशाली है अर्थात् समुदायोकी पृथक्ताकी भावना सामूहिक स्वाधीनताकी सहजप्रेरणा, उसका अभिमान, उसकी स्व-तुष्टि, उसके अहभावनायुक्त निजी सतोषके विभिन्न साधन तथा मानव-विचारको राष्ट्रीय विचारके अधीन कर देनेका उसका हठ। किंतु हम यह मान रहे है कि अतर्राष्ट्रीयताका नवोदित सिद्धात द्रुत गतिसे विकसित होगा, राष्ट्रीयताके पिछले विचार और स्वभावको अपने अधीन कर लेगा तथा शक्ति प्राप्त करके मानव-मनको अधिकृत कर लेगा। जिस प्रकार वृहत्तर राष्ट्र-समुदायने सभी छोटे वश, जाति और प्रदेशसवधी समुदायोको अपने अधीन कर लिया है और उसकी प्रवृत्ति इन्हे अपने अदर समाविष्ट कर लेनेकी रही है, जिस प्रकार वृहत्तर साम्राज्य-समुदाय अव छोटे राष्ट्र-समुदायोको अपने अधीन करना चाहता है और यदि उसे विकसित होने दिया जाय तो अतमे इन्हे अपने अदर समाविष्ट भी कर सकता है, हम समझते है उसी प्रकार एकीकृत मनुष्यजातिका सपूर्ण मानवसमुदाय भी पृथक्भूत मानवजातिके सभी छोटे समुदायोको अपने अधीन कर लेगा तथा अतमे उन्हे अपने अदर समाविष्ट भी कर लेगा। केवल अंतर्राष्ट्रीय विचार अर्थात् एक अखड मानवजातिके विचारके विकासद्वारा ही राष्ट्रीयतावाद समाप्त हो सकता है; पर ऐसा तभी हो सकता है, यदि विजय अथवा किसी अन्य प्रवल शक्तिके द्वारा वाह्य एकीकरणको प्राप्त करनेकी पुरानी स्वाभाविक युक्तिका प्रयोग अव और अधिक संभव न रहे। कारण, युद्धकी प्रणालियाँ अव अत्यधिक दु खप्रद हो गयी हैं; अव एक अकेले साम्राज्यके पास शेष जगत्को अधिकारमे कर लेनेके, चाहे वह ऐसा शीघ्रतासे करे और चाहे रोमन तरीकेसे धीरे-धीरे,—साधन और वल नही रहे है। नि सन्देह, और आगेके एकीकरणके मार्गमे राष्ट्रीयतावाद, विकसित राष्ट्र-राज्यके पूर्ववर्त्ती पुराने, छोटे और कम सवल रूपमे स्व-चेतन समुदायोकी पृथक्ताकी

अपेक्षा अधिक प्रवल वाधा है। यह अभी भी सामूहिक मानव-मनमें एक अत्यधिक शक्तिशाली भावना है, अभी भी यह राष्ट्रको एक अक्षय जीवन-वल प्रदान करता है और जहाँसे यह हटाया जा चुका प्रतीत होता है वहाँ भी यह दुवारा प्रकट हो सकता है। किंतु प्रवृत्तियोंके वर्तमान सतुलनके आधारपर हम परिवर्तनोंके महान् युगके शुरूमे ही सुरक्षित रूपमे तर्क नही कर सकते। अभी भी विचार ही नही वल्कि शक्तियाँ भी काम कर रही है। क्योंकि ये वर्तमानकी सुदृढ शक्तियाँ नही वल्कि भविप्यकी शक्तियाँ है, ये और भी प्रवल हो रही है। ये राष्ट्रीयतावादको इतने शीघ्र अपने अधीन करनेमे सफल हो सकती है जिसकी वर्तमान समयमे हम कल्पना भी नही कर सकते।

यदि विश्व-राज्यका सिद्धांत अपने युक्तियुक्त निष्कर्ष तथा चरम परिणामों-तक ले जाया जाय, तो *उसका फल एक ऐसी प्रक्रिया होगा जो सिद्धात-*रूपमे कार्य करनेके ढग, रूप और विस्तारमे आवश्यक भेद रखते हुए भी, उस प्रक्रियासे मिलती-जुलती होगी जिसके द्वारा राष्ट्र-राज्यके निर्माणमे केंद्रीय सरकार पहले राजतंत्रके और वादमे जनतत्रीय संसद् और कार्यकारिणी सभाके रूपमे राष्ट्रीय जीवनके संपूर्ण प्रशासनको सगठित कर लेगी। सेना और पुलिसके प्रशासनीय, न्यायिक, व्यवस्थापक, आर्थिक सामाजिक और सास्कृतिक सभी प्रकारके नियत्रण एक अतर्राष्ट्रीय सत्तामे केंद्रीभूत हो जायंगे। इस केंद्रीकरणका वास्तविक अर्थ होगा एक प्रवल एकात्मक विचार और एकरूपताका सिद्धात जो अधिकतम क्रियात्मक सुविधाके लिये लागू किया जायगा और इसका परिणाम ससारभरमे मनुष्यके जीवन और उसकी क्रियाओं-की एक वौद्धिक प्रणाली होगा जिसके मुख्य उद्देश्य होंगे, न्याय, सार्वभौम हित, श्रमका मितव्यय और वैज्ञानिक निपुणता। राष्ट्र-समूहोंके वैयक्तिक कार्योंके स्थानपर, जिसमे प्रत्येक अधिकसे अधिक सघर्ष. अपव्यय और विरोधके साथ अपने लिये ही कार्य करता है, सहयोगके लिये प्रयत्न किया जायगा जैसा कि हम आजकल एक सुसगठित आधुनिक राज्यमे देखते है; इसका पूर्ण विचार एक ऐसा सर्वांगपूर्ण राज्य-समाजवाद होगा, जो अभी-तक कही भी चरितार्थ नही हुआ है पर शीघ्र ही अस्तित्वमे आ रहा है।* यदि हम सामुदायिक कार्यके प्रत्येक विभागकी ओर जरा भी दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि यह प्रगति अवश्यभावी है।

---

*जव यह लिखा गया था, उसके वादसे तीन वड़े राष्ट्रोंमें तो इसने अधिक शीघ्रता और सर्वांगपूर्णताके साथ प्रकट होना आरम्भ कर दिया है ; छोटे-छोटे देशोंमें भी इसका कुछ रुक-रुककर और कम स्पष्ट रूपसे सचेतन अनुकरण दृष्टिगोचर हो रहा है।

हम देख ही चुके हैं कि समस्त सैनिक शक्ति—विश्व-राज्यमें इसका अर्थ होगा अतर्राष्ट्रीय सशस्त्र पुलिस—एक ही सर्वसामान्य सत्ताके हाथमें केंद्रित हो जानी चाहिये, अन्यथा राज्य टिक नही सकता। आर्थिक विषयोमे निर्णयकी अंतिम शक्तिका एक प्रकारका केंद्रीकरण भी अपने समयपर अनिवार्य हो जायगा। और अतमे यह प्रधानता एक पूर्ण नियत्रणकी अवस्थातक पहुँचे विना नही रहेगी। कारण, ससारका आर्थिक जीवन अधिकाधिक एक और अविभाज्य बनता जा रहा है; किंतु अतर्राष्ट्रीय सबधोकी वर्तमान स्थिति उन विरोधी सिद्धातोकी अप्राकृतिक अवस्था है जो कुछ हदतक संघर्षपूर्ण है और कुछ हदतक एक-दूसरेके साथ यथासभव उत्तम रूपमे अनुकूल बने हुए हैं, किंतु यह उत्तम रूप सामान्य हितके लिये बुरा और हानिकारक है। एक ओर तो एक ऐसी आधारभूत एकता है जो प्रत्येक राष्ट्रको व्यापारिक दृष्टिसे बाकी सभी राष्ट्रोके अधीन कर देती है। दूसरी ओर, राष्ट्रीय ईर्ष्या, अहकार और पृथक् अस्तित्वकी भावना है जो प्रत्येक राष्ट्रको अपनी औद्योगिक स्वतत्रताका समर्थन करने और साथ ही विदेशी बाजारोपर अपनी बहिर्गामी व्यापारिक प्रवृत्तियोद्वारा अधिकार प्राप्त करनेके यत्नके लिये प्रेरित करती है। इन दो सिद्धातोका पारस्परिक कार्य आजकल कुछ हदतक प्राकृतिक शक्तियोकी अनुमोदित क्रियाद्वारा, कुछ हदतक गुप्त व्यवहार और समझद्वारा और कुछ हदतक आयात-निर्यात-करद्वारा, सरक्षण, उदारता और किसी-न-किसी प्रकारकी सरकारी सहायताकी प्रणालियोद्वारा और साथ ही व्यापारिक सधियो और समझौतोके द्वारा व्यवस्थित होता है। जैसे ही विश्व-राज्य विकसित हुआ यह अनिवार्य रूपसे एक असगत, व्यर्थ और अपव्ययपूर्ण कार्य अनुभव होने लगेगा। एक निपुण अतर्राष्ट्रीय सत्ताको राष्ट्रके आपसी स्वतत्र समझौतोमे हस्तक्षेप करने तथा उन्हे सशोधित करनेके लिये अधिकाधिक विवश होना पड़ेगा। समस्त मानवजातिके व्यापारिक हितोको पहला स्थान दिया जायगा, स्वाधीन रुचियो एव व्यापारिक महत्त्वाकांक्षाओ अथवा किसी भी राष्ट्रकी ईर्ष्याओको मानव-हितके अधीन होनेके लिये बाधित होना पडेगा। जातिके सयुक्त आर्थिक जीवनमे उचित और योग्य भाग लेनेका आदर्श पारस्परिक शोषणके आदर्शका स्थान ले लेगा। विशेषतया, जैसे-जैसे समाजवाद उन्नति करेगा और पृथक् देशोके सपूर्ण आर्थिक जीवनकी व्यवस्था करने लगेगा, अतर्राष्ट्रीय क्षेत्रमे भी यही सिद्धात प्रबल हो जायगा और अतमे तो विश्वराज्यसे यह अनुरोध किया जायगा कि वह ससारके औद्योगिक उत्पादन और वितरणकी उचित व्यवस्था अपने हाथमे ले ले। प्रत्येक देशको कुछ समयके

लिये अपनी अत्यत आवश्यक वस्तुओंका उत्पादन करनेकी स्वतंत्रता दी जा सकती है किंतु अंतमें सभवतया यह अनुभव होने लगेगा कि जैसे वेल्स या स्काटलैंडके लिये अन्य ब्रिटिश द्वीपोसे अलग होकर अपनी समस्त आवश्यक वस्तुओको स्वयं उत्पन्न करना या भारतके किसी एक प्रातके लिये शेष देशसे स्वतत्र होकर अपने-आपमे एक आर्थिक इकाई वन जाना आवश्यक नही है, वैसे ही इसकी भी अव कोई आवश्यकता नही रही है। प्रत्येक केवल उसीका उत्पादन और वितरण करेगा जिसका वह अधिकतम लाभके साथ अत्यंत स्वाभाविक, निपुण और मितव्ययी ढंगसे मानवजातिकी सामान्य आवश्यकता और माँगकी पूर्तिके लिये कर सकता है; इस सामान्य आवश्यकता और माँगमे उसकी अपनी आवश्यकता और माँग भी अविभाज्य रूपमे सम्मिलित होगी। यह कार्य वह एक ऐसी प्रणालीके अनुसार करेगा जिसे मनुष्यजातिकी सर्व-सामान्य इच्छा अपनी राज्य-सरकारके द्वारा तथा एक ऐसी पद्धतिके द्वारा जो अपने सिद्धातोंमे एकरूप है, चाहे अपनी स्थानीय वातोंमें वह कितनी भी परिवर्तनशील हो, निर्धारित करेगी। इसका उद्देश्य यह होगा कि एक आवश्यक रूपमें जटिल मशीनरी अधिकतम सरल, सुगम और युक्तियुक्त ढंगसे अपना कार्य करने लगे।

समाजकी सामान्य व्यवस्थाका प्रशासन आज उतना आवश्यक और चिंताजनक नही है जितना कि वह राष्ट्र-राज्योंके लिये उनके निर्माण-कालमें था। क्योकि वह ऐसा समय था जव कि व्यवस्थाके तत्त्वका प्राय: निर्माण ही किया जाना था और जोर-जवर्दस्ती, अपराध और विद्रोह होने तव अधिक सुगम थे और साथ ही मनुष्यजातिकी स्वाभाविक और सामान्य प्रवृत्ति भी अधिकतर इसी ओर थी। आज समाज इस वातमे साधारणतया सुसगठित और देश-देशके वीच पूर्ण रूपसे आवश्यक समझौतोसे सुसज्जित ही नहीं है, वरन् राष्ट्रीय, प्रादेशिक और पौर शासनोकी विस्तृत प्रणाली तथा सवाहनकी अधिकाधिक द्रुत शक्तिके द्वारा आपसमे जुड़े हुए भी हैं। राज्य अव जीवन-क्रमके उन भागोंकी व्यवस्था कर सकता है जिनकी सफलतापूर्वक व्यवस्था करनेमे पुरानी अविकसित सरकारे विलकुल असमर्थ थी। हम यह सोच सकते हैं कि विश्व-राज्यमे प्रत्येक देशको अपनी आतरिक व्यवस्था-सवधी, वस्तुत: अपने सपूर्ण पृथक् राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन-सवधी विपयोमें स्वतत्रतापूर्वक अपना कार्य करनेकी छूट दी जा सकती है। किंतु यहाँ भी यह संभव है कि विश्व-राज्य उससे अधिक वड़े केंद्रीकरण और एकरूपताकी माँग करेगा जिसकी हम आज आसानीसे कल्पना कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ, अपराधके एक ऐसे तत्वके साथ समाजके अनवरत संघर्षमें

जिसे वह अपने अदर पैदा करता है तथा जिसका अभीतक नाश नही हो सका है वर्तमान प्रणालीकी स्थूलता अवश्य ही दृष्टिगोचर हो जायगी और इसका जड़-मूलसे प्रतिकार करनेके लिये गंभीर प्रयत्न भी करना ही पडेगा। पहली आवश्यकता तव निरंतर पुनः-पुनः उत्पन्न होनेवाले भ्रष्ट मानवी पदार्थके एक ऐसे वडे संघातका निकट पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण होगी जिसमे अपराधके कीटाणु स्वभावत· ही पनपते रहते है। यह कार्य आजकल वड़े स्थूल और अपूर्ण रूपमे तथा अधिकतर अपराधके किये जानेके वाद, प्रत्येक राष्ट्रकी अपनी पृथक् पुलिसके द्वारा, किया जाता है। अपराधीके स्थान-परिवर्तनके प्रतिकारमे एक युक्ति यह निकाली गयी है कि राष्ट्र अपराधी-प्रत्यर्पण-सधियाँ कर लेते हैं तथा एक-दूसरेकी अन्य प्रकारसे अवैध सहायता भी करते है। विश्व-राज्य अतर्राष्ट्रीय तथा साथ ही स्थानीय निरीक्षणपर आग्रह करेगा, और ऐसा वह अंतर्राष्ट्रीय अपराध और अव्यवस्थाके तथ्यके साथ निवटनेके लिये ही नही जो भावी परिस्थितियोमे वहुत अधिक वढ भी सकते है, वल्कि अपराधको रोकनेके अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्यके लिये भी करेगा।

दूसरी आवश्यकता जिसे यह अनुभव करेगा अपराधके मूल और आरंभिक कारणोपर विचार करनेकी होगी। पहले तो यह इस कार्यको शिक्षा तथा नैतिक और चरित्रसवंधी प्रशिक्षाकी एक ऐसी अधिक प्रवुद्ध पद्धतिद्वारा करनेका प्रयत्न कर सकता है, जो आपराधिक प्रवृत्तियोंकी वृद्धिको अधिक कठिन वना देगी; यह इसे भ्रष्ट मानवी द्रव्यके निरीक्षण, उपचार-व्यवहार, उसके पृथक्करण और शायद उसके निष्फलीकरणकी वैज्ञानिक या जनन-शास्त्रकी पद्धतियोद्वारा भी कर सकता है। इस कार्यको करनेकी तीसरी विधि एक दयापूर्ण और प्रवुद्ध प्रणाली तथा दंड-विधि भी हो सकती है जिसका उद्देश्य प्रारभिक और पक्के अपराधीका सुधार होगा, दड नही। इसका आग्रह सिद्धांतकी एक विशेष एकरूपतापर होगा जिससे ऐसा देश कोई भी न रहे जो पिछडी हुई, पुरानी, हीन अथवा भ्रातिपूर्ण प्रणालियोपर ही चलता रहे और इस प्रकार सामान्य उद्देश्यको विफल कर दे। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये नियत्रणका केंद्रीकरण आवश्यक हो जायगा अथवा कम-से-कम अत्यधिक वाछनीय होगा। यही वात न्याय-सवधी प्रणालीके साथ भी होगी। वर्तमान प्रणाली अभी भी विवेकपूर्ण और सभ्य मानी जाती है और मध्ययुगकी प्रणालियोकी तुलनामे यह ऐसी है भी। पर एक ऐसा समय अवश्य आयगा जव यह वेढगी, अयोग्य, अयुक्तियुक्त और अपने कई प्रमुख अगोमे अर्ध-वर्वर समझी जायगी।

अधिक-से-अधिक यह सामाजिक विचार, भावना तथा जीवनकी प्रारंभिक अवस्थाकी अधिक अस्तव्यस्त और स्वच्छंद पद्धतियोका अर्ध-परिवर्तित रूप होगी। जब एक अधिक बौद्धिक प्रणाली विकसित हो जायगी तो ससारके किसी भी भागमे पुराने न्याय-विधान और न्यायसंबधी सिद्धान्तो और विधियोको बनाये रखना असहनीय प्रतीत होने लगेगा और इसके परिणामस्वरूप विश्व-राज्यको एक सामान्य विधान-निर्माण और शायद एक सामान्य केंद्रित नियत्रणद्वारा नये सिद्धांतो तथा नयी पद्धतियोंको एक नियत रूप देना पडेगा।

यह माना जा सकता है कि इन सब बातोमें एकरूपता और केंद्रीकरण लाभकारी होगे और कुछ हदतक अनिवार्य भी होगे; ऐसी अवस्थाओमे राष्ट्रीय पृथक्ता और स्वाधीनताके किसी भी स्पर्द्धापूर्ण विचारको मनुष्यजातिके सार्वभौम हितमें हस्तक्षेप करनेकी अनुमति नही दी जा सकेगी। किंतु, कम-से-कम अपनी राजनीतिक प्रणालीके चुनाव तथा अपने सामाजिक जीवनके अन्य क्षेत्रोमे, राष्ट्रोंको अपने आदर्श और अपनी प्रवृत्तियोका अनुसरण करने तथा स्वस्थ और स्वाभाविक ढगसे स्वतत्र रहनेकी छूट दी जा सकती है। यह भी कहा जा सकता है कि इन विषयोमे किसी भी गंभीर हस्तक्षेप-को राष्ट्र कभी सहन नही करेगे और इस प्रयोजनके लिये विश्व-राज्यकी सहायता प्राप्त करनेका प्रयत्न उसके अस्तित्वके लिये घातक होगा। किंतु तथ्य यह है कि राजनीतिक निर्हस्तक्षेपका सिद्धात भविष्यमें उतना भी नही स्वीकार किया जायगा जितना कि वह पहले स्वीकार किया जाता था या अब स्वीकार किया जा रहा है। परस्पर-विरोधी राजनीतिक विचारो अर्थात् प्राचीन ग्रीसके कुलीनतत्र और जनतत्रके बीचके और पुराने शासन और आधुनिक यूरोपकी फ्रेंच क्रातिके विचारोके बीचके महान् और प्रचड संघर्षके समयमे राजनीतिक निर्हस्तक्षेपके सिद्धांतोको सदा ही धक्का पहुँचा है। पर अब हमारे सामने एक और तथ्य है, हस्तक्षेपका विरोधी सिद्धात धीरे-धीरे अतर्राष्ट्रीय जीवनका सचेतन नियम बनता जा रहा है। क्यूबामें अमरीकाके हस्तक्षेप जैसी चीज अब अधिकाधिक संभव हो रही है, इसका सुनिश्चित आधार राष्ट्रीय हित नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूपसे स्वाधीनता, सविधानप्रियता और जनतंत्र अथवा कोई विरोधी सामाजिक और राजनीतिक सिद्धात है, अतएव, इसका आधार अतर्राष्ट्रीय है, व्यावहारिक रूपमे इसे यह विचार भी बल दे रहा है कि किसी देशकी आतरिक व्यवस्था—अस्तव्यस्तता और अपर्याप्तताकी किन्ही अवस्थाओमे—केवल उसके अपने साथ ही संबध नही रखती बल्कि उसके पडोसियो तथा

समस्त मानवजातिसे भी संबंध रखती है। इसी प्रकारका सिद्धात मित्र-राष्ट्रोने युद्धके समयमे ग्रीसके संबंधमे उपस्थित किया था। यह संसारके एक अत्यधिक शक्तिशाली राष्ट्रपर लागू किया गया था; इसके अनुसार मित्र-राष्ट्रोने जर्मनीके साथ सबध रखने या व्यावहारिक रूपमे उसे राष्ट्र-सघके अंदर पुनः वापिस ले लेनेसे इनकार कर दिया था, जबतक कि वह अपनी तात्कालिक राजनीतिक प्रणाली और सिद्धांतोको एक ओर ही न रख दे तथा स्वच्छद शासनके सब अवशेषोका त्याग करके जनतन्त्रके आधुनिक रूपोंको ही न अपना ले।*

ज्यों-ज्यो मानवजातिका जीवन अधिकाधिक एकीकृत होता जायगा त्यो-त्यो राष्ट्रके आतरिक विपयोमे जातिके सामान्य हितका यह विचार भी उन्नत होता चला जायगा। भविष्यका महान् राजनीतिक प्रश्न समाजवादकी चुनौतीका अर्थात् सर्वसमर्थ राज्यके पूर्ण विकासका होगा। और, यदि समाजवाद संसारके प्रमुख राष्ट्रोमे विजय प्राप्त कर ले तो वह, निश्चित रूपसे, अपना राज्य सभी जगह केवल अप्रत्यक्ष दवावद्वारा ही नही, वल्कि ऐसे देशोंमे तो प्रत्यक्ष हस्तक्षेपद्वारा भी स्थापित करना चाहेगा जो उसके विचारमे पिछड़े हुए है। एक अतर्राष्ट्रीय सत्ता, चाहे वह पार्लमेट हो या कोई और, जिसमे उसे वहुमत या विशेष सामर्थ्य प्राप्त हो एक ऐसा प्रस्तुत साधन होगा जिसकी उपेक्षा नही की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त एक ऐसे विश्व-राज्यके लिये, जो अधिकाशमे स्वय समाजवादी हो, कुछ राष्ट्रोका पूँजीवादी समाज वने रहना शायद उससे अधिक सह्य नही होगा जितना कि एक समाजवादी या पूँजीवादी स्काटलैड अथवा वेल्स पूँजीवादी या समाजवादी ग्रेट-ब्रिटेनको सह्य होगा। दूसरी ओर, यदि सव राष्ट्र अपने रूपमे समाजवादी वन जायँ तो विश्व-राज्यके लिये इन सव पृथक् समाजवादोको मनुष्य-जीवनकी एक विशाल प्रणालीमे सगठित करना काफी स्वाभाविक होगा। कितु समाजवादके अपने पूर्ण विकासतक पहुँचनेका अर्थ होगा राजनीतिक और सामाजिक कार्योके बीच भेदोका विनाश तथा सर्व-सामान्य जीवनका सामाजीकरण और उसके अपने सगठित

*स्पेनमें फासिस्ट शक्तियोंका हस्तक्षेप, जो प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हो रहा है और जिसका उद्देश्य उस देशके जनतन्त्रीय शासनसे युद्ध करना तथा उसे नीचा दिखाना है, एक ऐसी प्रवृत्तिका विशेष दृष्टान्त है जो भविष्यमें और भी बढ़ सकती है। तबसे वहां फ्रैंको शासनमें भी एक विपरीत ढंगसे हस्तक्षेप हो रहा है और उसके ऊपर अपनी पद्धति और सिद्धान्तको वदलनेके लिये दवाव डाला जा रहा है, चाहे यह दवाव कितना भी अपूर्ण और अनिश्चित क्यो न हो।

शासन और प्रशासनके प्रति सर्वांग रूपमें अधीनता। कोई भी छोटी या वडी वस्तु उसके क्षेत्रसे वाहर नही है। जन्म और व्याह, श्रम, मनोविनोद और विश्राम, शिक्षा, संस्कृति, शरीर और चरित्रका प्रशिक्षण किसी भी वस्तुको समाजवादी भावना अपने क्षेत्र तथा व्यस्त और अनुदार नियंत्रणसे वाहर नही रहने देती। इसलिये, अंतर्राष्ट्रीय समाजवादको स्वीकार करते हुए पृथक् जातियोकी न तो राजनीति और न ही उसका सामाजिक जीवन विश्व-राज्यके केंद्रीभूत नियंत्रणसे वच सकता है।*

यह सत्य है कि ऐसी विश्वप्रणाली हमारे वर्तमान विचारों और जीवनके दृढ अभ्यासोंसे वहुत दूर है, पर ये विचार और अभ्यास अपने मूलमें पहलेसे ही परिवर्तनकी प्रवल शक्तियोंके अधीन है। एकरूपता उत्तरोत्तर संसारका नियम वनती जा रही है; रक्षा और पुनरुज्जीवनकी भावना और उसके सचेतन प्रयत्नके होते हुए भी प्रादेशिक राष्ट्र-सत्ताओके लिये जीवित रहना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। किंतु एकरूपताकी विजय स्वभावतः ही केंद्रीकरणका समर्थन करेगी और तव पृथक्त्वकी मूल प्रवृत्ति लुप्त हो जायगी। जव एक वार केंद्रीकरण संपन्न हो गया, तो यह आगे एक अधिक पूर्ण एकरूपताको लानेमें सहायक होगा। जो विकेंद्रीकरण एकरूप मानव-जातिमे अनिवार्य हो सकता है उसकी आवश्यकता किन्ही वास्तविक पृथक्कारी विभेदोके कारण नही, वल्कि प्रशासनकी सुविधाके लिये होगी। एक वार यदि प्रवल अतर्राष्ट्रीयतावादके आगे राष्ट्रीय भावना दव गयी तो सस्कृति और जातिके महान् प्रश्न ही एक ऐसा आधार रह जायँगे जो विश्व-राज्यमे पृथक्त्वके प्रबल किंतु गौण सिद्धातकी सुरक्षाका कारण वनेंगे। पर सस्कृतिका भेद भी आजकल उतना ही संकटमे है जितना कि सामुदायिक विभेदका कोई अन्य वाह्यतर सिद्धांत है। यूरोपीय राष्ट्रोके विभेद केवल एक सर्व-सामान्य पश्चिमी संस्कृतिके गौण विभेद है। और, अव जव कि विज्ञान विचार, जीवन और प्रणालीकी एकरूपताकी महान् शक्ति वन गया है तथा उत्तरोत्तर संस्कृति और जीवनका एक अधिक वड़ा भाग वनता जा रहा है, यहाँतक कि इसके सपूर्ण संस्कृति और जीवन वन जानेकी भी आशका है, इन विभेदोका महत्त्व और भी कम हो सकता है। केवल

*कार्यकारी समाजवादके इस पक्षको जर्मनी और इटलीकी पूर्ण शासनसम्बन्धी नियन्त्रणकी प्रवृत्तिसे विशेष पुष्टि मिली है। यह लिखते समय राष्ट्रीय (फासिस्ट) 'समाजवाद' और शुद्ध मार्क्सिस्ट 'समानवाद'के आपसी सघर्षकी कल्पना नही की जा सकती थी, किन्तु जिस रूपकी भी प्रधानता हो, सिद्धान्त वही होगा।

एक मूल भेद जो अभी भी विद्यमान है वह पश्चिम और पूर्वकी मानसिकताओका है। किंतु यहाँ भी एशिया यूरोपीयताका आघात सहन कर रहा है और यूरोपने भी एशियाई भावकी प्रतिक्रियाको, चाहे वह कितनी भी कम क्यो न हो, अनुभव करना शुरू कर दिया है। इसका अधिकतम सभावित परिणाम एक सार्वभौम विश्व-संस्कृति होगा। केंद्रीकरणपर जो युक्तियुक्त आक्षेप किया जाता है वह यदि बिलकुल ही दूर नही हुआ तो शक्तिमे वह अत्यंत कम अवश्य हो जायगा। जाति-भावना शायद एक अधिक प्रवल बाधा है, क्योकि यह अधिक अयुक्तियुक्त है; किंतु यह भी एक ऐसे बौद्धिक, सांस्कृतिक और भौतिक निकटतर संबंधद्वारा दूर की जा सकती है और यह संबंध अदूर भविष्यमे अवश्यमेव चरितार्थ हो जायगा।*

अतएव, विश्वहितैषी समाजवादी विचारकका स्वप्न अतमे पूरा हो सकता है। और, विश्वशक्तियोकी वर्तमान प्रवृत्ति यदि प्रवल रूपमे बनी रही, तो ऐसा होना एक प्रकारसे अनिवार्य हो जायगा। यहाँतक कि एक सार्वभौम भाषा जो अब एक कोरी कल्पना प्रतीत होती है, वास्तविक रूप धारण कर सकती है। कारण, राज्य स्वभावत: एक ही भाषाको अपने सभी सार्वजनिक कार्यो तथा चिंतन और साहित्यके साधनके रूपमे स्थापित करनेकी प्रवृत्ति रखता है, बाकी तो स्थानीय बोल-चालकी भाषाएँ या प्रातिक बोलियाँमात्र रह जाती हैं, जैसे ग्रेट-ब्रिटेनमे वेल्स अथवा फ्रासमे ब्रैंटन और प्रोवासाल। स्विटजरलैंड जैसे अपवाद बहुत कम हैं, दो-एकसे अधिक शायद ही हो और वे भी असाधारण रूपसे अनुकूल परिस्थितियोके कारण बचे हुए हैं। यह सोचना वस्तुत. कठिन है कि ऐसी भाषाएँ जिनके साहित्य शक्तिशाली है तथा जो सहस्रो सुसंस्कृत लोगोद्वारा बोली जाती हैं एक अत्यत गौण स्थितिमे रहना स्वीकार कर लेगी। मनुष्यकी किसी प्रणाली या नयी भाषाद्वारा अपना तिरस्कार तो वे कभी भी नही होने देगी। किंतु यह बिलकुल निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता कि जातिके मनको अधिकृत करती हुई तथा पृथक्‌वादी भावनाको बर्बर और असामयिक वस्तु समझकर उसे एक ओर हटाती हुई वैज्ञानिक बुद्धि एक दिन इस मनोवैज्ञानिक चमत्कारको सिद्ध नही कर सकेगी। जो भी हो, भाषाकी

---

*फासिस्ट और नाजी जातिवाद इस सम्भावनाको रद्द कर देता है और यदि इसे दूर न किया जा सका तो एकीकरण असम्भव हो जायगा; तब कुछ प्रवल राष्ट्रोद्वारा ससारकी विजय ही एकीकरणका एकमात्र साधन रह जायगा। फिर भी यह सम्भव है कि यह केवल एक अस्थायी अवस्था ही होगी।

विविधता संस्कृति, शिक्षा, जीवन और संगठनकी एकरूपताके तथा एक ऐसे व्यवस्थाकारी वैज्ञानिक यंत्रके मार्गमे, जो जीवनके सब विभागोमे प्रयुक्त होगा और जो मनुष्यजातिकी सयुक्त इच्छाशक्ति तथा वुद्धिद्वारा सर्वहितके लिये स्थापित होगा, कोई दुर्गम वाधा नही हो सकती। कारण, इसीका विश्व-राज्य—जैसा कि हमने उसे कल्पित किया है—प्रतिनिधित्व करेगा, यही उसका अर्थ, उसका औचित्य तथा उसका मानवी ध्येय होगा। वस्तुतः यह भी संभव है कि केवल यही—इससे कम कुछ नही—अंतमे इसके अस्तित्वकी पूरी सार्थकता भी समझी जायगी।

सत्ताईसवाँ अध्याय

विश्व-राज्यका खतरा

यही तब विश्व-राज्यका अंतिम संभवनीय रूप है; इसी रूपके बारेमें समाजवादी, विज्ञानवादी और मानव-हितवादी विचारकोंने, जो आधुनिक मनका उसकी स्व-चेतनाके सर्वोच्च शिखरतक प्रतिनिधित्व करते हैं और इसलिये उसकी प्रवृत्तियोंकी दिशाका पता लगानेकी सामर्थ्य रखते हैं, स्वप्न लिये हैं, यद्यपि सामान्य मनुष्यके अर्ध-बौद्धिक मनको, जिसकी दृष्टि प्रस्तुत दिन और उसके ठीक अगले दिनके आगे नहीं जाती, उनके विचार काल्पनिक और आदर्शवादी प्रतीत हो सकते हैं। वस्तुत ये इस प्रकारके बिलकुल भी नहीं हैं; अपने सारमें—यह आवश्यक नहीं है कि अपने रूपमें भी ऐसे ही हों—ये, जैसा कि हम देख चुके हैं, मानव-एकताकी प्रारंभिक प्रवृत्तिका केवल तार्किक परिणाम ही नहीं है बल्कि उसकी अनिवार्य, क्रियात्मक तथा अंतिम परिणति भी है, पर केवल तभी जब इस एकताके लिये यांत्रिक एकीकरणके सिद्धांत अर्थात् राज्यके सिद्धांतद्वारा प्रयत्न किया जाय। इसी कारणसे हमें उन क्रियाकारी सिद्धांतों और आवश्यकताओंका प्रतिपादन करनेकी आवश्यकता अनुभव हुई है जो एकीकृत और अंतत: समाजवादी राष्ट्र-राज्यके विकासके मूलमें रहे हैं; इसका उद्देश्य यह देखना है कि किस प्रकार एकीकरणकी वही क्रिया, विकासकी समान आवश्यकताके कारण, उन्हीं परिणामोंको उत्पन्न करती है। राज्य-सिद्धांत आवश्यक रूपसे एक-रूपता, नियमन तथा यांत्रीकरणकी ओर ले जाता है; इसका अनिवार्य परिणाम समाजवाद होता है। इसमें 'आकस्मिक' कुछ नहीं है, राजनीतिक और सामाजिक विकासमें संयोगके लिये स्थान नहीं होता, समाजवादका उदय कोई ऐसी आकस्मिक घटना या बात नहीं थी जो हो भी सकती थी या नहीं भी हो सकती थी, यह तो एक अनिवार्य परिणामके रूपमें राज्य-सिद्धांतके बीजमें ही निहित था। यह उसी समयसे अनिवार्य बन गया था जबसे यह सिद्धांत कार्यरूपमें लाया जाने लगा। अलफ्रेड, शार्ल-माडन और दूसरे अपरिपक्व राष्ट्रीय अथवा साम्राज्यीय एकता-प्रवर्तकोंके कार्यमें यह एक निश्चित परिणामके रूपमें विद्यमान था, क्योंकि मनुष्य प्राय: सदा ही यह न जानते हुए कि वे किस प्रयोजनसे कार्य कर रहे हैं

कार्य करते हैं। किंतु आधुनिक समयमें चिह्न इतने स्पष्ट है कि जब हम विश्व-एकीकरणके लिये एक यांत्रिक आधार बनाना आरंभ करते हैं तो हमें इस बातका धोखा नही होना चाहिये और न ही ऐसा अनुमान लगाना चाहिये कि प्रयत्नमे निहित परिणाम विकासके लिये आग्रह नही करेगा, चाहे वह वर्तमान समयमे किन्ही तात्कालिक, यहातक कि सुदूर सभावनाओसे भी कितना भी परे क्यों न प्रतीत होता हो। एक कठोर एकीकरण, एक विशाल एकरूपता, एकीभूत मानवजातिका एक व्यवस्थित सामाजीकरण हमारे परिश्रमका पूर्वनिश्चित फल होगा।

यह परिणाम केवल तभी टाला जा सकता है यदि कोई प्रतिकूल शक्ति बीचमे आकर अपने निषेधाधिकारका प्रयोग करे जैसा कि एशियामे हुआ था जहाँ राज्य-सिद्धात अपनी सीमाओके भीतर सबल समर्थन प्राप्त करता हुआ भी एक हदसे आगे कार्यान्वित नही हो सका, क्योकि राष्ट्रीय जीवनका मूल सिद्धांत ही इसके पूर्ण एकागी विकासके विरोधमें था। एशियाकी जातियाँ, अत्यधिक संगठित जातियाँ भी, आधुनिक दृष्टिसे राष्ट्र नही बल्कि जातियाँ ही रही हैं। अथवा वे केवल इसी अर्थमे राष्ट्र थीं कि उनका एक ही आत्म-जीवन, एक ही संस्कृति, एक ही सामाजिक संगठन तथा एक ही राजनीतिक अध्यक्ष था। किंतु वे राष्ट्र-राज्य नही थीं। राज्यरूपी यत्रका अस्तित्व केवल एक सीमित और बाह्य कार्यके लिये था; लोगोंका वास्तविक जीवन उन दूसरी शक्तियोद्वारा निर्धारित होता था जिनमे वह हस्तक्षेप नही कर सकता था। उसका मुख्य कार्य राष्ट्रीय संस्कृतिको स्थिर और सुरक्षित रखना तथा पर्याप्त राजनीतिक, सामाजिक और प्रशासनीय व्यवस्था—यथासंभव एक स्थिर व्यवस्था—को बनाये रखना था, जिससे कि लोगोंका वास्तविक जीवन अपने ढगसे तथा अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोके अनुसार शांतिपूर्वक चलता रहे। यदि मनुष्यजातिके राष्ट्र राष्ट्रीयताकी अपनी विकसित सहज-प्रवृत्तिको बनाये रखनेमे सफल हो जाय तथा राज्य-सिद्धांतकी प्रबलताका सामना करनेके लिये काफी सशक्त हो जाय तो एक संगठित विश्व-राज्यके स्थानपर मनुष्यजातिके लिये इस प्रकारकी कोई एकता लानी संभव हो सकती है। तब परिणाम मानवजातिका एक अखड राष्ट्र किंवा एक विश्व-राज्य नही वरन् एक ऐसी अखंड मानवजाति होगा जिसकी राष्ट्र-इकाइयोमें परस्पर मुक्त सबध होगा या यह भी हो सकता है कि जिसे हम आजकल राष्ट्र कहते हैं वह लुप्त हो जाय, किंतु तब कुछ अन्य नये प्रकारकी समुदाय-इकाइयाँ होंगी जिन्हे इस बातका आश्वासन प्राप्त रहेगा कि अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाका कोई समर्थ यंत्र उनके सामाजिक,

आर्थिक और सांस्कृतिक संबंधोंको शांतिपूर्वक और स्वाभाविक ढंगसे कार्य करनेमें सहायता पहुँचायगा।

इन दो प्रमुख संभावनाओमेंसे तब कौन-सी संभावना अधिक वाछनीय होगी? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमे अपने-आपसे यह पूछना होगा कि एक एकीकृत विश्व-राज्यके निर्माणके फलस्वरूप मनुष्यजातिके जीवनको क्या लाभ और क्या हानि होगी। तब और अबमे जो महान् अंतर है उसके लिये पूरी छूट देते हुए भी, संभवत:, परिणाम अपने सार-रूपमे उन्हीके समान होगे जिन्हे हम प्राचीन रोमन साम्राज्यमे देखते है। लाभकी दृष्टिसे देखा जाय तो सर्वप्रथम एक बड़ा लाभ यह होगा कि विश्वकी शाति सुनिश्चित हो जायगी। आतरिक विघ्नो और उपद्रवोसे यह पूर्ण रूपसे सुरक्षित न भी हो सके, किंतु यदि कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न एक हदतक स्थायी रूपमे सुलझा लिये गये तो यह गृह-युद्धकी कभी-कभी होनेवाली ऐसी उग्रताओको तो दूर कर ही देगी जिन्होने पुरानी रोमन साम्राज्यीय व्यवस्थाको उद्वेलित कर दिया था, और फिर अभी भी यदि कुछ उपद्रव हुए तो ये सभ्यताके व्यवस्थित ढाँचेको इस प्रकार अस्तव्यस्त नही कर देगे कि फिरसे सब कुछको एक महान् आमूल और उग्र परिवर्तनकी यत्रणामेसे गुजरना पडे। और शांति सुनिश्चित हो गयी तो सुख और सुविधाकी अतुलनीय वृद्धि हो जायगी। मनुष्यजातिकी सयुक्त बुद्धि, जो अब खंडित होकर नही बल्कि एक होकर काम कर रही होगी, अनेक विशिष्ट समस्याओको सुलझा देगी। जातिका प्राणिक जीवन एक ऐसी सुनिश्चित और बुद्धिसंगत व्यवस्थामे बँध जायगा जो सुविधापूर्ण, सुनियन्त्रित तथा ज्ञानसंपन्न होगी, इसके साथ एक ऐसी सतोपजनक मशीनरी होगी जो यथासंभव कम सघर्ष, उपद्रव और भय-जोखिमकी आशकाके साथ समस्त कठिनाइयो, आवश्यकताओ और समस्याओं-का समाधान कर देगी। आरंभमे एक महान् सास्कृतिक और बौद्धिक विकास दृष्टि-गोचर होगा। विज्ञान मनुष्यजातिकी उन्नति, ज्ञान-वृद्धि और यात्रिक निपुणताके लिये अपने-आपको सगठित करेगा। संसारकी विभिन्न सस्कृतियाँ—वे, जो अभी भी पृथक् सत्ताओके रूपमे अपना अस्तित्व रखती है—अधिक घनिष्ठ रूपमे विचारोका आदान-प्रदान ही नही करेगी किंतु अपने सचित लाभोको एक ही कोपमे जमा कर देगी और कुछ समयके लिये विचार, साहित्य एवं कलाके क्षेत्रमे नये उद्देश्य और रूप प्रकट हो जायगे। मनुष्य एक-दूसरेके साथ पहलेकी अपेक्षा अधिक निकट और पूर्ण संपर्कमे आयगे, एक ऐसा महत्तर पारस्परिक सद्भाव विकसित कर लेगे जो झगड़े, घृणा और द्वेषके अनेक वर्तमान आकस्मिक कारणोसे मुक्त होगा

और यदि वे एक ऐसे भ्रातृभावतक न भी पहुँचें, जो केवल राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मेलसे नही प्राप्त हो सकता, तो उससे मिलती-जुलती किसी चीज अर्थात् पर्याप्त रूपसे एक दयापूर्ण संवंध और आदान-प्रदानतक तो पहुँच ही जायेगे। मनुष्यजातिके इस विकासमे एक अभूत-पूर्व वैभव, सुख-सुविधा और मृदुलता होगी और इसमे कोई संदेह नही कि उस समयका कोई महान् कवि जनसाधारणकी या राज्यकी भापामे—क्या हम यू कहे कि एस्प्रातो (Esperanto)मे ?—विश्वासपूर्वक स्वर्णयुगके आगमनके विपयमें गा उठे अथवा यही घोपणा कर दे कि यह युग सचमुचमे आ गया है और सदा स्थायी रहेगा। पर कुछ समयके वाद शक्तिका ह्रास हो जायगा जो मानवमन और मानवजीवनकी एक गतिहीन अवस्था होगी और उसके बाद आयगे गतिरोध, क्षय और विघटन। अपनी सफल-ताओके वीचमे मनुष्यकी आत्मा मुरझाने लगेगी।

यह परिणाम भी उन्ही आवश्यक कारणोसे उत्पन्न होगा जिनसे कि यह रोममे उत्पन्न हुआ था। सवल जीवनकी अवस्थाएँ अर्थात् स्वाधीनता, गतिशील विविधता और स्वतत्र रूपसे विकासोन्मुख विभिन्न जीवनोकी पार-स्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया समाप्त हो जायगी। यह कहा जा सकता है कि ऐसा नही होगा, क्योकि विश्व-राज्य एक स्वतत्र जनतंत्रीय राज्य होगा, स्वाधीनताका गला घोटनेवाला साम्राज्य या निरकुश राज्य नही; और क्योकि स्वाधीनता और उन्नति आधुनिक जीवनका सिद्धांत है, कोई भी ऐसा विकास जो इस सिद्धातके विरुद्ध जायगा, सहन नही किया जायगा। किंतु इस सवमे हमे जो कुछ भी प्राप्त हुआ प्रतीत होता है वह वस्तुतः सुरक्षा नही है। कारण, जो कुछ अव है वह विलकुल भिन्न परिस्थितियोमें भी टिकेगा यह आवश्यक नही है और यह विचार कि वह टिकेगा ही एक ऐसी विचित्र मृगमरीचिका है जो वर्तमानकी वास्तविक स्थितियोसे भविष्यकी सभवतः सर्वथा भिन्न स्थितियोपर प्रक्षिप्त की गयी है। जनतत्र किसी प्रकारसे भी स्वाधीनताका निश्चित परिरक्षक नही है, वल्कि हम आज देखते है कि जनतत्रीय शासन-प्रणाली वैयक्तिक स्वाधीनताके एक ऐसे सगठित विनाशकी ओर स्थिर भावमे वढ रही है जिसका पुरानी कुलीन और राज-तत्रीय प्रणालियोको स्वप्नमे भी विचार नही आ सकता था। यह हो सकता है कि स्वेच्छाचारी उत्पीडनके जो उग्रतर और क्रूरतर रूप उन प्रणा-लियोके साथ जुडे हुए थे उनसे जनतत्रने उन भाग्यशाली राष्ट्रोको मुक्त अवश्य कर दिया है जिन्होने शासनके उदार रूप प्राप्त कर लिये है, और यह नि.सदेह एक बड़ी प्राप्ति है। अव यह क्राति और उत्तेजनाके समयोमें

ही जीवित होता है, अधिकतर तो यह अब सामूहिक अत्याचार या हिंसक क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रियात्मक दमनके रूपोमे प्रकट होता है। पर इसमे स्वाधीनताकी हानि है जो देखनेमे अधिक सम्मानयोग्य है तथा अधिक सूक्ष्म और व्यवस्थित तथा अपनी प्रणालीमे अधिक नरम है, क्योकि उसके पीछे एक अधिक बडी शक्ति है, किंतु इसी कारण वह अधिक प्रभावशाली और व्यापक भी है। बहुसंख्यकोका अत्याचार एक परिचित प्रयोग बन गया है और इसके विनाशकारी परिणामोका कतिपय आधुनिक बुद्धिजीवियोने अत्यधिक रोषके साथ चित्रण किया है;* पर जिसकी हमे भविष्य आशा दिलाता है वह इससे भी कही अधिक भयानक वस्तु है। वह समष्टिका, समोहित जनताका अपने अवयवभूत समुदायो तथा इकाइयोपर अत्याचार है।†

यह एक अत्यत विलक्षण विकास है और ऐसा अधिकतर इसलिये भी है कि जनतत्रीय आदोलनके प्रारभिक रूपोमे वैयक्तिक स्वतत्रता एक ऐसा आदर्श थी जिसे इसने पुराने और आधुनिक समयोमे प्रथम स्थान दिया था। ग्रीक लोग जनतत्रके संबधमे दो मुख्य विचार रखते थे, पहला, कि प्रत्येक नागरिक समाजके वास्तविक शासन, व्यवस्थापन और प्रशासनमे कार्य करे और व्यक्तिगत रूपमे भाग ले और दूसरा, कि वैयक्तिक स्वभाव और कर्मकी अत्यधिक स्वतंत्रता प्राप्त हो। कितु जनतत्रके आधुनिक रूपमे इन दोनो विशिष्ट चिह्नोमेसे कोई भी उन्नत नही हो सकता, यद्यपि अमरीकाके सयुक्त राज्योमे एक समय कुछ हदतक इस प्रकारकी प्रवृत्ति विद्यमान थी। बृहद् राज्योमे प्रत्येक नागरिक शासनमे, व्यक्तिगत रूपमे, प्रभावपूर्ण भाग नही ले सकता, वह केवल अपने व्यवस्थापको और प्रशासकोके नियतकालिक चुनावमे ही समान भाग ले सकता है—यह व्यक्तिके लिये तो भ्रातिपूर्ण होता है, यद्यपि जनतापर इसका काफी प्रभाव पड़ सकता है, यहाँतक कि यदि ये व्यवस्थापक और प्रशासक कार्यत एक ऐसे वर्गसे न भी चुने जाय—जो पूरा समाज नही है, न ही उसका एक बडा भाग है और जो आजकल प्राय: सर्वत्र मध्यवर्ग है—तब भी ये यथार्थ अर्थोमे अपने निर्वाचकोका प्रतिनिधित्व नही करते। जिस शक्तिका ये प्रतिनिधित्व करते है वह एक अन्य

---

*इबसनने अपने "An Ennemy of the People" नामक ड्रामामें ऐसा ही चित्रण किया है।

†इस तथ्यका महत्त्वपूर्ण आरम्भ सबसे पहले फासिस्ट इटली तथा सोवियत रूसमें दृष्टिगोचर हुआ था। यह लिखते समय इस विकासके विषयमें केवल अनुमान ही लगाया जा सकता था। एक वृद्धिशील तथ्यका रूप धारण करनेकी शक्ति तो इसे पीछे प्राप्त हुई और अब तो हम इसका पूर्ण और बलशाली स्वरूप देख सकते हैं।

शक्ति है, वह एक ऐसी आकार और देहविहीन सत्ता है जिसने राजा और कुलीन वर्ग अर्थात् एक ऐसी निर्वैयक्तिक समूह-सत्ताका स्थान ले लिया है जो आधुनिक राज्यकी विशाल मशीनरीमे एक प्रकारके वाह्य रूप एवं देह और सचेतन कर्मको स्वीकार करती है। इस शक्तिके विरुद्ध व्यक्ति, जितना कि वह पुराने समयके उत्पीड़नोके विरुद्ध निःसहाय था उससे भी अधिक निःसहाय है। जब वह यह अनुभव करता है कि इसका दवाव उसे एकरूप साँचोमे पीस रहा है, उसे अशक्त विद्रोह अथवा अपनी आत्मा या बुद्धिकी स्वतत्रतामे पलायनके अतिरिक्त—जो अभी भी कुछ हदतक सभव होता है—और कोई उपाय नही सूझता।

कारण, आधुनिक जनतत्रका यह एक ऐसा लाभ है जिसे पुरानी स्वाधीनताने इस हदतक अनुभव नही किया था और जिसका अभीतक किसीने भी त्याग नही किया है, अर्थात् भाषण और विचारकी पूर्ण स्वतंत्रता। जबतक यह स्वतंत्रता रहती है, मानवजातिकी गतिहीन अवस्था तथा इसके फलस्वरूप उसकी निश्चेष्टताका भय निर्मूल प्रतीत हो सकता है, विशेपकर जब कि इसके साथ एक ऐसी सार्वभौम शिक्षा भी जुडी हुई हो जो एक कार्य-साधक शक्तिको लानेके लिये यथासभव वृहत्तम मानवी क्षेत्र प्रदान करती हो। विचार और भाषणकी स्वतत्रता—ये दोनो अवश्य ही साथ-साथ रहती है, क्योकि यदि भाषणकी स्वतंत्रतापर ताला लगा हो तो विचारकी वास्तविक स्वतत्रताका अस्तित्व हो ही नही सकता—संगठनकी स्वतंत्रताके विना वस्तुतः पूर्ण नही होती, कारण, स्वतत्र भाषणका अर्थ है स्वतत्र प्रचार और प्रचार तभी प्रभावपूर्ण होता है यदि उसके उद्देश्योकी प्राप्तिके लिये सगठन किया जाय। यह तीसरी स्वाधीनता है और इसकी भी सभी जनतंत्रीय राज्योमे कुछ विशेष, कम या अधिक, सीमाएँ है अथवा सुरक्षाके कुछ बुद्धिमत्तापूर्ण साधन है। परतु प्रश्न यह उठता है कि इन महान् आधारभूत स्वाधीनताओको क्या जातिने पूर्ण सुरक्षाके साथ अधिगत कर लिया है, उन समयोको छोडकर जब कि वे स्वतत्र राष्ट्रोमे भी रोक दी जाती है और अधीन देशोमें बड़े-बड़े प्रतिबंधोद्वारा अवरुद्ध कर दी जाती है। यह सभव है कि भविष्य इस दिशामे हमारे लिये कुछ आश्चर्यजनक घटनाएँ उपस्थित करेगा।* विचारकी स्वतत्रता वह अतिम मानवी स्वाधीनता

---

*अब यह आश्चर्यका विषय नही रहा है, वरन् यह एक अधिकाधिक चरितार्थ रूप धारण करता जा रहा है! इस समय रूसमें भाषण और विचारकी स्वतंत्रता नही है; जर्मनी और दक्षिण यूरोपमें भी इसपर कुछ समयके लिये प्रतिबंध लगा दिया गया था।

होगी जो सर्व-नियामक राज्यद्वारा सीधी आक्रांत होगी और जो सर्वप्रथम व्यक्तिके सपूर्ण जीवनको सामूहिक मत अथवा उसके शासकद्वारा अनुमोदित नमूनेके अनुसार नियमित करना चाहेगी। पर जब वह यह देखेगी कि जीवन-निर्माणमे विचार कितना अधिक महत्त्व रखता है तो वह इसे भी अपने हाथमे ले लेनेके लिये प्रेरित होगी। ऐसा वह राज्य-शिक्षाके द्वारा व्यक्तिके विचारको स्वरूप देकर तथा उसे अनुमोदित सामुदायिक, नैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा धार्मिक विचारोको स्वीकार करनेकी शिक्षा देकर करेगी जैसा कि कई पुरानी शिक्षा-पद्धतियोमे किया गया था। केवल तभी, जब कि उसे यह शस्त्र निष्प्रभाव प्रतीत हुआ, वह सीधे इस तर्कके आधारपर कि राज्य और सभ्यता संकटमे है विचारकी स्वतंत्रतापर प्रतिबध लगा सकती है। अभी भी हम देख रहे है कि कई स्थानोपर वैयक्तिक विचारमे राज्यका हस्तक्षेप करनेका अधिकार अत्यत भीषण ढगसे घोषित किया जा रहा है। कुछ लोग यह भी सोचते होगे कि कम-से-कम धार्मिक स्वतत्रता तो मनुष्यजातिके लिये सुरक्षित है पर अभी हालमे ही "नये विचार" का एक समर्थक देखनेमे आया है जो निश्चित रूपसे इस सिद्धातका प्रतिपादन करता है कि राज्यके लिये यह बिलकुल भी आवश्यक नही है कि वह व्यक्ति-की धार्मिक स्वतत्रताको स्वीकार करे, और यदि वह विचारकी स्वतत्रता प्रदान करे भी तो वह अधिकारके रूपमे नही, बल्कि एक आवश्यकताके रूपमे ही प्रदान की जा सकती है। यह भी कहा गया है कि धर्मकी स्वतत्रता-को स्वीकार करना आवश्यक नही है, और यह वस्तुतः तर्कसगत भी प्रतीत होता है, क्योकि यदि राज्य व्यक्तिके सपूर्ण जीवनको नियमित करनेका अधिकार रखता है तो उसे उसके धर्मको नियमित रखनेका अधिकार भी निश्चित रूपमे होना ही चाहिये, कारण, धर्म उसके जीवन और विचारका, जो उसके जीवनको अत्यंत प्रबल रूपसे प्रभावित करता है, एक महत्त्वपूर्ण अग है।*

मान लो कि एक सर्व-नियामक समाजवादी विश्व-राज्य स्थापित हो जाय, तब ऐसे शासनमे विचारकी स्वतत्रताका अर्थ आवश्यक रूपमे वर्तमान वस्तुस्थितिकी छोटी-छोटी बातोकी ही नही बल्कि उसके सिद्धातोतककी

*यह मान लेना कि राज्य कुछ समयके लिये विचारकी स्वतंत्रताको पूर्ण रूपसे दबा देनेमें हिचकिचायेगा अनुमानकी भूल थी। बोलशेविस्ट रूस सर्वाधिकारवादी राज्योंके द्वारा ऐसा एकबारगी ही, निश्चयात्मक रूपसे किया जा चुका है। धार्मिक स्वतंत्रता अभी भी पूरी तरहसे नष्ट नही की गयी है, पर रूसमें राज्यके दबावद्वारा यह कठोरतापूर्वक कुचली जा रही है, जैसे कि जर्मनीमें भी हो चुका है।

भी आलोचना होगा। यह आलोचना—यदि इसे विगत भूतकालकी ओर नही वल्कि भविष्यकी ओर देखना है तो—केवल एक दिशा अर्थात् अराजकता-वादकी दिशा ही ग्रहण कर सकती है, चाहे यह टाल्स्टायका आध्यात्मिक ढंगका अराजकतावाद हो अथवा वौद्धिक प्रकारका जो आजकल अल्पसंख्यको-का सिद्धांत होते हुए भी यूरोपके वहुतसे देशोंमे शक्तिशाली होता जा रहा है। यह व्यक्तिके विकासको अपना सिद्धात घोषित करेगी, सरकारको एक वुराई कहकर—आवश्यक वुराई कहकर नही—उसकी निंदा करेगी। यह इस वातका प्रतिपादन करेगी कि व्यक्तिका पूर्ण और स्वतंत्र धार्मिक, नैतिक, वौद्धिक और चारित्रिक विकास मानवजीवनके सच्चे आदर्शके रूपमे उसके अपने भीतरसे होना चाहिये और वाकीकी सव चीजे इस आदर्शके त्यागके मूल्यपर प्राप्त करने योग्य नही है, इसके शव्दोमे यह त्याग उसकी आत्माका खोना होगा। इसकी शिक्षाके अनुसार समाजका आदर्श व्यक्तियों-का एक ऐसा स्वतंत्र संवध या भ्रातृभाव होगा जिसमे न तो कोई शासन होगा और न ही किसी प्रकारका दवाव।

इस प्रकारके स्वतंत्र विचारके विपयमे विश्व-राज्यका आखिर क्या दृष्टिकोण होगा? वह इसे तवतक सहन कर सकता है जवतक कि यह वैयक्तिक और सामूहिक कर्ममे अपने-आपको प्रकट न करे, किंतु ज्योंही यह फैलने लगे अथवा जीवनमे क्रियात्मक रूपमे अपना समर्थन करने लगे त्योंही राज्य और उसके अस्तित्वका समूचा सिद्धात आक्रांत हो जायगा, यहाँतक कि उसका आधार भी खोखला और दुर्वल होकर नये संकटमें पड़ जायगा। उस स्थापित शक्तिके सामने तव केवल दो वातें रह जायँगी, या तो वह नाशको उसके मूलमे ही रोक दे या फिर वह अपनेको स्वयं ही नष्ट हो जाने दे। किंतु इस प्रकारकी आवश्यकता पड़नेसे पहले ही राज्यद्वारा सव कार्योकी व्यवस्थाका सिद्धांत यहाँतक पहुँच जायगा कि सामुदायिक मन मनुष्यके मानसिक और साथ ही भौतिक जीवनकी व्यवस्था करने लगे जो कि पहली सभ्यताओका आदर्श था। इसका अवश्यभावी परिणाम होगा एक स्थिर समाज-व्यवस्था, क्योंकि व्यक्तिकी स्वतत्रताके विना समाज प्रगति नही कर सकता। वह एक व्यवस्थित पूर्णता अथवा एक ऐसी चीजकी लीकपर स्थिर हो जायगा जिसे वह प्रणालीकी युक्ति-युक्तता और व्यवस्थाके एकरूप विचारके कारण—जिसका वह मूर्त्त रूप है—पूर्णताका नाम देता है। समाज अपनी चेतनामे सदा अनुदार और गतिहीन होता है, वह केवल अवचेतन प्रकृतिकी मंद प्रक्रियाके द्वारा ही धीरे-धीरे आगे वढता है। उधर स्वतंत्र व्यक्ति चेतन रूपमे प्रगतिशील

होता है। जब वह जनसमूहमें अपनी सृजनशील और गतिमान् चेतनाका संचार करनेमें समर्थ होता है, केवल तभी एक प्रगतिशील समाज सभव हो सकता है।

अट्ठाईसवां अध्याय

एकतामें विभिन्नता

यदि हम तार्किक बुद्धिकी कृत्रिम मर्यादा और उसकी कठोर और सीमाकारी प्रवृत्तिसे भ्रांत होकर ऐसे परीक्षणोमें नहीं पड़ना चाहते जो व्यवहार-रूपमे सुविधाजनक तथा एकात्मक और एकरूप विचारके लिये आकर्षक होते हुए भी जीवनकी शक्तिको नष्ट करके उसकी जड़ोंको नि.सत्त्व कर सकते है, तो यह आवश्यक है कि हम जीवनकी आधारभूत शक्तियों और वास्तविकताओंको सदा ध्यानमे रखें। कारण, तार्किक बुद्धिकी प्रणालीके लिये जो पूर्ण और संतोषजनक है वह भी जीवनके सत्य और जातिकी वास्तविक आवश्यकताओकी उपेक्षा कर सकता है। एकताका विचार एक ऐसा विचार है जो स्वच्छंद या अवास्तविक तो बिलकुल भी नही है, क्योकि एकता सत्ताका आधार है। प्रकृतिमे विकसनशील आत्मा उस एकत्वको जो गुप्त रूपसे समस्त वस्तुओंके मूलमे विद्यमान है चेतन रूपमे ऊपरके स्तरपर चरितार्थ करनेके लिये प्रेरित होती है। विकास विभिन्नताके द्वारा एक सरल एकतासे जटिल एकताकी ओर बढता है। जाति एकताकी ही ओर बढ़ती है और एक दिन यह इसे अवश्य प्राप्त कर लेगी।

किंतु एकरूपता जीवनका नियम नही है। जीवन विभिन्नताके सहारे ही स्थित है; यह इस बातपर आग्रह करता है कि प्रत्येक समूह अथवा प्रत्येक प्राणी अपनी सार्वभौमतामे बाकी सबके साथ एक होते हुए भी विविधताके किसी सिद्धात अथवा व्यवस्थित सूक्ष्म नियमके कारण विशिष्ट होता है। अतिकेंद्रीकरण, जो व्यवहारगत एकरूपताकी शर्त है, जीवनकी स्वस्थ प्रणाली नही है। व्यवस्था जीवनका नियम अवश्य है पर कृत्रिम व्यवस्था नही। सच्ची व्यवस्था वह है जो अदरसे प्रकट होती है, उस स्वभावके परिणामस्वरूप, जिसने अपने-आपको पा लिया है और साथ ही जिसने अपने नियम एवं दूसरोके साथ अपने सबधोके नियमको भी प्राप्त कर लिया है। अतएव, सबसे सच्ची व्यवस्था वह है जो अधिकतम सभवनीय स्वाधीनतापर आधारित हो, क्योकि स्वाधीनता ही सशक्त विविधताकी और साथ ही स्व-प्राप्तिकी शर्त है। प्रकृति, समूहोमे, विभाजनके द्वारा

विविधता प्राप्त करती है और समूहके सदस्योमे व्यष्टि-भावकी शक्तिके द्वारा स्वाधीनतापर आग्रह करती है। इसीलिये मनुष्यजातिकी एकताको पूर्णतः सच्चा होने तथा जीवनके गंभीरतम नियमोके अनुकूल बने रहनेके लिये स्वतत्र समहोपर आधारित होना चाहिये, और साथ ही समूहोको भी स्वतंत्र व्यक्तियोंका स्वाभाविक सगठन होना चाहिये। यह एक ऐसा आदर्श है जो निश्चय ही वर्तमान अवस्थाओमे अथवा सभवत. मनुष्यजातिके किसी भी निकट भविष्यमे चरितार्थ नही हो सकता। किंतु यह एक ऐसा आदर्श है जिसे हमे दृष्टिमे अवश्य रखना चाहिये, क्योकि जितना हम इसके अधिक निकट पहुँचेगे उतना ही हमे इस बातका निश्चय होगा कि हम ठीक मार्गपर है। मनुष्यजीवनके अधिकाश भागकी कृत्रिमता ही उसकी अनेक बद्धमूल व्याधियोका कारण है, वह न तो अपने प्रति सच्चा है और न ही प्रकृतिके प्रति। इसी कारण वह ठोकरे खाता है और कष्ट पाता है।

यदि हम प्रकृतिमे विभाजनके एक महान् तत्त्वके अर्थात् भाषाकी विभिन्नतापर उसके आग्रहके उद्देश्य और क्रियाको ध्यानमे रखे तो स्वाभाविक समूहोकी उपयोगिता और आवश्यकता समझमे आ सकती है। पिछली शताब्दीके अतमे तथा वर्तमान शताब्दीके आरंभमें समस्त मनुष्यजातिके लिये एक ही भाषाके निर्माणपर बहुत जोर था; इसने कई प्रयोगोको जन्म दिया, पर इनमेसे कोई भी सबल रूपमे स्थायी नही हो सका। मनुष्य-जातिके लिये सवाहनके एक सार्वभौम माध्यमकी जो भी आवश्यकता हो, और वह आवश्यकता किसी कृत्रिम और प्रचलित भापा अथवा किसी स्वाभाविक भापाके सामान्य प्रयोगसे कितनी भी पूरी हो सकती हो—जैसे कि लेटिन और बादमे एक हदतक फ्रेंच कुछ समयके लिये यूरोपीय राष्ट्रोके पारस्परिक व्यवहारकी सामान्य सास्कृतिक भाषा रही थी अथवा जैसे कि सस्कृत भारतवासियोके लिये थी—कोई भी ऐसा एकीकरण जो मनुष्यजातिके विभिन्न स्वाभाविक भाषाओके विस्तृत और स्वतत्र व्यवहारको नष्ट अथवा अभिभूत कर दे, उसे पगु एवं निरुत्साहित कर दे, मनुष्यके जीवन और विकासके लिये अवश्य ही हानिकारक होगा। 'बाबल केबुर्ज' (Tower of Babel) की कहानी बताती है कि बोलियोकी विभिन्नता जातिके लिये एक अभिशाप थी, किंतु इसकी हानियाँ जो भी हो—पर ये हानियाँ सभ्यता और बढते हुए संबधके विकाससे नित्यप्रति कम होती जा रही है,—यह अभिशाप नही, वरन् एक वरदान रही है। यह मनुष्य-जातिके लिये एक देन थी न कि ऐसी अयोग्यता जो उसपर लादी गयी

हो। किसी भी वस्तुके बारेमें उद्देश्यहीन अत्युक्ति करना सदा ही बुरा होता है, और विभिन्न भाषाओंकी अत्यधिक प्रवृद्धि जिसका भावना और संस्कृतिकी सच्ची विभिन्नताकी अभिव्यक्तिमें कोई उपयोग नहीं होता निश्चय ही एक बाधा होती है, सहायता नहीं; यद्यपि यह 'अति' भूतकालमें विद्यमान थी,* भविष्यमें इसकी संभावना कम ही है, बल्कि आजकी प्रवृत्ति विरोधी दिशामें है। प्राचीन समयमें भाषाकी विभिन्नता ज्ञान और सहानुभूतिके रास्तेमें बाधा पहुँचाती थी और प्रायः वास्तविक विरोधका बहाना बन जाती थी; इसकी प्रवृत्ति अत्यधिक कठोर विभाजनकी ओर होती थी। काफी पारस्परिक संबंधके अभावमें लोग यूं भी एक-दूसरेको समझ नहीं पाते थे, बल्कि अधिकतर तो ऐसा होता था कि वे कितनी ही भ्रांतियोंके शिकार हो जाते थे। किंतु यह विकासकी एक विशेष अवस्थाकी अनिवार्य बुराई थी, यह उस आवश्यकताकी अतिरंजना थी जो मनुष्यजातिकी दृढ़ रूपमें व्यक्तिभावापन्न समुदाय-आत्माओंके सबल विकासके लिये उस समय अनुभव की जाती थी। ये बुराइयाँ अभी दूर नहीं की गयी हैं, परंतु निकटतर संबंध तथा एक-दूसरेके विचार, भाव एवं व्यक्तित्वको जाननेके लिये मनुष्यों और राष्ट्रोंकी बढती हुई इच्छाके कारण ये बुराइयाँ अब कम हो गयी हैं और कोई कारण नहीं कि ये अंतमें निष्क्रिय नहीं हो जायँगी।

भाषाकी विभिन्नता मनुष्यकी भावनाके दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों—एकीकरणका उपयोग तथा विविधताका उपयोग—को पूर्ण करती है। भाषा उन लोगोंको, जो उसे बोलते हैं, वृद्धिशील विचार, गठित स्वभाव और परिपक्व होती हुई भावनाकी बृहत् एकतामें लानेमें सहायक होती है। यह एक ऐसा बौद्धिक, सौंदर्यात्मक तथा अभिव्यंजक बंधन है जो जहाँ विभाजन होता है वहाँ उसकी शक्ति बढाता है और जहाँ एकता प्राप्त हो चुकी है वहाँ उसे बल प्रदान करता है। विशेषकर यह राष्ट्रीय अथवा जातीय एकताको स्व-चेतना प्रदान करता है तथा एक सामान्य आत्म-अभिव्यक्ति एवं उपलब्धिके एक सामान्य इतिहासके बंधनको उत्पन्न करता है। इसके विपरीत, यह राष्ट्रीय विभेदनका एक साधन है, शायद सबसे अधिक शक्तिशाली साधन है। यह केवल विभाजनका एक निःसत्व सिद्धांत

---

*भारतवर्षमें पंडित लोग न जाने कितनी सौ भाषाओं का होना बताते हैं, पर यह है एक मूर्खतापूर्ण अशुद्ध कथन। एक दर्जनके लगभग मुख्य भाषाएँ अवश्य हैं, बाकी या तो बोलचाल की भाषाएँ हैं या फिर जातीय बोलियोंके पुराने समयके अवशेष हैं जो अंतमें अवश्य ही नष्ट हो जायंगे।

ही नही है, वल्कि एक उर्वर और उपयोगी विभेदन है। कारण, प्रत्येक भाषा उस जातिकी आत्माका चिह्न और वल है जो स्वभावसे ही उसे बोलती है। अतएव, प्रत्येक अपनी विशेष भावना, अपने विचारगत स्वभाव, जीवन-व्यवहारके ढग, ज्ञान तथा अनुभवका विकास करती है। यदि वह अन्य राष्ट्रोके विचार, जीवनके अनुभव तथा आध्यात्मिक संपर्कको ग्रहण करती है और उनका स्वागत करती है तो साथ ही वह अपनी ही एक नयी वस्तुमे उनका रूपातर भी कर देती है, और वह इन उधार ली हुई उपयोगी वस्तुओसे रूपातरकी शक्तिके द्वारा मनुष्यजातिके जीवनको समृद्ध वना देती है, जो कुछ अन्यत्र प्राप्त किया जा चुका है उसे वह केवल दोहराती ही नही। इसलिये, किसी राष्ट्र अथवा मानवी समुदाय-आत्माके लिये यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह अपनी भाषाकी रक्षा करे और उसे एक सशक्त और सजीव सास्कृतिक यत्र वना ले। जो राष्ट्र, जाति अथवा जनसमुदाय अपनी भाषा खो देता है, वह अपना संपूर्ण अथवा सच्चा जीवन नही बिता सकता। और, राष्ट्रीय जीवनका यह लाभ मनुष्य-जातिके सामान्य जीवनका भी लाभ होता है।

एक विशिष्ट मानवसमुदाय, यदि उसकी अपनी अलग भाषा नही है अथवा उसने अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्तिके वदलेमे विदेशी भाषा स्वीकार कर ली है, वह अपनी कितनी हानि कर लेता है, यह ब्रिटिश उपनिवेशो और आयर्लैण्डके उदाहरणोसे देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उपनिवेश वस्तुतः पृथक् जातियाँ होते है, यद्यपि वे अभीतक पृथक् राष्ट्र नही वने है। अग्रेज अत्यधिक अशमे अथवा कम-से-कम एक वडे अशमे, अपने मूल एव अपनी राजनीतिक एव सामाजिक अनुभूतिमे अभीतक इगलैडके प्रतीक नही है, बल्कि इनका स्वभाव भिन्न है, इनकी अपनी अलग प्रवृत्ति है, तथा एक विशिष्ट और विकसनशील चरित्र है। किंतु यह नया व्यक्तित्व केवल उनके जीवनके वाह्यतर और अधिक यांत्रिक भागोमे ही दृष्टिगोचर हो सकता है, पर वहाँ भी किसी महान् प्रभावशाली ओर फलप्रद रूपमे नही। ब्रिटिश उपनिवेशोका ससारकी सस्कृतिमे कोई स्थान नही, क्योकि उनकी अपनी कोई निजी सस्कृति नही है, अपनी भाषाके कारण ही वे इगलैडके प्रांतमात्र है और होने चाहिये। जो भी विशेषताएँ वे अपने मानसिक जीवनमे विकसित कर ले, वे एक प्रकारकी प्रातीयता ही उत्पन्न करेगी, एक ऐसा केंद्रीय बौद्धिक, सौदर्यात्मक और आध्यात्मिक जीवन नही जो उनका अपना हो तथा जो मनुष्यजातिके लिये विशेष महत्त्व रखता हो। इसी कारणसे, एक सबल रूपसे स्वतत्र राजनीतिक

और आर्थिक सत्ताके होते हुए भी, समस्त अमरीकाकी प्रवृत्ति सांस्कृतिक रूपमें यूरोपका एक प्रांत बननेकी ही रही है, दक्षिण और मध्य अमरीका स्पेनिश भाषापर और उत्तरीय अमरीका इंगलिश भाषापर अवलंबित होनेसे यूरोपके प्रात रहे हैं। केवल संयुक्त राज्यका जीवन ही एक महान् और पृथक् सांस्कृतिक सत्ता बननेकी ओर प्रवृत्त और यत्नशील है, पर उसकी सफलता उसकी शक्तिके अनुपातमें नही है। सांस्कृतिक रूपमें वह अभी भी बहुत हदतक इंगलैंडका प्रांत है। न उसका साहित्य—दो या तीन बड़े साहित्यिकोंके होते हुए भी—न उसकी कला, न उसका चिंतन और न ही मनके उच्चतर स्तरोंकी कोई और चीज किसी ऐसी ओजस्वी परिपक्वतातक पहुँच सकी है जो अपने आत्मा-रूपमें विशिष्ट हो। और इसका कारण यह है कि आत्म-अभिव्यक्तिका साधन अर्थात् भाषा, जिसका रूप राष्ट्रीय मनको गढना चाहिये और जिसके द्वारा उसका अपना रूप भी गढा जाना चाहिये, भिन्न मनोवृत्तिवाले देशके द्वारा बनायी गयी थी और उसीके द्वारा बनती रहेगी, इस कारण अपना केंद्र और अपने विकासका नियम ढूंढ लेना उसके लिये आवश्यक है। पुराने समयमें अमरीका अपनी आवश्यकताओंके अनुसार अंग्रेजी भाषाको यहाँतक विकसित और परिवर्तित कर सकता था कि वह एक नयी भाषा ही बन जाती जैसा कि मध्यकालीन राष्ट्रोंने लेटिनको किया था और इस प्रकार उन्होंने आत्म-अभिव्यक्तिका एक विशिष्ट साधन प्राप्त कर लिया था, किंतु आधुनिक अवस्थाओंमें यह सरलतासे संभव नही है।*

आयर्लैण्डकी जब अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीयता और संस्कृति थी तब उसकी अपनी भाषा भी थी और उसकी भाषाकी क्षति मानवजाति और साथ ही आइरिश राष्ट्रकी भी क्षति थी। क्योंकि अपनी सूक्ष्म आंतरात्मिक प्रवृत्ति, तीक्ष्ण बुद्धि और सुभग कल्पनाके साथ यह कैल्टिक जाति जिसने यूरोपीय संस्कृति और धर्मके लिये शुरू-शुरूमें बहुत कुछ किया था इन शताब्दियोमें स्वाभाविक अवस्थाओंके रहते ससारको क्या कुछ नही दे सकती थी? किंतु विदेशी भाषाके जबर्दस्ती लादे जाने तथा राष्ट्रको प्रांतमें बदल दिये

*यह कहा जाता है कि आजकल अमरीकामें इस प्रकारका स्वतंत्र विकास संपन्न हो रहा है। अब देखना यह है कि यह विकास किस हदतक सच्चे अर्थोंमें एक सबल लक्ष्यका रूप धारण करता है। अभी तो यह केवल प्रांतीय ढंगकी एक प्रकार की राष्ट्रीय बोल-चालकी भाषा अथवा एक विचित्रसे अपभ्रंशकी ओर प्रवृत्ति रखता है। अपने अधिकतम विकासमें भी यह भाषा एक प्रकारकी बोल-चालकी भाषा ही रहेगी, राष्ट्रीय भाषा नहीं।

जानेसे आयर्लैण्ड कितनी ही सदियोतक मूक और सांस्कृतिक रूपमे गतिहीन वना रहा तथा यूरोपीय जीवनमे उसकी शक्ति मृतप्राय हो गयी। अग्रेजी संस्कृतिपर इस जातिका जो थोडा-सा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा या कुछ ऐसे विद्वान् आइरिश लोगोने जो प्रत्यक्ष अशदान किया, जिन्हे अपनी स्वाभाविक प्रतिभाको विदेशी विचारके साँचेमे ढालना पडा था, उसे भी हम पर्याप्त क्षति-पूर्त्ति नही मान सकते। यहाँतक कि जब आयर्लैण्ड अपने स्वातत्र्य-युद्धमे अपनी स्वतंत्र आत्माको पुनः प्राप्त करने तथा उसे वाणी प्रदान करनेके लिये यत्न कर रहा था, उसके सामने यह वाधा उपस्थित हुई कि उसे एक ऐसी भाषाका प्रयोग करना पडा जो उसकी भावना और विशिष्ट प्रवृत्तिको स्वाभाविक रूपमे अभिव्यक्त नही कर सकती। समय आनेपर वह इस बाधापर विजय प्राप्त कर सकता है, इस भाषाको अपना सकता है तथा इसे अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये वाधित भी कर सकता है, पर, यदि ऐसा हो सका तो, इससे पहले कि वह अपने-आपको वैसी प्रचुरता, शक्ति और स्वतंत्र व्यक्तित्वके साथ व्यक्त कर सके जैसा कि वह अपनी गैलिक भाषामे कर सकता, उसे वहुत समय लगेगा। इस भाषाको पुन. प्राप्त करनेका उसने प्रयत्न किया था, पर स्वाभाविक बाधाएँ इतनी भारी और सुदृढ रही है तथा भविष्यमे भी सभवतः सदा ही रहेगी कि इस प्रयत्नमे किसी प्रकारकी भी पूर्ण सफलता प्राप्त नही हो सकती।

आधुनिक भारतवर्ष एक और विशेष दृष्टात है। भारतके द्रुत विकासके कार्यमे और किसी चीजने इतनी वाधा खडी नही की है, और आधुनिक अवस्थाओमे उसकी स्व-उपलब्धि और उन्नतिको इतनी अधिक सफलतापूर्वक किसी चीजने नही रोका है जितना कि सास्कृतिक साधनोके रूपमें अगरेजी भाषाके द्वारा भारतीय भाषाओको चिरकालतक अभिभूत रखनेके कार्यने किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण वात है कि भारतमे एक ऐसा उप-राष्ट्र रहा है जिसने शुरूसे ही इस वधनको अस्वीकार कर दिया; उसने अपनी भाषाके विकासके लिये पूरा प्रयत्न किया, वहुत समयतक उसे अपना एक प्रमुख कार्य वनाये रखा, उसे अत्यधिक मौलिक मस्तिष्क और अत्यधिक सजीव शक्तियाँ प्रदान की, अन्य सव कार्योकी ओर लापरवाही दिखायी, व्यापारकी भी उपेक्षा की, राजनीतिक कार्योको वौद्धिक और वाचिक मनोविनोदके रूपमे किया,—यह वगाल था, इसने ही पहले अपनी आत्माको पुनः उपलब्ध किया, अपने-आपको फिरसे आध्यात्मिक वनाया. समस्त संसारको अपनी महान् आध्यात्मिक विभूतियोको जाननेके लिये वाधित किया, उसे प्रथम आधुनिक भारतीय कवि और जगत्-प्रसिद्ध और सफल

भारतीय वैज्ञानिक प्रदान किया, भारतकी मृतप्राय कलाको पुनः जीवन और बल दिया, पहले उसीने भारतको संसारकी संस्कृतिमें पुनः स्थान दिलाया, बाह्य जीवनमें पुरस्कारस्वरूप पहले उसीने एक जीवंत राजनीतिक चेतना तथा एक ऐसी सजीव राजनीतिक गति प्राप्त की जो अपनी भावना तथा केंद्रीय आदर्शमें अनुकरणात्मक और विदेशी नहीं थी।* कारण भाषाका राष्ट्रके जीवनमें इतना अधिक महत्त्व है तथा सामान्य रूपसे मनुष्यजातिके लिये यह इतने अधिक लाभकी वस्तु है कि इसकी समुदाय-आत्माओंको अभिव्यक्तिके अपने स्वाभाविक साधनकी एक शक्तिशाली सामूहिक व्यक्तित्वके द्वारा रक्षा करनी चाहिये तथा उसका विकास और प्रयोग करना चाहिये।

सार्वभौम भाषा एकता लाती है; अतएव यह कहा जा सकता है कि मानवजातिकी एकता भाषाकी एकताकी माँग करती है; इस महत्तर लाभके लिये विभिन्नताके लाभ छोड़ देने होंगे, चाहे यह अस्थायी त्याग कितना भी गंभीर क्यों न हो। किंतु यह एक सच्ची, फलप्रद और सजीव एकता लानेमें केवल तभी सहायक होती है जब कि यह जातिकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है अथवा यह एक लंबे अनुकूलीकरण और अपने अंदरके विकासद्वारा स्वाभाविक बना ली जाती है। उन सार्वभौम भाषाओंका इतिहास, जो कि उन लोगोंके द्वारा बोली जाती थी जिनके लिये वे स्वाभाविक नहीं थी, कोई उत्साहजनक नहीं है। वे सदा ही मृत भाषाएँ बनती चली गयी, जबतक उनका जोर रहा वे अनुर्वर रहीं; फलप्रद वे तभी हुईं, जब कि वे विघटनको प्राप्त होकर नयी अन्य व्युत्पन्न भाषाओंमें खंडित हो गयी या पुरानी भाषाको, जहाँ वह अभीतक विद्यमान थी, पीछे छोड गयी जिससे कि वह इस नयी मुहर और प्रभावके सहित, पुनर्जीवन प्राप्त कर सके। पश्चिममें एक शताब्दीतक तो लैटिनका व्यापक प्रभुत्व रहा, पर बादमें वह मृत भाषा बन गयी। सर्जनके लिये बलहीन हो गयी तथा उन राष्ट्रोंमें जो उसे बोलते थे उसने कोई नयी अथवा सजीव और विकसनशील संस्कृति उत्पन्न नहीं की। ईसाई धर्म जैसी बड़ी शक्ति भी उसे नया जीवन प्रदान नहीं कर सकी। जिस समय वह यूरोपीय विचारधाराका साधन थी वह ठीक वह समय था जिसमें यूरोपीय विचार अत्यधिक सबल और परंपराबद्ध एवं न्यूनतम फलप्रद था। एक द्रुत और शक्तिशाली नया जीवन तभी विकसित हुआ जब कि विनाशोन्मुख लैटिनके

*निःसंदेह यह अब सब कुछ बदल गया है और भारतकी वर्तमान वस्तुस्थितिमें ये बातें लागू नहीं होतीं।

अथवा उन पुरानी भापाओके, जो अभी लुप्त हुई थी, ध्वसावशेपसे प्रकट हुई भाषाओने राष्ट्रीय सस्कृतिके पूर्ण साधनोके रूपमे उसका स्थान ले लिया। कारण, इतना ही पर्याप्त नही है कि एक स्वाभाविक भापा जातिके द्वारा केवल बोली ही जाय, उसे उसके उच्चतर जीवन और विचारकी अभिव्यक्ति भी होना चाहिये। ऐसी भापा जो अंगरेजोंकी विजयके बाद वैल्शके समान या फ्रांसमे ब्रैटन और प्रोवैंकालकी भाँति अथवा आस्ट्रियामे एक वार जीवनको प्राप्त हुई जैक (Czech) की भाँति या साम्राज्यीय रूसमे रूथिनियन (Ruthenian) और लिथुऐनियन (Lithuanian) की भाँति गँवारू या प्रांतीय भाषाके रूपमें जीवित रहती है, वह कमजोर पड जाती है, बंजर हो जाती है तथा जीवित रहनेके समस्त सच्चे उद्देश्यकी पूर्त्ति नही कर पाती।

भाषा जातिके सांस्कृतिक जीवनका चिह्न है,—उसकी उस विचारगत और मनोगत आत्माका सकेत है जो उसके पीछे होती है तथा उसकी कर्मगत आत्माको समृद्ध बनाती है। अतएव, विभिन्नताकी उपयोगिताएँ तथा उसके तथ्य यही अत्यधिक सरलताके साथ जाने जा सकते है, जितने वाह्य वस्तुओमे जाने जा सकते है उनसे कही अधिक सरलतासे। किंतु ये सत्य महत्त्वपूर्ण है, क्योकि ये उस वस्तुपर समान रूपसे लागू होते हैं जिसे विभिन्नता व्यक्त करती है तथा जिसका वह प्रतीक और साधन होती है। भाषाकी विभिन्नता सुरक्षित रखने योग्य है, क्योंकि सस्कृतियोकी विभिन्नता और आत्मा-मूलक समुदायोका विभेद भी सुरक्षित रखने योग्य है, क्योकि इस विभिन्नताके विना जीवन मुक्त भावमे क्रीड़ा नही कर सकता। इसके न होनेसे सकट उपस्थित हो जाता है, ह्रास और गतिरोध लगभग अनिवार्य हो जाते है। एक अखड और एकरूप मानव-एकतामें राष्ट्रीय विविधताका विलयन, जिसे प्रणालीप्रिय विचारक आदर्श मानता है और जिसके वारेमे हमने यह जान लिया है कि वह एक सारभूत सभावना है और यदि एक विशेप प्रवृत्ति प्रवल हो गयी तो वह एक भावी तथ्य भी वन सकता है, राजनीतिक शांति, आर्थिक हित, पूर्ण प्रशासन तथा सैकडो मूर्त्त समस्याओके समाधानकी ओर ले जा सकता है, जैसा कि पुराने समयमे रोमन एकताने कुछ कम परिमाणमे किया था। पर इससे अंतमे क्या लाभ हुआ यदि यह जातिके मनकी अनुत्पादक पगुता और आत्माकी गतिहीनताका कारण वन गया? सस्कृतिपर तथा मन और आत्माकी चीजोपर वल देते हुए भी हमारा अभिप्राय जीवनके वाह्य और भौतिक पक्षके महत्त्वको कम करना नही है। जिस चीजको प्रकृति इतना

अधिक महत्त्व देती है उसे हीन दिखाना मेरा उद्देश्य कदापि नही है। इसके विपरीत 'वाह्य' और 'आभ्यंतर' दोनों एक-दूसरेपर निर्भर करते हैं। कारण, हम देखते है कि किसी राष्ट्रके जीवनमे राष्ट्रीय संस्कृति और शक्तिशाली मानसिक और आत्मिक जीवनका महान् युग सदा ही एक ऐसी व्यापक गति और आंदोलनका भाग होता है जिसका राष्ट्रके वाह्य राजनीतिक, आर्थिक और व्यावहारिक जीवनमें अपना एक प्रतिपक्ष होता है। सास्कृतिक विकास भौतिक विकासको लाता है अथवा उसकी वृद्धिका कारण होता है, किंतु साथ ही इसे उसकी इसलिये भी आवश्यकता होती है कि यह स्वय पूर्ण समृद्ध और स्वस्थ शक्तिके साथ फले-फूले। मानवी जगत्की शांति, समृद्धि और स्थिर व्यवस्था एक ऐसी महान् विश्व-संस्कृतिके, जिसमे समस्त मनुष्यजाति अवश्यमेव एक हो जायगी, आधारके रूपमे अत्यंत वांछनीय वस्तु है। किंतु इन वाह्य या आंतरिक एकताओमेसे किसीको भी शांति, व्यवस्था और भलाईसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अर्थात् जीवनकी स्वतंत्रता और शक्तिसे विहीन नही होना चाहिये जो केवल विविधता और समुदाय एव व्यक्तिकी स्वतंत्रताद्वारा प्राप्त हो सकता है। तव एकता नही, तार्किक रूपसे सरल, वैज्ञानिक रूपसे कठोर तथा सुन्दर रूपसे सुघड़ और यांत्रिक एकरूपता नही, वरन् एक स्वस्थ स्वतंत्रता और विविधतासे ओतप्रोत सजीव एकता ही एक ऐसा आदर्श है जिसे हमें अपने सामने रखना चाहिये तथा जिसे मनुष्यके भावी जीवनमे प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये।

पर यह कठिन लक्ष्य प्राप्त कैसे किया जाय? यदि आत्यंतिक एक-रूपता और केंद्रीकरण आवश्यक विविधताओं और अनिवार्य स्वाधीनताओंको नष्ट करनेकी प्रवृत्ति रखते है तो एक शक्तिशाली और सवल समुदाय-व्यष्टिवाद उस पुराने पृथक्त्वकी असाध्य दृढ़ता अथवा अनवरत पुनरावृत्तिको भी ला सकता है जो मानव-एकताको पूर्णतातक नही पहुँचने देगा, यहाँतक कि उसकी जड़ भी नही जमने देगा। कारण, अवयवभूत समुदायों अथवा विभागोके लिये एक प्रकारकी वैधिक प्रशासनीय और वैधानिक पृथक्ता, जैसी कि अमरीकन संघके राज्योमे है, पर्याप्त नही होगी, यदि, जैसी कि वहाँ है, स्वाधीनता केवल यात्रिक विविधताओमें ही हो और यदि सामान्य नियमके ऐसे सव प्रत्यक्ष व्यतिक्रमोंको जिनका उद्गम एक गहनतर आंतरिक विविधतामे है निरुत्साहित किया जाता हो अथवा उन्हे रोका जाता हो। एक ऐसी एकता भी जिसके साथ जर्मन ढंगकी स्थानीय स्वाधीनता जुडी हो स्थापित करना पर्याप्त नही होगा, क्योकि वहाँ अभिभूत कर देनेवाली

वास्तविक शक्ति एक एकीकारक और अनुशासित प्रशियनवाद थी, स्वाधीनता वहाँ केवल बाह्य रूपमें ही जीवित थी। अगरेजोकी औपनिवेशिक प्रणाली भी हमे कोई लाभकारी सुझाव नही देगी, क्योकि वहाँ उनकी स्थानीय स्वाधीनता और जीवनकी एक पृथक् सबलता तो है, किंतु मस्तिष्क, हृदय और केंद्रीय आत्मा प्रधान देशमे है, बाकी तो अधिक-से-अधिक एंगलो-सैक्सन विचारके बाहरी दूरस्थित स्तभमात्र है।* स्विटजरलैंड-का प्रातीय जीवन भी कोई सफल दृष्टांत नही उपस्थित करता, कारण, उसके विस्तार और क्षेत्रके छोटे होनेके अतिरिक्त वहाँ एक अभिन्न स्विस जीवन और क्रियात्मक भावनाका तथ्य और जातिको तीव्र रूपमे विभक्त करनेवाली तीन विदेशी सस्कृतियोके प्रति मानसिक अधीनता भी विद्यमान है। एक सामान्य स्विस सस्कृति वहाँ नही है। समस्या वहाँ भी वही है, यद्यपि वह अधिक बडी और कठिन तथा अत्यत जटिल है, जो कुछ समयके लिये ब्रिटिश साम्राज्यके सामने आयी थी अर्थात् किस प्रकार—यदि यह सभव भी है तो—ग्रेट-ब्रिटेन, आयर्लैण्ड, उपनिवेशो, मिस्र तथा भारतवर्षको एक वास्तविक एकतामे बाँधा जाय, उनके लाभोको एक ही कोषमे जमा किया जाय, उनकी शक्तियोको एक ही उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाया जाय, उन्हे अपने राष्ट्रीय व्यक्तित्वके महत्त्वको अति-राष्ट्रीय जीवनके भीतर उपलब्ध करनेमे सहायता दी जाय, साथ ही उनके व्यक्तित्वको सुरक्षित रखा जाय जिसका अर्थ है कि आयर्लैण्ड आइरिश आत्मा, जीवन और सास्कृतिक तत्त्वको तथा भारतवर्ष भारतीय आत्मा, जीवन और सास्कृतिक तत्त्वको सुरक्षित रखे और अन्य देश अपनी आत्मा, सस्कृति और जीवनको विकसित करे, वे आगलीकरणकी एक सामान्य प्रक्रियासे सयुक्त न हो, जो कि पुराना साम्राज्य-स्थापक आदर्श था, बल्कि स्वतत्र मेलके एक महत्तर और अभीतक अचरितार्थ सिद्धातद्वारा एकतामे बद्ध हो। समाधान-रूपमे किसी समय भी कोई सुझाव नही रखा गया था, सिवाय इसके कि एक प्रकारकी 'गुच्छा' या 'गुलदस्ता' बनानेकी प्रणाली उपस्थित की गयी थी जिसमे गुच्छोको एक सामान्य उद्‌गम अथवा सयुक्त भूतकालकी सजीव डडीसे एकत्र नही किया जाता था—क्योकि वह डडी थी ही नही—बल्कि प्रशासनीय एकताके एक ऐसे कृत्रिम धागेसे जोडा जाता था जो केंद्र-विरोधी शक्तियोद्वारा किसी भी समय तोड़ा जा सकता था और फिर जोड़ा नही जा सकता था।

---

*ऐसी स्थिति आज पहले से कम भी हो सकती है, परन्तु इसमें कोई अधिक सुधार नहीं हुआ है।

किंतु फिर भी यह कहा जा सकता है कि एकता हमारी पहली आवश्यकता है और कितना भी मूल्य चुकाकर इसे प्राप्त करना ही चाहिये, जिस प्रकार स्थानीय इकाइयोंके पृथक् अस्तित्वको मिटाकर राष्ट्रीय एकता प्राप्त की गयी थी; पीछे राष्ट्र-इकाईसे भिन्न सामुदायिक विविधताका एक नया सिद्धात भी ढूँढ़ा जा सकता है। पर यह साम्य यहाँ भ्रामक हो जाता है, क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण तथ्यका यहाँ अभाव है। कारण, राष्ट्रके जन्मका इतिहास छोटे समुदायोंके बहुत-सी समान और बड़ी इकाइयोंके बीचमें एक वृहत्तर इकाईमे संयुक्त हो जानेका इतिहास है। उन छोटी इकाइयोंका पुराना वैभव, जिन्होंने ग्रीस, इटली और भारतवर्षमें इतने सुन्दर सांस्कृतिक पर इतने असंतोपजनक राजनीतिक परिणाम उत्पन्न किये थे, नष्ट हो चुका था, किंतु जीवनका सिद्धांत, जो विविवताशील विभिन्नता-द्वारा सजीव वना दिया गया था, सुरक्षित रखा गया; इसमे राष्ट्र विभिन्न इकाइयोंके रूपमे थे और महाद्वीपका सांस्कृतिक जीवन इसकी सामान्य पृष्ठभूमि था। यहाँ ऐसी कोई भी चीज संभव नही है। यहाँ एकमात्र एकता अर्थात् एक विश्वराष्ट्र होगा, विभिन्नताका समस्त् वाह्य स्रोत लुप्त हो जायगा। इसलिये आभ्यतरिक स्रोतको निश्चय ही वदलना पडेगा, कुछ हदतक इसे अवीन भी रखना होगा, पर इसे सुरक्षित अवश्य रखना पड़ेगा और जीवित रहनेके लिये उत्साहित भी करना होगा। यह सभव है कि ऐसा न हो, एकात्मक विचार प्रवल रूपमें व्यापक हो जाय और वह वर्तमान राष्ट्रोंको केवल भौगोलिक प्रांतो अथवा एक ही सुयात्रीकृत राज्यके प्रशासनीय विभागोमे वदल दे, परंतु उस दशामें जीवनकी प्रचड मॉग गतिरोध और विनाशके तथा नयी पृथक्ताओंको जन्म देनेवाले ध्वसके द्वारा अथवा भीतरी विद्रोहके किसी सिद्धांतके द्वारा अपना वदला चुकायेगी। उदाहरणार्थ, अराजकताका सिद्धात भी प्रवल हो सकता है, वह नयी व्यवस्थाके निर्माणके लिये वर्तमान विश्व-व्यवस्थाको नष्ट कर सकता है। प्रश्न अब यह है कि क्या कही विभिन्नतामें एकताका कोई ऐसा सिद्धात नही है जिसके द्वारा क्रिया और प्रतिक्रियाकी, उत्पत्ति और नाशकी, प्राप्ति और प्रतिहरणकी यह प्रणाली यदि पूरी तरह टाली न भी जा सके तो उसकी क्रिया ही निर्वल पड़ जाय तथा वह एक अविक स्थिर और समस्वर कार्य करनेमे प्रवृत्त हो जाय।

उनतीसवाँ अध्याय

राष्ट्रसंघका विचार

केवल एक ही साधन प्रत्यक्ष रूपमे हमारे सामने आता है जिसके द्वारा आवश्यक समुदाय-स्वतत्रता सुरक्षित रखी जा सकती है और साथ ही मनुष्य-जातिका एकीकरण भी साधित किया जा सकता है; वह यह है कि एक पूर्णतया व्यवस्थित राज्यके लिये प्रयत्न न करके एक स्वतत्र नमनीय और विकसनशील विश्व-ऐक्यको प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय। यदि ऐसा करना हो तो हमे उस अनिवार्यप्राय प्रवृत्तिको निरुत्साहित करना होगा जो राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनीय साधनोद्वारा, संक्षेपमे, यत्र-शक्तिके द्वारा, प्राप्त किये जानेवाले किसी भी एकीकरणको राष्ट्र-राज्यके विकासके दृष्टातका अनुसरण करनेकी ओर प्रेरित करे। हमे आदर्शवादी राष्ट्रीयताकी उस शक्तिको उत्साहित तथा पुनर्जीवित करना होगा जो युद्धसे पहले एक ओर तो इगलैड, रूस, जर्मनी और फ्रासके वृद्धिशील विश्व-साम्राज्योके दवावके कारण और दूसरी ओर अतर्राष्ट्रीयताके उस विरोधी आदर्शकी उन्नतिके कारण जिसके साथ देश और राष्ट्रके सकुचित विचारोके लिये एक व्यापक और विनाशकारी घृणा तथा राष्ट्रीयता-वादी देशभक्तिकी बुराइयोकी निदा भी जुडी हुई थी, नष्ट होती दिखायी देती थी। किंतु इसके साथ ही हमे पृथक्ताकी उन भावनाओका इलाज ढूँढना होगा जिनका अभीतक इलाज नही हो सका है और जो उस विचारके लिये स्वाभाविक है जिसे हमे एक नयी शक्ति प्रदान करनी होगी। यह सव कैसे किया जाय?

अपनी ओरसे हम इस प्रयत्नमे क्षतिपूरक प्रतिक्रियाओका स्वाभाविक सिद्धात लागू करते है। भौतिक विज्ञानमे भी यथार्थ समझा जानेवाला क्रिया और प्रतिक्रियाका नियम मानवी कर्ममे, जो अधिकतर सदा ही मनोवैज्ञानिक शक्तियोपर आश्रित होता है, एक अधिक स्थिर और व्यापक सत्य है। यह एक सुस्थापित तथ्य माना जा सकता है कि जीवनमे क्रियाशील शक्तियोके प्रत्येक दवावके साथ प्रतिकूल अथवा विविधताशील शक्तियोकी प्रतिक्रियाकी एक ऐसी प्रवृत्ति होती है जो उसी क्षण क्रियाशील न भी हो तो भी जो अतमे कार्यक्षेत्रमे अवश्य आयगी या फिर जो एक

समान और पूर्णतः क्षतिपूरक शक्तिके साथ कार्य न भी करे, फिर भी क्षतिपूर्त्तिकी किसी शक्तिके साथ कार्य अवश्य करेगी। यह एक दार्शनिक आवश्यकता तथा अनुभवका एक सुस्थिर तथ्य है। कारण प्रकृति शक्तियोकी परस्पर-क्रीड़ाकी एक संतुलनकारी प्रणालीके द्वारा कार्य करती है। जव वह अन्य सभी प्रवृत्तियोके विरुद्ध एक प्रवृत्तिकी प्रवल शक्तिपर कुछ समयके लिये आग्रह कर चुकी होती है तो वह ठीक विपरीत प्रवृत्तिको, यदि वह मर चुकी हो तो पुनः जिलाकर अथवा केवल सोयी पडी हो तो उसे नये सिरेसे जगाकर अथवा उसे एक नये और संशोधित रूपमे क्षेत्रमे लाकर, उसकी अतिशयोक्तियोको ठीक करनेकी चेष्टा करती है। केद्रीकरणपर लवे समयतक आग्रह कर चुकनेके बाद वह उसे कम-से-कम एक गौण विकेद्रीकरणके द्वारा परिवर्तित करना चाहती है, अविकाधिक एकरूपतापर आग्रह कर चुकनेके वाद वह वहुरूप विविधताकी भावनाको पुनः कार्यक्षेत्रमें लाती है। परिणाम, आवश्यक रूपसे, इन दो प्रवृत्तियोका समान वल ही नही, वरन् किसी प्रकारका समझौता हो सकता है, अथवा समझौतेके स्थानपर वह क्रियामे एकीकरण और परिणाममे एक ऐसी नयी रचना भी हो सकता है जो दोनों सिद्धांतोका मिश्रण होगी। हम यह आशा कर सकते है कि वह मनुष्यजातिकी वृहत् और विशाल इकाईके सवधमे एकीकरण और सामुदायिक विविधताकी प्रवृत्तियोपर वही प्रणाली लागू करेगी। वर्तमान समयमें राष्ट्र एक ऐसा अवलंवन है जिसका प्रयोग पिछली प्रवृत्ति, एकीकारक आत्मसात्करणकी साम्राज्यीय प्रवृत्तिके विरुद्ध, अपने कार्यमे करती रही है। अव मनुष्यजातिमे प्रकृतिकी कार्यधारा राष्ट्र-इकाईको नष्ट कर सकती है, जैसा कि उसने जाति और कुलको किया था, वह समुदायीकरणके एक बिलकुल ही नये सिद्धांतको भी विकसित कर सकती है, किंतु साथ ही एकीकरणकी अत्यधिक प्रवल शक्तिकी प्रवृत्तिको हितकारी रूपमे सतुलित करनेके लिये वह उसे सुरक्षित भी रख सकती है तथा उसे वल और स्थायिताकी पर्याप्त शक्ति भी प्रदान कर सकती है। इस पिछली आवश्यकतापर ही अव हमे विचार करना है।

युद्धसे पहले दो शक्तियाँ कार्य कर रही थी, एक साम्राज्यवाद, जो कई प्रकारका था,--जर्मनीका अधिक कठोर साम्राज्यवाद तथा इगलैंडका अधिक उदार साम्राज्यवाद--और दूसरा राष्ट्रवाद। ये एक ही तथ्यके दो पक्ष थे, एक तो राष्ट्रीय अहभावका आक्रामक और विस्तारप्रिय पक्ष और दूसरा उसका प्रतिरक्षात्मक पक्ष। किंतु साम्राज्यवादकी प्रवृत्तिमे यह अहभाव अत्यधिक स्व-विस्तारके कारण अतमे विलीन हो सकता था।

जिस प्रकार वह उग्र जाति, उदाहरणार्थ पर्शियन जाति, पहले साम्राज्यमें विलीन हुई और पीछे पर्शियन लोगोकी राष्ट्रीयतामे, या जिस प्रकार नगर-राज्य पहले रोमन साम्राज्यमे विलीन हुआ और पीछे जाति और नगर-राज्य दोनों बिना पुनर्जीवनकी आशाके उन राष्ट्रोमे विलीन हो गये जो जर्मन जातियोके बलपूर्वक प्रवेशके द्वारा विनाशोन्मुख लैटिन एकतामें उनके मिल जानेसे उत्पन्न हुए थे। इसी या इस प्रकारके ढगसे उग्र राष्ट्रीय साम्राज्यवाद संसारको आच्छादित करता हुआ अतमें राष्ट्र-इकाईको बिलकुल ही नष्ट कर सकता है, जिस प्रकार नगर-राज्य और जाति कुछ प्रवल नगर-राज्यो और जातियोके उग्र विस्तारसे नष्ट हो गये थे। प्रति-रक्षात्मक राष्ट्रवादकी शक्तिने इस प्रवृत्तिके विरुद्ध प्रतिक्रिया की है, इसपर प्रतिबंध लगाया है तथा सदा ही इसके विकासवादी उद्देश्यका विरोध किया है। किंतु युद्धसे पहले ऐसा प्रतीत होता था कि राष्ट्रवादकी पृथक्कारी शक्तिके भाग्यमे उस भीषण शक्तिके सामने नि.शक्त हो जाना और अतमे दब जाना लिखा है जिसके साथ विज्ञान, व्यवस्था और निपुणताने वृहत् साम्राज्यीय समुदायोके शासक राज्योको लैस कर दिया था।

ये सब तथ्य एक ही दिशाकी ओर इगित कर रहे थे। एशियाके महाद्वीपमे, कोरिया नवोदित जापानी साम्राज्यमे विलीन हो गया था। पर्शियाकी राष्ट्रीयता अवसन्न हो गयी थी तथा ऐसे प्रभाव-क्षेत्रोकी प्रणालीके नीचे दबी पडी थी जो वस्तुत: प्रच्छन्न रक्षित राज्य थे; समस्त अनुभव हमें बताता है कि रक्षित राज्यका आरभ रक्षित राष्ट्रके अतका भी आरभ होता है, यह तो निगलनेसे पहले चबानेकी पहली प्रक्रियाका एक शोभन नाम है। तिब्बत और स्याम इतने दुर्बल हो गये थे तथा उनका ह्रास इतना प्रत्यक्ष था कि उनकी स्थायी मुक्तिकी आशा नही की जा सकती थी। चीनकी रक्षा केवल संसारकी शक्तियोकी स्पर्द्धाओ तथा अपने वडे परिमाणके कारण हो गयी थी; इस परिमाणने उसे एक ऐसा वेढगा ग्रास बना दिया था जिसे निगलना ही मुश्किल था, पचाना तो अलग रहा। समस्त एशियाका चार या पॉच या अधिक-से-अधिक छ. बड़े साम्राज्योमे विभाजन एक ऐसा पूर्वनिश्चित परिणाम था जिसे एक अभूतपूर्व अतर्राष्ट्रीय क्रांतिके सिवाय और कोई चीज नही रोक सकती थी। उत्तरी अफ्रीकाकी यूरोपीय विजय मोरक्कोके विलयन मिस्रपर अगरेजोके दृढ नियत्रण तथा त्रिपोलीपर इटलीके अधिकारद्वारा प्राय पूरी हो चुकी थी। सोमालीलैंड धीरे-धीरे निगले जानेकी प्रारभिक क्रियामेंसे गुजर रहा था। अबिसीनिया, जिसकी एक बार मैनलिक (Menelık) द्वारा रक्षा हुई थी, किंतु जो

अव आतरिक कलहके कारण छिन्नभिन्न हो गया था, इटैलियन औपनिवेशक साम्राज्यके पुनर्जीवित स्वप्नका लक्ष्य वन गया था। वोअर गणतत्र साम्राज्यीय दमनकी वढती हुई तरंगोके तले दव गया था। लगभग शेप समस्त अफ्रीका तीन वड़ी और दो छोटी शक्तियोंकी निजी संपत्ति वन गया था। यूरोपमे नि.संदेह अभी भी कुछ छोटे स्वाधीन राष्ट्र वाल्कन और टच्यूटौनिक विद्यमान थे, साथ ही दो सर्वथा गौण तटस्थ देश भी थे। किंतु वाल्कन प्रदेश निरतर अनिश्चितता और उपद्रवकी रंगभूमि वने हुए थे और प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रीय अहभाव केवल तभी समाप्त हो सकते थे यदि टर्कीको यूरोपमेसे निकाल दिया जाता; ऐसा चाहे सर्विया और वलगेरियाकी अधीनतामे एक युवा, बुभुक्षित और महत्त्वाकांक्षी स्लाव साम्राज्यके निर्माणद्वारा अथवा वाल्कन प्रदेशोंको आस्ट्रिया और रूसके प्रभावमे विलीन करनेके द्वारा किया जाता। विस्तारशील जर्मनी टच्यूटौनिक राज्योके लिये लालायित था और यदि इस शक्तिको एक नये विस्मार्ककी व्यवहारकुशल और साहसपूर्ण कूटनीतिका पथप्रदर्शन प्राप्त हुआ होता,—और यह कोई असंभवनीय घटना नही होती, यदि विलियम द्वितीय युद्धके शिकारी कुत्तोको खुला छोडनेसे पहले ही मृत्युके मुखमे चला जाता,—तो इनका विलयन भी पूर्ण रूपसे सपन्न हो सकता था। अव अमरीका वाकी वचा था जहाँ साम्राज्यवादका अभी उदय तो हुआ था, पर रूजवेल्टके गणतंत्रवादके रूपमे वह प्रकट होना आरंभ हो गया था; मैक्सिकोमें अमरीकाका हस्तक्षेप, चाहे वह कुछ हिचकिचाते-से भावमे किया गया था, रक्षित राज्यकी अनिवार्यता तथा मध्य अमरीकाके अव्यवस्थित गणतंत्रके अतिम विलयनकी ओर इंगित कर रहा था; उस अवस्थामे दक्षिणी अमरीकाका सम्मिलन एक प्रतिरक्षात्मक आवश्यकता वन जाता। यह तो विश्वयुद्धका भारी तूफान था जिसने ससारको एक दर्जनसे कम वृहत् साम्राज्योमे उत्तरोत्तर विभक्त होनेसे रोक दिया।

युद्धने आश्चर्यजनक तेजीसे स्वतंत्र राष्ट्रीयताके विचारको पुन: जीवित कर दिया; इस विचारको उसने तीन रूपोमे प्रकट किया, प्रत्येककी अपनी विशेपता थी। सर्वप्रथम, यूरोपमे जर्मनीकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाके विरोवमे मित्र-राष्ट्रोको, यद्यपि वे साम्राज्य थे, स्वतंत्र राष्ट्रीयताके विशिष्ट आदर्शका आश्रय लेना पड़ा, इसके नायक और रक्षकका रूप धारण करना पडा। अमरीका, जो राजनीतिकी दृष्टिसे यूरोपसे अधिक आदर्शवादी था, 'स्वतंत्र राष्ट्रोके सघ'की घोपणाके साथ युद्धमे प्रविष्ट हुआ। अतमें रूसी क्रातिका मौलिक आदर्शवाद इस नयी सृजनशील अस्तव्यस्ततामें

बिलकुल ही नया तत्त्व ले आया, उसने कूटनीति और स्वार्थके समस्त दुराव-छिपावको छोडकर मनुष्योके ऐसे प्रत्येक समुदायका, जो प्राकृतिक रूपमे दूसरे समुदायोसे अलग था, यह अधिकार स्पष्ट, प्रत्यक्ष और सच्चे रूपमे स्वीकार कर लिया कि वह अपनी राजनीतिक स्थिति और भवितव्यताका स्वय निश्चय करे। ये तीन अवस्थाएँ वस्तुतः एक-दूसरेसे भिन्न थी, पर क्रियात्मक रूपमे प्रत्येक ही मानवजातिके वस्तुतः सभवनीय भविष्यके साथ कुछ संबंध रखती है। पहलीका आधार वर्तमान अवस्थाएँ थी और उसका उद्देश्य एक प्रकारकी क्रियात्मक पुनर्व्यवस्था था। दूसरीने भविष्यकी एक ऐसी सभावनाको, जो अत्यंत दूरकी नही थी, तत्काल ही क्रियान्वित करनेकी चेष्टा की। तीसरीका लक्ष्य था क्रातिकी कीमियागिरीसे—जिसे हम अनुपयुक्त रूपमे क्राति कहते है, वह केवल विकासकी एक द्रुत एव घनीभूत क्रिया है—शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसे उद्देश्यको पूरा करना जो अभी बहुत दूर था और जो साधारण घटनाक्रममे, यदि कभी पूरा हो सकता तो, केवल सुदूर भविष्यमे ही पूरा हो सकता था। इन सभीपर हमे विचार करना है, क्योकि ऐसी सभावना जो केवल वर्तमान समयकी चरितार्थ शक्तियो अथवा प्रत्यक्षतः चरितार्थ हो सकनेवाली सभावनाओको ही दृष्टिमे रखती है अवश्य ही भ्रातिपूर्ण सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त रूसी विचारने अपने-आपको चरितार्थ करनेका प्रयत्न करके, उस समय चाहे वह कितना भी निष्प्रभाव क्यो न रहा हो, अपने-आपको एक ऐसी वास्तविक शक्ति प्रदान की जिसकी जातिके भविष्यपर प्रभाव डाल सकनेवाली शक्तियोमे गिनती होनी चाहिये। एक महान् विचार जो व्यवहार-क्षेत्रम अपने-आपको क्रियान्वित करनेकी चेष्टा कर रहा होता है एक ऐसी शक्ति है जिसकी न तो अवगणना की जा सकती है और न ही वर्तमान समयमे उसकी तात्कालिक चरितार्थताकी प्रत्यक्ष सभावनाओके अनुसार उसका मूल्य आँका जाता है।

मित्रराष्ट्रोके पश्चिमी यूरोपीय विभाग अर्थात् इगलैड, फ्रास और इटलीने जो स्थिति ग्रहण की थी उसमे ससारकी राजनीतिक पुनर्व्यवस्थाके लिये तो स्थान था, किंतु उसकी वर्तमान व्यवस्थामे कोई आमूल परिवर्तन किया जाय इसकी ओर उसका ध्यान नही था। यह सत्य है कि उसने स्वतत्र राष्ट्रीयताओके सिद्धातकी घोषणा की थी, पर अंतर्राष्ट्रीय राज-नीतिमे, जो अभी भी स्वाभाविक शक्तियो और स्वार्थोकी क्रीडा-भूमि है तथा जिसमे आदर्श केवल मानवीय मनकी अपेक्षाकृत हालकी उपज है, सिद्धात केवल तभी प्रबल हो सकते है जहाँ और जिस हदतक वे हितोके

साथ मेल खाते है या जहाँ और जिस हदतक हितोके विरुद्ध रहनेके कारण वे अभी भी उन स्वाभाविक शक्तियोद्वारा प्रोत्साहित किये जाते है जो इन विरोधी हितोको अभिभूत करनेके लिये काफी सशक्त है। राजनीतिपर आदर्शोका शुद्ध प्रयोग अभी भी एक ऐसी क्रातिकारी कार्यप्रणाली है जिसके प्रयोगकी आशा केवल विशेष सकटके समय ही की जा सकती है। जिस दिन यह जीवनका नियम बन जायगा, उस दिन स्वय मानव-प्रकृति और जीवन एक नयी वस्तु, एक अतिपार्थिव और दिव्यप्राय वस्तु बन जायँगे। पर वह दिन अभी नही आया है। यूरोपकी मित्रशक्तियाँ स्वय ऐसे राष्ट्र थी जिनका भूत और भविष्य दोनो साम्राज्यीय थे। वे निरे विचारकी शक्तिसे, वे चाहते तो भी, उस भूत तथा भविष्यसे अपने-आपको अलग नही कर सकते थे। उनके राजनीतिज्ञोका प्रथम हित और अतएव उनका प्रथम कर्तव्य यह था कि उनमेसे प्रत्येक अपने साम्राज्यकी रक्षा करे, यहाँतक कि जहाँ उनके विचारमे वैध रूपसे ऐसा किया जा सकता हो उसका विस्तार भी करे। स्वतंत्र राष्ट्रीयताका सिद्धात अपने विशुद्ध रूपमें केवल वही लागू किया जा सकता था जहाँ उनके अपने साम्राज्यीय हितोपर कोई प्रभाव नही पड़ता था, उदाहरणार्थ टर्की और केंद्रीय शासन-सत्ताओमे ऐसा किया गया था, क्योकि वहाँ यह सिद्धात उनके अपने हितोके साथ मेल खाता था तथा, जर्मन, आस्ट्रियन और टर्किश हितोके विरोधमे, इसे एक ऐसे सफल युद्धकी स्वाभाविक शक्तियोसे सहायता मिल सकती थी जो अपने परिणाममे नैतिक रूपमे उचित था अथवा उचित दिखलाया जा सकता था, क्योकि उसे उन्ही शक्तियोने निमंत्रित किया था जिन्हें उससे कष्ट उठाना पड़ा। यह सिद्धांत अपने शुद्ध रूपमे वहाँ व्यवहारमें नही लाया जा सकता था जहाँ उनके अपने साम्राज्यीय हित इससे प्रभावित होते थे, क्योकि वहाँ यह उस समयकी शक्तियोके विरुद्ध खड़ा था और कोई ऐसी पर्याप्त तुल्यबल शक्ति नही थी जिसके द्वारा उस विरोधका प्रतिकार हो सके। अतएव यहाँ इसका प्रयोग एक विशेष सीमित अर्थमें करना चाहिये अर्थात् इसे एक ऐसी शक्तिके रूपमे प्रयुक्त करना चाहिये जो विशुद्ध साम्राज्यवादकी शक्तिको मद्धिम कर देगी। इस प्रकारसे प्रयोग करनेपर वास्तवमे अधिक-से-अधिक इसका यह अर्थ होगा कि आतरिक स्व-शासन अथवा गृह-शासनको—जिस समय या जिन अवस्थाओमे यह सभव होगा—उस हदतक छूट मिल जायगी जिस हदतक वह साम्राज्य और अधीनस्थ राष्ट्रके हितोके लिये, जहाँतक ये एक-दूसरेके साथ संगत बनकर रह सकते है, व्यवहार्य और उचित होगी। दूसरे शब्दोमे इसका वही

अर्थ लेना चाहिये जो एक साधारण मनुष्यकी सामान्य बुद्धि लेगी। रूसी ढगका विशुद्ध आदर्शवादी, जो अपने सिद्धांतकी नग्न विशुद्धताके सिवाय और किसीकी परवाह नही करता, इस सिद्धातका जो अर्थ लेता है वह न तो कही लिया जा सकता है और न कही लिया ही गया है।

स्वतत्र राष्ट्रीयताके इस विशेष सिद्धातके व्यावहारिक परिणाम तव क्या होते जव कि इसके प्रतिनिधियो अर्थात् मित्रशक्तियोकी पूर्ण विजयके वाद इसका प्रयोग करना सभव होता? अमरीकामे इसके तात्कालिक प्रयोगके लिये क्षेत्र ही न मिलता। अफ्रीकामे न केवल स्वतत्र राष्ट्र ही नही है, बल्कि सच पूछो तो वहाँ मिस्र और अविसीनियाको छोडकर कोई भी राष्ट्र नही है। कारण, अफ्रीका ही ससारका एक ऐसा भाग है जहाँ पुरानी उपजातीय अवस्थाएँ अभी भी अपना अस्तित्व रखती है तथा जहाँ केवल उपजातियाँ ही रहती है, शव्दके राजनीतिक अर्थोमे राष्ट्र नही। वहाँ मित्र-राष्ट्रोकी पूर्ण विजयका अर्थ इस महाद्वीपका तीन औपनिवेशिक साम्राज्यो, इटली, फ्रास और इगलैडमे विभाजन होता; साथमे विदेशी राज्यसे घिरे हुए वैल्जियन, स्पेनिश और पुर्तगाली राज्य भी थे, अविसीनियाका राज्य भी कुछ समयके लिये अनिश्चित-सी अवस्थामे चल रहा था। उघर एशियामे इसका अर्थ यह होता कि टर्किश साम्राज्यके खडहरोसे तीन या चार नये राष्ट्र प्रकट हो जाते, किंतु ये अपनी अपरिपक्व अवस्थाके कारण कुछ समयके लिये तो अवश्य ही इन महान् शक्तियोमेसे किसी एकके प्रभाव या संरक्षणमे रहते। यूरोपमे इसका मतलव यह होता कि अलसास और पोलैडके छिन जानेसे जर्मनी अशक्त हो जाता, आस्ट्रियन साम्राज्यका विघटन हो जाता, एड्रियाटिक तट सर्बिया और इटलीको वापिस मिल जाता, जैक और पोलिश राष्ट्र मुक्त हो जाते तथा वाल्कन प्रायद्वीप और निकट-वर्ती देशोमे कोई पुनर्व्यवस्था हो जाती। यह स्पष्ट है कि इस सबका अर्थ संसारके मानचित्रमे एक महान् परिवर्तन होता, पर यह कोई आमूल परिवर्तन न होता। कुछ नये स्वाधीन राष्ट्रोके पैदा हो जानेसे राष्ट्रीयताकी तात्कालिक प्रवृत्ति कुछ अधिक व्यापक हो जाती। साथ ही अधिकृत प्रदेशके विस्तारसे तथा विश्वव्यापी प्रभाव और सफल साम्राज्योके अतर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वोसे साम्राज्यीय समुदाय-निर्माणकी तात्कालिक प्रवृत्तिको इससे कही अधिक व्यापकता मिल जाती।

तव भी, कुछ ऐसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिणाम अवश्य ही उत्पन्न हो सकते थे जो अतमे एक स्वतत्र विश्व-ऐक्यको लानेमे सहायता पहुँचाते। इनमेसे सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम, अर्थात् रूसकी क्रातिका परिणाम,

जो युद्ध तथा उसके 'स्वतंत्र राष्ट्रीयता'के नारेसे उत्पन्न हुआ था, पर जो क्रातिकारी सिद्धांतकी सफलता और सुरक्षापर निर्भर था, यह है कि रूस एक उग्र साम्राज्य नही रहा है और वह एक साम्राज्यीय समुदायके स्थानपर स्वतत्र गणतंत्रों*का संगठन या संघ बन गया है। दूसरा परिणाम है जर्मन ढगके साम्राज्यवादका विनाश तथा कुछ ऐसे स्वाधीन राष्ट्रोकी मुक्ति जो उसके आतंकके नीचे दवे हुए थे। तीसरा यह है कि ऐसे विशेष राष्ट्रोकी सख्या वढ गयी है जो यह मॉग करने लगे है कि उनका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया जाय तथा विश्वके कार्योमे वे अपनी न्यायोचित आवाज उठा सके; यह वात इस विचारको वल देती है कि स्वतंत्र विश्व-ऐक्य अतर्राष्ट्रीय समस्याओका अंतिम समाधान है। चौथा परिणाम यह है कि व्रिटिश राष्ट्रने साम्राज्यकी अनिवार्य पुनर्व्यवस्थामे स्वतंत्र राष्ट्रीयताके विशिष्ट सिद्धातको निश्चित रूपसे स्वीकार कर लिया है।

इस विकासने दो रूप धारण किये, आयर्लैण्ड और भारतवर्षमें गृह-शासनके सिद्धांतकी स्वीकृति, तथा प्रत्येक अवयवभूत राष्ट्रकी इस मॉगकी स्वीकृति कि वह साम्राज्यकी परिषदोमे अपनी आवाज उठा सकता है जो गृहशासन†की दशामे निश्चित ही स्वतंत्र और समान आवाज होगी। सव मिलाकर इन चीजोका अर्थ होगा राष्ट्रीयतावादी साम्राज्यवादके पुराने सिद्धांतपर निर्मित साम्राज्यका—जिसकी प्रतिनिधि प्रमुख राष्ट्र इंगलैडकी

---

*'वोलशेविक शासनमें ये गणतन्त्र व्यावहारिक रूपमें उतने स्वतंत्र नही हैं जितने कि सिद्धातरूपमें। फिर भी सिद्धांत तो है ही और यह अधिक स्वतन्त्र भविष्यमें विकसित हो सकता है।

†अव यह अधिराज्य पद कहलाता है। दुर्भाग्यसे यह स्वीकृति आयर्लेंडमें विना एक अत्युग्र संघर्षके कार्यरूपमें नही परिणत की जा सकी, साथ ही देशके विभाजनसे भी इस स्वीकृतिमें वाधा पड़ी। भारतवर्षमें अधिराज्य पद एक प्रवल निष्क्रिय प्रति-रोधके वाद ही स्वीकार किया गया था पर एक ऐसे क्षत-विक्षत रूपमें जिसने पूरी स्वीकृतिको सुदूर भविष्यकी वस्तु वना दिया। मिस्र देशमें भी संघर्षके वाद ही स्वतंत्रता मिली थी, जो कि एक नियंत्रणकारी व्रिटिश संधिके अधीन थी; फिर भी राष्ट्रीयतावादी सिद्धांत स्वतंत्र ईराकके तथा अरव राज्य और सीरियन गणतंत्रोके निर्माणमें, पर्शियासे साम्राज्यीय प्रभावके निवतनमें तथा सवसे अधिक अधिराज्य पद-की उस योजनामें कार्य कर रहा था जिसने प्रभुतापूर्ण साम्राज्यके स्थानपर लोगोंको समानतन्त्रमें आंतरिक रूपमे स्वतन्त्र और समान स्थिति प्रदान की थी। इन सव परिणामोंने, चाहे ये कितने भी अपूर्ण क्यों न हों, उन महत्तर प्राप्तियोंके लिये मार्ग तैयार किया जिन्हें अव हम स्वतन्त्र जातियोके एक नये संसारके अङ्गके रूपमें चरिता र्थ हुई देख रहे हैं।

सर्वोच्च सरकार थी—राष्ट्रोंके एक ऐसे स्वतंत्र और समानतत्रमे परिवर्तन, जो अपने सामान्य कार्योकी व्यवस्था एक नमनीय सहयोगके द्वारा तथा पारस्परिक सद्भावना और समझौतेके साथ करता है। दूसरे शब्दोमें इस प्रकारके विकासका अर्थ अंतमे कुछ सीमाओके भीतर ठीक उस सिद्धातका प्रयोग भी हो सकता है जो अधिक बडे परिमाणमे एक स्वतत्र विश्व-ऐक्यके सविधानके मूलमे होगा। इससे पहले कि यह समानतत्र एक चरितार्थ तथ्य बन सके बहुत कुछ करना पडेगा, कई कार्य करने पडेगे, अनेक विरोधी शक्तियोंपर विजय प्राप्त करनी होगी, किंतु इसने सिद्धात और बीजरूपमे जन्म ले लिया है; यह बात विश्व-इतिहासकी एक उल्लेखनीय घटना है। भविष्यके लिये अब दो प्रश्न रह गये थे। इस प्रयोगका उन दूसरे साम्राज्योपर क्या प्रभाव पडेगा जो प्रबल केंद्रीकरणके पुराने सिद्धातके साथ चिपटे हुए है? सभवतः इसका यह प्रभाव होगा—यदि इसे सफलता मिली तो—कि जैसे ही इन्हे सबल राष्ट्रीयतावादी आदोलनोके विकासका सामना करना पड़ेगा ये उसी या उससे मिलते-जुलते समाधानको अपनानेके लिये प्रेरित होगे, जिस प्रकार इन्होने इगलैडसे, कुछ सशोधनके साथ, उसकी सफल पार्लमेंट-शासन-पद्धतिको अपनाया था जो उसके राष्ट्रके कार्योमे प्रयुक्त होती थी। दूसरा प्रश्न यह है कि इन साम्राज्यों तथा उन अनेक स्वाधीन असाम्राज्यीय राष्ट्रो या गणतत्रोके बीचमे, जो विश्वकी नयी व्यवस्थामे उपस्थित होगे, क्या सबध होगा? साम्राज्यीय विचारको व्यापक बनानेके नये प्रयत्नोसे इनकी कैसे रक्षा की जायगी अथवा अतर्राष्ट्रीय समितिमे इनके अस्तित्वको साम्राज्योकी विशाल और अभिभूतकारी शक्तिके साथ कैसे समन्वित किया जायगा। ठीक यही स्वतत्र राष्ट्रोके सघ (League of free Nations) के अमरीकन विचारने हस्तक्षेप किया तथा सैद्धातिक रूपमे समर्थन भी प्राप्त किया।

दुर्भाग्यवश, यह जानना सदा ही कठिन रहा कि व्यवहारमे इस विचारका ठीक क्या अर्थ होगा। इसके प्रथम प्रतिनिधि प्रेजिडैट विलसनके उद्गारपूर्ण शब्द एक ऐसे आकर्षक पर अस्पष्ट आदर्शवादको प्रकट करते थे जो स्फूर्ति-जनक विचारो और शब्दोसे पूर्ण तो था, पर उसका कोई स्पष्ट और विशेष प्रयोग नही हो सकता था। प्रेजिडैट विलसनके मस्तिष्कके पीछे जो विचार था उसे समझनेके लिये हमे अमरीकन जातिके पूर्व इतिहास तथा उसके परपरागत स्वभावपर दृष्टि डालनी चाहिये। सयुक्त राज्य अपनी भावना और सिद्धातमे सदासे ही शातिप्रिय और असाम्राज्यवादी था, तथापि उसमे राष्ट्रीयतावादी अनुभवशीलताकी एक ऐसी मद प्रवृत्ति थी जिससे कुछ

समय पूर्व यह भय उत्पन्न हो गया था कि वह साम्राज्यवादी रुख ग्रहण कर लेगी। इसने राष्ट्रको दो-तीन युद्ध करनेके लिये प्रेरित किया, जिनकी समाप्ति विजयमे हुई और फिर इन विजयोके परिणामोका इसे अपने असाम्राज्यीय शातिवादसे मेल वैठाना पड़ा। इसने मैक्सिकन टैक्सास (Mexican Texas) को युद्धद्वारा अपने साथ मिलाया और इसके वाद उसे संघके एक अवयवभूत राज्यमे वदल दिया, साथ ही वहाँ एक वडी सख्यामें अमरीकन उपनिवेशवादियोको वसा दिया। इसने क्यूवाको स्पेनसे और फिलिपाइन्सको पहले स्पेनसे और पीछे प्रवल फिलीपीनोस (Filipinos) से जीत लिया, और क्योकि यह उन्हे उपनिवेशवादियोसे नही भर सका, इसने क्यूवाको तो अमरीकन प्रभावके अधीन स्वाधीनता दे दी और फिलीपीनोसको पूर्ण स्वाधीनता देनेका वायदा किया। अमरीकन आदर्शवाद सदा ही अमरीकन हितोके चतुरतापूर्ण विचारसे सचालित होता रहा है और इन हितोमेसे सर्वोच्च हित अमरीकन राजनीतिक विचार और उसके संविधानकी सुरक्षा माना जाता है जिसके लिये समस्त साम्राज्यवादको, चाहे वह विदेशी हो, किंवा अमरीकन, एक घातक खतरा समझना होगा।

इसके फलस्वरूप तथा मित्र-शक्तियोके इस अत्यधिक सुनिश्चित लक्ष्यके साथ इसके अनिवार्य संयोगके फलस्वरूप राष्ट्र-संघ (League of Nations) में अवसरवादी और आदर्शवादी दोनों तत्त्वोका होना आवश्यक था। अवसरवादी तत्त्वका कार्य आवश्यक रूपसे मानचित्रका वैधानीकरण और संसारकी राजनीतिक रचनाको, जैसे ही वह युद्धके विक्षोभसे प्रकट हुई, उसके प्रथम रूपमे स्वीकार करना था। यदि उसके आदर्शवादी पक्षको सघमे अमरीकन प्रभावके प्रयोगसे सहायता मिलती तो वह इस बातका समर्थन करता कि उसके कार्योमे गणतंत्रीय सिद्धात अधिकाधिक लागू हो; इसके परिणामस्वरूप विश्वके एक ऐसे संयुक्त राज्यका अंतिम रूपसे उदय हो सकता था जिसमे राष्ट्रोकी जनतंत्रीय कांग्रेस शासन करनेवाली एजेसीके रूपमें होती। यदि एक सच्चा राष्ट्र-संघ व्यवहार्य सिद्ध होता या उसे सफलता मिलती तो वैधानीकरणका एक अच्छा फल यह हो सकता था कि युद्धके अवसर वहुत कम हो जाते, सर्वश्रेष्ठ अवस्थाओमे भी यह एक पूर्वनिश्चित परिणाम नही होता।* किंतु इसका एक यह वुरा परिणाम

---

*अंतमें जिस राष्ट्र-संघका निर्माण हुआ था उसमें अमरीका सम्मिलित नही था, उसकी रचना यूरोपीय कूटनीतिके साधनके रूपमें हुई थी जो उसके भविष्यके लिये एक अपशकुन था।

होता कि जिस वस्तु-स्थितिको कुछ हदतक कृत्रिम, अनियमित, नियमविरुद्ध और केवल अस्थायी रूपमे उपयोगी होना चाहिये था वह रूढ हो जाती। कानून व्यवस्था और सुस्थिरताके लिये आवश्यक है, किंतु, यदि यह परिस्थितियो और नयी आवश्यकताओकी मॉगके अनुसार कानूनोको वदलनेके लिये एक कार्यकारी यन्त्र तैयार न कर ले तो यह एक अनुदार और वाधक शक्ति वन जाता है। यह तभी हो सकता है यदि एक सच्ची संसद्, महासभा अथवा राष्ट्रोकी एक स्वतंत्र परिषद् चरितार्थ तथ्य वन जाय। इस वीच, पुराने सिद्धातोकी रक्षाके लिये जो शक्ति सचित है उसका प्रतिकार कैसे किया जाय तथा एक ऐसे विकासको निश्चित रूपसे कैसे लाया जाय जो गणतत्रीय अमरीकन आदर्शके अभीप्ट लक्ष्यकी ओर ले जायगा? ऐसे सघमे अमरीकाकी उपस्थिति तथा प्रभाव इस उद्देश्यके लिये पर्याप्त नही होगे, क्योकि उसके साथ कुछ अन्य प्रभाव भी होगे जिनमेसे कुछ उस समयकी अवस्थाको रखना चाहेगे तथा कुछकी रुचि साम्राज्यीय समाधानका विकास करनेमे होगी। एक अन्य शक्ति, एक अन्य प्रभावकी आवश्यकता पडेगी। यहॉ रूसी आदर्श, यदि वह यथार्थ रूपमें लागू किया गया और उसे एक शक्ति वना दिया गया, तो हस्तक्षेप कर सकता है और साथ ही उसका औचित्य भी सिद्ध हो सकता है। हमारे उद्देश्यके लिये यही उन तीनों साम्राज्य-विरोधी प्रभावोमेसे सवसे अधिक मनोरजक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव होगा जिन्हे प्रकृति अपनी महान् भट्ठीमे तत्त्वोके रूपमे डाल सकती है, जिससे कि वह मानवी पार्थिव पिंडको उस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये, जो अभीतक अज्ञात है, नये सिरेसे ढाल सके।

तीसवाँ अध्याय

स्वतंत्र राज्यसंघका सिद्धांत

स्वतंत्र एवं स्व-निर्णायक राष्ट्रोके सघके मूल रूसी विचारके परिणाम क्रांतिके अस्थायी तथ्यके कारण बहुत जटिल हो गये थे, क्योकि वह क्राति, जैसा कि फ्रेंच क्रातिने उससे पहले किया था, तत्क्षण ही और विना किन्ही सरल मध्यवर्ती अवस्थाओके केवल सरकारके ही सपूर्ण आधारको नही, वरन् समाजके भी संपूर्ण आधारको बदलना चाहती थी, इसके अतिरिक्त वह एक भीषण युद्धके दवावके नीचे कार्य कर रही थी। इस दोहरी स्थितिका अनिवार्य रूपसे यह परिणाम हुआ कि एक अभूतपूर्व अराजकता स्थापित हो गयी तथा गौण रूपसे यह कि एक ऐसा उग्र दल वलपूर्वक अधिपति बन बैठा जो क्रातिके विचारोके अत्यधिक दुराग्रही और हिंसक रूपका प्रतिनिधित्व करता था। इस बातमे बोलशेविक निरकुशता फ्रांसके आतक-राज्य (Reign of Terror) की जैकोविन निरंकुशतासे मिलती है। यह पिछली निरकुशता इतने काफी समयतक रही कि यह अपना कार्य पूरा कर सकी; यह समाजकी उत्तर-सामंतिक प्रणालीके स्थानपर जनतंत्रीय विकासके पहले मध्यवर्गीय आधारको बलपूर्वक और स्थायी रूपसे ले आयी। रूसमे श्रमिकदलीय निरकुशता अर्थात् सोवियत-शासनने अपना प्रभुत्व भलीभाँति जमा लिया था तथा वह अधिक समयतक ठहरा भी, इस प्रकार वह समाजको उसी विकासके दूसरे तथा अधिक उन्नत आधारकी ओर अथवा और भी आगेके विकासकी ओर ले जा सका, किंतु हमारा सवंध यहाँ केवल स्वतत्र राष्ट्रीयताके आदर्शपर इसके प्रभावसे है। इस विपयपर समस्त रूस, उस छोटे प्रतिक्रियात्मक दलको छोड़कर, शुरूसे ही एकमत था; पर बलपर आधारित शासनके सिद्धातका आश्रय लेनेसे एक ऐसा विरोधी तत्त्व उत्पन्न हो गया जिसने स्वय रूसमे ही इसे पूरी तरहसे कार्यान्वित किये जानेमे कठिनाई उपस्थित कर दी तथा उस शक्तिको कम कर दिया जिसे यह विश्व-विकासके निकट भविष्यमे प्राप्त कर सकता था।*

---

*समाजवादी रूसके अवयवभूत राज्योंको सांस्कृतिक, भाषासम्वन्धी तथा अन्य प्रकार-की स्वायत्तता प्राप्त है, किंतु शेष सब भ्रममूलक है, क्योंकि ये राज्य वस्तुतः मास्कोमें एक अत्यधिक केंद्रित निरंकुश सरकार द्वारा शासित होते हैं।

कारण, यह एक ऐसे नैतिक सिद्धातपर आधारित है जो भविष्यकी वस्तु है जब कि दूसरे राष्ट्रोका वलपर आधारित शासन भूत और वर्तमान कालकी वस्तु है और स्वतत्र चुनाव और स्वतत्र स्थितिके आधारपर नयी विश्व-व्यवस्थाकी स्थापनाके साथ मूलतः असगत है। अतएव, इसपर हमे, उस सब प्रयोगसे स्वतत्र रहकर, जो अभी किया गया है और जो निश्चय ही कुठित और अपूर्ण है, पृथक् विचार करना चाहिये।

अवतक विश्वकी राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसे आधारपर टिकी रही है जो प्रायः पूर्ण रूपसे भौतिक एव प्राणिक अर्थात्. भौगोलिक, व्यापारिक, राजनीतिक और सैनिक ढगका था। राष्ट्र-सिद्धात और राज्य-सिद्धात दोनोंकी रचना इसी आधारपर की गयी है और दोनोने इसी आधारपर कार्य भी किया है। सर्वप्रथम जिस एकताको प्राप्त करनेका यत्न किया गया, वह एक भौगोलिक, व्यापारिक, राजनीतिक और सैनिक एकता थी और इस एकताको स्थापित करते हुए जातिका प्रारभिक सवल तत्त्व जिसपर कुल और उपजाति आधारित थे सर्वत्र ही अभिभूत कर दिया गया। यह सत्य है कि राष्ट्र-भाव अभी भी अधिकतर जातिकी भावनापर आधारित है, किंतु यह एक काल्पनिक-सी बात है। राष्ट्र-भाव अनेक जातियोके सम्मिलनके ऐतिहासिक तथ्यको आच्छादित कर देता है और प्राकृतिक हेतुको ऐतिहासिक और भौगोलिक सवधका मूल प्रेरक मानता है। यह कुछ अशमे इस संवधपर और कुछ अशमे उन दूसरे सबधोपर आधारित है जो इसे बल प्रदान करते है अर्थात् समान हित, समान भाषा और समान सस्कृतिपर; इन सबने मिलकर एक ऐसा मनोवैज्ञानिक विचार, एक ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता विकसित कर ली है जो राष्ट्रवादके सिद्धांतके रूपमे प्रकट होती है। किंतु राष्ट्र-सिद्धात और राज्य-सिद्धात सर्वत्र एकमत नही होते, राष्ट्र-सिद्धात प्राय. ही राज्य-सिद्धातके द्वारा अभिभूत हो गया है, इसके कारण सदा वही भौतिक और प्राणिक अर्थात् भौगोलिक, राजनीतिक और सैनिक आवश्यकता अथवा सुख-सुविधा रहे है। दोनोके सघर्पमे, जैसा कि सव प्राणिक और भौतिक सघर्षोमे होता है, शक्ति सदा अतिम निर्णायक होती है। एक नया सिद्धात* प्रस्तावित किया गया है अर्थात् ऐसा प्रत्येक स्वाभाविक समुदाय, जो अपना अलग पृथक्त्व अनुभव करता है, अपना पद और भाग चुननेका अधिकार रखता है; यह सिद्धात

*मित्रराष्ट्रोने इस प्रस्तावको "स्व-निर्धारण" के नामसे सिद्धांत-रूपमें स्वीकार कर लिया था, पर कहना व्यर्थ है कि ज्योंही इस घोषणाका प्रयोजन पूरा हो गया त्योंही इसका त्याग कर दिया गया।

इन प्राणिक और भौतिक कारणोको सर्वथा अमान्य कर देता है और इनके स्थानपर, राजनीतिक और आर्थिक माँगके विरोधमे, स्वतंत्र इच्छा और स्वतंत्र चुनावका एक शुद्ध मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ले आता है। अथवा यूँ कहें कि समुदायीकरणके प्राणिक और भौतिक कारण केवल तभी ठीक माने जायँगे जव उन्हे यह मनोवैज्ञानिक स्वीकृति मिल जायगी और वे इसे ही अपना आधार वना लेगे।

ये दो प्रतिद्वंद्वी सिद्धांत कैसे कार्य करते है यह स्वयं रूसके दृष्टातसे देखा जा सकता है जो आज प्रत्यक्ष रूपसे हमारे सामने है। फ्रांस, स्पेन, इटली, ग्रेट-ब्रिटेन अथवा आधुनिक जर्मनीकी भाँति रूस, शव्दके सही अर्थमे, कभी भी राप्ट्र-राज्य नही रहा है। वह कई राप्ट्रोका—वृहत् रूस, रुथेनियन युकरेन, श्वेत रूस, लिथुआनिया, पोलैड, साइवेरिया, जो सभी स्लाविक है तथा जिनमें तातारी और जर्मन रवतका मिश्रण है, कूरलैड, जो अधिकतर स्लाव पर आशिक रूपमे जर्मन है, फिनलैड, जिसकी शेष रूससे किसी भी प्रकारकी समानता नही है और अभी हालमे तुर्किस्तानके एशियाई राप्ट्रोका—समूह रहा है, ये सव एक ही वधन अर्थात् जारके शासनसे वँधे हुए थे। इस प्रकारका ऐक्य मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे केवल इसलिये उचित ठहराया जाता था कि भविष्यमे इन सवके एक ही राष्ट्रमें संयुक्त हो जानेकी संभावना है तथा रूसी भाषा इस राष्ट्रकी सस्कृति, विचार और शासनका साधन होगी; यही उद्देश्य पुरानी रूसी सरकारके सामने था। ऐसा केवल सरकारी वल-प्रयोगके द्वारा ही किया जा सकता था, यह ढंग आयर्लैंडमे इंगलैडके द्वारा एक लवे समयतक व्यवहारमे लाया गया था, जर्मनीने भी जर्मन पोलैड और लौरेनमे इसे प्रयोगमें लानेका यत्न किया था। एक ऐसी सवप्रणाली भी काममे लायी जा सकती थी जो आस्ट्रियाने हंगरीके साथ अपने दूसरे भागीदारके रूपमे अपनायी थी अथवा एक ऐसे दवावकी विधि भी प्रयोगमे लायी जा सकती थी जो उदारता, सुविधाओ तथा प्रशासनीय ढंगकी अर्ध-स्वायत्तताके तरीकोसे नरम कर दी गयी हो, किंतु आस्ट्रियामे इन्हे कम ही सफलता प्राप्त हुई। संघीकरण अभीतक एक सफल सिद्धात नही सिद्ध हुआ है, सिवाय उन राज्यों, राप्ट्रो और उपराप्ट्रोके वीचमे, जो एक ही सस्कृति, एक ही अतीतके अथवा पूर्व-विकसित या विकासोन्मुख समान राप्ट्र-भावके वधनोसे सयुक्त होनेकी प्रवृत्ति रखते थे; ऐसी अवस्थाएँ अमरीकाके राज्योमे और जर्मनीमे विद्यमान थी, और चीन और भारतवर्पमे भी है, पर ये आस्ट्रिया अथवा रूसमें विद्यमान नही थी। या फिर, यदि स्थितियाँ और विचार परिपक्व

अवस्थातक पहुँच जाते तो इस प्रयत्नके स्थानपर राष्ट्रोके एक ऐसे स्वतत्र एकत्वको लानेके लिये भी यत्न किया जा सकता था जिसमे जार एक अति-राष्ट्रीय विचारका प्रतीक और एकताका सूत्र होता, किंतु इसके लिये ससारकी स्थिति अभी तैयार नही थी। एक हठपूर्ण मनोवैज्ञानिक वाधाके विरुद्ध एकताका प्राणिक और भौतिक उद्देश्य केवल सैनिक, प्रशासनीय और राजनीतिक शक्तिका ही आश्रय ले सकता था, जिसे पहले कई वार सफलता भी मिल चुकी है। रूसमे, जहाँतक साम्राज्यके स्लाविक भागोका सवंध है, यह संभवतया धीरे-धीरे सफल हो रही थी; फिनलैंडमे और शायद पोलैंडमे भी, यह सभवत उससे कही अधिक असाध्य सीमातक असफल हो गयी होती जिस सीमातक आयलैंण्डके अदर वल प्रयोगका लवा शासन असफल हुआ था; इसका एक कारण यह है कि रूसी अथवा जर्मन निरकुश शासन भी करौमवैल और एलिजावेथ*के विस्तृत, पूर्ण और अत्यत क्रूर तथा लूट-खसोट मचानेवाले तरीकोका पूर्ण और सहज रूपसे प्रयोग नही कर सकता था, साथ ही एक कारण यह भी है कि राष्ट्रवादका प्रतिरोधी मनोवैज्ञानिक तत्त्व अत्यधिक स्वचेतन तथा सगठित और निष्क्रिय प्रतिरोध करने अथवा जीवित रहनेकी निष्क्रिय शक्ति प्राप्त करनेके योग्य हो गया था।

किंतु, यदि मनोवैज्ञानिक औचित्यमे कुछ कमी थी या वह केवल निर्माणकी प्रक्रियामेसे गुजर रहा था, तो पूर्णत: एकीकृत रूस—जिसमे फिनलैंड भी शामिल था—का प्राणिक और भौतिक पहलू भी अत्यत प्रवल था। पीटर और कैथेरिन शासकोका कार्य एक सवल राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक आवश्यकतापर आधारित था। राजनीतिक और सैनिक दृष्टिसे देखा जाय तो इन सव स्लाविक राष्ट्रोको विना एकताके सव कुछ खो देना था, क्योकि एकता न होनेसे ये किसी भी सवल पडोसी, स्वीडन, टर्की, पोलैंड—जव कि पोलैंड एक शक्तिशाली शत्रु-राज्य था—या जर्मनी और आस्ट्रियाके आतककारी सपर्कके प्रति खुले हुए थे या एक-दूसरेको खोल देते थे। यूकरैन कौसेक्स (Ukraine Cossacks) का रूसके साथ मेल, वस्तुत., पारस्परिक समझौतेके द्वारा तथा पोलैंडके विरुद्ध रक्षात्मक उपायके रूपमे हुआ था। स्वयं पोलैंडका भी, जव एक वार उसकी शक्ति

*नाजी जर्मनीमें मध्यकालीन वर्वर क्रूरताकी पुनरावृत्ति होनेके वाद, जो 'आधुनिक' मानवजातिकी सवसे अधिक अनोखा वर्तमान घटना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किंतु यह शायद एक अस्थायी ढगकी विच्युति मानी जा सकती है, यद्यपि यह मानव-स्वभावकी उन अधिक अंधेरी समावनाओपर धुधला-सा प्रकाश डालती है जो अभी भी अपना अस्तित्व रखती हैं।

क्षीण हो गयी थी, इस बातमे अधिक लाभ था कि वह रूसके साथ मिल जाय इसकी अपेक्षा कि वह तीन बड़े और सबल पड़ोसियोंके बीचमें अकेला और नि.सहाय अवस्थामें पड़ा रहे; रूसमें उसका पूर्ण रूपसे समावेश निश्चित ही तीन बुभुक्षित शक्तियोंमे उसके घातक विभाजनसे अधिक अच्छा समाधान होता। उधर, ऐक्यके द्वारा एक ऐसे राज्यका निर्माण हुआ जो कि भौगोलिक दृष्टिसे खूब सयुक्त था, फिर भी विस्तारमें बहुत बड़ा, जनसंख्यामें विपुल, प्राकृतिक परिस्थितियोंसे भलीभाँति सुरक्षित, तथा सभावित साधनोंसे इतना भरा-पूरा था कि यदि उसकी उचित व्यवस्था की जाती तो वह अपने-आपको केवल सुरक्षित ही नही रख सकता, वरन् आधे एशियापर, जैसा कि वह कर ही रहा है, और आधे यूरोपपर, जैसा कि वह एक बार बिना उचित व्यवस्था और विकासके करने ही वाला था, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता, जब कि उसने आस्ट्रो-हंगरी और बाल्कनमें एक सशस्त्र मध्यस्थके रूपमें अथवा कही उद्धारक और कही आतंकके नेताके रूपमे हस्तक्षेप किया था। इस दृष्टिसे फिनलैंडका आत्मसात्करण भी उचित था, क्योंकि फिनलैंडके स्वतंत्र रहनेसे रूस भौगोलिक और आर्थिक दृष्टिसे अपूर्ण रह जाता तथा अपने तंग बाल्टिक निकासमे घिरकर अपना विस्तार न कर सकता। और, उधर सबल स्वीडन या शक्तिशाली जर्मनीके अधीनस्थ फिनलैंड रूसी राजधानी और रूसी साम्राज्यके लिये एक स्थायी सैनिक खतरा हो जाता। इसके विपरीत, फिनलैंडके रूसमें विलयनसे रूस इस महत्त्वपूर्ण स्थलपर सुरक्षित, निर्भय और सबल हो गया। यह भी कहा जा सकता है कि स्वय फिनलैंडको भी कोई वास्तविक हानि नही पहुँची, क्योंकि यदि वह स्वाधीन रहता तो वह इतना छोटा और दुर्बल होता कि वह अपने आसपासकी साम्राज्यीय उग्रताका सामना न कर पाता और उसे तब भी रूसकी सहायतापर निर्भर रहना पड़ता। ये सब लाभ उन केंद्रविरोधी शक्तियोंद्वारा, कम-से-कम अस्थायी रूपमें तो नष्ट कर ही दिये गये है जो क्रांति और राष्ट्रोंके स्वतंत्र चुनावसंबंधी उसके सिद्धांतके द्वारा खुली छोड़ दी गयी थी।

यह स्पष्ट है कि ये तर्क, क्योंकि ये प्राणिक और भौतिक आवश्यकतापर आधारित है तथा नैतिक और मनोवैज्ञानिक औचित्यकी ओरसे उदासीन है, बहुत दूरतक ले जाये जा सकते थे। ये आस्ट्रियाके ट्रीएस्ट (Trieste) और उसके स्लाविक राज्योंपर स्थापित विगत प्रभुत्वको ही, उचित नही ठहराते, जैसा कि उन्होने इंगलैंडद्वारा आयर्लैण्डकी विजय और आइरिश लोगोंके सतत विरोधके होते हुए भी उसे अधीन रखनेके कार्यको उचित

ठहराया था, वल्कि कुछ और आगे वढकर जर्मनीकी सर्वजर्मनवादकी योजनाका, यहाँतक कि विलीनीकरण और राज्य-विस्तारके उसके वडे विचारका भी समर्थन करते। इससे भी आगे वढकर यूरोपके राष्ट्रोके उस समस्त साम्राज्यीय विस्तारको भी सत्य सिद्ध किया जा सकता था जिसे अव नैतिक रूपमे कोई उचित नही मानता और जो केवल वादमे अति-राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक एकताओंकी उत्पत्तिके कारण नैतिक रूपमे उचित ठहराया जा सकता, क्योंकि प्राणिक और भौतिक कारण तो सदा ही रहते हैं। यहाँतक कि एकीकृत रूसकी संस्कृति और उसके जीवनके उनके निर्माण-कालमे नैतिक अथवा कम-से-कम मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक औचित्यको विस्तारित किया जा सकता था; अनुयोजन (Annexation) और सरकारी शक्तिके द्वारा यूरोपीय सभ्यताको फैलाने और उसे व्यापक वनानेकी यूरोपकी माँग एक अधिक वडे पैमानेपर एक प्रकारका नैतिक सादृश्य उपस्थित करती है। इसे ही यदि आगे वढ़ाया जाता तो यह ससारके एक ऐसे एकीकरणके युद्ध-पूर्व जर्मन आदर्शको उचित ठहरा सकती जो जर्मन शक्ति और जर्मन सस्कृतिकी अजेय ढालके वलपर किया जाता। प्राणिक आवश्यकताके विस्तारका चाहे कितना भी दुरुपयोग हो सकता हो, इसे ससारमे कुछ अधिकार तो प्राप्त होना ही चाहिये। कारण, ससार अभी भी अपने मूलमे वलके नियमसे,—चाहे यह वल अपने प्रयोगमे कितना भी हलका क्यो न हो—और प्राणिक एव भौतिक आवश्यकता-द्वारा शासित होता है। कम-से-कम रूस, सयुक्त राज्य,* यहाँतक कि अपनी प्राकृतिक सीमाओके भीतर आस्ट्रिया† जैसे प्राकृतिक और भौगोलिक एकीकृत राज्योमे तो इस आवश्यकताको स्थान मिलना ही चाहिये।

रूसी सिद्धात वस्तुत. उस सभावित भविष्यकी वस्तु है जिसमे नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धातोको प्रवल होनेका सच्चा अवसर मिलेगा और प्राणिक और भौतिक आवश्यकताओको इनके अनुकूल वनना होगा जव कि अव इससे उलटा है। यह सिद्धांत उस व्यवस्थाके साथ सवव रखता है जो वर्तमान अतर्राष्ट्रीय प्रणालीसे ठीक उलटी होगी। जो वर्तमान वस्तुस्थिति है उसे ऐसी वाधाओके साथ सघर्ष करना पडेगा जो शायद न भी पार

*अव हमें इसकी जगह ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड कहना चाहिये, क्योंकि संयुक्त राज्य-का अस्तित्व अव नही है।

†इस दृष्टिसे वे भीषण आर्थिक परिणाम ध्यान देने योग्य हैं जिनकी उत्पत्ति आस्ट्रियन साम्राज्यके उन छोटे-छोटे राष्ट्रोंमें विभक्त होनेसे हुई थी जो उसके स्थानपर उदित हुए हैं।

की जा सके। रूसियोंका इसके लिये बड़ा मजाक उड़ाया गया था और इससे भी कही अधिक उनकी निन्दा की गयी थी कि वे स्वेच्छाचारी और सैनिकवादी जर्मनीको जो दूसरे साम्राज्योंकी भाँति कपटपूर्ण कूटनीति तथा तलवारके बलपर अपना राज्य-विस्तार करनेपर तुला हुआ था, राष्ट्रोंके स्वतंत्र चुनावपर आधारित जनतंत्रीय शाति प्रदान करना चाहते थे। व्यावहारिक राजनीतिकी दृष्टिसे यह मजाक उचित भी था, क्योंकि इस प्रस्तावने तथ्यो और शक्तियोंकी उपेक्षा करके निःशस्त्र और निरे विचारकी शक्तिको अपना आधार बना लिया था। इन पूर्णरूपेण आदर्शवादी रूसियोने वस्तुतः उसी भावनासे कार्य किया जिसके वशमें होकर फ्रेंच लोगोंने अपने क्रांतिकारी उत्साहकी पहली उमगमें कार्य किया था। इन्होंने अपना स्वाधीनता और जनतंत्रीय शातिका नया सिद्धांत संसारके सामने—प्रारंभमें केवल जर्मनीके सामने ही नही—इस आशामे रखा था कि इसका नैतिक सौंदर्य और सत्य तथा इसकी प्रेरणा सरकारोको नहीं, बल्कि लोगोंको इसकी स्वीकृतिके लिये बाधित कर देगे जो सरकारोको इसके स्वीकार करनेके लिये विवश कर देंगे और यदि उन्होंने विरोध किया तो उन्हें उलटा देंगे। फ्रेंच क्रांतिकारियोंकी भाँति इन्हे भी ऐसा लगा कि हमारा संसार अभी भी एक ऐसा संसार है जिसमे आदर्श केवल तभी लागू हो सकते है यदि इनके साथ अथवा इनके पीछे अत्यधिक प्राणिक और भौतिक शक्ति हो। फ्रेंच जैकोबिन अपने एकात्मक राष्ट्रवादके आदर्शके साथ, अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर ही, अपने सिद्धातको विरोधी संसारके मुकाबलेमे शस्त्रबलके द्वारा कुछ समयके लिये विजय दिलानेमे समर्थ हुए। रूसी आदर्शवादियोने जब अपने सिद्धातको कार्यान्वित करनेके लिये प्रयत्न किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि स्वय उनका सिद्धात ही उनकी दुर्बलताका कारण था। उन्होने जर्मनीकी उग्र कठोरताके सामने अपने-आपको निःसहाय अनुभव किया, इसलिये नही कि उनमे संगठनका अभाव था,—क्योंकि क्रांतिकारी फ्रांसने असगठित होते हुए भी बाधापर विजय प्राप्त कर ली थी,—किंतु इसलिये कि पुराने स्वीकृत रूसी ढाँचेके विलयनने उन्हे संयुक्त और संगठित कार्यके साधनोंसे वचित कर दिया था। यह सब होते हुए भी उनका सिद्धात नैतिक होनेके कारण उस उग्र राष्ट्रवादसे अधिक उन्नत था जो फ्रेंच क्रांतिका सपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय परिणाम था; भविष्यके लिये यह सिद्धांत और भी अधिक अर्थपूर्ण है।

कारण, यह स्वतंत्र विश्व-ऐक्यके उस भविष्यके साथ संबंध रखता है जिसमें स्वतत्र स्व-निर्धारणका यही सिद्धात या तो उस व्यवस्थाका

प्रारंभिक कार्य या मुख्य और अंतिम परिणाम होगा जिसमें संसार राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संबंधोंके अंतिम आधारके रूपमें युद्ध और बलप्रयोगको समाप्त कर देगा और इसके स्थानपर स्वतंत्र सहमतिको अपनानेके लिये तैयार हो जायगा। यदि यह विचार कार्यान्वित हो सकता—चाहे ऐसा केवल रूसकी सीमाओंके भीतर ही होता*—और केवल राष्ट्रीय केंद्रीकरणसे प्राप्त हो सकनेवाले उग्र बलप्रयोगके द्वारा ही सामूहिक कर्मके किसी सिद्धांतपर पहुँच सकता, तो यह विश्वमें एक नयी नैतिक शक्ति बन जाता। अप्रत्याशित क्रांतियोंको छोड़कर यह निश्चय ही, बिना अत्यधिक भय-संकोच और मर्यादाओंके, और कहीं भी स्वीकार नहीं किया जायगा, किंतु संसारको अपने लिये तैयार करनेके लिये यह फिर भी एक शक्तिके रूपमें कार्य करता रहेगा। और, जब संसार तैयार हो जायगा तो यह मानवी एकताकी अंतिम व्यवस्थामें एक महान् और निर्णायक भाग लेगा। पर यदि यह चरितार्थताकी अपनी वर्तमान प्रवृत्तिमें पूर्णतया असफल भी हो जाय, तो भी इसे ऐसे भविष्यमें, जो अधिक अच्छी तरह तैयार हो चुका होगा, अपना भाग लेना ही होगा।

---

* उस समय इस विचारमें सत्यता थी, किंतु अब इसका महत्त्व नष्ट हो चुका है और इसका कारण क्रांतिक। [illegible] वह सिद्धांत है जो अभीतक भी सोवियतवादका आधार है।

इकतीसवाँ अध्याय

स्वतंत्र विश्व-संघकी शर्तें

स्वतत्र विश्व-सघको अपने स्वरूपमे एक ऐसी जटिल एकता होना चाहिये जो विभिन्नतापर आधारित हो, और फिर उस विभिन्नताको स्वतंत्र स्व-निर्धारणपर आश्रित होना चाहिये। एक यंत्रतुल्य एकात्मक प्रणालीके विचारमे मनुष्योके भौगोलिक समूह प्रांतीय विभाजन और प्रशासनके लिये सुविधाजनक साधन समझे जायँगे, काफी हदतक उसी भावनामें जिसमे फ्रेंच क्रातिने पुराने प्राकृतिक और ऐतिहासिक विभागोकी पूर्ण रूपसे उपेक्षा करके फ्रांसका पुनर्निर्माण किया था। यह प्रणाली मनुष्यजातिको एक अखंड राज्य समझेगी और यह पुरानी पृथक्कारी राष्ट्रीय भावनाको पूर्ण रूपसे मिटा देनेकी चेष्टा करेगी। यह संभवत: महाद्वीपोके आधारपर अपनी व्यवस्था करेगी और फिर महाद्वीपोको सुविधाजनक भौगोलिक सीमाओद्वारा पुन. विभाजित कर देगी। इस अन्य प्रकारके बिलकुल विरोधी विचारमे एकताका भौगोलिक और भौतिक सिद्धात मनोवैज्ञानिक सिद्धांतके अधीन हो जायगा, क्योकि यांत्रिक विभाजन नही, बल्कि एक सजीव विभिन्नता इसका लक्ष्य होगी। यदि इस लक्ष्यको प्राप्त करना है, तो राष्ट्रोको इस बातकी अनुमति मिलनी चाहिये कि वे अपनी स्वतंत्र इच्छा और स्वाभाविक आकर्षणोके अनुसार अपने-आपको समूहोमें विभक्त करे। किसी भी अनिच्छुक राष्ट्र या मनुष्योंके विशिष्ट समुदायको अपनी इच्छाके विरुद्ध दूसरे जनसमुदायकी सुविधा, उन्नति किंवा राजनीतिक आवश्यकताके लिये अथवा सामान्य सुविधाके लिये भी किसी अन्य प्रणालीको स्वीकार करने, उससे सबध जोड़ने तथा सबंध बनाये रखनेके लिये किसी प्रतिबंध या शक्तिके द्वारा विवश नही किया जाना चाहिये। इंगलैंड और कनाडा या इगलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे राष्ट्र या देश भी जो भौगोलिक दृष्टिसे एक-दूसरेसे बहुत अलग है, आपसमे जुडे रह सकते है। उधर कुछ राष्ट्र जो भौगोलिक दृष्टिसे बहुत पास-पास है अलग रहना भी पसद कर सकते है, उदाहरणार्थ, इगलैंड और आयर्लैण्ड या फिनलैंड और रूस। एकता तब जीवनका सबसे बड़ा सिद्धांत होगी, किंतु स्वतत्रता उसकी आधारित-शिला रहेगी।*

*अवश्य ही प्रत्येक सिद्धांतको एक उचित सीमातक हो प्रयोगमें लाना चाहिये, अन्यथा विचित्र प्रकारकी तथा अव्यवहार्य मूर्खताएँ सजीव सत्यका स्थान ले सकती हैं।

समुदायीकरणकी यह प्रणाली एक ऐसे संसारमे, जो वर्तमान समयके राजनीतिक और व्यापारिक आधारपर टिका हुआ है, वहुधा अजेय कठिनाइयाँ अथवा गभीर क्षति उपस्थित कर सकती है; केवल एक ऐसी अवस्थामे ही, जिसमे एक स्वतत्र विश्व-प्रेम संभव होगा, ये कठिनाइयाँ और हानियाँ निष्प्रभाव हो सकती हैं। रक्षा अथवा आक्रमणकी शक्तिके लिये वल-पूर्वक लादे गये ऐक्यकी सैनिक आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी, क्योकि युद्धकी अव और सभावना ही नही रहेगी। अतर्राष्ट्रीय मत-विभेदोके निर्णायकके रूपमे शक्ति और स्वतंत्र विश्व-सघ दोनो सर्वथा विरोधी विचार हैं और व्यवहाररूपमे दोनो इकट्ठे नही रह सकते। राजनीतिक आवश्यकता भी समाप्त हो जायगी, क्योकि यह अधिकतर सघर्षकी भावना और उसके फलस्वरूप एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय जीवनकी अरक्षित अवस्थाओसे वनी हुई है जो ससारमे भौतिक और सघटनात्मक दृष्टिसे अत्यत सवल राष्ट्रोको ही प्रधानता प्रदान करता है; यह भावना और ये अवस्थाएँ ही सैनिक आवश्यकताको उत्पन्न करती हैं। एक ऐसे स्वतंत्र विश्व-सघमें, जो अपने कार्योको स्वयं निर्धारित करता हो तथा समझौतेके द्वारा अथवा जहाँ समझौता सफल न हो, वहाँ मध्यस्थताके द्वारा अपने झगडे निपटाता हो, एक-दूसरेसे पृथक् वडे-वड़े जनसमुदायोको एक अखड राज्यमे अतर्भूत करनेका एकमात्र राजनीतिक लाभ समुदाय और जनसख्यासे उत्पन्न होनेवाला एक महत्तर प्रभाव होगा। किंतु यह प्रभाव कार्यकारी नही हो सकेगा यदि यह अंतर्भाव उन राष्ट्रोकी इच्छाके विरुद्ध हो जो राज्यमे मिलाये जानेवाले हैं। कारण, तव यह प्रभाव राज्यके अतर्राष्ट्रीय कार्यमे दुर्वलता और फूटको जन्म देगा, जवतक कि यह अतर्राष्ट्रीय प्रणालीमे अपने परिणाम और जनसख्याके वलपर, विना अपने अगभूत जनसमुदायोकी इच्छा और सम्मतिका ख्याल किये अधिक शक्ति प्राप्त न कर ले। इस प्रकार फिनलैंड और पोलैंडकी आवादी मतोकी सख्या अत्यधिक वढा सकती है, जिनकी सयुक्त रूस राष्ट्र-परिपद्मे गणना कर सकता है, किंतु फिन और पोल लोगोकी इच्छा, भावना और मतकी अभिव्यक्तिका उस यात्रिक और अ-वास्तविक एकता*मे कोई स्थान नही होगा, किंतु यह न्याय और तर्ककी आधुनिक भावनाके विपरीत होनेके साथ-साथ स्वतंत्रताके उस सिद्धान्तसे भी असगत होगा जो विश्व-व्यवस्थाका एकमात्र दृढ और शातिपूर्ण [illegible] हो सकता है। इस प्रकार, युद्धके उन्मूलन और शातिपूर्ण सा[illegible]

मान्य
सयुक्त
। अभी
इस प्रकार

*भारतवर्षका राष्ट्र-संघमें समाविष्ट होना प्रत्यक्ष रूपसे इसी ढंगकी व्य[illegible]

मतभेदोके निपटारेका फल यह होगा कि अनैच्छिक ऐक्यके लिये सेनाकी आवश्यकता नही रहेगी, उधर संसारकी प्रत्येक जातिके स्वतत्र आवाज और स्वतंत्र स्थितिविपयक अधिकारका फल यह होगा कि राजनीतिक रूपमे युद्ध अनावश्यक हो जायगा और उसका कोई लाभ नही होगा। युद्धका उन्मूलन और समस्त जातियोके समान अधिकारोकी स्वीकृति एक-दूसरेके साथ घनिष्ठ रूपमे जुड़े हुए हैं। यदि जातिका किसी प्रकारका भी एकीकरण चरितार्थ होता है तो उस अन्योन्याश्रितताको जो, कुछ समयके लिये यद्यपि अपूर्ण ढंगसे ही यूरोपीय संघर्पके समय स्वीकार की गयी थी, स्थायी रूपसे स्वीकार करना पडेगा।

आर्थिक प्रश्न अभी वाकी है और यह प्राणिक और भौतिक व्यवस्थाकी एकमात्र और ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या है जो इस ढगकी विश्व-व्यवस्थामें किसी भी प्रकारकी गंभीर कठिनाइयाँ उपस्थित कर सकती है अथवा जिसमें एकात्मक प्रणालीके लाभ इस अधिक जटिल एकताके लाभोको वास्तविक रूपमे अतिक्रांत कर सकते हैं। फिर भी दोनोमें एक राष्ट्रका दूसरेके द्वारा वलपूर्वक किया गया आर्थिक शोपण, जो वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाका एक काफी वड़ा भाग है, अवश्य ही समाप्त कर दिया जायगा। तव एक प्रकारके शातिपूर्ण आर्थिक संघर्पकी संभावना, एक पृथक्ता, कृत्रिम अवरोधोकी रचना शेष रह जायगी और यह एक ऐसा तथ्य होगा जो वर्तमान व्यापारिक सभ्यताका एक विशिष्ट और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग रह चुका है। किंतु यह संभव है कि यदि एक वार संघर्पका तत्त्व राजनीतिक क्षेत्रसे दूर हटा दिया गया तो आर्थिक क्षेत्रमे भी उस संघर्षका दवाव वहुत हदतक कम हो जायगा। तव स्वयं-संपूर्णता और प्रधानताके लाभ, जिन्हें आजकल राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता और सघर्ष तथा विरोधी सवंधोकी संभावना अत्यधिक महत्त्व देते हैं, काफी हदतक अपनी कठोरता छोड़ देंगे और एक अधिक स्वतत्र आदान-प्रदानके लाभ अधिक सरलतासे सामने आ जायँगे। उदाहरणार्थ, यह स्पष्ट है कि एक स्वतत्र फिनलैंड रूसी व्यापारको फ़िनलैंडके वंदरगाहोमें अथवा इटैलियन ट्रिऐस्ट वर्तमान आस्ट्रियन प्रांतोके व्यापारको सहर्ष मार्ग देकर कही अधिक लाभ उठायेगा अपेक्षा इसके कि वह अपने और अपने परिपोपकोके वीचमे एक अवरोध उदा[illegible] कर ले। आयर्लैण्डको, जो कि राजनीतिक और प्रशासनीय रूपमे सवसे [illegible]न है और जो अपनी कृपि और शिल्प-संवधी शिक्षाकी उन्नति करने *अवश्[illegible]नी उत्पादन-शक्तिको वढ़ानेमे समर्थ है, अपनेको ग्रेट-व्रिटेनसे अलग अन्यथा [illegible]क्षा उसके व्यापारकी गति-विधिमे भाग लेनेमे अधिक लाभ

होगा; इसी प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन भी आयर्लैण्डको दरिद्र और भुखमरीसे पीडित बनाकर रखनेकी अपेक्षा उससे समझौता करके अधिक लाभ उठा सकता है। संसारभरमे, एक वार ऐक्यके विचार और लक्ष्यके निश्चित रूपमे फैल जानेके बाद हितोकी एकता अधिक स्पष्ट रूपमे दृष्टिगोचर होने लगेगी तथा यह भी स्पष्ट हो जायगा कि स्वाभाविक रूपसे सामजस्यपूर्ण जीवनमे किये गये समझौते और पारस्परिक सहयोग पृथक्कारी अवरोधोके दवावसे प्राप्त की गयी क्षुब्ध और कृत्रिम समृद्धिसे कही अधिक लाभकारी है। यह दवाव सघर्ष और अतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताकी अवस्थामे अनिवार्य है, पर शांति और ऐक्यकी एक ऐसी अवस्थामे जो पारस्परिक संवधोको अनुकूल वनानेमे सहायक होगी यह चीज प्रतिकूल सिद्ध होगी। स्वतत्र विश्व-सघका सिद्धात जो कि सर्वसम्मत समझौतेद्वारा सामान्य विपयोके निवटारेका सिद्धात है, केवल राजनीतिक विभेदोको मिटाने और राजनीतिक सवधोकी व्यवस्था करनेमे ही प्रयुक्त नही हो सकता, किंतु इसे स्वभावत: ही आर्थिक विभेदो और आर्थिक सवधोपर भी लागू होना चाहिये। युद्धके उन्मूलन तथा जातियोके स्वनिर्धारणके अधिकारकी स्वीकृतिके साथ स्वतत्र ऐक्यकी तीसरी शर्त अर्थात् ससारकी अपनी नयी व्यवस्थामे पारस्परिक और सर्व-सम्मत समझौतेद्वारा की जानेवाली आर्थिक जीवनकी व्यवस्था भी जोड़ देनी होगी।

अव एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न वाकी रह जाता है, यह उस लाभका प्रश्न है जो मनुष्यजातिकी आत्माको. उसकी सस्कृतिको, उसके बौद्धिक, नैतिक, सौदर्यात्मक तथा आध्यात्मिक विकासको पहुँचता है। वर्तमान समयमें मनुष्यजातिके मनोवैज्ञानिक जीवनकी पहली वड़ी आवश्यकता एक महत्तर एकताकी ओर उसका विकास है, परतु इसकी आवश्यकता एक सजीव एकताकी आवश्यकता है, सभ्यताके वाह्य रूपोकी अर्थात् वेषकी, चाल-ढाल और जीवनके अभ्यासोकी राजनीतिक. सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाकी वारीकियोकी नही, न उस एकरूपताकी ही आवश्यकता है जो एक ऐसी एकता है जिसकी ओर सभ्यताका यान्त्रिक युग प्रवृत्त हो रहा है, वल्कि सर्वत्र ही एक ऐसे स्वतत्र विकासकी आवश्यकता है जिसमे आदान-प्रदान सदा ही मित्रतापूर्ण हो, एक घनिष्ठ सद्भाव और हमारी सर्वसामान्य मानव-जातिकी भावना उपस्थित हो और हो उसमे उसके महान् सर्वसामान्य आदर्श और सत्य जिनकी ओर वह जा रही है और मनुष्यजातिकी सयुक्त प्रगतिके लिये प्रयत्नकी एक विशेष प्रकारकी एकता और सुसगति। अभी यह प्रतीत हो सकता है कि इसमे अधिक अच्छी सहायता इस प्रकार

पहुँचेगी और अधिक प्रगति भी इस प्रकार होगी कि विभिन्न राष्ट्र और संस्कृतियाँ राजनीतिक रूपमें पृथक् रहनेकी अपेक्षा एक ही राजनीतिक राज्य-संघमे मिलकर रहे। कुछ समयके लिये यह एक सीमातक ठीक हो सकता है, पर यह अभी हमे देखना है कि यह कहाँतक ठीक हो सकता है।

एक प्रवल जातिद्वारा एक अधीनस्थ राष्ट्रको वलपूर्वक अपनेमे मिला लेनेका पुराना मनोवैज्ञानिक तर्क यह था कि एक श्रेष्ठ सभ्यताको अपनेसे निम्न अथवा वर्वर जातिपर दवाव डालनेका अधिकार है तथा इसमे लाभ भी है। इस प्रकार वैल्श और आइरिश लोगोको यह कहा जाता था कि उनकी अधीनता उनके देशोके लिये एक भारी वरदान है और उनकी भापाएँ तुच्छ वोलचालकी भाषाएँ है और जितनी जल्दी उनका लोप हो जाय उतना ही अच्छा है, साथ ही उन्हे यह भी वताया जाता था कि इगलिश सस्थाएँ और इगलिश विचारको स्वीकार करना ही सभ्यता, सस्कृति और समृद्धि प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है। भारतवर्पमे ब्रिटिश प्रभुत्वको भी इसी कारण उचित ठहराया गया था कि इससे उसे ब्रिटिश सभ्यता और ब्रिटिश विचारोका एक अमूल्य उपहार प्राप्त हुआ है, उस एकमात्र सच्चे ईसाई धर्मका तो कहना ही क्या जो एक ऐसे राष्ट्रको प्रदान किया गया था जो उनके विचारोंमे अन्य पूर्वीय देशोकी भाँति मूर्तिपूजक, तमोग्रस्त और अर्धवर्वर था। अव इस मनगढंत कहानीका भेद खुल गया है। हम काफी स्पष्ट रूपसे देख सकते है कि कैल्टिक भावना और कैल्टिक सस्कृतिका, जो, कुछ व्यावहारिक दिशाओंमें हीन होते हुए भी आध्यात्मिकतामे लैटिन और टयूटानिक संस्कृतियोसे श्रेष्ठ थी, दीर्घकालीन दमन न केवल कैल्टिक जातियोके लिये ही, वरन् संसारभरके लिये हानि-कारक था। जव कि भारतवर्षने ब्रिटिश जातिका यह दावा पूरे वलके साथ अस्वीकार कर दिया है कि ब्रिटिश सभ्यता, ब्रिटिश संस्कृति और धर्म अधिक श्रेष्ठ है, परतु वह अभी भी राजनीतिमे तथा महत्तर सामाजिक समानताकी प्रवृत्तिमे उतने ब्रिटिश नही जितने कि आधुनिक आदर्शो और प्रणालियोको स्वीकार करता है। और, यह अव, अविक विज्ञ यूरोपीय मनीषियोको भी, स्पष्ट रूपसे दिखायी दे रहा है कि भारतवर्पका आंगलीकरण केवल भारतवर्षके लिये ही नही, मनुष्यजातिके लिये भी हानिप्रद होता।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इस प्रकारके संवधका पुराना सिद्धांत अशुद्ध था, तथापि स्वय संवध अतमे अच्छे परिणामकी ही ओर ले जाता है। यदि आयर्लैण्डने अपनी पुरानी राष्ट्रीय भापा वहुत कुछ

खो दी है और वैल्शका अव अपना सजीव साहित्य नही रहा है, तो भी एक महान् क्षतिपूर्त्तिके रूपमे कैल्टिक भावना अव पुनः जाग्रत् हो रही है और इगलिश भाषापर, जो संसारभरमे लाखो मनुष्योद्वारा वोली जाती है, अपनी मुहर लगा रही हैं; व्रिटिश साम्राज्यमे कैल्टिक देशोके समावेशके परिणामस्वरूप ऐसी एंग्लो-कैल्टिक सस्कृति तथा जीवन विकसित हो सकते हैं जो संसारके लिये दो तत्त्वोके पृथक् विकाससे अधिक लाभप्रद होगे। अंगरेजी भाषाको आंशिक रूपमे प्राप्त करके भारतवर्ष आधुनिक जगत्के जीवनके साथ सवंध स्थापित करने तथा अपने साहित्य एवं जीवन और अपनी संस्कृतिको एक अधिक वड़े आधारपर नया रूप देनेमे समर्थ हो सका है और अव जव कि वह अपनी भावना और अपने आदर्शोंको एक नये साँचेमे पुनर्जीवित कर रहा है, वह पश्चिमके विचारोपर अपना प्रभाव भी डाल रहा है; दो देशोके स्थायी ऐक्य और इस घनिष्ठ सवधके द्वारा उनकी संस्कृतियोकी आपसी सतत क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके लिये तथा विश्वके लिये भी उनके पृथक् जीवनकी अपेक्षा अधिक लाभकारी होगे।

इस विचारमे एक अस्थायी तथा प्रतीयमान सत्य है, यद्यपि इस स्थितिका यह पूरा सत्य नही है और हमने साम्राज्यीय समाधान अथवा एकताकी ओर प्रगति-की साम्राज्यीय प्रणालीकी माँगोंको विचारमे लाते हुए इसपर पूरा वल दिया है, पर इसके अंदर निहित सत्यके तत्त्व केवल तभी स्वीकार किये जा सकते है, जब एक स्वतत्र और समान ऐक्य वर्तमान, अस्वाभाविक, क्षोभजनक और मिथ्याकारी सवधोंका स्थान ले ले। इसके अतिरिक्त ये लाभ एक महत्तर एकताकी एक ऐसी अवस्थाके रूपमे ही मूल्यवान् हो सकते हैं जिसमे इस घनिष्ठ सवधका उतना महत्त्व नही होगा। कारण, अतिम लक्ष्य एक ऐसी सार्वभौम विश्व-सस्कृति है जिसमे प्रत्येक राष्ट्रीय सस्कृतिको किसी अन्य संस्कृतिमे जो, सिद्धात-रूपमे अथवा स्वभावसे ही उससे भिन्न है, विलीन अथवा एकीभूत नही हो जाना चाहिये, वरन् उसे विकासके द्वारा अपनी पूर्ण शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये; तव वह अपनी उस लक्ष्य-प्राप्तिमे और सवसे लाभ उठा सकती है, साथ ही अपनेसे उनको भी लाभ पहुँचा सकती है तथा उन्हे प्रभावित भी कर सकती है; तव ये सव अपनी पृथक्ता और पारस्परिक क्रियाद्वारा मानव पूर्णताके समान लक्ष्य और विचारकी पूर्त्तिमे सहायक हो सकेंगी। इसमे सवसे अधिक लाभ पृथक्ता और अलगावद्वारा नही—जिनका कोई भय नही है—वल्कि जीवनकी एक ऐसी विभिन्नता और स्वाधीनताद्वारा पहुँचेगा जो एक कृत्रिम एकताकी यात्रीकारी शक्तिके अधीन नही होगी। स्वय स्वाधीन राष्ट्रके

अंदर भी विकास और विविधताकी एक महत्तर स्थानीय स्वतंत्रताकी ओर प्रवृत्ति हो सकती है जो लाभदायक तो होगी, किंतु वह एक प्रकारसे प्राचीन ग्रीस और भारतवर्ष तथा मध्यकालीन इटलीके सजीव स्थानीय और प्रादेशिक जीवनकी ओर लौटना होगा, क्योंकि एक ऐसी वस्तु-स्थितिमें, जिसमेंसे भौतिक संघर्षकी पुरानी अवस्थाएँ निकाल दी गयी हों, राष्ट्रकी स्वाधीनताके संघर्ष, उसकी राजनीतिक दुर्बलता और अस्थिरताकी हानियाँ अब और नही रहेंगी, जब कि समस्त सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक लाभ पुन: प्राप्त किये जा सकेंगे। ऐसा संसार जो अपनी शांति और स्वतंत्रताकी ओरसे निश्चित होगा, जीवनकी वास्तविक मानवीय शक्तियोंके तीव्रीकरणपर अपना समस्त ध्यान स्वतंत्रतापूर्वक लगा सकेगा, ऐसा वह एक एकीकृत मनुष्यजातिके सुदृढ ढांचेमे वैयक्तिक, स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय मन और शक्तिको पूर्ण रूपसे उत्साहित और विकसित करके ही कर सकेगा।

यह ढाँचा ठीक क्या रूप धारण करेगा यह पहलेसे ही कहना असंभव है और इसके विषयमे कल्पना भी निरर्थक है। हाँ, केवल कुछ वर्तमान प्रचलित विचारोका संशोधन करना पडेगा या उनका त्याग करना पड़ेगा। विश्व-संसद्का विचार पहली दृष्टिमें आकर्षक अवश्य है, क्योंकि हमारा मन संसद्-प्रणालीका अभ्यस्त हो चुका है; किंतु वर्तमान एकात्मक राष्ट्रीय ढंगकी सभा इस बड़े और जटिल प्रकारके स्वतंत्र विश्व-संघका उपयुक्त साधन नही हो सकती, यह केवल एकतात्मक विश्व-राज्यका ही साधन बन सकती है। विश्व-संघका विचार भी, यदि इससे हमारा अभिप्राय इसके जर्मन अथवा अमरीकन रूपसे हो, राष्ट्रीय विकासकी उस महत्तर विभिन्नता और स्वतंत्रताके लिये भी इतना ही अनुपयुक्त रहेगा जिसे इस प्रकारका विश्व-संघ अपना एक मुख्य सिद्धांत बना लेगा। वस्तुत: समान मानवीय लक्ष्योंकी प्राप्तिके लिये, संघर्ष और विभेदोंके समस्त कारणोंको दूर करनेके लिये, पारस्परिक संबधों तथा पारस्परिक सहायता और आदान-प्रदानके नियमनके लिये राष्ट्रोका एक महासंघ बनाना ही इस एकताका उचित सिद्धांत होगा, साथ ही प्रत्येक इकाईको पूर्ण आंतरिक स्वतंत्रता और स्व-निर्धारणकी शक्ति भी प्रदान करनी होगी।

किंतु, यह क्योंकि अधिक शिथिल एकता है, ऐसी कौन-सी चीज होगी जो पृथक्ताकी भावना तथा संघर्ष और विभेदके कारणोको इतने सशक्त रूपमे जीवित रहनेसे रोक दे जितनेसे एकताके महत्तर सिद्धांतकी स्थिरताके लिये भय उत्पन्न हो जाय—चाहे वह भावना और कारण इसे किसी प्रकारकी पर्याप्त पूर्णतातक पहुँचनेकी अनुमति दे भी दें? इसके विपरीत,

एकात्मक आदर्श इन विरोधी प्रवृत्तियोंको इनके रूप, यहाँतक कि इनके मूल कारणमे ही नष्ट करना चाहता है और प्रतीत होता है कि ऐसा करके वह एक स्थायी एकताको सुरक्षित करता है। किंतु उत्तरमे यह कहा जा सकता है कि यदि, राजनीतिक विचारो और मशीनरीके द्वारा, तथा राजनीतिक और आर्थिक भावनाके दवावसे, अर्थात् भौतिक लाभों, सुविधाओ, ऐक्य-द्वारा साधित हितके विचार तथा अनुभवके द्वारा एकता लायी जाय तो एकात्मक प्रणाली भी निश्चित रूपसे स्थिर नही रह सकेगी। कारण, जवतक जीवन सक्रिय रहता है मानव मन और भौतिक परिस्थितियोकी सतत परिवर्तनशीलतामे, नये विचार और परिवर्तन अनिवार्य ही होते है। विविधता, पृथक्ता और स्वतत्र जीवनके खोये हुए तत्त्वको पुन: प्राप्त करनेकी सुप्त इच्छा उनसे लाभ उठा सकती है जो तव एक स्वस्थ और आवश्यक प्रतिक्रिया समझी जायगी। ऐसी निर्जीव एकता जो प्राप्त की जा चुकी है आतरिक जीवनकी माँगके दवावसे समाप्त हो जायगी; उदाहरणार्थ, रोमन एकता जो वाह्य दवावका प्रतिकार करनेमें निर्बल और निर्जीव सिद्ध हुई, इसी प्रकार नष्ट हुई थी। और, तव एक वार फिर स्थानीय, प्रातिक और राष्ट्रीय अहभाव अपने लिये नये रूपों और नये केंद्रोका पुनर्निर्माण कर लेगा।

दूसरी ओर, एक स्वतत्र विश्व-संघमे राष्ट्रीय विचारके आरंभमें—यद्यपि वह राष्ट्रीय आधारसे शुरू होगा—आमूल परिवर्तनकी आशा की जा सकती है। यह समुदायीकरणके एक ऐसे नये और कम कठोर एवं दृढ रूप तथा विचारमे विलीन भी हो सकता है जो भावनामे पृथक् न होते हुए भी स्वाधीनता और विविधताके उस आवश्यक तत्त्वको सुरक्षित रखेगा जिसकी व्यक्ति और समुदाय दोनोंको अपने पूर्ण संतोप और स्वस्थ जीवनके लिये आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक विचार और आधारपर, राजनीतिक और यात्रिक विचार और आधारके समान ही वल देते हुए, हम कह सकते है कि यह राष्ट्रीय विचार आवश्यक वौद्धिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तनके सुनिश्चित विकासके लिये एक अधिक स्वतत्र और कम कृत्रिम रूप और अवसर प्रदान करेगा, क्योकि एक ऐसा आतरिक परिवर्तन ही एकीकरणको स्थायित्वका अवसर प्रदान कर सकता है। वह परिवर्तन मानवजातिके सजीव विचार अथवा धर्मका विकास होगा, क्योकि केवल इसी प्रकार जीवन, भावना और दृष्टिकोणका मनोवैज्ञानिक रूपातर साधित हो सकता है, जो व्यक्ति और समुदाय दोनोको इस बातका अभ्यस्त बना देगा कि वे अपने वैयक्तिक और सामदायिक

अहंभावको अपने अधीन रखकर प्रथमतः और प्रधानतः अपनी सर्व-सामान्य मनुष्यजातिमें रहे और साथ ही वे मनुष्यके अंदरकी दिव्यताको अपने ढंगसे विकसित और व्यक्त करनेके लिये अपनी वैयक्तिक और सामूहिक शक्तिको तनिक भी न खोयें; एक बार जब जातिका भौतिक अस्तित्व सुनिश्चित हो गया तो यह दिव्यता मानवीय जीवनके सच्चे लक्ष्यके रूपमें प्रकट हो जायगी।

बत्तीसवाँ अध्याय

अंतर्राष्ट्रीयता

यह विचार कि मनुष्यजाति एक अखंड जाति है जिसका एक-सा जीवन और एक-सा सामान्य हित, है आधुनिक मनकी एक अत्यंत विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण उपज है। यह यूरोपीय विचारका परिणाम है जो विशेषत: जीवनके अनुभवसे विचारकी ओर जाता है और, अधिक गहराईमे गये विना, विचारसे जीवनकी ओर वापिस लौटता है; इसमे वह जीवनके बाह्य रूपो और संस्थाओंको तथा उसके क्रम और प्रणालीको बदलनेका प्रयत्न करता है। यूरोपीय मनमे इसने जो आकार धारण किया है वह प्रचलित भाषामें अंतर्राष्ट्रीयता कहलाता है। अतर्राष्ट्रीयता मानव-मन और मानवजीवनके राष्ट्रीय विचार और रूपको अतिक्रात करनेका तथा उसे मनुष्यजातिके वृहत्तर समन्वय् साधित करनेके हितमे नष्ट करनेका प्रयत्न है। इन दिशाओमे चलनेवाले विचारको क्रियात्मक रूपमें प्रभावकारी होनेसे पहले सदा ही उस समयके जीवनकी किसी सामर्थ्य या विकसनशील शक्तिके साथ संयुक्त होनेकी आवश्यकता है। किंतु साधारणतया होता यह है कि अपने स्थूलतर सहायकके हित और पूर्वविचारोके संपर्कमे आकर यह कम या अधिक रूपमे हीन हो जाता है, यहाँतक कि इसका रूप ही बिगड़ जाता है और उस रूपमे, जो अब शुद्ध और पूर्ण नही रहता, यह व्यवहारकी पहली अवस्थामे प्रवेश करता है।

अंतर्राष्ट्रीयताका सिद्धात अठारहवी शताब्दीके विचारसे उत्पन्न हुआ था और फ्रेच क्रातिकी पहली आदर्शवादी अवस्थाओमे इसे एक प्रकारकी शक्ति प्राप्त हुई थी। किंतु उस समय यह एक ऐसा स्पष्ट विचार नही था जिसे अपने-आपको कार्यान्वित करनेकी विधिका प्रत्यक्ष ज्ञान हो, वरन् यह एक धुँधली-सी बौद्धिक भावनामात्र था। उसे, जीवनमे वह सुदृढ़ बल नही प्राप्त हुआ जो उसके एक प्रत्यक्ष आकार ग्रहण करनेमे सहायक होता। जो चीज फ्रेच क्रातिसे और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए सघर्षसे प्रकट हुई, वह एक पूर्ण और स्वचेतन राष्ट्रीयता थी, अंतर्राष्ट्रीयता नही। उन्नीसवी शताब्दीमें हम देखते है कि यह वृहत्तर विचार चिंतकोके मनमे पुन: विकसित हुआ, कभी एक संशोधित रूपमे तो कभी विशुद्ध

आदर्शके रूपमे; ऐसा तबतक चलता रहा जबतक कि इसने समाजवाद और अराजकतावादकी बढ़ती हुई शक्तियोंके साथ संयुक्त होकर एक स्पष्ट आकार और एक प्रत्यक्ष प्राणिक शक्ति नही प्राप्त कर ली। अपने पूर्ण रूपमे यह बुद्धिवादियोकी एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीयता बन गया जिसे राष्ट्रीयता, जो इसके विचारमे भूतकालकी एक संकुचित भावना थी, सह्य नही थी, जो देशभक्तिको हेय समझती थी, क्योकि यह उसे एक अयुक्ति-युक्त पक्षपात तथा एक ऐसा दुर्भावपूर्ण सामूहिक अहकार प्रतीत होती थी जो सकुचित बुद्धिका विशिष्ट गुण है तथा जो अभिमान, पक्षपात, घृणा, उत्पीड़न और राष्ट्र राष्ट्रके बीच विभेद और कलह उत्पन्न करनेवाला है, साथ ही यह उसे भूतकालका एक ऐसा स्थूल अवशेष प्रतीत होती थी जिसके भाग्यमें बुद्धिके विकासद्वारा नष्ट होना लिखा था। यह एक ऐसे दृष्टिकोणपर आधारित है जो मनुष्यको केवल उसके मनुष्यत्वमे ही देखता है और जन्म, पद, वर्ग, वर्ण, धर्म, राष्ट्रीयताके उन सब भौतिक और सामाजिक सयोगोको त्याग देता है जो कितनी ही दीवारो और पर्देके रूपमे बनाये गये है जिनकी ओट लेकर मनुष्यने अपने-आपको दूसरे मनुष्योसे पृथक् कर लिया है; उसने इन्हे ऐसे सहानुभूतिरहित सुरक्षित गृह और खाइयाँ बना लिया है जहाँसे वह इनके विरुद्ध आक्रमण और प्रतिरक्षाका, राष्ट्रोका, महाद्वीपोका, वर्गो तथा काले-गोरेका, धर्म धर्म और सस्कृति सस्कृतिका युद्ध ठानता है। बौद्धिक अंतर्राष्ट्रीयतावादीका विचार इस सब बर्बरताको नष्ट करना चाहता है, और उसके अनुसार इसे नष्ट करनेका ढंग यह है कि मनुष्य, अपनी सर्वसामान्य मानवी सहानुभूति, उद्देश्य और भविष्यके सर्वोच्च हितोके आधारपर, एक-दूसरेके साथ मिलकर रहे। यह अपनी दृष्टिमे सर्वथा भविष्यवादी है; यह भूतकालकी अव्यवस्थित और अंधकारमय संपदाकी ओरसे पीठ फेरकर उस भविष्यकी शुद्धतर सपदाकी ओर मुँह कर लेता है जब कि मनुष्य, जिसने अब अंतमे एक सच्चा बुद्धि-शाली और सदाचारी प्राणी बनना आरभ कर दिया है, अपनेसे पक्षपात, आवेग और बुराईके इन सब मूल कारणोको अलग कर देगा। मनुष्य-जाति विचार और भावनामे एक हो जायगी, और जीवन सचेतन रूपमे, जैसा कि वह अब न जानते हुए भी है, पृथ्वीपर अपनी स्थितिमे, अपने भाग्यमे एक हो जायगा।

इस विचारकी उच्चता और श्रेष्ठतापर कोई शका नही की जा सकती और निश्चय ही एक ऐसी मानवजाति जो इस आधारपर अपना जीवन आरंभ करेगी, जितनी कि हम आज आशा कर सकते है, उसकी अपेक्षा

कही अधिक श्रेष्ठ, पवित्र, शातिपूर्ण और प्रबुद्ध जाति होगी। किंतु जैसी कि मनुष्यकी आज रचना है, उसे देखते हुए, एक निरा विचार, चाहे वह सदा ही एक महान् शक्ति होता है, एक वडी दुर्वलतासे भी ग्रस्त रहता है। एक बार जव विचार जन्म ले लेता है, तो उसमे दूसरे मनुष्योको अपने अधिकारमे करनेकी, उन्हे अतमें अपने सत्यकी स्वीकृतिके लिये वाध्य करनेकी तथा अपने-आपको चरितार्थ करनेके लिये किसी प्रकारका प्रयत्न करनेकी अंतिम योग्यता होती है; यह इसकी शक्ति है। किंतु एक बात और भी है कि, क्योकि मनुष्य वर्तमान समयमे अधिकतर अपने अदर नही, बल्कि बाहर ही अधिक रहता है, वह मुख्यतः अपने प्राणिक जीवन, वेदनों, सुख-दु.ख और रिवाज-अनुवर्ती मानसिकतासे संचालित होता है, अपने उच्चतर चितक मनसे नही; और इन्हीमे वह अपना वास्तविक जीवन, वास्तविक अस्तित्व और सत्ता अनुभव करता है, जब कि विचारोका जगत् उसके लिये सुदूर और गहन होता है, और चाहे यह कितना भी अपने ढंगमे शक्तिशाली और रुचिकर क्यो न हो, वह उसके लिये एक सजीव वस्तु नही होता; जवतक कि एक शुद्ध विचार जीवनमे मूर्त रूप नही धारण कर लेता, तबतक यह वास्तविक प्रतीत ही नही होता; यह गहनता और सुदूरता ही इसकी कमजोरी है। इस गहनताकी भावना ही विचारको इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह जल्दी-से-जल्दी जीवनके द्वारा स्वीकार कर लिया जाय और एक व्यक्त रूप धारण कर ले। यदि इसे अपनी शक्तिमे भरोसा हो सके और जबतक यह मनुष्यकी भावनामे अपनी जड़ न जमा ले, यह विकसित होने, आग्रह करने और अपना प्रभाव डालनेमें ही संतुष्ट रह सके, तो यह संभवत. उसकी आत्माके जीवनका एक वास्तविक भाग, उसके मनोविज्ञानकी एक स्थायी शक्ति वन सकता है और उसके जीवनको फिरसे अपने अनुरूप ढालनेमे सफल हो सकता है, पर अनिवार्य रूपमे इसकी यह इच्छा होती है कि यह जितनी जल्दी सभव हो जीवनके किसी वाह्य रूपमे स्थान प्राप्त कर ले, क्योकि तवतक यह अपने-आपको सशक्त अनुभव नही करता और न ही इसे इस वातका पूरा निश्चय हो सकता है कि इसने अपनी सत्यताको प्रमाणित कर दिया है। इससे पहले कि यह अपना वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर ले, यह कार्यक्षेत्रमे उतर पडता है और फलस्वरूप अपनी निराशाके लिये मार्ग तैयार कर लेता है, उस समय भी जब कि इसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह जीत रहा है और अपने उद्देश्यकी पूर्त्ति कर रहा है। कारण, सफलता प्राप्त करनेके लिये यह अपने-आपको उन शक्तियो और व्यापारोसे जोड़ लेता

है जो इसके उद्देश्यसे नही. वरन् किसी अन्य उद्देश्यसे प्रेरित होते हैं, किंतु जो अपने पक्ष और माँगको सवल वनानेके लिये इसकी सहायता पाकर प्रसन्न होते है। इस प्रकार, जव कि यह अंतमें चरितार्थ हो जाता है, वह इसका एक मिश्रित, अशुद्ध और निष्प्रभाव रूप ही होता है। जीवन उसे एक आंशिक अभ्यासके रूपमें तो स्वीकार कर लेता है, किंतु पूर्ण रूपमें एवं विलकुल सच्चे हृदयसे स्वीकार नही करता। अनुक्रमिक रूपसे सभी विचारोका यही इतिहास रहा है, यह कम-से-कम इस वातका एक कारण है कि क्यों मानव-प्रगतिमें प्राय: सदा ही कुछ-न-कुछ अवास्तविक, अपूर्ण और कष्टग्रस्त रह जाता है।

मनुष्य-जीवनमें आजकल कई ऐसी अवस्थाएँ और प्रवृत्तियाँ है जो अंतर्राष्ट्रीय विचारके विकासके अनुकूल पड़ती है। इन अनुकूल शक्तियोंमें सवसे अधिक वलशाली है अंतर्राष्ट्रीय जीवनके संवंधोका अनवरत रूपमें अधिक निकट आना, संपर्क-विंदुओं और पारस्परिक व्यवहारके सूत्रोंकी वृद्धि होना तथा विचार और ज्ञान-विज्ञानमें अधिकाधिक समानता आना। विशेषकर विज्ञान इस दिशामें एक वहुत वड़ी शक्ति रहा है, कारण, विज्ञान एक ऐसी चीज है जो अपने परिणामोंमें सव मनुष्योंके लिये समान है, अपनी प्रणालियोंमें सवके लिये खुली है, तथा उसके फल सर्व-सुलभ है। यह स्वभावसे ही अंतर्राष्ट्रीय हैं; राष्ट्रीय विज्ञान नामकी कोई चीज हो ही नही सकती, हाँ, राष्ट्र विज्ञानकी उन्नति और उसके कार्यमें सहयोग दे सकता है, जो मनुष्यजातिकी अविभाजित संपत्ति है। इसलिये वैज्ञानिकोंका और उनका जो विज्ञानद्वारा अत्यधिक प्रभावित हैं अंतर्राष्ट्रीय भावनामें विकसित होना आसान है, वस्तुत: अव सारे संसारने ही वैज्ञानिक प्रभाव अनुभव करना तथा उसमें निवास करना शुरू कर दिया है। विज्ञान विश्वके एक भागको दूसरे भागके अधिक निकट संपर्कमें ले आया है और इस सपर्कमेंसे ही एक प्रकारकी अंतर्राष्ट्रीय मनोवृत्ति विकसित हो रही है, यहाँतक कि जीवनके सार्वभौम अभ्यास भी अव असाधारण नही रहे हैं। और, ऐसे व्यक्ति काफी संख्यामें विद्यमान है जो जितने कि अपने राष्ट्रके नागरिक है उतने ही या उससे अधिक संसारके भी नागरिक हैं। ज्ञानका विकास लोगोंके अंदर एक-दूसरेकी कला, संस्कृति, धर्म और विचारोंमें रुचि उत्पन्न कर रहा है और कई क्षेत्रोंमें पुरानी राष्ट्रीयतावादी भावनाके पक्षपात, अहभाव और एकांतिकताको तोड़ रहा है। धर्म जिसे पथप्रदर्शक वनना चाहिये था, अपने वाह्य अंगोपर अधिकतर निर्भर होकर तथा अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंके कारण नही, वल्कि अववौद्धिक प्रवृत्तियोंके कारण

एकताका शिक्षक बननेके स्थानपर, अथवा उससे भी अधिक, फूटका बीज बोनेवाला बन गया है; धर्मने यह समझना आरंभ कर दिया है—पर अभीतक एक धुँधले और निष्प्रभावपूर्ण तरीकेसे ही—कि आध्यात्मिकता ही अतमे उसका अपना मुख्य कार्य तथा सच्चा उद्देश्य है और साथ ही यह सब धर्मोका सर्वसामान्य तत्त्व एवं उनको बाँधनेवाली ग्रंथि भी है। जैसे-जैसे ये प्रभाव बढते जायँगे और एक-दूसरेको अधिकाधिक चेतन रूपमे सहयोग देने लगेंगे, यह आशा की जा सकेगी कि एक ऐसा आवश्यक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन, जो मनुष्यजातिके जीवनमे एक आमूल और वास्तविक रूपांतर ला सकता है, चुपचाप, धीमे-धीमे पर फिर भी अदम्य रूपसे और अतमे तो अधिकाधिक बढते हुए बल और वेगके साथ साधित हो जायगा।

किंतु यह अभी एक धीमी प्रक्रिया है; और इस बीचमे अतर्राष्ट्रीय विचारने, जो चरितार्थताके लिये उत्सुक था, अपने-आपको दो उत्तरोत्तर शक्तिको प्राप्त होते हुए आदोलनो—समाजवाद और अराजकतावाद—के साथ संबद्ध कर लिया, प्राय: उनके साथ एक हो गया; इन दोनो आंदोलनोंने अतर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। वस्तुत: इस सबंधको ही साधारणतया लोग अतर्राष्ट्रीयता कहने लगे। किंतु यह समाजवादी और अराजकतावादी अतर्राष्ट्रीयता अभी हालमे ही कसौटीपर कसी गयी थी—यह कसौटी थी यूरोपीय युद्ध—और इस कठिन परीक्षामे वह बुरी तरह असफल रही। हर देशमे समाजवादी दलने सहज और अनायास रूपमे अतर्राष्ट्रीय भावनाको छोड़ दिया, इस विचारका समर्थक जर्मन समाजवाद इस भीषण कार्यमें अगुआ रहा। यह सत्य है कि हर देशमे कुछ थोडेसे लोग या तो वीरतापूर्वक अपने सिद्धातोपर डटे रहे या शीघ्र ही उन्हे उन्होने अपना लिया, और जैसे ही इस बृहद् अतर्राष्ट्रीय जन-संहारके प्रति एक व्यापक असतोष उत्पन्न हो गया, वैसे ही अधिकाधिक लोग प्रत्यक्ष रूपसे इस दिशाकी ओर मुड़ते दिखायी दिये, किंतु यह सिद्धातसे अधिक परिस्थितिका परिणाम था। यह कहा जा सकता है कि रूसी समाजवादमे, कम-से-कम उसके उग्रतर रूपमे, अतर्राष्ट्रीय भावना अधिक गहरे रूपमे दृष्टिगोचर हुई है, पर जिस चीजको उसने वास्तवमे सपन्न करनेका प्रयत्न किया वह था श्रमिक राज्यका विकास; यह विकास एक बृहत्तर अतर्राष्ट्रीय विचारपर नही, वरन् एक ऐसी शुद्ध राष्ट्रीयतापर आधारित था जो क्रांतिके अवसरोंको छोडकर वैसे उग्र नही थी तथा जो स्वयमे परिपूर्ण थी। जो भी हो, रूसी प्रयत्नके जो वास्तविक परिणाम है वे अभीतक यही दर्शाते है कि यह विचार उस प्राणिक शक्ति और निपुणताको प्राप्त करनेमें असफल

रहा है जो इसे जीवनके लिये उचित ठहराते। मानव-विकासकी अवस्थामें इसके सत्य अथवा कम-से-कम इसके प्रयोगको उचित ठहरानेकी अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीयताका बलपूर्वक खंडन करनेमें इनका प्रयोग कही अधिक किया जा सकता है।

किंतु जीवनकी कठिन परीक्षामे अंतर्राष्ट्रीय आदर्शके प्रायः संपूर्णतया दिवालिया होनेका कारण क्या है? कुछ अंशमे यह हो सकता है कि समाजवादकी विजय अतर्राष्ट्रीयताके विकासके साथ अनिवार्य रूपमे बधी हुई नही है। समाजवाद वस्तुतः राष्ट्रीय जनसमुदायके विकासको पूर्ण बनानेका प्रयत्न है, और इसका ढग यह है कि व्यक्तिको इस कार्यके करनेके लिये विवश किया जाता है जो उसने कभी नही किया है अर्थात् उसे अपने लिये उतना नही जितना जनसमुदायके लिये जीना पडता है। यह अतर्राष्ट्रीय विचारका नही वरन् राष्ट्रीय विचारका अतिक्रमण है। नि.सदेह, जब एक राष्ट्रका समाज पूर्णता प्राप्त कर लेगा, तभी राष्ट्रोका समाज निर्मित किया जा सकेगा और निर्मित किया भी जायगा, किंतु यह समाजवादका संभव अथवा अतिम परिणाम है, उसकी प्रथम सजीव आवश्यकता नही। जीवनके संकट-कालमे प्रथम सजीव आवश्यकताका ही महत्त्व होता है, जब कि दूसरा और अधिक दूरका तत्त्व एक विचारमात्र रह जाता है जो तब-तक कार्यान्वित होनेके लिये तैयार नही होता; वह सशक्त तभी बन सकता है जब कि वह जीवनसंबंधी या मनोवैज्ञानिक आवश्यकता भी बन जाता है। वास्तविक सत्य अर्थात् असफलताका सच्चा कारण यह है कि अतर्राष्ट्रीयता, कुछ विशेप व्यक्तियोको छोड़कर शेप सबके लिये अभीतक एक विचारमात्र है; यह अभीतक ऐसी चीज नही बनी है जो हमारे प्राणिक भावोके निकट हो, या फिर हमारे मानसिक व्यापारका एक अंग हो। एक साधारण समाजवादी अथवा व्यवसायि-संघवादी (Syndicalist) सामान्य मानवीय भावनासे मुक्त नहीं हो सकता और चाहे वह साधारण समयमे अपनी एक मातृभूमि न भी मानता हो, तो भी परीक्षाके समय वह अपने अतरीय हृदय और सत्तामे राष्ट्रवादी ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त, एक महत्त्वपूर्ण तथ्यके रूपमें, ये आंदोलन श्रमिक दलके विद्रोह-रूप थे जिन्हे कुछ बुद्धिवादियोने उस समयकी वस्तुस्थितिके विरुद्ध सहायता दी थी; इन्होने अतर्राष्ट्रीयताके साथ अपना संबध इसलिये जोड़ लिया है कि वह भी एक बौद्धिक विद्रोह है और उसका विचार उन्हे युद्धमे सहायता प्रदान करता है। यदि श्रमिकदलके हाथोमे शक्ति आ जाय, तो वह अपनी अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियोंको रखेगा या छोड़ देगा? जिन देशोंमें

यह सब कार्य-व्यवहारका नेता है या रह चुका है, वहांका अनुभव इस प्रश्नका कोई उत्साहजनक उत्तर नही देता, और कम-से-कम यह कहा जा सकता है कि जबतक मानवजातिमे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन अबकी अपेक्षा बहुत अधिक ही न हो जाय, श्रमिकदल, यदि वह प्रधान पदपर हो, अतर्राष्ट्रीय भावनाको रखनेमे सफल होनेसे कही अधिक इसका त्याग ही कर देगा और वह अधिकतर पुराने मानवीय उद्देश्योसे ही प्रेरित होकर कार्य करेगा।

इसमे कोई सदेह नही कि स्वयं यूरोपीय युद्ध उस सबका विस्फोट था जो सफल राष्ट्रीयतामे भयावह और अशुभ था, और उसके फलस्वरूप जो सहार देखनेमे आया वह शुद्धीकरणकी एक ऐसी प्रक्रिया सिद्ध हो सकता है जिसने उन अनेको वस्तुओको नष्ट कर दिया है जिनके नष्ट होनेकी आवश्यकता थी। इसने अंतर्राष्ट्रीय विचारको बलशाली बना दिया है और उसे सरकारों और राष्ट्रोपर लागू भी कर दिया है, किंतु हम उन विचारो और निश्चयोपर बहुत अधिक निर्भर नही रह सकते जो असाधारण सकट तथा परिस्थितियोके प्रबल दबावके समय बनाये गये हो। अतमे इसका कुछ फल तो निकलेगा ही, उदाहरणार्थ अतर्राष्ट्रीय व्यवहारोमे अधिक न्याययुक्त सिद्धातोकी मान्यता, एक श्रेष्ठतर, अधिक युक्तियुक्त, कम-से-कम अधिक सुविधापूर्ण अतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाके प्रयत्न इसके फल हैं। किंतु जबतक मानवताका विचार बुद्धिको ही नही वरन् मनुष्यकी भाव-भावनाओ, स्वाभाविक सहानुभूतियो और मानसिक अभ्यासोको भी अधिकृत नही कर लेता, तबतक जो भी प्रगति होगी वह महत्त्वपूर्ण विषयोकी अपेक्षा बाह्य व्यवस्थाओमे तथा आदर्शकी तात्कालिक अथवा शीघ्र ही व्यापक और वास्तविक चरितार्थताकी अपेक्षा मिश्रित और अहकारयुक्त उद्देश्योके लिये इस आदर्शके उपयोगमे ही होगी। जबतक मनुष्यका हृदय तैयार नही हो जाता, ससारकी अवस्थाओका गभीर रूपातर नही हो सकता; या फिर वह केवल बलप्रयोग अर्थात् भौतिक बलप्रयोगद्वारा या परिस्थितियोके बलसे सपन्न किया जा सकता है, परतु असली कार्य फिर भी बाकी रह जाता है। एक ढाचा तैयार हो जाता है पर उस यान्त्रिक शरीरमे आत्माके विकासका कार्य अभी भी शेष रह जाता है।

तैंतीसवां अध्याय

अंतर्राष्ट्रीयता और मानव-एकता

अतएव, एक बड़ी आवश्यकता और एक बड़ी कठिनाई यह है कि मानवताके इस विचारको सहायता पहुंचाई जाय। यह विचार पहलेसे ही हमारे मनपर कार्य कर रहा है, यहाँतक कि इसने ऊपरसे हमारे कार्योंको किसी अंशमे प्रभावित करना भी आरभ कर दिया है। इस विचारको अब विचारमात्रसे—चाहे वह कितना भी सशक्त क्यो न हो—कुछ अधिक बनाना चाहिये, जिससे कि वह हमारी प्रकृतिका एक प्रमुख प्रेरक भाव तथा स्थायी अंग बन जाय। इस भाव और अंगकी पूर्त्तिको हमारी मनोवैज्ञानिक सत्ताकी आवश्यकता बन जाना चाहिये, उसी प्रकार जैसे कि कौटुंबिक विचार और राष्ट्रीय विचार मनोवैज्ञानिक प्रेरणा बन गये जिनकी पूर्त्तिकी आवश्यकता उनमें निहित थी। किंतु यह कैसे किया जाय? कौटुंबिक विचारको यह सुभीता प्राप्त था कि वह एक मौलिक प्राणिक माँगमेसे उत्पन्न हुआ था और इसलिये उसे एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता बन जानेमे जरा भी कठिनाई नही हुई। कारण, हमारी अत्यत गतिशील तथा प्रबल मानसिक प्रेरणाएं और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ वे है जो हमारी प्राणिक आवश्यकताओं और सहज-प्रेरणाओमेसे विकसित हुई है। वंशीय और उपजातीय विचारोंका भी यही स्रोत था जो कम प्रधान एवं प्रबल था और इसलिये अधिक शिथिल और शीघ्र नष्ट होनेवाला था, पर फिर भी ये विचार मानव-प्रकृतिमे समुदायीकरणकी प्राणिक आवश्यकतासे तथा एक ऐसे तैयार आधारसे उत्पन्न हुए थे जो उसे कुटुंबके वंश या उपजातिमे अनिवार्य और भौतिक रूपसे विकसित होनेके द्वारा प्राप्त हुआ। ये स्वाभाविक समुदायीकरणके विचार थे और साथ ही ये ऐसे विकासात्मक रूप थे जो पशु-स्तरपर पहलेसे ही तैयार हो चुके थे।

इसके विपरीत, राष्ट्र-विचार एक प्राथमिक प्राणिक आवश्यकतासे नही, बल्कि एक दूसरी यहाँतक कि तीसरी श्रेणीकी आवश्यकतासे उत्पन्न हुआ था जो हमारी प्राणिक प्रकृतिमे निहित किसी चीजका परिणाम नही अपितु परिस्थितियोका तथा चारो ओरके विकासका परिणाम थी। इसकी यह उत्पत्ति प्राणिक आवश्यकतासे नही, वरन् एक भौगोलिक और ऐति-

हासिक आवश्यकतासे हुई थी। और हम इसका एक परिणाम यह देखते है कि इसे अत्यधिक साधारण तरीकेसे शक्तिके द्वारा, नि.सदेह आशिक रूपमे, परिस्थितियोंकी शक्तिके द्वारा या साथ ही भौतिक शक्ति अर्थात् राजा और विजयी जातिकी, जो एक सैनिक और प्रबल राज्यमे परिणत हो गये थे, शक्तिके द्वारा उत्पन्न करना पड़ा। या फिर यह शक्तिके विरुद्ध प्रतिक्रियाके द्वारा, तथा विजय और अधिकारके विरुद्ध उस क्रातिके द्वारा उत्पन्न हुई जिसने जातियोको एक धीमी अथवा आकस्मिक सुदृढता प्रदान की; ये जातियाँ यद्यपि भौगोलिक, यहाँतक कि ऐतिहासिक और सास्कृतिक दृष्टिसे एक थी, तथापि इनमे मेलका अभाव था तथा ये अपनी पहली विषय जातीयता या स्थानीय, प्रादेशिक और अन्य विभाजनोके प्रति वहुत अधिक सचेतन रही। किंतु फिर भी आवश्यकता तो वहाँ थी ही, और कितनी ही असफलताओं और झूठी सफलताओके वाद राष्ट्रका रूप बना और देशभक्तिका मनोवैज्ञानिक उद्देश्य भी जो चेतन राष्ट्रीय अहभावके विकासका लक्षण था उस रूपके साथ उत्पन्न हुआ; यह उसकी आत्माकी अभिव्यक्ति तथा उसके स्थायित्वका आश्वासन था। कारण, एक ऐसी आत्माके तथा ढाँचेके अदरकी मनोवैज्ञानिक शक्ति और उपस्थितिके विना, परिस्थितियोने जो कुछ भी उत्पन्न किया है उसे वे ही आसानीसे नष्ट भी कर देगी। इसी कारणसे प्राचीन ससार राष्ट्र वनानेमे असफल हुआ था, हाँ, छोटे परिमाणमे, छोटे वश और प्रादेशिक राष्ट्र उसने अवश्य वनाये थे पर वे वहुत थोडे समयतक जीवित रहे और साधारणतया उनकी वनावट भी वडी अधूरी रही, उसने केवल कुछ कृत्रिम साम्राज्य ही उत्पन्न किये जो वादमे छिन्न-भिन्न हो गये तथा अपने पीछे घोर अव्यवस्था छोड गये।

तव इस अतर्राष्ट्रीय एकताका क्या होगा जो इस समय रचनासे पूर्वकी अवस्थाकी पहली अस्पष्ट वेदनामेसे गुजर रही है? यह अवस्था परस्पर सयुक्त होनेके लिये एक-दूसरेके निकट आते हुए कोषाणुओके क्षोभसे मिलती-जुलती है। इसके पीछे कौनसी प्रवल आवश्यकता है? यदि हम केवल वाह्य वस्तुओकी ओर देखे तो यह आवश्यकता, उस आवश्यकतासे, जो इसके पहले विद्यमान थी, वहुत कम प्रत्यक्ष तथा प्रवल है। यहाँ कोई प्राणिक आवश्यकता नही है; जहाँतक जीवन-यापनका प्रश्न है, सपूर्ण मनुष्यजाति अतर्राष्ट्रीय एकताके बिना अपना काम भलीभाँति चला सकती है, यह जातिका एक पूर्ण, युक्तिसगत तथा आदर्श सामूहिक जीवन नही होगा, पर मानवजीवन अथवा मानवसमाजमे अभीतक ऐसा पूर्ण, युक्तिसगत या आदर्श तत्त्व है कहाँ? अभीतक तो नही है; तव भी किसी-

न-किसी प्रकार हम अपना जीवन चलाते है, क्योंकि हमारे अंदरका प्राणिक मनुष्य, जो हमारी सहजप्रवृत्तियों और हमारे कार्योंमे एक प्रमुख तत्त्व है, इन वस्तुओमेसे किसीकी भी चिंता नही करता और जीवनके किसी भी काम-चलाऊ अथवा अनिश्चित या आंशिक रूपमें अनुकूल प्रणालीसे विलकुल संतुष्ट हो जाता है, क्योकि वह केवल इसीका अभ्यस्त है, अतएव इसे ही वह आवश्यक अनुभव भी करता है। वे मनुष्य जो संतुष्ट नही है, अर्थात् विचारक और आदर्शवादी, सदा ही संख्यामे थोड़े होते है और आगे चलकर तो उनका प्रभाव भी नही रहता; यद्यपि अतमें वे आंगिक रूपमें अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेते है, तथापि उनकी विजय हारमे परिणत हो जाती है। कारण, प्राणिक मनुष्य फिर भी वहुमतमें रहता है और उनकी प्रत्यक्ष सफलताको वह उनकी युक्तिसंगत आशा, स्पष्टदर्शी आदर्श अथवा पूर्णताकी सवल मंत्रणाके दयनीय व्यंगमे वदल देता है और इस प्रकार उसे निम्न स्तरपर ले आता है।

इस प्रकारके एकीकरणके लिये भौगोलिक आवश्यकता विद्यमान ही नही है, जवतक कि हम यह न सोच लें कि विज्ञानने स्थानसंबंधी दूरियों और वाधाओंको आश्चर्यजनक तरीकेसे कम तथा हलका करके और इस प्रकार पृथ्वी और उसके निवासियोको एक-दूसरेके अधिक निकट लाकर इसे उत्पन्न किया है। किंतु भविष्यमे जो कुछ भी हो, अभीतक तो यह पर्याप्त नही है; संसार अभी भी काफी वड़ा है और उसके विभाग अभी भी इतने वास्तविक अवश्य है कि वह विना किसी वैधिक एकताके अपना काम चला सकता है। यदि इसके लिये कोई वड़ी भारी आवश्यकता है, तो उसे—यदि यह नाम वर्तमान और भविष्यमे किसी चीजको दिया जा सकता है—ऐतिहासिक आवश्यकता कह सकते है, अर्थात् एक ऐसी आव-श्यकता, जिसका जन्म उन वास्तविक परिस्थितियोंके परिणामस्वरूप हुआ है जो अंतर्राष्ट्रीय संवधोके विकासके फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। और यह आवश्यकता आर्थिक, राजनीतिक और यांत्रिक है, तथा किन्ही विशेष परि-स्थितियोमे एक प्रयोगात्मक या प्रारभिक ढाँचा उत्पन्न कर सकती है, किंतु यह शुरू-शुरूमे कोई ऐसी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता नही पैदा कर सकती जो इस ढाँचेमे जान डाल दे। इसके अतिरिक्त, यह अभी उतनी सजीव है भी नही कि यह एक वास्तविक आवश्यकता वन सके, क्योकि यह, प्रधानतः, कुछ शंकाओ और असुविधाओको दूर करनेकी मांग वन जाती है, उदाहरणार्थ युद्धका अनवरत संकट; यह एक श्रेष्ठतर अतर्राष्ट्रीय सहयोगकी सवल वांछनीयताका रूप भी धारण कर लेती है। पर अपने-आपमे यह केवल

एकताकी प्रारंभिक, धुंधली रूपरेखा और उसके अधूरे ढाँचेकी एक ऐसी संभावना—नैतिक यथार्थता नही—उत्पन्न करती है जो किसी अधिक निकट और वास्तविक लक्ष्यकी ओर ले जा भी सकती है या नही भी।

किंतु वाह्य परिस्थितिके अतिरिक्त एक और शक्ति भी है जिसपर हमे विचार करनेका अधिकार है। कारण, उन समस्त वाह्य परिस्थितियो और आवश्यकताओके पीछे, जिन्हे हम प्रकृतिमे अधिक सरलतासे जान जाते है, सदा ही सत्ताके अंदर एक आतरिक आवश्यकता होती है तथा स्वयं प्रकृतिमे ही एक ऐसा संकल्प एवं आशय होता है जो उसके विकासके वाह्य सकेतोसे पहले प्रकट हो जाता है और सब वाधाओ और असफलताओं-के होते हुए भी अतमे अवश्य ही चरितार्थ हो जाता है। आजकल हम यह सत्य प्रकृतिके अंदर सर्वत्न, उसके निम्नतम रूपोंमे भी, देख सकते है; सत्ताके ठीक मूलमे एक ऐसा संकल्प विद्यमान है जो या तो पूर्णतः चेतन नही है या फिर केवल अपने वाह्य रूपमे अशतः चेतन है, पर फिर भी वह प्रकृतिमे विद्यमान अवश्य है। इस संकल्पको तुम अवचेतन या फिर निश्चेतन भी कह सकते हो, पर फिर भी यह एक ऐसा अंध सकल्प एवं मूक विचार है जिसके अदर वह आकार पहलेसे ही निहित है जिसे इसे उत्पन्न करना है, जो पारिपार्श्विक आवश्यकताके अतिरिक्त एक दूसरी आव-श्यकताको भी जानता है, वह आवश्यकता जो स्वयं सत्तामे विद्यमान है और जो अटल, अविचल और अनिवार्य रूपमें एक ऐसा आकार उत्पन्न करता है जिससे आवश्यकता एक सर्वश्रेष्ठ ढंगसे पूरी हो जाती है, चाहे हम उसकी क्रियाओमे हस्तक्षेप करने या उनका विरोध करनेकी कितनी भी चेष्टा क्यों न करे।

जीवशास्त्रके अनुसार तो यह सत्य है ही, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी यह सत्य है, चाहे वह एक अधिक सूक्ष्म और परिवर्तनशील रूपमें ही क्यों न हो। मनुष्यका स्वभाव एक ऐसे व्यक्तिका स्वभाव है जो एक ओर तो सदा अपनी सामर्थ्यके अनुसार अपनी वैयक्तिक सत्तापर वल देता है तथा उसे विकसित करता रहता है, किंतु दूसरी ओर वह अपने अदरके 'विचार' और 'सत्य'से भी प्रेरित होता है; यह विचार अथवा सत्य उसे अपनी जातिके दूसरे लोगोसे सयुक्त होनेके लिये, अपने-आपको उनके साथ और उनको अपने साथ युक्त करनेके लिये, मानवसमूह, संघ और समुदाय उत्पन्न करनेके लिये प्रेरित करता है। और यदि कोई ऐसा समूह या संघ है जिसे वनाना उसके लिये सभव है, पर जो अभीतक वना नही है, तो हम यह निश्चित रूपमे जान सकते है कि उसे भी वह अंतमे उत्पन्न कर

ही लेगा। उसके अंदर यह संकल्प सदा या प्रायः पूर्ण चेतन या पूर्वदर्शी नही होता; यह प्रायः अधिकांशमे अवचेतन होता है, किंतु तव भी वह अंतमे रोका नही जा सकता। और यदि वह उसके चेतन मनमे प्रवेश पा ले, जैसा कि अंतर्राष्ट्रीय विचारने अव कर लिया है, हम एक अधिक द्रुत विकासकी निश्चित आशा कर सकते है; प्रकृतिके अंदर निहित इस प्रकारका सकल्प अपने लिये अनुकूल वाह्य परिस्थितियाँ एव घटनाएँ उत्पन्न कर लेता है अथवा वह देखता है कि घटनाओंके दवावसे ये उसके लिये स्वय उत्पन्न हो जाती है। यदि ये अपर्याप्त भी हो, तो भी प्रकृति, इनके प्रभावकी प्रत्यक्ष सामर्थ्यसे ऊपर उठकर भी, इनका प्रयोग प्रायः करेगी; वह असफलताकी सभावनाकी परवाह नही करती, क्योकि वह जानती है कि अंतमे उसे सफलता मिलेगी तथा असफलताका प्रत्येक अनुभव अंतिम सफलताको अधिक पूर्ण वनानेमे सहायक होगा।

हां तो, अव यह कहा जा सकता है कि हम प्रकृतिके इस अनिवार्य सकल्पपर भरोसा रखे और उसकी कार्यपद्धतिका अनुसरण करे। हमें किसी भी प्रकारसे यह ढाँचा, समुदायका कोई-सा भी ढाँचा, बना लेना चाहिये; कारण, प्रकृति जो रूप बनाना चाहती है उसे वह पूरेका पूरा पहलेसे ही जानती है और अंतमे, अपने समयमे और उसे चरितार्थ करनेके हमारे विचार और सकल्पकी शक्तिके द्वारा, वह उस आकारकी रचना कर ही लेगी, ऐसा वह परिस्थितियोकी प्रवल शक्तिकी, सभी प्रकारके दवावोकी, यहाँतक कि यदि आवश्यकता हुई तो भौतिक शक्तिकी सहायता लेकर भी करेगी, क्योकि भौतिक शक्ति अभीतक उसकी आवश्यक मशीनरीका एक अंग प्रतीत होती है; हमे यह ढाँचा वना ही लेना चाहिये। एक शरीर तो वना लेना चाहिये, आत्मा उस शरीरमें पीछे विकसित हो जायगी। हमे चिंता नही करनी चाहिये, यदि यह शारीरिक रचना कृत्रिम हो और आरंभमे उसके अदर जीवन डालनेके लिये एक छोटीसी ही चेतन मनोवैज्ञानिक सत्ता हो या फिर वह भी न हो। वह तो, ज्योही शरीर बन गया, अपने-आप ही वननी शुरू हो जायगी; कारण, राष्ट्र भी आरभमे उन बेमेल तत्त्वोके द्वारा थोड़े-बहुत कृत्रिम ढंगसे वना था जो वस्तुतः एक अवचेतन विचारकी आवश्यकतासे एकत्र किये गये थे, यद्यपि ऊपरसे ऐसा प्रतीत होता था कि यह केवल भौतिक शक्ति अथवा परिस्थितियोंके बलसे किया गया है। जिस प्रकार एक राष्ट्रीय अहंभाव बना जिसने अपने-आपको राष्ट्रके भौगोलिक शरीरसे एक करके उसमे राष्ट्रीय एकताकी मनोवैज्ञानिक सहज-प्रवृत्ति और उसकी पूर्त्तिकी मागको विकसित किया, उसी प्रकार एक सामूहिक

मानव-अहंभाव भी अतर्राष्ट्रीय शरीरमे विकसित हो जायगा और उसमे वह मानव-एकताकी मनोवैज्ञानिक सहज-प्रवृत्ति और उसकी पूर्त्तिकी मांग विकसित कर लेगा। यह स्थायित्वका एक निश्चित आश्वासन होगा। क्योकि मनुष्य जैसा है उसके रहते, यह सब संभवत. ऐसे ही होगा; वास्तवमे यदि हम इससे अच्छा नही कर सकते, तो यह इसी प्रकार ही घटित होगा, क्योकि इसे होना तो हर अवस्थामे है, चाहे वह पहलेसे बुरे ढगसे हो या अच्छेसे।

यह अच्छा रहेगा यदि हम यहाँ सक्षेपमे, इस विचारके प्रकाशमे, उन मुख्य सभावनाओ और शक्तियोका सिंहावलोकन कर ले, जो विश्वकी वर्तमान अवस्थाओमे हमे इस लक्ष्यके लिये तैयार कर रही है। एकीकरण-का पुराना तरीका अर्थात् एक ही महान् शक्तिकी विजय, जो ससारके कुछ भागको बलप्रयोगद्वारा समाप्त कर देती है और शेष राष्ट्रोको अधीनस्थ तथा रक्षित राज्यो एव अधीनस्थ मित्रोका रूप दे देती है, और यह सब एक विशाल और अतिम एकीकरणका आधारभूत ढाँचा बन जाता है,—प्राचीन रोमन एकीकरणका यही रूप था,—इस समय सभव नही प्रतीत होता। इसके लिये जल और स्थल-शक्तिकी[*] अत्यधिक प्रधानताकी, एक अतुल रूपमे श्रेष्ठ विज्ञान और संगठनकी और इस सबके साथ एक निरतर सफल होनेवाली कूटनीतिकी और एक अजेय सौभाग्यकी भी आवश्यकता पडेगी। अतीतके समान यदि भविष्यमे भी युद्ध और कूटनीतिको अतर्राष्ट्रीय राजनीतिमे निर्णायक तथ्य रहना है तो यह पहले कहना अविचारपूर्ण होगा कि ऐसा सुसयोग उत्पन्न नही हो सकता और यदि अन्य साधन असफल हुए तो इसे उत्पन्न होना ही चाहिये, क्योकि ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो भविष्यकी घटनाओमे असभव कहला सकती हो; प्रकृतिगत प्रेरणा सदैव अपने साधनोको उत्पन्न कर लेती है, किंतु वर्तमान समयमे, भविष्यकी सभाव-नाए इस दिशाकी ओर इगित करती नही प्रतीत होती। दूसरी ओर, समस्त पृथ्वी या कम-से-कम पूर्वी गोलार्धके तीन महाद्वीपोके लिये यह एक प्रबल सभावना प्रतीत होती है कि उनपर ऐसे तीन या चार विशाल साम्राज्योका प्रभुत्व स्थापित हो जायगा जो राज्य-विस्तारमे तथा प्रभाव-क्षेत्रोमे और रक्षित राज्योकी दृष्टिसे अत्यधिक बढे-चढे है और इसके द्वारा वे एक ऐसी प्रमुखता प्राप्त कर लेगे जिसे या तो वे, सघर्षके सब कारणोसे बचते हुए, समझौतोके द्वारा या फिर एक ऐसी प्रतिद्वंद्विताके द्वारा सुरक्षित

[*]अब वायु-शक्तिकी भी।

रख सकेंगे जिसका फल होगा नये युद्ध और परिवर्तन। यही साधारणतया उस वडे यूरोपीय संघर्षका परिणाम होता।

किंतु, इस सभावनाको राष्ट्रीयताके विचारकी पुनर्जीवित शक्तिने खंडित कर दिया है, यह विचार स्व-निर्धारणके उस सिद्धांतके नये सूत्रमे प्रकट किया गया है जिसके प्रति महान् विश्व-साम्राज्योको कम-से-कम अपनी मौखिक श्रद्धांजलि तो निवेदन करनी ही पड़ी है। अंतर्राष्ट्रीय एकताका विचार ही, जिसकी ओर राष्ट्रीयताकी पुनर्जीवित शक्तिका हस्तक्षेप हमे ले जा रहा है, तथाकथित राष्ट्रसंघका रूप धारण करता है। तो भी व्यावहारिक रूपमें वर्तमान अवस्थाओंमें वने राष्ट्रसंघका या ऐसे किसी भी संघका, जो शीघ्र ही वननेवाला है, अभी भी अर्थ होगा कुछ महान् शक्तियोद्वारा संसार-का नियंत्रण,—ऐसा नियत्रण जो अनेक छोटे-छोटे अथवा कम सशक्त राष्ट्रोकी सहानुभूति और सहायता प्राप्त करनेकी आवश्यकताके द्वारा ही रोका जा सकेगा। इन थोडेसे राष्ट्रोके वल और प्रभावपर ही व्यावहारिक रूपमे—यदि सैद्धातिक रूपमे नही—समस्त महत्त्वपूर्ण विवादास्पद प्रश्नोंका निर्णय निर्भर होगा। और इसके विना वहुमतके निर्णयोको किसी भी विद्रोही महान् शक्ति या शक्तियोके गुटपर लागू करना संभव नही होगा। जन-तंत्रीय संस्थाओका विकास, संभवतः, संघर्षके सयोगो तथा शक्तिके दुरुप-योगोको कम करनेमे सहायता पहुँचायगा, तथापि यह पूर्ण रूपसे निश्चित नही है, किंतु गुटके यथार्थ स्वभावको यह नही वदलेगा।

इस सवमे एकीकरणके किसी भी ऐसे रूपके वननेकी तात्कालिक संभावना नही है जो एकताके वास्तविक मनोवैज्ञानिक भावको स्थान दे, उसके विकासको सपन्न करना तो दूर रहा। ऐसा रूप विकसित हो सकता है, किंतु इसके लिये हमे आकस्मिक सयोगोपर अथवा अधिक-से-अधिक अंतर्राष्ट्रीय विचारमे व्यक्त प्रकृतिकी पूर्वघोषित प्रवृत्तिपर भरोसा रखना पड़ेगा। उस अवस्थामे, एक समय, एक ऐसी सभावना थी जो एकदम और द्रुत वेगसे किसी और चीजसे विकसित होती प्रतीत हो रही थी, अर्थात् संसारके उन उन्नत देशोमे एक शक्तिशाली दलका उदय जो अत-र्राष्ट्रीयताके प्रति प्रतिज्ञावद्ध थे, जो इसकी आवश्यकताको अपने दूसरे लक्ष्योके लिये पहली शर्त समझते थे और जो इसे प्रधानता देने तथा इसके प्राप्त्यर्थ अतर्राष्ट्रीय सगठन वनानेके लिये अधिकाधिक कृत-सकल्प थे। श्रमिकदल और वुद्धिवादियोका यह सगठन, जिसने जर्मनी, रूस और आस्ट्रियामे समाजवादी दल उत्पन्न किये, जिसने हालमे ही नये सिरेसे इगलैंडके अदर एक श्रमिकदलकी रचना की तथा जिसके अपने कितने ही अन्य

यूरोपीय देशोमे प्रतिरूप भी थे, इसी दिशामे बढ रहा प्रतीत होता है। यह विश्वव्यापी आदोलन, जिसके अतर्राष्ट्रीयता और श्रमिक राज्य दो मुख्य सिद्धात थे, पहलेसे ही रूसी क्राति उत्पन्न कर चुका था और ऐसा प्रतीत होता था कि मध्य यूरोपमे भी वह एक अन्य बडी समाजवादी क्रातिके लिये तैयार है। यह कल्पनामे आ सकता था कि यह दल सर्वत्र सगठित हो जायगा। ऐसी क्रातियोकी शृखलाके द्वारा जैसी कि उन्नीसवी शताब्दीमे घटी थी और उनसे कम प्रबल, पर फिर भी अधिक द्रुत उन विकासोकी शृखलाके द्वारा, जो उनके दृष्टातके दबावसे साधित हुए थे, यहाँतक कि प्रत्येक देशमे केवल अधिकाधिक बहुमत प्राप्त करके ही यह सगठन यूरोपपर प्रभुत्व स्थापित कर सकता था। यह समस्त अमरीकन गणराज्यो तथा एशियाई देशोमे अपने प्रतिरूप उत्पन्न कर सकता था। राष्ट्रसघकी मशीनरीका प्रयोग करते हुए अथवा, जहाँ आवश्यकता हो, बल-प्रयोग या आर्थिक अथवा किसी अन्य दबावके जोरसे भी यह समस्त राष्ट्रोको अतर्राष्ट्रीय एकीकरणकी किसी अधिक कठोर प्रणालीका अनुसरण करनेके लिये प्रेरित अथवा बाधित कर सकता था। एक ऐसा विश्व-राज्य किंवा जनतंत्रीय राष्ट्रोका एक सुगठित राज्य-सघ उत्पन्न किया जा सकता था जिसकी सिद्धातोके निर्णय तथा सभी साधारणतया महत्त्वपूर्ण विषयों अथवा कम-से-कम सभी वस्तुत. अतर्राष्ट्रीय विषयो और समस्याओके लिये एक ही शासक संस्था हो। राष्ट्रोकी एक ही सर्वसामान्य विधि और उसकी व्यवस्था करनेके लिये अतर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा उसे स्थिर रखने और लागू करनेके लिये अतर्राष्ट्रीय पुलिस-नियत्रणकी कोई प्रणाली विकसित हो सकती थी। इस प्रकार, एक विचारकी व्यापक विजयके द्वारा, जब कि समाजवाद मनुष्यजातिको अपने नमूने अथवा किसी अन्य अज्ञात ढगके अनुसार संगठित करना चाह रहा था, एक पर्याप्त वैधिक एकता उत्पन्न हो सकती थी।

प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार इस विशुद्ध वैधिक एकतामेसे एक यथार्थ मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न की जा सकती है और क्या उसे सजीव एकताका रूप दिया जा सकता है। कारण, केवल एक वैधिक, यान्त्रिक, प्रशासनीय राजनीतिक और आर्थिक ऐक्यके द्वारा मनोवैज्ञानिक एकताका उत्पन्न होना आवश्यक नही है। कोई भी महान् साम्राज्य अभीतक ऐसा करनेमे सफल नही हुआ है, यहांतक कि रोमन साम्राज्यमे भी, जहाँ एकताकी कुछ भावना अवश्य उत्पन्न हुई थी, यह बहुत सुगठित अथवा सजीव नही थी; यह अंदर और बाहरके सब आघातोका सामना नही कर सकती थी, यह

उस अधिक अनिष्टकारी वस्तुको अर्थात् क्षीण और निर्जीव होनेके उस भयको, जिसे स्वतंत्र विभेदीकरणके स्वाभाविक तत्त्वों तथा सहायक संघर्षकी कमी अपने साथ लायी थी, नही रोक सकती थी। एक पूर्ण विश्व-ऐक्यको निश्चित रूपसे यह लाभ होगा कि उसे बाहरकी शक्तियोंसे डरनेकी आवश्यकता नही पडेगी, क्योंकि ऐसी शक्तियोंका तब अस्तित्व ही नही होगा। कितु बाह्य दबावका यह अभाव विघटनके आंतरिक तत्त्वोंको और ह्रासके अवसरोंको तो इससे भी अधिक अवकाश एवं बल प्रदान कर सकता है। यह, वस्तुत:, एक लंबे समयतक आंतरिक, बौद्धिक और राजनीतिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक उन्नतिका पोपण कर सकता है जो इसे जीवित रखेगी; कितु उन्नतिका यह सिद्धात नि.शक्तता और अवरोधकी उस स्वाभाविक प्रवृत्तिके सामने सदा सुरक्षित नही रह सकेगा जिससे विविधताकी प्रत्येक कमी और सामाजिक और आर्थिक हितकी पूर्ति शीघ्रतासे ला सकती है। तब मनुष्यजातिमे पुन: जीवन लानेके लिये एकताको भंग करना आवश्यक हो जायगा। और, फिर जब कि रोमन साम्राज्य केवल रोमन एकताके विचारकी ही दुहाई देता था, जो एक कृत्रिम और आकस्मिक सिद्धात था, यह विश्व-राज्य मानव-एकताके विचारका समर्थन करेगा जो एक वास्तविक और जीवंत सिद्धात है। कितु यदि एकताका विचार मानव-मनको प्रभावित कर सकता है तो विभेदकारी जीवनका विचार भी उसे प्रभावित कर सकता है, क्योकि दोनो ही उसकी प्रकृतिकी प्राणिक प्रवृत्तियोको आकर्षित करते हैं। इस बातका क्या भरोसा कि ये सहज-प्रवृत्तियाँ प्रबल नही हो जायँगी, जब कि मनुष्य एक बार एकताका प्रयोग कर चुका है और शायद उसे पता लग गया है कि इसके लाभ उसकी सपूर्ण प्रकृतिको संतुष्ट नही करते ? केवल किसी अत्यधिक शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक तथ्यका विकास ही एकताको उसके लिये आवश्यक कर देगा, चाहे अन्य कोई भी परिवर्तन और कौशल उसकी अन्य आवश्यकताओ और सहज-प्रवृत्तियोको सतुष्ट करनेके लिये वाछनीय क्यों न हो।

मनुष्यजातिका वैधिक एकीकरण हमारे सामने एक ऐसी प्रणालीके रूपमे उपस्थित होगा जो उत्पन्न और विकसित होगी एवं अपनी उच्चतम अवस्थापर पहुँचेगी। कितु वस्तुओका मूल स्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक प्रणाली अपने शिखरपर पहुँचकर क्षीण होने लगती है और फिर नष्ट हो जाती है। किसी सगठनको क्षीण या नष्ट होनेसे रोकनेके लिये उसके अदर एक ऐसे मनोवैज्ञानिक तत्त्वका होना आवश्यक है जो स्थायी और

शरीरके सब परिवर्तनोके होते हुए भी जीवित रहे। राष्ट्रोमे एक सामूहिक राष्ट्रीय अहभावके रूपमे यह चीज रहती है, यह अहभाव समस्त प्राणिक परिवर्तनोमेसे गुजरता हुआ भी सुरक्षित रहता है, किंतु यह किसी भी प्रकारसे स्वत-स्थित और अमर नही है, यह कुछ ऐसी चीजोपर आश्रित होता है जिनके साथ यह एकाकार हो जाता है, अर्थात् भौगोलिक शरीर या देश, एक ही देशमे रहनेवाले सभी लोगोके समान हित, जैसे सुरक्षा, आर्थिक हित और उन्नति, राजनीतिक स्वाधीनता, तीसरे, एक ही नाम, भावना और सस्कृति। पर हमे यह ध्यानमे रखना चाहिये कि इस राष्ट्रीय अहंभावका जीवन पृथक्ता और एकताकी प्रवृत्तियोके सम्मिलनपर निर्भर करता है, क्योकि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोसे भिन्न होते हुए भी अपनेको एक अनुभव करता है। उसकी शक्ति इस बातपर निर्भर रहती है कि वह उनके साथ आदान-प्रदान करे तथा अपनी प्रकृतिके समस्त व्यापारोमे उनके साथ सघर्ष करे। किंतु ये सब बाते भी पूरी तरहसे पर्याप्त नही है, एक और गंभीरतर तथ्य भी है। देशका किसी प्रकारका एक धर्म भी होना चाहिये, भौतिक जननी अर्थात् भूमिकी पवित्रताको ही नही, वरन्, चाहे वह कितन भी अस्पष्ट ढगकी क्यो न हो, एक सामूहिक आत्माके रूपमे राष्ट्रकी पवित्रताको भी सतत रूपसे, यदि प्रत्यक्ष रूपसे न भी हो, मान्यता प्राप्त होनी चाहिये, प्रत्येक मनुष्यका यह पहला कर्त्तव्य तथा पहली आवश्यकता है कि वह इसे जीवित रखे, इसे दमन और घातक लाछनसे बचाये और यदि यह दब जाय तो देखे, प्रतीक्षा करे और उसे मुक्त तथा पुनः प्रतिष्ठित करनेके लिये सघर्ष करे, यदि किसी घातक आध्यात्मिक रोगके स्पर्शसे वह क्षत-विक्षत हो जाय तो वह सदा उसे स्वस्थ और पुनर्जीवित करने तथा उसके जीवनकी रक्षा करनेके लिये यत्न करे।

विश्व-राज्य अपने निवासियोको शाति, आर्थिक हित, एव सामान्य सुरक्षाके तथा बौद्धिक, सास्कृतिक और सामाजिक कार्य एवं उन्नतिको साधित करनेवाले सगठनके महान् लाभ प्रदान करेगा। इनमेसे कोई भी अपने-आपमे अभीष्ट लक्ष्यको उत्पन्न नही कर सकता। शाति और सुरक्षा आजकल हम सब चाहते है, क्योकि ये पर्याप्त रूपमे हमारे पास नही है; किंतु हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्यके भीतर युद्ध, साहसिक कार्य और संघर्षकी माँग भी विद्यमान है, वह अपने विकास तथा स्वस्थ जीवनके लिये इनकी आवश्यकता प्राय. ही अनुभव करता है। यह सहज-प्रवृत्ति एक वैश्व शाति और नि सार सुरक्षासे अधिकाशमे दब तो जायगी, पर दमनके विरोधमे वह सफलतापूर्वक फिर खडी भी हो सकती है। आर्थिक

हित अपने-आपमे, स्थायी रूपमे, हमे सतुष्ट नही कर सकता और उसके लिये जो मूल्य चुकाया जायगा वह इतना भारी होगा कि वह उसके प्रभाव और महत्त्वको घटा देगा। वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्वाधीनताकी मानवी सहज-प्रवृत्ति विश्व-राज्यके लिये एक सतत भयका कारण हो सकती है, जवतक कि वह अपनी प्रणालीको इतनी निपुणताके साथ व्यवस्थित ही न कर ले कि उन्हे काफी स्वतंत्रतासे कार्य करनेका अवसर मिल जाय। एक सर्वसामान्य वौद्धिक और सास्कृतिक प्रवृत्ति और उन्नति वहुत कुछ कर सकती है, पर ये अपने-आपमे एक आवश्यक एवं पूर्णतः शक्तिशाली मनोवैज्ञानिक तत्त्वको जन्म देनेमे समर्थ नही भी हो सकती। और, जो सामूहिक अहभाव उत्पन्न होगा उसे केवल एकताकी सहज-प्रवृत्तिपर ही निर्भर रहना पडेगा; कारण, वह उस पृथक्कारी प्रवृत्तिके साथ संघर्षमे आ जायगा जो राष्ट्रीय अहभावको उसकी आधी शक्ति प्रदान करती है।

यह असंभव नही है कि इस वाह्यतर ढाँचेके लिये इसकी विकास-प्रक्रियामे ही, एक अनिवार्य आतरिक तत्त्व उत्तरोत्तर उत्पन्न होता चला जाय, पर कुछ मनोवैज्ञानिक तत्त्वोंका अत्यंत शक्तिशाली रूपमे विद्यमान रहना आवश्यक है। परिवर्तनको स्थायी वनानेके लिये मनुष्यजातिके एक ऐसे धर्म और उसकी समतुल्य भावनाकी आवश्यकता पडेगी जो अपने प्रभावमे देशके राष्ट्रीयतावादी धर्मकी अपेक्षा कही अधिक शक्तिशाली, स्पष्ट, स्वचेतन और सार्वभौम हो, अर्थात् मनुष्य अपने सपूर्ण चितन और जीवनमे मनुष्यजातिके अंदर एक ऐसी अभिन्न आत्माको स्पष्ट रूपमे स्वीकार कर ले जिसका प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र मूर्त्त रूप और आत्मा-स्वरूप है; मनुष्य उस अहभावके सिद्धातसे ऊपर उठ जाय जो पृथक्ताके सहारे जीता है, फिर भी व्यक्तित्वका नाश नही होना चाहिये, क्योकि उसके विना मनुष्य पगु हो जायगा; सामान्य जीवनके एक ऐसे सिद्धात और एक ऐसी व्यवस्थाका निर्माण हो जो वैयक्तिक विविधताको, विभिन्नतामे आदान-प्रदानको तथा साहसिक कार्य और विजयकी आवश्यकताको मुक्त रूपसे कार्य करने दे—ये सव वस्तुएँ मनुष्यकी आत्माको जीवित रखती तथा महान् वनाती है—और साथ ही इसके फलस्वरूप, मानव-समाजके नमनीय और प्रगतिशील रूपमे, समस्त जटिल जीवन और विकासको व्यक्त करनेके पर्याप्त साधन प्राप्त हो जायँ।

चौतीसवॉ अध्याय

मानवताका धर्म

मानवताका धर्म या तो एक बौद्धिक और भावनाप्रधान आदर्श, अर्थात् एक ऐसा सजीव सिद्धात हो सकता है जिसके परिणाम बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक ढगके हो, और या फिर एक आध्यात्मिक अभीप्सा और जीवन-यापनका नियम, यह किसी अशमे मनुष्योकी आत्माके परिवर्तनका चिह्न और किसी अशमे उसका कारण भी हो सकता है। मानवताका बौद्धिक धर्म पहलेसे ही, किसी हदतक, अपना अस्तित्व रखता है, अशत. तो थोडेसे लोगोके मनोमे एक चेतन सिद्धातके रूपमे और अशत जातिकी चेतनाके अदर एक शक्तिशाली छायाके रूपमे। यह एक ऐसी भावनाकी छाया है जो अभीतक जन्मी नही है किंतु जन्म लेनेकी तैयारी कर रही है। हमारा यह भौतिक ससार, वर्तमान समयकी पूर्णतया मूर्त्त वस्तुओके होते हुए भी, शक्तिशाली छायाओ अर्थात् मृत वस्तुओके प्रेतो तथा ऐसे वस्तुओकी अमूर्त्त भावनाओसे परिपूर्ण है जिन्होने अभीतक जन्म नही लिया है। मृत वस्तुओके प्रेत अत्यत दु खदायी तथ्य हैं और आजकल इनकी सख्या अत्यधिक है मृत धर्मो, मृत कलाओ, मृत नैतिक नियमो और मृत राजनीतिक सिद्धातोके प्रेत, जो अभी भी अपने सडते शरीरोको रखनेका या वर्तमान वस्तुओके शरीरमे कुछ हदतक जीवन-सचार करनेका अधिकार जतलाते हैं। भूतकालके अपने पवित्र सूत्रोको हठपूर्वक दुहराते हुए, ये अतीतकी ओर देखनेवाले व्यक्तियोको मत्रमुग्ध कर लेते हैं, यहॉतक कि मनुष्यजातिके एक प्रगतिशील भागको भी त्रस्त कर देते हैं। किंतु कुछ ऐसी अजन्मा भावनात्माएँ भी हैं जो अभीतक एक निश्चित आकार नही प्राप्त कर सकी हैं, किंतु वे मानस-जन्म धारण कर चुकी हैं और ऐसे प्रभावोके रूपमे अपना अस्तित्व रखती हैं जिनके प्रति मानव-मन चेतन है और जिनका वह अब एक अस्थिर और अव्यवस्थित ढगसे प्रत्युत्तर देता है। मानवताके धर्मने मानस-रूपमे अर्थात् उन युक्तिवादी विचारकोके मानस-पुत्र* के रूपमे अठारहवी शताब्दीमे ही जन्म ले लिया था जिन्होने

*मनसे उत्पन्न पुत्र, यह भारतीय पौराणिक सृष्टि-विज्ञानका विचार तथा उसकी भावाभिव्यक्ति है।

इसे संगठनरूपी ईसाइयतकी आनुष्ठानिक आध्यात्मिकताके स्थानपर प्रतिष्ठित किया था। इसने प्रत्यक्षवादमे अपने-आपको आकार देनेकी चेष्टा की, जो इस धर्मके सिद्धातोको इतने अत्यधिक और कठोर रूपमे बुद्धिवादी आधारपर सूत्रवद्ध करनेका प्रयत्न था कि वुद्धिके युगमे भी उसे स्वीकार नही किया जा सकता था। इसका अत्यंत प्रधान और भावुक परिणाम था मानवहितवाद, परोपकार, समाज-सेवा और ऐसे ही अन्य कार्य इसके सत्कार्योकी वाह्य अभिव्यक्ति थे। जनतत्र, समाजवाद, शातिवाद आदि तो अधिकतर इसके आनुषंगिक फल है या कम-से-कम उनकी शक्ति तो अवश्य ही, अधिकाशमे, इसकी आंतरिक उपस्थितिपर निर्भर है।

मूल विचार यह है कि मानवजाति वह देवत्व है जिसकी मनुष्यको पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये और यह भी कि मनुष्य और मनुष्य-जीवनका सम्मान, उसकी सेवा और उन्नति मानवी भावनाका प्रधान कर्तव्य और प्रधान लक्ष्य है। किसी भी प्रतिमाको, न राष्ट्र, न राज्य, न कुटुम्व और न ही और किसी वस्तुको, इसका स्थान लेना चाहिये। ये केवल वहीतक सम्मानके पात्र हैं जहाँतक वे मानव-आत्माकी प्रतिमूर्त्तियाँ है तथा उसकी उपस्थितिकी प्रतिष्ठा करती है एवं उसकी स्व-अभिव्यक्तिमे सहायता पहुँचाती है। पर जहाँ इन प्रतिमाओकी पूजा भावनारूपी आत्माका स्थान छीन लेना चाहती है और ऐसी माँगे प्रस्तुत करती है जो उसकी सेवाके प्रतिकूल पड़ती है, तो उन्हे एक ओर रख देना चाहिये। पुराने धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक सिद्धातोके आदेश जव इसकी माँगोके विपरीत जाते है तो वे सच्चे नही होते। विज्ञानको भी, यद्यपि वह एक प्रधान आधुनिक प्रतिमा है, यह अनुमति नही मिलनी चाहिये कि वह उसके नैतिक स्वभाव और उद्देश्यके विपरीत अपनी माँगे प्रस्तुत करे, क्योकि विज्ञान केवल उसी हदतक मूल्यवान् है जिस हदतक वह ज्ञान और विकासके द्वारा मनुष्यजातिके धर्मकी सहायता करता है, उसकी सेवा करता है। युद्ध, मृत्युदड, हत्या और सव प्रकारकी क्रूरताएँ, चाहे वे व्यक्ति, राज्य अथवा समाजद्वारा की गयी हो—शारीरिक क्रूरता ही नही, नैतिक क्रूरता भी—किसी भी मनुष्यकी या मनुष्योके वर्गकी अधोगति, चाहे वह किसी भी प्रत्यक्षत. उचित वहाने अथवा हितके लिये हुई हो, मनुष्यका मनुष्यके द्वारा, वर्गका वर्गके द्वारा और राष्ट्रका राष्ट्रके द्वारा उत्पीडन और शोषण एव जीवनके वे सव अभ्यास और उसी प्रकारकी सामाजिक प्रथाएँ जिन्हे धर्म और नीतिशास्त्र पहले सहन करते थे, यहाँतक कि उन्हे व्यवहारमे भी लानेके पक्षपाती थे—अपने आदर्श नियम या सिद्धातमे

वे जो कुछ भी करते हो—मनुष्यजातिके धर्मके विरुद्ध ऐसे अपराध है जो उसके नैतिक मनके लिये अरुचिकर है और उसके प्रारंभिक सिद्धातोद्वारा वर्जित है तथा जिनके विरुद्ध सदा ही युद्ध किया जाना चाहिये, सहन तो उन्हे किसी भी अंशमे नही करना चाहिये। जाति, धर्म, वर्ण, राष्ट्र, पद और राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रगतिके सब भेदोको भुलाकर मनुष्य मनुष्यको पवित्र माने। मनुष्य-शरीरका सम्मान करना चाहिये, उसे उग्रता और हिंसासे सुरक्षित रखना चाहिये, तथा विज्ञानद्वारा रोग और निवारणीय मृत्युसे उसकी रक्षा करनी चाहिये। मनुष्यके जीवनको पवित्र मानना चाहिये, उसे सुरक्षित, सशक्त, श्रेष्ठ और उन्नत बनाना चाहिये। मनुष्यके हृदयको भी पवित्र मानना चाहिये, उसे क्षेत्र मिलना चाहिये, अतिचार, दमन और यान्त्रीकरणसे उसकी रक्षा करनी चाहिये, अवनतिकारी प्रभावोसे उसे मुक्त करना चाहिये। मनुष्यके मनको सब बधनोसे मुक्ति दे देनी चाहिये, उसे स्वतन्त्रता, क्षेत्र तथा अवसर प्रदान करने चाहिये, उसे अपनी शिक्षा और विकासके समस्त साधन उपलब्ध होने चाहिये और मनुष्यजातिकी सेवाके लिये उसे अपनी शक्तियोके प्रयोगमे व्यवस्थित करना चाहिय। और, इस सबको एक सिद्धातरूप या पवित्र भावना ही नही मानना चाहिये, वरन् मनुष्यो, राष्ट्रो और समस्त मनुष्यजातिके व्यक्तियो-द्वारा इसे पूर्ण और व्यावहारिक रूपमे स्वीकृति भी मिलनी चाहिये, सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि यही मानवताके बौद्धिक धर्मका विचार तथा उसकी भावना है।

यदि हम एक या दो शताब्दी पहले मानवीय जीवन, विचार और भावनाकी युद्धसे पूर्वके मानवीय जीवन, विचार और भावनाके साथ तुलना करें तो हम यह देखेगे कि मनुष्यजातिके इस धर्मने कितना अधिक प्रभाव उत्पन्न किया है और कितना अधिक फलप्रद कार्य किया है। इसने द्रुत वेगसे बहुतसे ऐसे कार्योको सपन्न किया है जिन्हे पुराणपथी धर्म सफलतासे नही कर सका, इसका अधिकतर कारण यह था कि इसने एक अनवरत बौद्धिक और आलोचक शोधककी भाँति कार्य किया था, यह वर्तमान वस्तु-स्थितिपर निर्दयतापूर्वक प्रहार करता था और भविष्यकी वस्तुस्थितिका अविचल नायक था, यह भविष्यके प्रति सदा सच्चा रहता था, जब कि पुराणपंथी धर्मने वर्तमान समयकी शक्तियोंके साथ, यहाँतक कि भूतकालकी शक्तियोके साथ भी मित्रता स्थापित कर ली थी, उसने अपने-आपको उनके साथ सधिद्वारा बाँध लिया था और वह सुधारक शक्तिके रूपमे नही, बल्कि अधिक-से-अधिक एक मर्यादाकारी शक्तिके रूपमे कार्य कर सकता

था। इसके अतिरिक्त, यह धर्म मनुष्यजातिमें और उसके लौकिक भविष्यमें विश्वास रखता है और इसलिये उसकी लौकिक उन्नतिमें सहायता पहुँचा सकता है, जब कि पुराणपंथी धर्म मनुष्यके लौकिक जीवनको पावन दुःख और शोककी दृष्टिसे देखते थे, और सदा ही उसे इन्हें शांति और संतोष-पूर्वक सहन करने तथा जीवनकी अपूर्णताओं, क्रूरताओं, अत्याचारों और कष्टोंका स्वागत करनेकी सलाह देनेके लिये सर्वदा तैयार रहते थे, ये उनके विचारमें उनका मूल्य जानने तथा उस श्रेष्ठतर जीवनको प्राप्त करनेके साधन थे जो उन्हें इसके बाद मिलेगा। विश्वास, यहाँतक कि एक बौद्धिक विश्वास भी, सदा चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकता है, और मनुष्यजातिका यह धर्म, चाहे इसने कोई शारीरिक आकार या प्रबल रूप अथवा स्व-चरितार्थताके प्रत्यक्ष साधन प्राप्त नहीं किये थे, फिर भी जो कार्य इसने करना आरंभ किया था उसमेंसे बहुत कुछ वह संपन्न कर सका था। किसी अंशमें, इसने समाजको मानवोचित रूप दिया, विधि और दंडको तथा एक मनुष्यके दूसरे मनुष्यके प्रति दृष्टिकोणको मानवीय रूप दिया, वैध यंत्रणा और दासप्रथाके स्थूलतर रूपोंको दूर किया, दलितों और पतितोंको ऊपर उठाया, मनुष्यजातिको बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलायीं, परोपकार, उदारता और मानव-सेवाको प्रोत्साहन दिया, सर्वत्र स्वतंत्रताकी भावनाको बढ़ाया, उत्पीड़नपर रोक लगायी तथा उसके रूपोंकी क्रूरताको बहुत कम कर दिया। इसे युद्धको भी मानवीय रूप देनेमें करीब-करीब सफलता प्राप्त हो गयी थी; यदि आधुनिक विज्ञान विपरीत दिशा न ग्रहण करता तो चाहे इसे पूरी सफलता भी मिल जाती। इसने मनुष्यके लिये युद्ध-मुक्त संसारकी कल्पना करना संभव बना दिया, उसके लिये सहस्र वर्षके बाद आनेवाले ईसाके युगके लिये प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। जो भी हो यह परिवर्तन तो हुआ ही कि, जब कि शांति पहले अनवरत युद्धकी कभी-कभी आनेवाली विश्रामकी अवस्था थी, अब युद्धने शांतिकी मध्यवर्ती अवस्थाका रूप धारण कर लिया, जो बार-बार आनेपर भी अभीतक केवल एक सशस्त्र शांतिकी अवस्था थी। यह एक बहुत बड़ा कदम न भी हो, पर फिर भी यह एक आगेकी ओर कदम अवश्य था। इसने मनुष्यके महत्त्वके विषयमें नयी धारणाएँ उत्पन्न की और उसकी शिक्षा, उसके आत्म-विकास और उसकी शक्यताओंके विषयमें नये विचारों और नये क्षेत्रोंको उन्मुक्त कर दिया। इसने ज्ञानका प्रकाश फैलाया; इसने मनुष्यको यह अनुभव कराया कि वह संपूर्ण जातिकी उन्नति और प्रसन्नताके लिये उत्तरदायी है; इसने मनुष्यजातिके औसत आत्म-सम्मान और सामर्थ्यको ऊपर उठाया,

इसने अर्द्धदासको आशा दिलायी और दलितोंको आत्मनिश्चयका पाठ पढाया और मजदूरको, उसके मनुष्यत्वके कारण, गुप्त रूपसे धनी और शक्तिशालीका समकक्ष बना दिया। यह सत्य है कि यदि हम 'जो है' उसकी 'जो होना चाहिये' के साथ अर्थात् आदर्शकी वास्तविक चरितार्थताके साथ तुलना करे, तो यह सब केवल तैयारीका एक तुच्छ कार्य प्रतीत होगा, किंतु यह डेढ शताब्दी अथवा इससे भी थोडे अधिक समयतक एक अपूर्व कार्य रहा, यह उस अमूर्त्त भावनाके लिये एक अद्भुत वस्तु था जिसे प्राप्य साधनोंके द्वारा ही कार्य करना पडा और जिसके पास अभीतक कोई रूप, स्थान अथवा अपने केंद्रीभूत कार्योके लिये कोई प्रत्यक्ष यत्र नही था। किंतु शायद इसीमे उसकी शक्ति तथा लाभ निहित थे, क्योकि उसने इसे किसी नियत आकारमे परिणत होने, जड रूप धारण करने तथा कम-से-कम अपने अधिक स्वतंत्र एव सूक्ष्म कार्यको खो देनेसे बचाया।

किंतु फिर भी इसका अपूर्ण भविष्य चरितार्थ करनेके लिये, मानवताके विचार और धर्मको अधिक स्पष्ट, दृढ और पूर्णतया आवश्यक बनना होगा, अन्यथा यह कुछ व्यक्तियोंके मनोमे ही स्पष्टतया कार्यान्वित हो सकेगा, जनसाधारणके साथ तो यह केवल एक सशोधक प्रभावके रूपमे ही रहेगा, मानवजीवनका सिद्धात नही बनेगा। और, जबतक ऐसा रहा, यह स्वय अपने प्रमुख शत्रुपर भी पूर्णत. विजय प्राप्त नही कर सकेगा। वह शत्रु अर्थात् सच्चे धर्ममात्रका शत्रु, मानुषी अहभाव है अर्थात् व्यक्तिका अहभाव और वर्ग एव राष्ट्रका अहंभाव। उन्हे यह थोडे समयके लिये नरम और संशोधित कर सकता है, उन्हे अपनी अधिक अहंकारयुक्त प्रत्यक्ष और क्रूर अभिव्यक्तिको रोकने तथा अधिक अच्छे अभ्यासोको ग्रहण करनेके लिये बाधित कर सकता है, किंतु यह उन्हे अपना स्थान मानवजातिके प्रेमको देने तथा मनुष्य-मनुष्यमे सच्ची एकताको स्वीकार करनेके लिये विवश नही कर सकता। इसे, आवश्यक रूपमे, मनुष्यजातिके धर्मका लक्ष्य होना चाहिये, जिस प्रकार इसे समस्त मानव-धर्म, प्रेम और मानव-भ्रातृभावकी पारस्परिक मान्यताका भी लौकिक लक्ष्य होना चाहिये, इसे मानव-एकताकी सजीव भावना तथा विचार, अनुभव और जीवनमे मानव-एकताकी चरितार्थता भी होनी चाहिये, यह वह आदर्श है जो कुछ सहस्र वर्ष पहले प्राचीन वैदिक सूक्तमे व्यक्त किया गया था और जिसे सदा ही हमारे अदर इस भूलोकके मानव-जीवनके लिये आत्माके सर्वोच्च आदेशके रूपमे विद्यमान रहना चाहिये। जबतक ऐसा नही हो जाता, मानवताका धर्म अचरितार्थ ही रहेगा। यह हो गया तो एक ऐसा अनिवार्य मनोवैज्ञानिक परिवर्तन

साधित हो जायगा जिसके बिना कोई भी वैधिक, यांत्रिक, राजनीतिक और प्रशासनीय एकता वास्तविक और सुरक्षित नही हो सकती। यदि यह हो गया, तो बाह्यतर एकीकरण अनिवार्य नही भी हो सकता, अथवा यदि हो भी, तो वह स्वाभाविक रूपमे ही साधित हो जायगा, भीषण साधनोके द्वारा नही, जैसे कि आज उसके होनेकी सभावना है, बल्कि मानव-मनकी माँगके द्वारा, और वह पूर्णता और विकासको प्राप्त हमारी मानव-प्रकृतिकी अनिवार्य आवश्यकताके द्वारा सुरक्षित रहेगा।

किंतु अब प्रश्न यह है कि क्या एक विशुद्ध बौद्धिक और भावनात्मक मानवधर्म हमारे मनोविज्ञानमे इतना बडा परिवर्तन लानेके लिये पर्याप्त होगा। बौद्धिक विचारकी---चाहे वह भाव और भावनाओंको प्रभावित करके अपने-आपको सशक्त बना ले---दुर्बलता यह है कि वह मानव-सत्ताके केद्रतक नही पहुँचता। बुद्धि और भावनाएँ सत्ताके यंत्रमात्र है, और ये या तो निम्नतर बाह्य रूपके यत्र अर्थात् अहभावके सेवक अथवा आंतरिक और उच्चतर मनुष्य अर्थात् आत्माके यत्र हो सकते है। मानवताके धर्मका लक्ष्य अठारहवी शताब्दीमे एक प्रकारकी प्रारंभिक सहजप्रेरणाद्वारा सुनिश्चित किया गया था, यह लक्ष्य तब भी यह था और अब भी यह है कि मानवसमाजका, तीन सजातीय विचारो, स्वाधीनता, समानता और भ्रातृ-भावनाके रूपमे पुनः निर्माण किया जाय। पर जितनी उन्नति की गयी है, उस सबके होते हुए भी इनमेसे एकको भी वास्तविक रूपमे प्राप्त नही किया गया है। स्वाधीनता, जिसे खूब बढ़-चढकर आधुनिक उन्नतिका आवश्यक तत्त्व बतलाया जाता है, केवल एक बाह्य, यात्रिक और अवास्तविक स्वाधीनता है। समानता भी जिसे पानेके लिये इतना परिश्रम और सघर्ष किया जा चुका है एक बाह्य और यांत्रिक समानता है और वह अतमे अवास्तविक ही सिद्ध होगी। भ्रातृभावनाको जीवनके व्यवस्थापनका व्यवहार्य सिद्धात स्वीकार ही नही किया जाता और जो उसके स्थानपर प्रस्तुत किया गया है वह समाज-संगठनका एक बाह्य और यात्रिक सिद्धांत है या अधिकसे अधिक श्रमिक क्षेत्रमे सहयोग है। इसका कारण यह है कि बौद्धिक युगमे मनुष्यजातिके विचारको अपना सच्चा धार्मिक, आत्मिक और आध्यात्मिक स्वरूप छिपानेके लिये तथा मनुष्यकी आतरिक सत्ताको नही वरन् उसके प्राणिक और भौतिक मनको प्रभावित करनेके लिये बाधित किया गया है। उसने राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओमे क्रांतिकारी परिवर्तन उत्पन्न करने तथा मानवजातिके सामान्य मनके भावो और विचारोमे एक ऐसा सशोधन लानेतक ही अपना प्रयत्न सीमित कर दिया है जो इन

संस्थाओंको व्यावहारिक रूप दे दे, इसने जातिकी आत्माकी अपेक्षा कही अधिक मनुष्य-जीवनके यत्र और बाह्य मनपर कार्य किया है। इसने राजनीतिक, सामाजिक और वैध स्वाधीनता और समानता तथा सगठनकी पारस्परिक सहायताको स्थापित करनेके लिये अत्यधिक परिश्रम किया है।

यद्यपि अपने क्षेत्रमे ये लक्ष्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, तथापि ये प्रमुख वस्तु नही है; ये केवल तभी सुरक्षित रह सकते है, यदि ये आंतरिक मानव-प्रकृति और आतरिक जीवन-प्रणालीके रूपांतरपर आधारित हो, अपने-आपमे इनका महत्त्व केवल ऐसे साधनोके रूपमे ही है जो इस रूपांतरकी ओर बढनेके लिये मनुष्यको एक महत्तर अवकाश तथा श्रेष्ठतर क्षेत्र प्रदान करते है, तथा एक बार इसके साधित हो जानेके बाद. विशालतर आंतरिक जीवनकी बाह्य अभिव्यक्ति होते है। स्वतत्रता, समानता और भ्रातृभावना आत्माकी तीन दिव्यताएँ है; ये वस्तुत, समाजकी बाह्य मशीनरीद्वारा अथवा मनुष्यके द्वारा, जबतक कि वह वैयक्तिक और सामाजिक अहंभावमे निवास करता है, चरितार्थ नही हो सकते। जब अहभाव स्वाधीनताकी माग करता है, उसका परिणाम प्रतियोगितापूर्ण व्यक्तिवाद होता है। जब उसका आग्रह समानतापर होता है, तो पहले तो वह सघर्षशील बन उठता है और फिर प्रकृतिकी विविधताओसे विमुख होनेका प्रयत्न करता है और इस कार्यको सफलतापूर्वक करनेका एक ही ढग है कि वह कृत्रिम और यंत्र-निर्मित समाजकी रचना कर लेता है। जो समाज स्वाधीनताको अपना आदर्श मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, वह समानताको प्राप्त करनेमे असमर्थ रहता है, और जिसका लक्ष्य समानता है उसे स्वाधीनताका त्याग करना पड़ेगा और अहभावके लिये भ्रातृभावके विषयमे कुछ कहनेका अर्थ उसकी प्रकृतिके विरुद्ध बात कहना होगा। जो कुछ वह जानता है वह केवल सर्वसामान्य अहभावयुक्त उद्देश्योकी प्राप्तिके लिये सहयोग है, अधिकसे अधिक वह समान श्रम-वितरण, उत्पादन, खपत और मनोरजनके लिये एक दृढतर सगठनतक पहुँच सकता है।

यह सब होते हुए भी भ्रातृभावना ही मानवताके विचारकी त्रिविध शिक्षाकी वास्तविक कुजी है। स्वाधीनता और समानतापर आश्रित एकता केवल मानव-बधुत्वकी शक्तिद्वारा ही प्राप्त हो सकती है, इसका आधार और कोई वस्तु नही बन सकती। किंतु भ्रातृभावका अस्तित्व केवल आत्मामे और आत्माके द्वारा ही होता है, यह और किसीके सहारे नही टिक सकता। कारण, यह भ्रातृभाव भौतिक सबध या प्राणिक सहयोग अथवा बौद्धिक समझौतेकी वस्तु नही है। जब आत्मा स्वतत्रताकी माग करती है, वह

स्वतंत्रता उसके आत्म-विकासकी अर्थात् मनुष्यकी संपूर्ण सत्तामें उसके अंतरस्थ भगवान्‌के विकासकी स्वतंत्रता होती है। जब वह समानता चाहता है, तो उसकी मांग यह होती है कि स्वतंत्रता सबको समान रूपसे प्राप्त हो तथा समस्त मनुष्योंमें उसी एक ही आत्माको, एक ही भगवान्‌को स्वीकार किया जाय। जब वह भ्रातृभावके लिये चेष्टा करता है, तो वह आत्म-विकासकी समान स्वतंत्रताको एक ऐसे सर्वसामान्य लक्ष्य और जीवन तथा विचार और भावकी एकतापर आधारित कर रहा होता है जो इस आंतरिक आध्यात्मिक एकताकी स्वीकृतिपर आश्रित हो। ये तीन वस्तुएँ, वास्तवमें, आत्माके स्वभाव हैं, क्योंकि स्वतंत्रता, समानता और एकता आत्माके सनातन गुण हैं। यह इस सत्यकी व्यावहारिक स्वीकृति है, यह मनुष्यके अंदर आत्माका जागरण है तथा उसके अपने अहंभावकी नहीं, बल्कि अपनी आत्माकी प्रेरणासे जीवन बितानेके लिये उसे समर्थ बनानेका प्रयत्न है; यही धर्ममात्रका आंतरिक अर्थ है, और इसे ही मानवताके धर्मको उपलब्ध करना चाहिये, ताकि यह धर्म जातिके जीवनमें सफल हो सके।

पैंतीसवाँ अध्याय

सिंहावलोकन और परिणाम

दूसरे शब्दोमे,—और यही वह परिणाम है जिसपर हम पहुँचते है,—जब कि राजनीतिक और प्रशासनीय साधनोद्वारा एक अनिश्चित और सर्वथा यान्त्रिक एकता निर्मित करनी सभव है, मनुष्यजातिकी एकता, चाहे वह प्राप्त हो भी जाय, केवल तभी सुनिश्चित हो सकती है तथा वास्तविक बनायी जा सकती है यदि मानवताका धर्म, जो आजकल मनुष्यजातिका सर्वोच्च और सक्रिय आदर्श है, आध्यात्मिक रूप धारण कर ले और मनुष्य-जीवनका सामान्य आंतरिक विधान बन जाय।

बाह्य एकता सभवत., यद्यपि निश्चित रूपसे नही, एक सीमित अवधिमे ही चरितार्थ हो सकती है, क्योकि वह मानवसमाजमे प्रकृतिकी कार्यप्रणालीकी एक ऐसी अनिवार्य और अतिम प्रवृत्ति है जो अधिकाधिक बडे समुदाय बनानेमे सहायक होती है; वह एक घनिष्ठतर अतर्राष्ट्रीय प्रणालीके द्वारा मनुष्यजातिका पूरा समुदाय बनानेमे भी अवश्य सफल होगी।

प्रकृतिकी यह कार्य-प्रणाली अपनी चरितार्थताके लिये दो शक्तियोपर निर्भर रहती है जो एक बृहत्तर समुदायको अनिवार्य बनानेके लिये सयुक्त रूपमे कार्य करती है। पहली शक्ति सामान्य हितोकी अधिकाधिक निकटता अथवा कम-से-कम उत्तरोत्तर बडे क्षेत्रमे हितोका एकीभाव और परस्पर-सबंध है जो पुराने विभाजनोको एक प्रकारकी बाधा और साथ ही दुर्बलता, अवरोध एव संघर्षणका कारण बना देता है, इस सघर्षके परिणामस्वरूप जो कलह और सघर्ष उत्पन्न होते है, वे सबके लिये, यहाँतक कि उस विजेताके लिये भी जिसे प्राप्त लाभोके लिये अत्यधिक भारी मूल्य चुकाना पडता है, एक विनाशकारी सकटका रूप धारण कर लेते है। ज्यो-ज्यो युद्ध अधिक जटिल और दु:खद बनता जाता है, इन प्रत्याशित लाभोकी प्राप्ति भी अधिकाधिक कठिन होती जा रही है, साथ ही सफलतामे भी सदेह हो रहा है। मनुष्योको हितोकी इस समानता अथवा सबद्धताकी बढती हुई अनुभूतिसे तथा विरोध और विनाशकारी सघर्षके परिणामोका सामना करनेमे अधिकाधिक अनिच्छासे यह प्रेरणा मिलनी चाहिये कि वे उन विभाजनोको जो इस प्रकारके सकटोका कारण होते है निर्बल बना

देनेवाले प्रत्येक साधनका स्वागत करे। यदि विभाजनोंको निर्बल बनानेकी प्रवृत्ति एक बार निश्चित रूप धारण कर ले तो उससे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो अधिकाधिक घनिष्ठ एकताकी ओर ले जायगी? यदि प्रकृति इन साधनोंद्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त न कर सकी, यदि असंगति इतनी बड़ी हुई कि एकीकरण की प्रवृत्ति विजय लाभ करनेमें असमर्थ रही तो वह फिर अन्य साधनोंका प्रयोग करेगी, जैसे युद्ध, एक शक्तिशाली राज्य अथवा साम्राज्यद्वारा विजय अथवा अस्थायी प्रभुत्व या उस प्रकारके प्रभुत्वका भय जो आतंकित लोगोंको एकताकी एक घनिष्ठतर प्रणालीको स्वीकार करनेके लिये बाधित करेगा। साधनोंको तथा बाह्य आवश्यकताकी उसी शक्तिको वह राष्ट्र-इकाइयों और राष्ट्रीय साम्राज्योंको उत्पन्न करनेके लिये प्रयोगमें लायी थी, और परिस्थितियों और कार्य-प्रणालियोंमें यह कितनी भी संशोधित क्यों न हो, मूलतः यह वही शक्ति और वही साधन हैं जिन्हें वह मनुष्यजातिको अंतर्राष्ट्रीय एकीकरणकी ओर ले जानेके लिये प्रयुक्त कर रही है।

किंतु दूसरी ओर एक सामान्य एकीकारक भावनाकी शक्ति भी है। यह दो तरीकोंसे कार्य कर सकती है; प्रवर्तक और सहायक कारणके रूपमें यह प्रारंभमें भी कार्य कर सकती है अथवा यह एक संयोजक परिणामके रूपमें पीछे भी प्रकट हो सकती है। पहली अवस्थामें, उन इकाइयोंमें जो पहले विभाजित थीं एक बृहत्तर एकताकी भावना उत्पन्न हो जाती है तथा यह उन्हें ऐक्यके उस रूपको खोजनेके लिये प्रेरित करती है जो उस समय मुख्यतः भावनाकी शक्ति एवं उसके विचारके द्वारा, पर गौणतः अन्य और बाह्यतर घटनाओं और कारणोंके सहायकके रूपमें उत्पन्न किया जा सकता है। हमें यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि पुराने समयमें यह भावना पर्याप्त प्रभावशाली नहीं थी : छोटे कुलों या प्रादेशिक राष्ट्रोंमें ऐसा ही था। एकताको साधारणतया बाह्य परिस्थितियोंद्वारा तथा सामान्यतया इनमेंसे भी स्थूलतम साधनों, उदाहरणार्थ, युद्ध, विजय और युद्धरत तथा मित्र-जातियोंमेंसे अत्यंत शक्तिशाली जातिके प्रभुत्वके द्वारा प्राप्त करना होता था। किंतु पीछे ऐक्यभावनाकी शक्ति, जिसे एक स्पष्टतर राजनीतिक विचारकी सहायता प्राप्त थी, अधिक प्रभावकारी हो गयी थी। राज्यसंघ अथवा संघ बनानेसे ही बृहत्तर राष्ट्रीय समुदाय उत्पन्न हुए हैं, यद्यपि इससे पूर्व कभी-कभी स्वाधीनताके लिये एक सामान्य संघर्ष करने अथवा एक ही शत्रुके विरुद्ध युद्ध करनेके लिये गुट बनानेकी भी आवश्यकता पड़ती थी, संयुक्त राज्य, इटली और जर्मनी इसी प्रकार एक

हुए थे, उधर आस्ट्रेलियन और दक्षिण-अफ्रीकी राज्यसंघ शातिके साथ सगठित हुए थे, किंतु कुछ अन्य दृष्टातोमे, विशेषतया प्रारभिक राष्ट्रीय समुदायोमे, एकताकी भावना अधिकाश या पूर्ण रूपमे वैधिक, बाह्य और यान्त्रिक ऐक्यके फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी, किंतु इस भावनाके विकासको चरितार्थ करने अथवा उसे सुरक्षित रखनेके लिये मनोवैज्ञानिक तथ्य अति आवश्यक है; इसके बिना एक सुरक्षित और स्थायी ऐक्य प्राप्त नही हो सकता। इसकी अनुपस्थिति अथवा इस प्रकारकी भावनाको उत्पन्न करने अथवा उसे पर्याप्त रूपमे सजीव, स्वाभाविक और सशक्त बनानेमे असमर्थता ही आस्ट्रो-हगरी और प्राचीन समयके अस्थायी साम्राज्यो जैसे समुदायोकी अनिश्चित स्थितिका कारण है, यहाँतक कि, यदि परिस्थितिया ही न बदली तो यह आजकलके महान् साम्राज्योके नाश अथवा विघटनका कारण भी बन सकती है।

एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय विश्व-सगठनकी ओर बढती हुई शक्तियोकी प्रवृत्ति, जिसका परिणाम एक दूरस्थ एकीकरण हो सकता है, एक विचार अथवा आकाक्षाके रूपमे प्रकट होनी प्रारभ हो रही है, यद्यपि इसे अनिवार्य बनानेवाले कारण कुछ समयसे कार्यरत है, यह प्रवृत्ति अब वातावरण और आवश्यकताके दबाव तथा बाह्य परिस्थितियोके कारण सबल हो गयी है। इसके साथ ही, एक ऐसी भावना भी विद्यमान है जिसे इन बाह्य परिस्थितियोद्वारा सहायता तथा प्रेरणा मिलती है अर्थात् एक ऐसी सार्वभौम, अतर्राष्ट्रीय भावना, जो वस्तुत. अभी भी अस्पष्ट और धुँधले विचारके रूपमे अपना अस्तित्व रखती है तथा जो वैधिक ऐक्यके विकासको शीघ्रतासे ला सकती है। अपने-आपमे यह भावना किसी भी सभव यात्रिक ऐक्यको सुरक्षित करनेके लिये पर्याप्त नही होगी; कारण, यह आसानीसे राष्ट्रीय भावनाके समान प्रगाढ और शक्तिशाली नही हो सकती। इसे सघकी सुविधाओको ही अपना एकमात्र पोषक तत्त्व मानकर उनपर निर्वाह करना होगा। किंतु भूतकाल बताता है कि केवल सुविधाकी आवश्यकता अतमे इतनी सशक्त नही हो सकती कि वह प्रतिकूल परिस्थितियोके दबाव तथा नयी केद्रविमुखी शक्तियोके पुराने अथवा सफल विकासके आग्रहका सामना कर सके। वहा एक अधिक सबल शक्ति भी कार्य कर रही है अर्थात् मानवताका एक प्रकारका बौद्धिक धर्म, जो कुछ व्यक्तियोके मनोमे स्पष्ट है तो बहुतोने उसके प्रभाव तथा छद्म-रूप अस्पष्ट रूपमे अनुभव भी किये है; इसने आधुनिक मनकी प्रवृत्ति तथा उसकी विकसित होती हुई सस्थाओकी दिशाको अधिकाशत. निश्चित करनेमे अत्यधिक सहायता पहुचायी है। यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्ति है जो राष्ट्र-सिद्धातके ऊपर उठ जानेकी

प्रवृत्ति रखती है तथा राष्ट्र-धर्मको च्युत करना, यहांतक कि उसके चरम रूपमे राष्ट्रीय भावनाको विलकुल ही नष्ट करने तथा मानवजातिका एक अखड राष्ट्र बनानेके लिये उसके विभाजनोंको समाप्त करना चाहती है।

अतएव हम कह सकते हैं कि यह प्रवृत्ति अंतमें अवश्य ही चरितार्थ होगी, कठिनाइयां चाहे कितनी भी वड़ी क्यो न हों, और वे वस्तुत: वहुत वडी है, उनसे कही अधिक वड़ी जो राष्ट्रके निर्माणमे आयी थी। यदि अतर्राष्ट्रीय संवंधोंकी वर्तमान असतोपजनक अवस्था क्रातियोकी एक शृंखलाको जन्म दे दे, चाहे वे क्रातिया वर्तमान युद्धकी भांति वडी और विश्वव्यापी हो अथवा अपने क्षेत्रमे अपेक्षाकृत सीमित होती हुई भी सामूहिक रूपमे ससारभरमे फैल जायं तथा हितोंके विकसनशील पारस्परिक संवंधोद्वारा आवश्यक रूपमे उनपर भी अपना प्रभाव डाले जो सीधे उनके संपर्कमे नही आते, तो स्वरक्षाके लिये मनुष्यजातिको अंतमें एक नयी, घनिष्ठतर और अधिक दृढ़तया एकीभूत व्यवस्थाका निर्माण करना पडेगा। उसे इस व्यवस्था तथा प्रलवित आत्महत्यामेंसे एकको चुनना होगा। यदि मानव-वुद्धि रास्ता न पा सकी तो निश्चय ही स्वय प्रकृति इन क्रातियोको इस प्रकार आयोजित करेगी कि वह अपने लक्ष्यको प्राप्त कर ले। अतएव चाहे जल्दी हो चाहे देरमें, चाहे सामान्य हित और सुविधासे प्रेरित होकर एकताकी विकसित होती हुई अपनी भावनाके द्वारा उत्पन्न हो अथवा परिस्थितियोके विकसनशील दवावद्वारा, हम यह मान सकते हैं कि इस भूतलपर मनुष्यजीवनका एक अंतिम एकीकरण अथवा कम-से-कम उसका एक वैधिक संगठन व्यावहारिक रूपमे अनिवार्य है; हां, अचित्य सभावनाओके लिये अवकाश तो सदा ही रखना होगा।

मै राष्ट्रके पिछले विकासके दृष्टातसे यह दिखानेका प्रयत्न कर चुका हूं कि यह अतर्राष्ट्रीय एकीकरण अंतमे इन दो रूपोमेसे एक रूप धारण करेगा या कर सकता है, या तो एक केंद्रित विश्वराज्य वन सकता है और या फिर एक ऐसा शिथिलतर विश्व-सघ जो या तो एक घनिष्ठ सघ हो अथवा मनुष्यजातिके सर्वसामान्य उद्देश्योके लिये राष्ट्रोका एक सरलसा महासंघ। यह पिछला रूप अधिक वांछनीय है, क्योकि यह विविधताके सिद्धांतको जो कि जीवनकी स्वतत्र क्रीडा तथा जातिके स्वस्थ विकासके लिये आवश्यक है पर्याप्त क्षेत्र प्रदान करता है। विश्व-राज्यको लानेवाली प्रक्रियाका आरभ एक ऐसी केंद्रीय संस्थाकी उत्पत्तिसे होता है जिसके कर्तव्य शुरूमे वहुत सीमित होंगे, किंतु एक वार जब वह उत्पन्न हो गयी तो उसमे धीरे-धीरे एक केंद्रीय अतर्राष्ट्रीय नियंत्रणकी सभी विभिन्न उपयोगिताए समाविष्ट हो

जायगी, जिस प्रकार राज्य पहले राजतन्त्रके तथा पीछे ससद्के रूपमे राष्ट्र-जीवनके समस्त नियत्रणको शनै.-शनैः अधिकृत कर रहा था, उसी प्रकार हम अब एक केद्रित समाजवादी राज्यसे, जो अपने व्यक्तियोके जीवनके किसी भी अगको अव्यवस्थित नही रहने देगा, अधिक दूर नही है। विश्व-राज्यमे इसी प्रकारकी प्रक्रियाका अत यह होगा कि वह राष्ट्रोका संपूर्ण जीवन अपने हाथमे लेकर उसका नियमन करेगा। इसका परिणाम राष्ट्रीय व्यक्तित्वको दूर करके उन विभाजनोको जिन्हे इसने उत्पन्न किया है एक ही राज्यके विभागीय समुदायो, प्रांतो तथा जिलोका रूप देना हो सकता है। यह परिणाम अब एक काल्पनिक स्वप्न या अव्यवहार्य विचार प्रतीत हो सकता है किंतु यह एक ऐसा परिणाम है जो कुछ दशाओमे और वे किसी भी प्रकार अतिम सभावनाके क्षेत्रसे वाहर नही है, आसानीसे चरितार्थ हो सकता है, यहातक कि एक स्थलपर पहुच जानेके वाद अनिवार्य भी हो सकता है। इसके विपरीत, एक सघ-प्रणाली और उससे भी अधिक एक महासंघका अर्थ राष्ट्रीय आधारकी सुरक्षा तथा राष्ट्रीय जीवनकी कम अथवा अधिक स्वतंत्रता होगा, किंतु इसमे पृथक् राष्ट्रीय हित बृहत्तर सामान्य हितोके और पूर्ण पृथक् स्वतत्रता महत्तर अतर्राष्ट्रीय आवश्यकताओके अधीन हो जायगे।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ये पिछले दृष्टात एक इतनी नयी समस्याके सुरक्षित मार्गदर्शक बन सकते है और क्या कोई और ऐसा रूप विकसित नही हो सकता जो घनिष्ठ और स्वतत्र रूपमे इस समस्यासे उत्पन्न हो और उसकी जटिलताओके लिये उपयुक्त हो। किंतु मनुष्यजाति नई समस्याओंका समाधान करते हुए भी पुराने अनुभव, अतएव पुराने उद्देश्यो और दृष्टातोके आधारपर ही कार्य करती है। नये विचार उसकी पकडमे आ भी जाय, पर उन्हे रूप देनेके लिये वह अतीतकी ओर ही जाती है। अत्यधिक मौलिक क्रातियोके प्रत्यक्ष परिवर्तनोके पीछे हम अविच्छिन्न परपराके इस अनिवार्य सिद्धातको नयी व्यवस्थाके केद्रमे देखते है। इसके अतिरिक्त, ये विकल्प ही एक ऐसा रास्ता प्रतीत होते है जिसमे दो उपस्थित शक्तिया अपने सघर्षको सुलझा सकती है, चाहे ऐसा वे इनमेसे एक अर्थात् पृथक्कारी राष्ट्रीय प्रेरणाको नष्ट करके करे, चाहे इनमे अनुकूलता स्थापित करके। दूसरी ओर, यह बिलकुल सभव है कि मानव-विचार और कर्म एक ऐसी नयी दिशा ग्रहण कर ले कि बहुतसी अदृष्ट संभावनाए प्रकट होकर सर्वथा भिन्न परिणाम उत्पन्न कर दे। इन दिशाओमे मनुष्य अपनी कल्पनाको चला सकता है तथा एक श्रेष्ठतर आदर्श अवस्था उत्पन्न कर सकता है।

मानवी कल्पनाके ऐसे निर्माणकारी प्रयत्न अपना महत्त्व, कभी-कभी तो अत्यधिक महत्त्व रखते हैं; किंतु इस प्रकारके विचार उस अध्ययनमें, जिसे मैंने प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है, स्पष्टत. अप्रासंगिक होते।

निश्चय ही, इन दोनों विचारणीय विकल्पों और तीनों रूपोंमेंसे एक भी गभीर आपत्तिसे मुक्त नही है। एक केंद्रीभूत विश्व-राज्यका अर्थ यान्त्रिक एकता, बल्कि एकरूपताके विचारकी विजय होगा। इसका अवश्य ही यह अर्थ होगा कि मानवीय जीवन और प्रगतिके बलमें और व्यक्तिके स्वतंत्र जीवन तथा राष्ट्रोंकी स्वतंत्र विविधतामें एक अनिवार्य तत्त्वका अनुचित रूपसे ह्रास हो जायगा। यदि यह स्थायी हो गया और इसने अपनी सभी प्रवृत्तियोंको चरितार्थ कर लिया तो इसकी समाप्ति निश्चय ही या तो जीवन्मृत्यु अथवा गति-अवरोधसे या फिर एक ऐसी रक्षक किंतु क्रांतिकारी, शक्ति किंवा सिद्धांतके उदयसे होगी जो समस्त ढांचेको छिन्न-भिन्न कर देगा। यांत्रिक प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें मनुष्यकी तार्किक बुद्धि, जो अपने-आपमें एक यथार्थ यंत्र है, सरलतासे ग्रस्त हो जाती है और इसके कार्य-कलाप प्रत्यक्षत. ही अत्यधिक सरलतासे संचालित हो सकते हैं, साथ ही प्रयोगके लिये सुलभ भी हैं, इसका पूर्ण विकास बुद्धिको वांछनीय, आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो सकता है, पर उसका अंत पहलेसे ही निश्चित है। एक केंद्रीभूत समाजवादी राज्य एक बार स्थापित हो जानेके बाद भविष्यकी आवश्यकता बन सकता है, किंतु उससे उत्पन्न प्रतिक्रिया भी भविष्यकी एक अंतिम आवश्यकता होगी। जितना अधिक इसका दबाव होगा उतने ही अधिक निश्चित रूपमें उस यांत्रिक दबावके विरोधमें अराजकताका आध्यात्मिक, बौद्धिक, प्राणिक तथा क्रियात्मक सिद्धांत फैलेगा। इसी प्रकार एक केंद्रीभूत यांत्रिक विश्व-राज्य अंतमें अपने विरुद्ध एक ऐसी ही शक्ति खड़ी करके मानवविकासके क्रमके ह्रास और विघटनमें समाप्त हो सकता है. यहांतक कि विकास-चक्रके दुहरानेकी आवश्यकता भी पड़ सकती है, जिसके फलस्वरूप समस्याको सुलझानेके लिये अधिक अच्छी तरह यत्न किया जायगा। इसका अस्तित्व तभी रह सकेगा यदि मनुष्यजाति शांति और स्थिरताकी खातिर इसकी स्थापनाके लिये अपने शेष जीवनको सुव्यवस्थित करनेके लिये सहमत हो जाय तथा अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रताके लिये आध्यात्मिक जीवनमें आश्रय ग्रहण कर ले, जैसा कि एक बार रोमन साम्राज्यमें हुआ था। किंतु यह भी केवल एक अस्थायी समाधान ही होगा। एक संघीय प्रणालीकी प्रवृत्ति भी अनिवार्य रूपमें मानव-जीवन, संस्थाओं तथा कार्य-व्यवहारोंके लिये एक सामान्य आदर्शकी स्थापना करनेकी होगी; वह केवल साधारण विविधताओंको

ही क्रीडा करनेकी अनुमति देगी, किंतु सजीव प्रकृतिमे विविधताकी आवश्यकता इस छोटेसे आधारसे ही सदा सतुष्ट नही रह सकेगी। दूसरी ओर, एक शिथिलतर राज्य-सघके लिये यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यह उन केंद्र-विरोधी शक्तियोको यदि वे नया वल प्राप्त करके उठ खड़ी हुई, अत्यधिक अवसर प्रदान करेगा। एक शिथिल राज्य-सघ स्थायी नही हो सकता, इसे एक-न-एक दिशा ग्रहण करनी ही पडेगी, या तो इसे एक घनिष्ठ और कठोर केंद्रीकरणमे अथवा कम-से-कम उस शिथिल एकताके अपने मूल तत्त्वोमे विघटनके द्वारा समाप्त होना पडेगा।

जो शक्ति इसकी रक्षाके लिये आवश्यक है वह एक ऐसा नया मनोवैज्ञानिक तत्त्व है जो मनुष्यजातिके लिये एकीकृत जीवनको आवश्यक बना देगा और साथ ही उसे स्वतंत्रताका सम्मान करनेके लिये विवश कर देगा। मानवताका धर्म एक ऐसी ही विकसनशील शक्ति प्रतीत होती है जिसका झुकाव इस दिशामें है, क्योकि यह मानव-एकताकी भावनाको उन्नत करनेमे सहायक होता है, यह जाति-विचारको रखते हुए भी व्यक्ति और स्वाभाविक मानव-समुदायका सम्मान करता है। किंतु इसका वर्तमान बौद्धिक रूप शायद ही पर्याप्त हो। विचार अपने-आपमे तथा अपने प्रभावोमे शक्तिशाली होते हुए भी इतना शक्तिशाली नही है कि वह जातिके समस्त जीवनको अपने अनुरूप गढ ले। कारण, इसे मनुष्यप्रकृतिके अहंभावयुक्त पक्षके आगे, जो एक समय हमारी सपूर्ण सत्ता था और अभी भी उसका नव-दशमांश है और जिसके साथ इसके बृहत्तर विचारका सघर्ष रहता है, वहुत अधिक झुकना पडता है। दूसरी ओर, क्योकि यह मुख्यतया तर्कको अपना आधार मानता है, यह यात्रिक समाधानकी ओर आसानीसे मुड जाता है। कारण, बौद्धिक विचार अंतमे सदा अपने यत्रका बदी बन जाता है, वह अपनी ही अत्यधिक वधनकारी क्रियाका दास बन जाता है। तब एक नया विचार इस तर्कसगत यंत्रकी एक और प्रवृत्तिको लिये हुए उसके विरुद्ध खडा हो जाता है और उस यत्रको तोड-फोड देता है, किंतु वह उसे इसलिये तोडता है कि अतमे वह उसके स्थानपर एक दूसरी यात्रिक प्रणालीकी, किसी अन्य मत, सूत्र या आचार-पद्धतिकी स्थापना कर सके।

मानवताका आध्यात्मिक धर्म भविष्यकी आशा है। इस धर्मसे हमारा मतलव वह धर्म नही जिसे साधारणतया लोग एक सार्वभौम धर्म, प्रणाली, मत या बौद्धिक विश्वास, सिद्धात एवं वाह्य विधि कहते है। मनुष्यजाति इन साधनोद्वारा एकता प्राप्त करनेका प्रयत्न कर चुकी है, परंतु उसके हाथ असफलता ही लगी और वह असफलताकी अधिकारी भी थी, कारण, एक

ऐसी सार्वभौम धार्मिक पद्धति हो भी नही सकती जो मानसिक विश्वास और प्राणिक रूपमें एक हो। आंतरिक भावना एक अवश्य है, किंतु अन्य सबसे अधिक आध्यात्मिक जीवन अपनी आत्म-अभिव्यक्ति तथा विकासके साधनोंमे स्वतंत्रता और विविधतापर आग्रह करता है। मानवताके धर्मका अर्थ यह विकसनशील उपलब्धि है कि एक गुप्त आत्मा एव एक दिव्य सद्वस्तुका अस्तित्व है जिसमे हम सब एक है और मानवता आज इस भूतल-पर उसकी अभिव्यक्तिका सर्वोच्च साधन है। मानवजाति और मानवप्राणी ही ऐसे साधन है जिनके द्वारा वह क्रमशः यहा अपने-आपको प्रकट करेगी। इसका मतलब यह है कि इस ज्ञानको जीवनमे चरितार्थ करके पृथ्वीपर इस दिव्य आत्माका राज्य स्थापित करनेके लिये अधिकाधिक प्रयत्न किया जाय। हमारे अदर इसका विकास होनेसे अन्य साथी-मनुष्योके साथ एकत्वकी भावना हमारे समस्त जीवनका प्रमुख सिद्धात बन जायगी; यह केवल सहयोगका सिद्धांत नही, वरन् एक अधिक गहरे भ्रातृभावका, एकता और समानताकी वास्तविक एवं आंतरिक भावना तथा सर्वसामान्य जीवनका सिद्धात बन जायगा। व्यक्तिको यह अनुभव करना होगा कि अपने साथियो-के जीवनमे ही उसके अपने जीवनकी पूर्णता निहित है। जातिको भी यह अनुभव करना होगा कि व्यक्तिके स्वतत्र और पूर्ण जीवनपर ही उसकी अपनी पूर्णता और स्थायी सुख अवलंबित है। इस धर्मके अनुसार एक ऐसा अनुशासन एव मुक्तिका मार्ग अर्थात् एक ऐसा साधन होना चाहिये जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य इसे अपने अदर विकसित कर ले जिससे कि यह जातिके जीवनमे भी विकसित हो सके। इसका क्या अर्थ है इसके सबधमे यदि हम पूरा-पूरा जानना चाहे तो यह एक इतना बड़ा विषय बन जायगा कि इसका विवेचन करना यहां सभव नही होगा, केवल इतना कहना ही काफी है कि अतिम मार्ग इसी दिशामे है। यह सत्य है कि यदि यह भी और सबकी तरह एक विचारमात्र है तो इसका भी वही हाल होगा जो और विचारोका होता है। किंतु यदि यह हमारी सत्ताका सत्य है, तो यह अवश्य ही ऐसा सत्य है जिसकी ओर सब बढ रहे है, और इसीमे एक मूलभूत आंतरिक, पूर्ण और वास्तविक मानव-एकताके साधन प्राप्त होने चाहिये, यही एकता मानवजीवनके एकीकरणका एकमात्र सुरक्षित आधार बनेगी। आध्यात्मिक एकत्व ही मनुष्य-जीवनके उच्चतर आदर्शका आधार होगा, क्योकि यह एक ऐसी मनोवैज्ञानिक एकता उत्पन्न कर देगा जो किसी बौद्धिक अथवा बाह्य एकरूपतापर आधारित नही होगी और जीवनकी उस एकताको अवश्य ही उत्पन्न कर देगी जो एकीकरणके

यान्त्रिक साधनोंसे बँधी नही होगी, वरन् एक स्वतंत्र आतरिक विविधता तथा एक स्वतंत्र रूपकी विविधतापूर्ण बाह्य अभिव्यक्तिके द्वारा अपनी सुरक्षित एकताको समृद्ध बनानेके लिये सदा तैयार रहेगी।

यदि यह अनुभूति मनुष्यजातिमे शीघ्र ही विकसित हो सकी, तो हम एकीकरणकी समस्याको, आतरिक सत्यसे लेकर बाह्य रूपोतक, एक अधिक गभीर और सच्चे तरीकेसे सुलझा सकेंगे। तबतक, यान्त्रिक साधनोद्वारा इसे चरितार्थ करनेका हमारा प्रयत्न चालू रहना ही चाहिये। किंतु मानव-जातिकी उच्चतर आशा इसमे है कि इस सत्यको प्राप्त करनेवाले और इसे अपने अदर विकसित करनेवाले मनुष्योकी सख्या बढ़ती जाय जिससे कि जब मनुष्यका मन अपनी यान्त्रिक प्रवृत्तिसे मुक्त होनेके लिये तैयार हो जाय—यह शायद तब होगा जब उसे यह पता लग जायगा कि उसके सब यान्त्रिक समाधान अस्थायी और निराशाजनक हैं—तो आत्माका सत्य प्रकट हो सके और मनुष्यजातिको उसकी सर्वोच्च सभवनीय प्रसन्नता और पूर्णताका मार्ग दिखा सके।

छत्तीसवाँ अध्याय

ग्रंथोत्तर अध्याय

जिस समय यह पुस्तक अपनी समाप्तिपर थी, नयी विश्व-व्यवस्थाके किसी प्रथम दुविधापूर्ण प्रारभिक आधारकी स्थापनाके प्रयत्नपर विचार-विमर्श हो रहा था, किंतु इसे अभी एक मूर्त्त और व्यावहारिक रूप नही प्राप्त हुआ था; तथापि इस व्यवस्थाको, यदि ससारमें किसी भी व्यवस्थाका होना आवश्यक है, सरकारो और राष्ट्रोने एक स्थायी आवश्यकता मानना शुरू कर दिया था। पर इसे स्थापित होना ही था और अतमे इसका एक महत्त्वपूर्ण आरभ कर भी दिया गया। इसे उस वस्तुका नाम और रूप मिला जिसे हम राष्ट्र-सघ (League of Nations) कहते है। इसकी परिकल्पना सुदर नही थी और न ही इसकी रचनाके मूलमे कोई सम्यक् प्रेरणा थी; इसके भाग्यमे अधिक देरतक टिकना या पूर्णतया सफल होना भी नही था, किंतु एक ऐसा सगठित प्रयत्न प्रारभ ही किया जाय और वह शीघ्र नष्ट हुए विना अपने मार्गपर वढ़ता जाय यह तथ्य अपने-आपमे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था, इसका मतलव था कि विश्वके इतिहासमे एक नये युगका आरभ हो चुका है; विशेषतया यह एक ऐसा प्रारभिक प्रयत्न था जिसे यद्यपि सफलता नही भी मिली, तो भी उसे व्यर्थ नही जाने दिया जा सकता था। उसे फिरसे हाथमे लेना आवश्यक ही था, जवतक कि एक सफल समाधान मनुष्यजातिके भविष्यको एक सतत अव्यवस्था और घातक सकटसे ही नही वरन् उन विनाशकारी सभावनाओसे भी सुरक्षित न कर दे जो आसानीसे सभ्यताके नाशकी और शायद अतमे उस चीजकी भी, जिसे हम मानवजातिकी हत्या कह सकते है, तैयारी कर सकती है, परिणामत. राष्ट्र-सघ समाप्त हो गया और उसके स्थानपर सयुक्त राष्ट्र-संघ (United Nations Organisation) की स्थापना हुई जो अव ससारकी प्रमुख संस्था है। यह एक सुरक्षित स्थायित्व तथा एक वडे भारी प्रयत्नमे सफलता प्राप्त करनेके लिये सघर्ष कर रहा है; इसी प्रयत्नपर ससारका भविष्य निर्भर है।

यह एक प्रमुख घटना है, उन विश्वव्यापी प्रवृत्तियोका महत्त्वपूर्ण और निर्णयात्मक परिणाम है जिन्हे प्रकृतिने अपने नियत उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये

गति प्रदान की है। मनुष्यके प्रयत्न और उसकी लडखडाती हुई मनोवृत्तिकी स्थायी दुर्बलताओं तथा उन विरोधी सभावनाओके होते हुए भी, जो इस महान् साहसपूर्ण कार्यकी सफलताको कुछ समयके लिये रोक अथवा स्थगित कर सकती है, यही घटना भावी कार्यको सुनिश्चित कर सकती है। वे सभी विपत्तिया, जो घटनाक्रमके साथ जुड़ी हुई है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकृतिके उद्देश्यकी कार्यान्वितिको रोकनेके उद्देश्यसे ही प्रकट होती है, एक ऐसे कार्यके सफल प्रारभ और विकासको नही रोक सकी है जो जातिके विकास और शायद उसके अस्तित्वके लिये भी आवश्यक हो गया है, यहा-तक कि यदि और विपत्तिया भी आये तो वे भी इसे नही रोक सकेंगी। दो महान् और विश्व-सहारक युद्ध पृथ्वीपरसे गुजर चुके है, इनके साथ और इनके वाद कई ऐसी क्रातिया भी हुई है जिनके परिणाम दूरतक पहुचे है, इन परिणामोने पृथ्वीके राजनीतिक नक्शे और अतर्राष्ट्रीय सतुलनको, जो एक वार पाच महाद्वीपोका काफी स्थायी सतुलन था, तथा सपूर्ण भविष्यको वदल दिया है। एक तीसरा युद्ध जो और भी अधिक सकटपूर्ण होगा और जिसमे ऐसे शस्त्रो और विनाशके अवतक आविष्कृत साधनोसे कही अधिक घातक और व्यापक वैज्ञानिक साधनोके प्रयोगमे लाये जानेकी सभावना है—ऐसे शस्त्रोके जिनका सुदूरव्यापी प्रयोग सभ्यताकी इमारतको एकदम ढाह देगा तथा जिनके प्रभाव एक वडे पैमानेपर विनाश कार्य कर सकते है—भविष्यकी सभावनाके रूपमे दृष्टिगोचर हो रहा है। इसका सतत भय राष्ट्रोके मनमे एक भारी चिंता उत्पन्न कर रहा है, उन्हे युद्धके लिये अधि-काधिक तैयारी करनेके लिये उकसाता है तथा एक लवे विरोधका, सघर्षका न भी हो, वातावरण उत्पन्न कर देता है जो शातिके दिनोमे भी "शीत युद्ध"का रूप धारण कर लेता है। कितु इन दोनो युद्धोने, जो आकर चले गये है, ऐक्य और एक मूर्त्त सगठन अर्थात् उस उद्देश्यके सगठित साधनकी क्रियात्मक रचनाके लिये प्रारभिक प्रयत्नके पहले और दूसरे महत्त्व-पूर्ण कदमोके उठाये जानेमे वाधा नही डाली है, वल्कि ये इस नयी रचनाके कारण वने है तथा इसे वेग प्रदान किया है। राष्ट्रसघका तो निर्माण ही प्रथम युद्धके प्रत्यक्ष परिणामके रूपमे हुआ था, सयुक्त राष्ट्रसघकी उत्पत्ति भी दूसरे विश्वव्यापी सघर्षके फलस्वरूप हुई थी। यदि तीसरा युद्ध हुआ जिसे कई लोग, यद्यपि अधिक नही, अनिवार्य समझते है तो यह सभव है कि यह शीघ्रतापूर्वक अगले कदमके उठाये जाने और शायद इस महान् विश्व-प्रयासके अतिम परिणामको उत्पन्न करनेमे सहायक होगा। प्रकृति ऐसे साधनोका, जो प्रत्यक्षत उसके अभिप्रेत लक्ष्यके विरोधी होते है तथा

उसके लिये सकट उत्पन्न कर देते है, उसी लक्ष्यकी चरितार्थताके लिये प्रयोग करती है। जिस प्रकार आध्यात्मिक विद्या और योगविद्याके अभ्यासमे उन वैज्ञानिक सभावनाओको, जो प्रकृतिमें विद्यमान हैं और उसकी आध्यात्मिक पूर्णता और चरितार्थतामें बाधक होती है, ऊपर लाना होता है जिसमे कि उन्हें दूर किया जा सके, यहाँतक कि उन गुप्त संभावनाओंको भी ऊपर लाना होता है जो किये हुए कार्यको नष्ट करनेके लिये भविष्यमे प्रकट हो सकती है, उसी प्रकार प्रकृति भी उन विश्व-शक्तियोके साथ जो उसके संपर्कमें आती है ऐसा ही व्यवहार करती है, वह केवल उनको ही नही उभारती जो उसकी सहायता करेगी वरन् उन्हें भी समाप्त करनेके लिये ऊपर उठाती है जिनके विषयमे वह जानती है कि वे स्वाभाविक, यहाँतक कि अनिवार्य बाधाए हैं और उसके गुप्त संकल्पके मार्गमे रुकावट डालनेके लिये वे अवश्य ही प्रकट होगी। यह बात प्रायः ही मनुष्यजातिके इतिहासमें देखी जाती है; इसे आज भी, जो कार्य करना है उसकी महानताके अनुपातमे, अत्यधिक प्रबल रूपमें देखा जा रहा है। ये बाधाए सदा ही अपने प्रतिरोधके द्वारा उस महान् विधात्री तथा उसके प्रेरकके उद्देश्यमे रुकावट डालनेकी अपेक्षा कही अधिक सहायता ही पहुंचानेवाली सिद्ध होती है।

इसलिये हम जो कुछ अबतक प्राप्त हो चुका है उसकी ओर तथा भविष्यमे होनेवाली प्राप्तिकी ओर उचित आशावादी दृष्टिसे देख सकते हैं। किंतु इस आशावादके वशीभूत होकर हमे अवांछनीय लक्षणो, संकटमय प्रवृत्तियो तथा कार्यमे गंभीर विघ्न होनेकी संभावनाओ, यहॉतक कि मानवससारमे होनेवाली उन अव्यवस्थाओकी ओरसे, जो संभवत. किये हुए कार्य को उलट भी सकती है, आखे बद कर लेनेकी न तो आवश्यकता है और न ही हमे ऐसा करना चाहिये। वर्तमान समयकी वास्तविक दशाओंके विषयमे यह भी माना जा सकता है कि आजकल बहुतसे लोग सयुक्त राष्ट्रसघके दोषो तथा उसकी भूलो और उन द्वेष-भावनाओपर, जो उसके अस्तित्वके लिये सकटपूर्ण है, असंतोषकी दृष्टि डालते है, कइयोको तो इसकी अतिम सफलताकी संभावनाके विषयमे भी अधिकाधिक निराशा तथा शंका हो रही है। इस निराशामें भाग लेना न तो आवश्यक है और न ही बुद्धिमत्तापूर्ण, क्योकि ऐसी मनोवृत्ति उन परिणामोको जिनके विषयमे वह भविष्यवाणी करती है लाने अथवा उन्हे संभव करनेकी प्रवृत्ति रखती है, किंतु ये परिणाम पीछे उत्पन्न ही हो, यह आवश्यक नही। साथ ही, हमे संकटकी उपेक्षा भी नही करनी चाहिये। राष्ट्रोके नेताओको, जिनमे सफलता प्राप्त करनेका संकल्प है तथा जिन्हे उनकी सतान किसी भी ऐसी असफलताके

लिये जिससे बचा जा सकता हो उत्तरदायी ठहरायगी, अदूरदर्शी नीतियो अथवा घातक भूलोसे सावधान रहना चाहिये, जो त्रुटिया सगठन या उसके निर्माणमे विद्यमान है उनका या तो शीघ्र ही सुधार होना चाहिये या उन्हे धीरे-धीरे होशियारीसे दूर कर देना चाहिये; यदि आवश्यक परिवर्तनके प्रति दुराग्रहपूर्ण विरोध हो, तो उन्हे जैसे भी हो वशमे कर लेना चाहिये अथवा किसी-न-किसी प्रकार संस्थाको बिना तोडे उन्हे दूर कर देना चाहिये। फिर भी उसकी पूर्णताको अधिकाधिक प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये चाहे वह सुगमता या शीघ्रतासे न भी प्राप्त हो सके और ससारकी आशाको किसी भी प्रकार भग नही होने देना चाहिये। इसके अतिरिक्त मनुष्यजातिके लिये और कोई रास्ता नही है जबतक कि वह शक्ति, जो मानव-संकल्प और मानव-प्रकृतिमे किसी उद्धारक दिशा-परिवर्तन या सुधारके द्वारा अथवा किसी आकस्मिक विकाससबधी प्रगतिके द्वारा पथप्रदर्शन करती है, एक महत्तर मार्ग न खोल दे। यह आकस्मिक प्रगति जो हमारी मानव-भवितव्यताके एक और तथा अधिक बडे समाधानको सभव कर देगी पहलेसे ही सरलतापूर्वक दृष्टिगोचर नही हो सकती।

यद्यपि एक ऐसे विश्व-ऐक्यके आरभके प्रथम विचार और रूपमे, जिसने राष्ट्र-सघका रूप धारण किया था, निर्माणसबधी कई भूले थी, उदाहरणार्थ——मतैक्यपर आग्रह, जिसका झुकाव सघके व्यावहारिक कर्म और प्रभावशालिताको कुद बनाने, उसे सीमित करने और रोकनेकी ओर था, तथापि मुख्य दोष उसकी कल्पना तथा उसकी सामान्य रचनामे निहित था, और वह भी स्वभावत तथा जगत्‌की तात्कालिक अवस्थाके प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ था। राष्ट्र-सघ वस्तुतः महान् शक्तियोका कुलीनतत्र था और प्रत्येकके पीछे छोटे-छोटे राज्योकी एक मडली थी, वह सर्वसामान्य सगठनका प्रयोग, यथासभव, ससारके सामान्य हित अथवा भलाईसे कही अधिक अपनी नीतिको आगे बढ़ानेके लिये ही करता था। यह स्वभाव राजनीतिक क्षेत्रमे अत्यधिक प्रकट हुआ और दाव और विरोध, सुविधा और समझौते जो इस वस्तुस्थितिमे अनिवार्य थे सघके कार्यको हितकारी अथवा सफल बनानेमे सहायक नही हुए, जैसा कि उसका शुरूमे विचार अथवा सकल्प था। अमरीकाकी अनुपस्थिति और रूसकी स्थितिने इस प्रथम प्रयासकी अतिम असफलताको यदि अनिवार्य नही तो एक स्वाभाविक परिणामका रूप देनेमे सहायता पहुँचायी थी। सयुक्त राष्ट्रसघके सविधानमे, कम-से-कम सिद्धात-रूपमे, इन भूलोसे बचनेका प्रयत्न किया गया था, किंतु यह प्रयत्न भी सर्वांगपूर्ण नही था और न ही इसे पूरी सफलता प्राप्त हुई।

कुलीनतत्रका एक सबल और अवशिष्ट तत्त्व उसी प्रमुख स्थानपर स्थित रहा जो सुरक्षा-समितिमें पाँच बडी शक्तियोको प्राप्त था, साथ ही निषेधा-धिकारकी युक्तिके द्वारा यह दृढ भी हो गया; ये यथार्थवादकी भावनाके लिये तथा वास्तविक स्थिति एव दूसरे महायुद्धके परिणामोको समझनेकी आवश्यकताके लिये रियायते थी और संभवत. इनसे बचा नही जा सकता था, किंतु इन्होने कष्ट उत्पन्न करने, कार्यमे बाधा डालने तथा नयी सफलता-को कम करनेके लिये जितना कार्य किया है उतना इसकी रचनाने तथा उस कार्यप्रणालीकी किसी और वस्तुने नही किया है, जो इसपर विश्व-स्थितिके अथवा इसकी रचनाकी अंगभूत सयुक्त कार्य-पद्धतिकी कठिनाइयोंके द्वारा लादी गयी थी। इन दोषोसे मुक्त होनेके लिये अत्यंत उतावलीमें अथवा आमूल रूपमें किया गया प्रयत्न पूरी इमारतको ढा सकता है; इन्हे असंशोधित छोड देनेमे कष्ट बढता है, सामंजस्य और निर्विघ्न कार्यप्रणालीका अभाव रहता है जिसके फलस्वरूप अविश्वास तथा सीमित और अपूर्ण कार्यकी भावना उत्पन्न हो जाती है, साथ ही ये दोष निष्फलताकी व्यापक भावनाको जन्म देते हैं तथा इस तथ्यका कारण बनते है कि संसार इस महान् और आवश्यक सस्थापर जिसकी इतनी बडी आशाओंको लेकर स्थापना हुई थी और जिसके बिना ससारकी अवस्था अत्यंत बुरी और सकटपूर्ण, सभवत: असाध्यतक हो जाती, सदेहकी दृष्टि डालने लगा है। एक तीसरा प्रयत्न इसके स्थानपर एक विभिन्न प्रकारसे निर्मित संस्थाकी स्थापना है और यह स्थापना तभी हो सकती है यदि यह संस्था एक नये संकटके परिणामस्वरूप समाप्त हो जाय : यदि कुछ सदेहात्मक लक्षण अपने अपशकुनोको पूरा कर दे तो इसका निर्माण हो सकता है और अधिकाधिक और व्यापक रूपसे यह निश्चय कर लेनेके कारण कि इस प्रकारके सकटको दुबारा न आने दिया जाय यह अधिक सफल भी हो सकती है। किंतु ऐसा एक तीसरे क्रांतिकारी संघर्षके बाद होगा जो दो बारकी उथल-पुथलके बाद अत्यत कठिनाई और असुविधासे खड़ी हुई अतर्राष्ट्रीय रचनाको उसकी जड समेत हिला सकता है। तथापि ऐसी अवस्थामे भी, प्रकृतिके कार्यका अतर्निहित प्रयोजन उन बाधाओंको पार कर सकता है जिन्हे उसने स्वयं उत्पन्न किया है और वे अब सदाके लिये दूर की जा सकती है। किंतु इसके लिये एक ऐसे सच्चे विश्व-राज्यका, चाहे वह अंतमे ही सभव हो, निर्माण करना आवश्यक हो जायगा, जिसमे किसीको अलग न रखा जाय तथा जो समानता-के एक ऐसे सिद्धांतपर आधारित हो जिसमे परिमाण और शक्तिके विचार प्रवेश न कर सके। इन्हे इस बातके लिये स्वतंत्र छोडा जा सकता

है कि वे ससारकी जातियोके जो एक नयी अतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाके कानूनद्वारा सुरक्षित होगी सुव्यवस्थित सामजस्यमे अपना स्वाभाविक प्रभाव डाले। एक सुनिश्चित न्याय, एक आधारभूत समानता तथा अधिकारो और हितोके सुसंयोग इस विश्व-राज्यके नियम तथा इसकी पूरी इमारतके आधार होने चाहिये।

एकताकी ओर प्रगतिकी इस दूसरी अवस्थाका वास्तविक सकट सयुक्त राष्ट्र-परिषद्के निर्माणसबधी किन्ही दोषोमे नही, चाहे वे कितने भी गभीर क्यो न हो, बल्कि राष्ट्रोके दो दलोमे विभाजित हो जानेमे है, इन दलोकी प्रवृत्ति स्वभावत ही एक दूसरेका विरोध करनेकी होती है तथा किसी भी समय वे प्रत्यक्ष रूपमे शत्रु बन जाते है जिनमे कभी मेल नही हो सकता, यहाँतक कि जिनके सामूहिक जीवनमे भी कोई सगति नही होती। इसका कारण यह है कि बोलशेविस्ट रूसके तथाकथित साम्यवादकी उत्पत्ति एक द्रुत विकासके फलस्वरूप नही बल्कि एक ऐसे भयानक और लबे विद्रोहके फलस्वरूप हुई जिसका इतिहासमे कोई दृष्टात नही मिलता तथा जिसमे अत्यधिक रक्तपात भी हुआ था; इसने एक ऐसी स्वच्छद और असहिष्णु राज्य-पद्धति उत्पन्न कर दी जो वर्गोके युद्धपर, जिनमेसे मजदूरवर्गको छोडकर बाकी सबका सफाया कर दिया गया था, उन्हे समाप्त कर दिया गया था तथा मजदूरवर्गकी 'तानाशाही'पर अथवा एक सकुचित सर्वशक्ति-शाली दल-प्रणालीकी जो उसके नामसे कार्य करती थी अर्थात् एक पुलिस-राज्यकी तानाशाहीपर एव बाह्य ससारके साथ एक घातक सघर्षपर आधारित थी। इस सघर्षकी भयानकताने नये राज्यके व्यवस्थापकोके मनमे यह दृढ विचार उत्पन्न कर दिया कि जीते रहना ही आवश्यक नही है बल्कि तबतक सघर्ष करते रहना तथा अपने आधिपत्यका विस्तार करना आवश्यक है, जबतक नयी व्यवस्था पुरानी व्यवस्थाको नष्ट न कर दे अथवा यदि सारी पृथ्वीसे न भी हो तो उसके एक बडे भागसे उसका उन्मूलन न कर दे, साथ ही उनमे यह विचार भी जम गया कि एक नया राजनीतिक एव सामाजिक सिद्धात लोगोपर लाद दिया जाय अथवा वह ससारके राष्ट्रो-द्वारा सामान्य रूपमे स्वीकार कर लिया जाय। किंतु यह वस्तुस्थिति बदल सकती है तथा अपनी कठोरता और पूरा परिणाम खो भी सकती है, जैसा कि वह कुछ हदतक सुरक्षाकी प्राप्तिसे तथा सघर्षकी पहली प्रचडता, कटुता तथा खिन्नताकी समाप्तिसे कर भी चुकी है। नयी व्यवस्थाके अत्यधिक असहिष्णु और उग्र तत्त्वोकी शक्ति कम की जा सकती थी और तब इकट्ठा या पास-पास रहनेकी असमर्थता अथवा अयोग्यताकी भावना समाप्त हो

जाती और कार्य करनेका एक अधिक सुरक्षित तथा सद्भावनापूर्ण ढंग संभव हो जाता। यदि व्याकुलता, अनिवार्य संघर्षकी भावना, पारस्परिक सहनशीलता और आर्थिक अनुकूलताकी कठिनाईका एक बड़ा अंग अभी भी विद्यमान है तो इसका कारण इतना यह नही कि दो विचार-धाराओंका साथ-साथ रहना असभव है, वरन् यह कि विचारसबंधी संघर्षको संसारपर प्रभुत्व स्थापित करनेके साधनके रूपमे प्रयुक्त करनेकी धारणा विद्यमान है तथा वह राष्ट्रोमें ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि वे एक-दूसरेसे भय मानने लगते है तथा सशस्त्र रक्षा और आक्रमणकी तैयारी करने लगते है। यदि यह तत्व दूर कर दिया जाय तो एक ऐसे ससारका अस्तित्व, जिसमे ये दो विचारधाराए इकट्ठी रह सके, आर्थिक आदान-प्रदान कर सके तथा एक दूसरेके अधिक निकट आ जाय जरा भी असंभव नही होगा; कारण, विश्व इस सिद्धातके महत्तर विकासकी ओर बढ रहा है कि समाजके जीवनपर राज्यका नियंत्रण होना चाहिये, साथ ही एक ओर समाजवादी राज्योके तथा दूसरी ओर सशोधित पूँजीवादको सुसगत तथा नियंत्रित करनेवाले राज्योके समूह भी इकट्ठे रह सकते है तथा एक-दूसरेके साथ मैत्रीपूर्ण सबध बना सकते है। यहाँतक कि एक ऐसे विश्व-राज्यका भी निर्माण हो सकता है जिसमे दोनो समूह अपनी-अपनी संस्थाएं रख सके तथा एक ही ससद्मे भाग ले सके; इस आधारपर बना अखड विश्वसंघ असंभव नही होगा। यह विकास वस्तुतः वह अतिम निष्कर्ष है जो संयुक्त राष्ट्रसघकी स्थापनाके मूलमे पहलेसे निहित है, क्योकि वर्तमान सगठन अपने-आपमे अतिम वस्तु नही हो सकता, यह केवल एक अधूरा आरभ है जो उस बृहत्तर सस्थाके प्राथमिक केद्रके रूपमे उपयोगी तथा आवश्यक है जिसमे पृथ्वीके सभी राष्ट्र, एक अखंड अंतर्राष्ट्रीय एकतामे परस्पर संबध रह सकते हैं; इस प्रकारकी प्रक्रियामे विश्व-राज्यका निर्माण ही एक युक्तिसंगत और अनिवार्य अंतिम परिणाम है।

वर्तमान परिस्थितियोमे भविष्यविषयक इस विचारको अत्यत सहज आशावाद कहकर इसकी निंदा की जा सकती है, किंतु यह अवस्था भी उतनी ही सभव है जितनी कि वह अधिक दु:खद अवस्था जिसकी निराशावादी आशा करते है, क्योकि यह सभव है कि जिस क्रातिके और साथ ही सभ्यताके नाशके बारेमे वे कभी-कभी भविष्यवाणी करते है वे नये युद्धका परिणाम शायद बिलकुल भी न हो। मानवजाति इस बातकी अभ्यस्त है कि वह उस बुरीसे बुरी विपत्तिको भी पार कर जाती है जो उसकी अपनी भूलोसे अथवा प्रकृतिके प्रचंड मोडोसे उत्पन्न हुई है और ऐसा होना ही चाहिये,

यदि उसके अस्तित्वका कोई प्रयोजन है और यदि उसका लबा इतिहास और सतत जीवन-प्रवाह किसी ऐसे आकस्मिक सयोगकी घटना नही है जो दैवात् ही अपनेको सगठित कर लेता है; संसारकी प्रकृतिकी शुद्ध जडवादी दृष्टिमे तो यह एक ऐसी ही घटना है। यदि मनुष्यका उद्देश्य जीते रहना और उस विकासको, जिसका वह आजकल अग्रणी है और कुछ हदतक उसकी गतिका अर्ध-चेतन नेता है, आगे चलाते रहना है तो उसे वर्तमान अस्तव्यस्त अतर्राष्ट्रीय जीवनसे वाहर निकल आना चाहिये तथा सगठित और सयुक्त कार्यका आरभ कर देना चाहिये, किसी प्रकारके एकात्मक अथवा सघीय विश्व-राज्य या राज्य-सघ या किसी सयुक्त शासनपर तो अतमे पहुंच ही जाना चाहिये, इससे लघुतर या अपूर्णतर साधन ठीक-ठीक इस उद्देश्यकी पूर्त्ति नही करेगा। उस अवस्थामे इस पुस्तकमे प्रस्तुत की गयी सामान्य स्थापना उचित सिद्ध होगी और हम पहलेसे ही कुछ विश्वास-पूर्वक प्रगतिकी उस मुख्य दिशाका जिसे घटनाक्रम ग्रहण करेगा, मानव-जातियोके कम-से-कम भावी इतिहासकी मुख्य दिशाका आभास तो दे ही सकते है। विकासोन्मुख प्रकृति अव मनुष्यके आगे यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या वर्तमान अतर्राष्ट्रीय प्रणालीके स्थानपर—यदि उसे प्रणाली कहा जा सकता है—अर्थात् एक ऐसी अस्थायी व्यवस्थाके स्थानपर जिसमे सदा विकासात्मक तथा क्रातिकारी परिवर्तन होते रहते हैं, एक ऐसी सुयोजित एव सुविचारित दृढ व्यवस्था अर्थात् एक सच्ची प्रणाली, जो अतमे एक वास्तविक एकता सिद्ध होगी और ससारकी जातियोके सभी सामान्य हितोकी रक्षा करेगी, स्थापित नही की जा सकती। एक आदि अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता, जो अपनी शक्तियोके जालके साथ, जहाँ कही सभव था, सभ्यता और व्यवस्थाके ऐसे बड़े या छोटे समुदायोका निर्माण कर रही थी जिनके विषयमे यह भय था कि वाह्य अस्तव्यस्ततासे आक्रात होकर वे नष्ट-भ्रष्ट अथवा छिन्न-भिन्न हो जायगे, जगत्की रचनाका पहला प्रयत्न था जिसे मानव-वुद्धिने सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया था। अतमे इसके स्थान-पर अतर्राष्ट्रीय ढगकी एक प्रणाली आयी जिसमे अतर्राष्ट्रीय विधान अथवा पारस्परिक व्यवहार एव आदान-प्रदानके स्थिर अभ्यासोके तत्व थे, इन तत्वोने, विरोधो और सघर्षोके रहते हुए भी, राष्ट्रोको मिलकर रहनेमे सहायता पहुचायी, पर इस सुरक्षित अवस्थाके वाद भय और सकटकी अवस्था-की भी वारी आती थी जिसके कई वीभत्स अग थे, चाहे वे कितने भी स्थानीय क्यो न हो, उदाहरणार्थ, अत्याचार, रक्तपात, विद्रोह और अव्य-वस्था, उन युद्धोका तो कहना ही क्या जो कभी-कभी पृथ्वीके बडे भागोको

बिलकुल ही उजाड़ देते थे। उस अन्तःस्थित देवताने जो जातिकी भवितव्यताका अधिष्ठाता है मनुष्यके मन और हृदयमे एक ऐसी नयी व्यवस्थाके विचार और आशयको उत्पन्न कर दिया है जो पुरानी असंतोषजनक व्यवस्थाका स्थान ले लेगी और उसके स्थानपर विश्व-जीवनकी ऐसी अवस्थाए पैदा कर देगी जिन्हे अतमे स्थायी शाति और सुखकी स्थापनाके लिये उचित अवसर प्राप्त होगा। यह पहली बार मानव-एकताके आदर्शको एक सुनिश्चित तथ्यका रूप प्रदान करेगा; यह आदर्श जो कम लोगोंको ही प्रिय था कबसे एक भव्य कल्पनामात्र प्रतीत हो रहा था। तब शाति और सामजस्यका दृढ़ आधार, यहाँतक कि जातिकी पूर्णताके, एक पूर्ण समाजके और मानव-आत्मा और मानव-प्रकृतिके उच्चतर और ऊर्ध्वमुख विकासके सर्वोच्च मानवी स्वप्नोकी चरितार्थताके लिये स्वतंत्र क्षेत्र उत्पन्न किया जा सकता है। इसका उत्तर हमारे समयके अथवा अधिक-से-अधिक निकट-भविष्यके मनुष्योको देना है। कारण, बहुत लबा स्थगन अथवा चिर असफलता उन बढती हुई विपत्तियोकी शृंखलाका रास्ता खोल देगी जो एक अत्यधिक लंबी और संकटपूर्ण अव्यवस्था और अस्तव्यस्तताको उत्पन्न कर सकती है तथा समाधानको अत्यत कठिन अथवा असभव बना सकती है, इसका अत वर्तमान विश्व-सभ्यताके ही नही बल्कि सभ्यतामात्रके असाध्य ध्वसमे हो सकता है। शायद एक अत्यंत व्यापक सहार, अस्तव्यस्तता और ध्वसावशेषके बीचमे एक नया, कठिन और अनिश्चित प्रयत्न आरभ करना पड सकता है और एक अधिक सफल निर्माणकी भविष्यवाणी तभी की जा सकती है यदि एक श्रेष्ठतर मनुष्यजाति या फिर, सभवत., एक महत्तर अतिमानवजातिको विकसित करनेका ढंग उपलब्ध हो जाय।

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्र अर्थात् सबसे बड़ी स्वाभाविक इकाई ही, जिसे मनुष्यजाति अपने सामूहिक जीवन-यापनके लिये उत्पन्न कर सकी है तथा सुरक्षित रख सकी है, उसकी अंतिम और चरम इकाई है या एक ऐसे महत्तर समुदायकी रचना भी हो सकती है जो बहुतसे, यहाँतक कि अधिकतर राष्ट्रोको और अतमे सबको ही अपनी एकीभूत समग्रतामे समाविष्ट कर लेगा। अधिक व्यापक निर्माण करनेकी प्रेरणा अर्थात् अत्यत बडे, यहातक कि बहुत ही विस्तृत अतिराष्ट्रीय समुदाय बनानेकी प्रवृत्तिका अभाव नही रहा है, जातिके जीवनकी सहज-प्रवृत्तियोका यह एक स्थायी अग भी रही है। किंतु इसने जो रूप धारण किया था वह एक सबल राष्ट्रका दूसरोपर प्रभुत्व स्थापित करने, उनके राज्योंको स्थायी रूपसे हस्तगत करने तथा प्रजाका दमन एव उसकी सपत्तिका शोषण करनेकी अभिलाषा थी:

अर्ध-आत्मसात्करणके लिये भी प्रयत्न किया गया था, प्रवल जातिकी संस्कृति दूसरोंपर लादी गयी थी तथा सामान्य रूपसे एक ऐसी प्रणालीको चालू करनेके लिये प्रयत्न किया गया था जो पूर्ण रूपसे या यथासंभव पूर्ण रूपसे दूसरोंको अपने अंदर मिला ले। रोमका साम्राज्य इस प्रकारके प्रयत्नका एक प्रसिद्ध दृष्टात था और राजनीतिक और प्रशासनीय एकताके एक वहुत वड़े ढाँचेमे एक ही तरहके जीवन और संस्कृतिकी ग्रीक-रोमन एकता भौगोलिक सीमाओं-के अंदर एक ऐसी चीजकी ओर निकटतम प्रगति थी जिसतक यह सभ्यता पहुंची थी और जिसे मानव-एकताका प्रथम प्रतीक या उस प्रतीककी अपूर्ण झलक माना जा सकता है। समस्त इतिहासमे इसी प्रकारके और प्रयत्न भी किये गये है पर वे न तो इतने व्यापक थे और न ही उनमे पूर्ण क्षमता थी, किंतु कोई भी अधिक शताब्दियोतक नही टिक सका। जो प्रणाली प्रयोगमे लायी गयी थी वह मूलतः दोषपूर्ण थी, क्योकि वह जीवनकी उन अन्य सहज-प्रवृत्तियोका विरोध करती थी जो मनुष्यजातिकी जीवन-शक्ति और स्वस्थ विकासके लिये आवश्यक थी और जिन्हे अस्वीकार कर देनेका परिणाम एक प्रकारका गतिरोध अथवा अवरुद्ध विकास होता। साम्राज्यीय समुदाय राष्ट्र-इकाईकी अजेय जीवन-शक्ति तथा चिरजीवी रहनेकी सामर्थ्य नही प्राप्त कर सकता था। जो साम्राज्य-इकाइया स्थायी रह सकी वे वस्तुत. ऐसी बृहत् राष्ट्र-इकाइया थी जिन्होने जर्मनी और चीनकी तरह यह नाम ग्रहण कर लिया था, ये अति-राष्ट्रीय राज्यके रूप नही थी, अतएव साम्राज्यीय समुदायकी रचनाके इतिहासमे इनकी गणना करनेकी आवश्यकता नही है। इसलिये, यद्यपि साम्राज्यकी रचनाकी प्रवृत्ति मानवजीवनकी अधिक वड़ी एकताओके लिये प्रकृतिके आवेगका प्रमाण है,—और इसके अदर हम एक वड़े परिमाणमे मानवजातिके विपम समुदायोको एक सयोजक अथवा संयुक्त जीवन-इकाईमे एकीभूत करनेके सकल्पको छुपा हुआ देख सकते है,—तथापि इसे एक ऐसी असफल रचना ही मानना चाहिये जिसका कोई फल नही है तथा जो इस दिशामे किसी भी आगामी विकासके लिये अनुपयुक्त है। वास्तवमे तो विश्वव्यापी प्रभुत्वके लिये एक नया प्रयत्न केवल एक नये साधनद्वारा अथवा नयी परिस्थितियोमे पृथ्वीके सभी राष्ट्रोको अतर्भूत करने या उन्हे किसी प्रकारके ऐक्यके लिये प्रेरित या वाधित करनेके द्वारा ही सफल हो सकता है। एक आदर्श सिद्धांत अर्थात् राष्ट्रोका एक ऐसा सफल सगठन, जिसका एक ही लक्ष्य हो तथा जिसका नायक शक्ति-शाली हो, उदाहरणार्थ साम्यवादी रूस, इस उद्देश्यकी पूर्त्तिमे अस्थायी सफलता प्राप्त कर सकता है, किंतु यह परिणाम जो अपने-आपमे अधिक वांछनीय

नही है सभवत. एक स्थायी विश्वराज्यके निर्माणको सुनिश्चित नही कर सकेगा। अन्य शक्तियोंके विकासके लिये उच्च प्रवृत्तिया, वाधाए, तथा प्रेरणाए वहाँ विद्यमान रहेगी जो देर-सवेर उसके नाशका अथवा किसी क्रांतिकारी परिवर्तनका कारण वन जायगी जिसका अर्थ होगा उसकी समाप्ति। अतमे ऐसी प्रत्येक अवस्थाको पार करना होगा; केवल एक सच्चे विश्वराज्यका निर्माण ही, चाहे वह एकात्मक पर अभी भी नमनीय ढंगका हो,—क्योकि एक कठोर एकात्मक राज्य जीवनके स्रोतोंके गतिरोध और क्षयका कारण वन सकता है—और चाहे वह स्वतत्र राष्ट्रोंका संघ हो, एक ठोस और स्थायी विश्व-व्यवस्थाके भविष्यका मार्ग वन सकता है।

विपम या क्रमिक विकासके उन सावनो, प्रणालियो अथवा दिशाओके विषयमें, जिन्हे मानव-एकताकी वास्तविक चरितार्थता ग्रहण कर सकती थी जो विचार और निष्कर्प इस पुस्तकमे दिये गये है उन्हें, कुछ एक दिशाओको छोड़कर, दुहराना या उनका सिंहावलोकन करना आवश्यक नही। किंतु फिर भी कुछ दिशाओमे कई ऐसी संभावनाएँ उठ खडी हुई है जो यह माँग करती है कि जो कुछ इन अध्यायोमे लिखा गया है तथा जिन परिणामोपर हम पहुचे है उनमे कुछ सशोधन किया जाय। उदाहरणार्थ, यह परिणाम निकाला गया था कि एक ही प्रवल राष्ट्र अथवा साम्राज्यद्वारा ससारकी विजय तथा उसके एकीकरणका होना संभव नही है। यह अव उतना निश्चित नही रहा है, क्योकि हमे अव कुछ परिस्थितियोमे ऐसे प्रयत्नकी सभावना स्वीकार करनी पडी है। एक प्रवल शक्ति अपने चारो ओर ऐसे सवल मित्र इकट्ठा कर सकती है जो उसके अवीन होगे किंतु फिर भी अपने साधन-सामर्थ्योमे काफी वढे-चढे होगे, साथ ही उन्हे वह दूसरी शक्तियो एवं राष्ट्रोके साथ एक विश्वव्यापी संघर्षमे झोक भी सकती है। यह सभावना और भी वढ जायगी यदि वह प्रवल शक्ति, आक्रमणकारी सैनिक कार्यवाहीके कुछ ऐसे भयानक साधनोके प्रयोगमे जिन्हे विज्ञान खोज रहा है तथा सफलतापूर्वक उपयोगमे ला रहा है, अत्यधिक श्रेष्ठताका एकाधिकार स्थापित कर ले, चाहे वह कुछ समयके लिये ही क्यो न हो। विनाश और व्यापक सहारका भय जो इन अशुभ खोजोका परिणाम होगा सरकारो और राष्ट्रोमे इन आविष्कारोके सैनिक प्रयोगपर प्रतिवध लगाने तथा उनका निषेध करनेकी इच्छा उत्पन्न कर देगा, किंतु जवतक मनुष्यजातिका स्वभाव ही नही बदल जाता, यह प्रतिवध अनिश्चित और अस्थायी रहेगा और किसी भी तरीकेसे श्रेष्ठता प्रकट करनेकी आकाक्षा रखनेवाले राष्ट्रको इससे आत्मगोपन, आकस्मिक आक्रमण तथा एक निर्णायक क्षणके उपयोगका

अवसर प्राप्त हो जायगा जिससे उसे सभवत. विजय प्राप्त हो सकती है और उस महान् संभावनाके लिये खतरा पैदा हो सकता है। इस बातपर यह तर्क किया जा सकता है कि पिछले युद्धका इतिहास इस संभावनाके विरुद्ध जाता है, कारण, ऐसी अवस्थाओमे, जिन्होने परिस्थितियोके ऐसे संयोगको प्राप्त तो नहीं किया था वल्कि उसके निकट पहुच रही थी, आक्रमणकारी शक्तियाँ अपने प्रयत्नमे असफल हुईं तथा उन्हे एक भयानक पराजयके घातक परिणामोमेसे गुजरना पड़ा। किंतु जो भी हो, वे कुछ समयके लिये तो सफलताके विलकुल निकट पहुँच ही गयी थी। और यह हो सकता है कि संसारको किसी आगामी अधिक वुद्धिमतापूर्वक सचालित और संगठित युद्धमे यह सौभाग्य न भी प्राप्त हो। कम-से-कम इस संभावनाको ध्यानमे तो रखना ही चाहिये तथा उन लोगोको, जिनके पास रोकनेकी शक्ति है तथा जातिकी भलाईका कार्य जिनके सुपुर्द है, संसारकी इससे रक्षा करनी चाहिये।

उस समय एक सभावना यह भी सुझायी गयी थी कि कुछ महाद्वीपीय समुदायोका अर्थात् एक सयुक्त यूरोप, सयुक्त-राज्यके नेतृत्वके अधीन अमरीकी महाद्वीपकी जातियोके समुदायका विकास किया जाय; एशियाके पुनरुत्थान और यूरोपीय जातियोके आधिपत्यसे मुक्त होनेकी उसकी प्रेरणाके फलस्वरूप भी इस महाद्वीपके राष्ट्र अपनी सुरक्षाके हित संगठन वनानेके लिये इकट्ठे हो सकते है; वृहत् महाद्वीपीय समुदायोका यह अतिम रूप विश्व-ऐक्यकी अतिम रचनाकी एक अवस्था हो सकता है। इस संभावनाने कुछ हदतक इतने वेगसे आकार ग्रहण करना प्रारभ कर दिया है जितनेकी उस समय आशा नही की जा सकती थी। अमरीकाके दो महाद्वीपोमें तो इसने वास्तवमे एक प्रमुख तथा व्यावहारिक रूप धारण कर लिया है, यद्यपि अभी वह अपने पूर्ण रूपमे नही है। यूरोपके संयुक्त राज्योका विचार भी एक वास्तविक आकार धारण कर चुका है और एक वैधिक अस्तित्व ग्रहण कर रहा है, किंतु वह अभीतक एक निष्पन्न और पूर्णतया चरितार्थ सभावनामे विकसित नही हो सका है, इसका कारण परस्पर-विरोधी आदर्शोपर आधारित शत्रुता है जो रूस और अपने लौह परदेके पीछे स्थित उसके अनुगामियोको पश्चिमी यूरोपसे पृथक् कर देती है। यह पृथक्ता इतनी दूरतक चली गयी है कि इसकी समाप्ति कव होगी यह पहलेसे कहना सभव नही है। कुछ अन्य परिस्थितियोमे ऐसे समुदायोकी प्रवृत्ति अत्यत वड़े महाद्वीपीय सघर्षोका, उदाहरणार्थ, उदीयमान एशिया और पश्चिमके सघर्षका, जिसे एक समय सभव समझा जाता था, भय

उत्पन्न कर सकती थी। यूरोप और अमरीकाके द्वारा एशियाके पुनरुत्थानकी स्वीकृतिने और उसके फलस्वरूप पूर्वी राष्ट्रोंकी पूर्ण मुक्ति और साथ ही जापानके पतनने, जो एक समय पश्चिमके प्रभुत्वके विरुद्ध स्वतंत्र एशियाका उद्धारक तथा नायक माना जाता था तथा उसने वास्तवमें ससारके सामने अपने-आपको इसी रूपमे उपस्थित भी किया था, इस सकटपूर्ण सभावनाको दूर कर दिया है। यहाँ भी और स्थानोकी तरह, वास्तविक भय दो विरोधी आदर्शोके परस्पर-सघर्षके रूपमें उपस्थित होता है, एक रूस और लाल चीनका है, यह अनिच्छुक अथवा कम-से-कम जो प्रभावित तो है, पर पूर्णतया इच्छुक नही है ऐसे एशिया और यूरोपपर कुछ हदतक सैनिक और कुछ हदतक वलपूर्वक राजनीतिक साधनोंद्वारा अत्युग्र साम्यवाद लाद देनेकी चेष्टा कर रहा है, दूसरी ओर उन राष्ट्रोंका समुदाय है जो कुछ अंशमे पूंजीवादी तथा कुछ अंगमे नरमपंथी समाजवादी है और जो अभी भी कुछ मोहपूर्वक स्वाधीनताके विचार अर्थात् विचारकी स्वतत्रता एव व्यक्तिके स्वतंत्र जीवनकी भावनाके किसी अवशेषके साथ चिपटे हुए है; अमरीकामे, विशेषकर लैटिन राष्ट्रोमे एक ऐसी प्रवृत्ति प्रतीत होती है कि सपूर्ण महाद्वीप तथा उसके निकटवर्ती द्वीपोका अमरीकीकरण कर दिया जाय और वह असहिष्णु रूपमे पूर्ण हो, यह एक प्रकारका विस्तृत मनरो सिद्धांत (Monroe Doctrine) है जो उन यूरोपीय शक्तियोमे संघर्ष उत्पन्न कर सकता है जिनके अधिकारमें अभी भी महाद्वीपके उत्तरी भागके कुछ प्रदेश हैं। किंतु यह केवल कुछ छोटी-मोटी कठिनाइयाँ तथा वैमनस्य ही उत्पन्न कर सकता है, किसी गंभीर युद्धकी संभावना नही; यह संभवत एक ऐसा विषय होगा जिसके संबंधमें संयुक्त राष्ट्रसंघको मध्यस्थता या अन्य कोई व्यवस्था करनी होगी, इसका और कोई गभीर परिणाम नही होगा। चीनके उदयसे एक अधिक सकटपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी है जो तीव्र रूपमे संसारके इस भागकी जातियोकी महाद्वीपीय एकताकी किसी भी सभावनाका मार्ग अवरुद्ध किये हुए है। इसने एक ऐसे विशाल गुटका निर्माण कर दिया है जो दो भारी साम्यवादी शक्तियों, रूस और चीन, के मिलनेसे सपूर्ण उत्तरी एशियाको आसानीसे अपने अंतर्गत कर सकता है तथा जो दक्षिण-पश्चिमी एशिया और तिव्वतको अधीन कर लेनेका भय दिखाकर उन्हे अभिभूत कर लेगा; यह भारतवर्षकी सीमातक सभीको आक्रात करनेके लिये प्रेरित हो सकता है और इस प्रकार आक्रमण करने तथा रौदनेकी संभावनाके द्वारा तथा अत:प्रवेशन, यहाँतक कि अदम्य सैनिक शक्तिकी सहायतासे भारत और पश्चिमी एशियाको अवांछित विचारो,

राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओके अधीन करके तथा साम्यवादके एक ऐसे सैनिक गुटके आधिपत्यके द्वारा जिसका वेग सहज ही अदम्य सिद्ध हो सकता है यह उनकी सुरक्षाको खतरेमे डाल सकता है। किसी भी दशामें महाद्वीप दो अत्यत वडे गुटोमें विभाजित हो जायगा जो परस्पर सक्रिय विरोधमे भी खडे हो सकते है और इसके फलस्वरूप एक ऐसे भीषण विश्व-सघर्षकी सभावना पैदा हो सकती है जिसके सामने कोई भी पूर्व-घटित संघर्ष तुच्छ प्रतीत होगा। किसी भी विश्व-ऐक्यकी सभावना, शत्रुताके किसी वास्तविक विस्फोटके बिना भी, हितो और सिद्धातोकी असंगतिके कारण—जो इतने व्यापक रूपमे होगी कि ये किसी अखड समुदायमें कदाचित् ही समाविष्ट हो सके—अनिश्चित समयके लिये स्थगित हो सकती है। ऐसे तीन या चार महाद्वीपीय सघोके वननेकी संभावना, जो समय पाकर एक अखड एकतामे परिणत हो सकते है, तव वहुत दूरकी वस्तु हो जायगी और वह एक महान् युद्धके बिना कदाचित् ही चरितार्थ हो सके।

एक समय ऐसा दिखायी देता था कि अतत. सभी राष्ट्रोमे समाजवादका विस्तार किया जा सकता है। तव, एक अतर्राष्ट्रीय एकता अपनी उन स्वाभाविक प्रवृत्तियोंद्वारा जो स्वभावतः ही राष्ट्र-विचारकी विभाजक शक्तिको अधीन करनेकी ओर मुड़ी हुई थी उत्पन्न हो सकेगी। इस विचारके साथ पृथक्ताकी भावना तथा उन प्रतियोगिताओ और प्रतिस्पर्धाओकी प्रवृत्ति भी जुड़ी हुई थी जिनका अत प्रायः ही प्रकट युद्ध होता था, यह एक स्वाभाविक मार्ग समझा जा सकता था और यह वस्तुत. विश्व-ऐक्यकी प्राप्तिका अतिम मार्ग वन सकता था किंतु, प्रथम तो, समाजवाद कुछ दवावोके अधीन होकर विभाजक राष्ट्रीय भावनाके सक्रामक प्रभावसे किसी प्रकार भी विमुक्त नही रह सकता और जब यह पृथक् राष्ट्रीय राज्योमें शक्ति ग्रहण कर लेगा तथा उसके फलस्वरूप जव इसका प्रतियोगी राष्ट्रीय हितो तथा आवश्यकताओपर अधिकार हो जायगा तो इसकी अतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति तव सभवत. न भी वची रहे। हॉ, नयी समाजवादी सस्थाओमें पुरानी भावना वची रह सकती है। किंतु साथ ही ऐसा भी हो सकता है कि समाजवादके प्रसारकी अनिवार्य लहर पृथ्वीके सब राष्ट्रो-तक न भी पहुँचे अथवा वहुत सुदूर भविष्यमे ही पहुँचे। कुछ ऐसी अन्य शक्तियाँ भी उठ खडी हो सकती है जो किसी समय या अव भी वर्तमान विश्व-प्रवृत्तियोका अत्यत सभवनीय परिणाम प्रतीत होनेवाली वस्तुके साथ सघर्षमे आ सकती हैं। साम्यवाद और उस कम उग्र समाजवादी विचारके

बीचका सघर्ष जो अभी भी स्वाधीनताके सिद्धातका, चाहे वह एक सीमित स्वाधीनता ही है, तथा विवेकबुद्धि, विचार एवं मनुष्यके व्यक्तित्वकी स्वतंत्रताका—यदि यह भेद स्थायी रहा—आदर करता है, विश्व-राज्यके निर्माणमे गंभीर कठिनाई उत्पन्न कर सकता है। एक ऐसा संविधान एव सामजस्यपूर्ण राज्यनियम और व्यवहार बनाना आसान नहीं होगा जिसमे व्यक्तिके लिये अथवा उसके सतत अस्तित्वके लिये, सिवाय इसके कि वह समूहवादी राज्यके सुनिश्चित शरीररूपी यत्रकी क्रियामे एक अणु अथवा मशीनका एक पुर्जामात्र हो, थोडी-सी भी वास्तविक स्वतंत्रता संभव या कल्पनीय हो। यह बात नही है कि साम्यवादका सिद्धांत ऐसे परिणामोंको अनिवार्य करता है या इसकी प्रणाली एक समूह-मूलक सभ्यताको जन्म देगी अर्थात् व्यक्तिका दमन करेगी, इसके विपरीत, यह व्यक्तिकी चरितार्थता और समुदायकी पूर्ण समस्वरता दोनोका एक साधन भी बन सकता है। जो प्रणालियाँ इस नामसे विकसित हो चुकी है वे वास्तवमे साम्यवाद नही है, वरन् अत्यधिक कठोर राज्य-समाजवादकी रचनाएँ हैं। किंतु समाजवाद स्वय मार्क्सवादकी लीकसे अलग हटकर विकसित हो सकता है, तथा कम कठोर पद्धतियाँ उत्पन्न कर सकता है, उदाहरणार्थ, एक ऐसा सहकारी समाजवाद भी एक दिन पैदा हो सकता है जिसमें पुलिस-राज्यके दमनकारी प्रशासनकी नौकरशाही कठोरता विद्यमान न हो, किंतु यह पहलेसे कहना कठिन है कि वर्तमान परिस्थितियोमे समाजवादको ससारभरमे प्रसारित किया जा सकता है, कदाचित् इसकी कोई प्रवल संभावना भी नही है: सुदूर पूर्वमे हालकी घटनाओद्वारा उत्पन्न उच्च सभावनाएँ तथा प्रवृत्तियोके होते हुए भी पृथ्वीका दो पद्धतियो, पूँजीवादी और समाजवादीमे विभाजन आजकल अधिक सभव तथ्य है। अमरीकामे व्यक्तिवाद तथा समाजवादके पूँजीवादी तंत्रके प्रति आसक्ति और साम्यवादके प्रति ही नही, वरन् एक नरम समाजवादके प्रति भी घोर विरोध पूरी तरहसे विद्यमान है और इसकी उग्रतामे कमी होनेकी सभावना कम ही दिखायी देती है। साम्यवादकी चरम सफलता जो पुरानी दुनियाके महाद्वीपोपर छा रही है तथा जिसे हमे एक संभावनाके रूपमे मानना पडा है अभी भी, यदि हम वर्तमान परिस्थितियो तथा विरोधी शक्तियोके सतुलनपर विचार करें तो, अत्यधिक असभव दिखायी देती है और यदि ऐसा हुआ तो किसी प्रकारकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकता तो फिर भी पड़ेगी ही, जवतक कि दो शक्तियोमेसे एक अपने शत्रुपर अंतिम रूपसे भारी विजय ही न प्राप्त कर ले। एक सफल व्यवस्था एक ऐसी सस्थाके निर्माणकी

मॉग करेगी जिसमे सभवनीय विवादके सभी प्रश्न, जैसे ही वे उठे, प्रकट युद्धका विस्फोट हुए विना ही सुलझाये जा सके; यह राष्ट्र-सघ तथा संयुक्त राष्ट्र-सघकी उत्तराधिकारिणी होगी और उसी दिशाकी ओर प्रगति करेगी। जिस प्रकार रूस और अमरीकाने, नीति और आदर्शोका सतत विरोध होते हुए भी, अभीतक कोई भी ऐसा कदम नही उठाया है जो सयुक्त राष्ट्र-संघकी सुरक्षाको अत्यधिक कठिन अथवा असंभव वना दे, उसी प्रकार यह तीसरा सगठन भी अपने सतत अस्तित्वकी उसी आवश्यकता अथवा अनिवार्य उपयोगिताद्वारा सुरक्षित रखा जायगा। वही शक्तियॉ उसी दिशामे कार्य करेगी और तव भी एक सफल विश्व-संघकी रचना सभव रहेगी, और अतमे तो इसे अनिवार्य वनानेके लिये जातिकी सामान्य आवश्यकताओके संघात तथा स्वरक्षाकी उसकी मॉगके ऊपर भली-भॉति निर्भर रहा जा सकता है।

सयुक्त राष्ट्र-सघकी स्थापनासे अवतककी घटनाओमे तथा सान-फ्रासिसकोमे एक ऐसे विश्व-संगठनके निर्माणकी ओर, जिसके फलस्वरूप अतमे एक सच्ची एकताकी स्थापना हो सकती है, वढाये गये महान् और निश्चयात्मक आरभिक कदमके परिणाममे ऐसी कोई भी वात नही है जो हमे इस महान् कार्यकी अंतिम सफलताकी ओरसे निराश कर दे। सकट और कठिनाइयॉ अवश्य है, सघर्षोका भय भी हो सकता है, उन भारी संघर्षोका भी जो भविष्यका मार्ग अवरुद्ध कर सकते है, किंतु नितात असफलताकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नही है, जवतक हम जातिकी असफलताकी ही भविष्यवाणी नही करना चाहते। वृहत्तर समुदायोकी ओर प्रकृतिकी प्रवृत्ति तथा सवसे अधिक वडे और ससारकी जातियोके अतिम सघकी स्थापनाके जिस विषयको प्रस्थापित करनेका कार्य हमने हाथमे लिया है उसमे अभीतक भी कुछ परिवर्तन नही हुआ है, प्रत्यक्ष ही यही वह दिशा है जिसकी मनुष्यजातिका भविष्य मॉग करता है तथा जिससे सघर्ष और विक्षोभ, चाहे वे कितने भी वडे क्यो न हो, स्थगित कर सकते हैं तथा उन रूपोको जिन्हे यह दिशा ग्रहण कर सकती है वहुत हदतक वदल भी सकते है, पर रोक नही सकते। अन्यथा, केवल एक व्यापक विनाश ही मानवजातिके भाग्यमे रह जायगा; किंतु ऐसा विनाश भी, चाहे विज्ञानकी हालकी खोजो और आविष्कारोके सुनिश्चितप्राय लाभकारी परिणामोका—जिनके विस्तारकी कोई सीमा नही है—सतुलन करनेवाली सकटपूर्ण सभावनाएँ जो भी हो, उसी प्रकार काल्पनिक हो सकता है जिस प्रकार अतिम शाति और सुख-आनदकी अथवा मानवीय

जातियोके एक पूर्णताप्राप्त समाजकी असामयिक आशा हो सकती है। यदि हम और किसी चीजपर नही तो विकासात्मक प्रेरणापर तो भरोसा रख ही सकते है, यदि और किसी महत्तर गुह्य शक्तिपर नही तो विश्व-शक्तिकी, जिसे हम प्रकृति कहते है, व्यक्त क्रिया और दिशा अथवा उसके उद्देश्यपर तो हम इस बातके लिये निर्भर रह ही सकते है कि वह मानव-जातिको कम-से-कम अपने आवश्यक कदम अर्थात् अगले स्व-रक्षात्मक कदम-तक तो ले ही जायगी; कारण, आवश्यकता तो यहाँ है ही, कम-से-कम उसकी सामान्य स्वीकृति तो प्राप्त हो ही चुकी है और जिस चीजकी ओर यह अंतमे ले जायगी उसका विचार भी जन्म ले चुका है, साथ ही उसके वाह्य रूपने भी अपनी रचनाकी माँग करना आरंभ कर दिया है। हमने इस पुस्तकमे उन शर्तो, सभावनाओ तथा रूपोंकी ओर सकेत किया है जिन्हें यह नयी रचना ग्रहण कर सकती है और उनकी ओर भी जो विना कट्टर सिद्धात वनाये अथवा व्यक्तिगत मतको प्रधानता दिये सवसे अधिक, वांछनीय प्रतीत होते हैं; जो शक्तियाँ कार्य करती है तथा जो परिणाम निकल सकते है उनका निष्पक्ष अवलोकन इस विवेचनका उद्देश्य था। शेप मानवजातिकी उस चीजको जो आज स्पष्टत: एकमात्र आवश्यक वस्तु है कार्यान्वित करनेकी वौद्धिक और नैतिक योग्यतापर निर्भर करेगा।

अतएव, हम यह परिणाम निकालते है कि विश्वकी वर्तमान अवस्थाओंमे, उसके अत्यधिक निराशाजनक लक्षणो तथा सकटपूर्ण संभावनाओको ध्यानमें रखते हुए भी ऐसी कोई वात नही है जो हमारे उस दृष्टिकोणको वदल दे जो हमने किसी भी प्रकारके विश्व-सघकी आवश्यकता तथा अनिवार्यताके सवंधमे निश्चित किया है; प्रकृतिकी प्रेरणा, परिस्थितियोके दवाव तथा मनुष्यजातिकी वर्तमान और भावी आवश्यकता इसे अनिवार्य वना देते है। जिन सामान्य परिणामोपर हम पहुँचे हैं वे वैसे ही रहेगे और साथ ही वैकल्पिक अथवा क्रमिक विकासके जो भी आदर्श और संभावित रूप अथवा दिशाएँ, यह ग्रहण करे उनका विचार भी अपरिवर्त्तित रहेगा। अतिम परिणाम एक विश्व-राज्यकी रचना होगा और उसका सवसे अधिक वाछनीय रूप स्वतत्र राष्ट्रोका एक ऐसा संघ होगा जिसमे सव प्रकारकी दासता अथवा वौद्धिक असमानता, एककी दूसरेके प्रति अधीनता समाप्त हो जायगी और, चाहे कुछ राष्ट्र अपना महत्तर स्वाभाविक प्रभाव सुरक्षित भी रखे, सवकी स्थिति समान ही रहेगी। एक राज्य-संघ विश्व-राज्यके निर्मायक राष्ट्रोको अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करता है, किंतु यह पृथक्कारी अथवा केंद्रविमुखी प्रवृत्तियोको कार्य करनेके लिये वहुत वड़ा

क्षेत्र प्रदान कर सकता है; एक सघीय व्यवस्था तब सबसे अधिक वाछनीय होगी। शेष सब घटनाक्रम तथा सर्वसामान्य समझौते अथवा भविष्यमे प्रकट होनेवाले विचारो और आवश्यकताओद्वारा दिये गये आकारके द्वारा निश्चित होगा। इस प्रकारका विश्व-सघ सभवत: बहुत लबे समयतक अथवा स्थायी रूपसे जीवित रह सकता है। यह संसार परिवर्तनशील है और अनिश्चितताये और सकट कुछ समयके लिये आक्रात या पीडित कर सकते हैं; जैसे ही नये विचार और नयी शक्तियाँ प्रकट होकर मनुष्य-जातिकी सामान्य मनोवृत्तिपर अपना प्रभाव डालने लगे, निर्मित रचना क्रांतिकारी प्रवृत्तिसे प्रभावित हो सकती है, किंतु आवश्यक कदम तो उठ चुका होगा तथा जातिका भविष्य भी सुनिश्चित हो चुका होगा या कम-से-कम आजका युग तो बीत गया होगा जिसमे यह न सुलझायी गयी आवश्यकताओ तथा कठिनाइयों, अनिश्चित अवस्थाओ, अत्यधिक बड़े विप्लवो एव विशाल और रक्तसे सने विश्व-व्यापी संघर्षो तथा भविष्यमे आनेवाले अन्य सघर्षोके भयसे आक्रात और विक्षुब्ध है। मानव-एकताका आदर्श तब एक अचरितार्थ आदर्श नही रहेगा, वरन् एक चरितार्थ तथ्य हो जायगा और इसकी सुरक्षा एकीभूत मानवीय जातियोको सौप दी जायगी। इसका भावी भाग्य देवताओके हाथमे होगा और यदि देवताओके लिये जातिके अनवच्छिन्न अस्तित्वका कुछ उपयोग है, तो वह वहाँ सुरक्षित है तथा उसे उन्हीपर छोड़ा जा सकता है।

युद्ध और आत्म-निर्णय
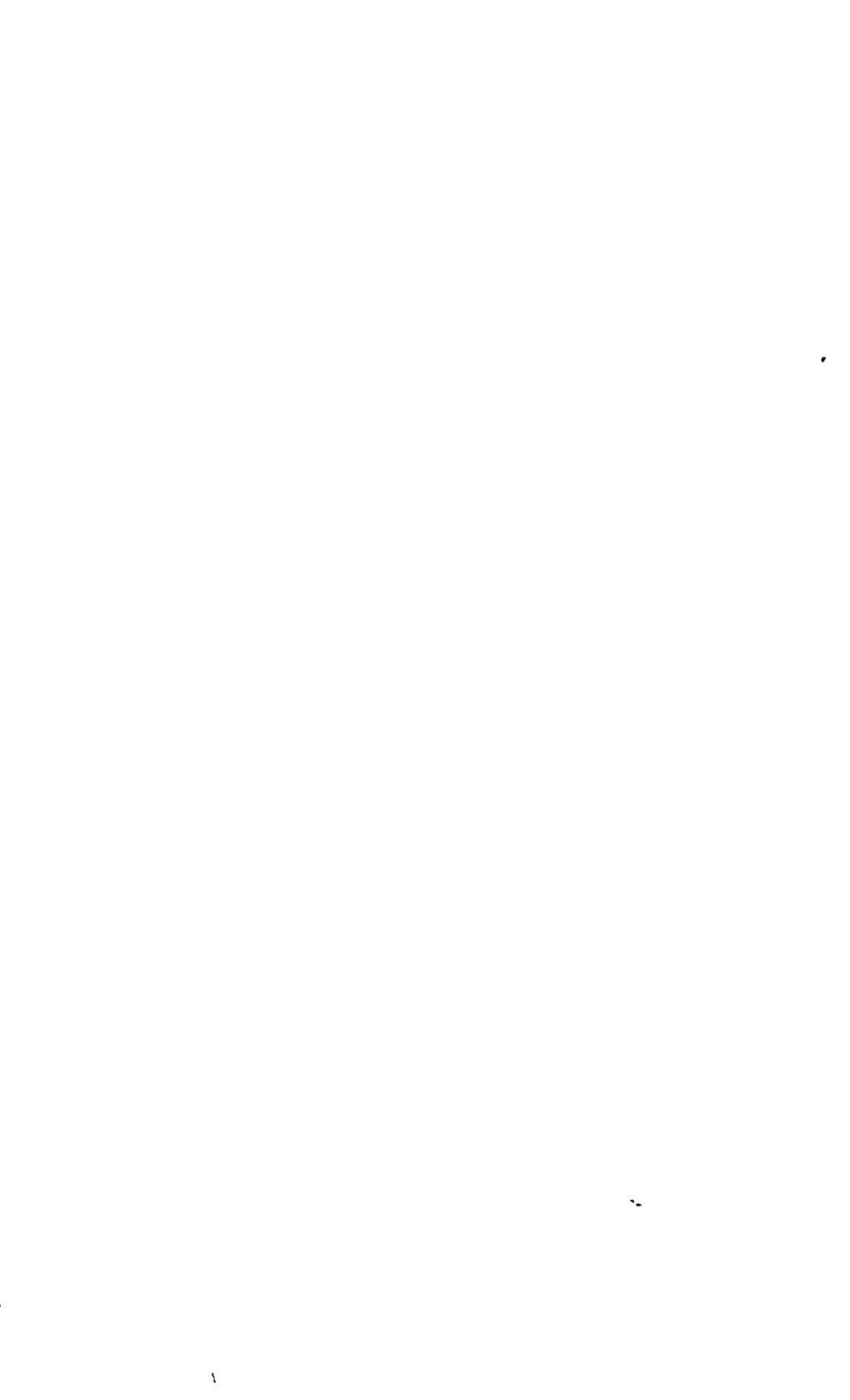
भूमिका

(प्रथम संस्करण)

इस पुस्तकमें प्रकाशित चार* निबन्ध एक ही समय नही लिखे गये थे, और नही विचार अथवा उद्देश्य-विषयक कोई पारस्परिक संबंध ही इनमे अभिप्रेत था। पहला युद्धके प्रारभिक महीनोमे लिखा गया था और दो अन्य युद्धकी समाप्तिके दिनोमे। अंतिम निबंध अभी हालमे ही, उस बुरी तरह संयोजित, लडखड़ाती और सकुचाती हुई मशीन, राष्ट्र-सघके निर्माण और आरंभिक कार्यकालमे लिखा गया है। फिर भी ये एक ही विचारसे आबद्ध हैं, कम-से-कम ये चार संबंधित विषयोको एक ही सामान्य दृष्टि-बिन्दुसे देखते है—यह एक प्रत्यक्ष परन्तु व्यवहारमे भुलाया हुआ सत्य है कि इस संकट और क्रांतिके कालमें जातिकी भवितव्यता उस यंत्रपर उतना नही जिसका हम प्रयोग करेंगे बल्कि हमारी वर्तमान प्रवृत्तिपर अधिक निर्भर है। इस सत्यकी वर्तमान स्थितिपर भूमिकारूप कुछ शब्द कहना शायद यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

वर्तमान स्थितिकी समस्त कठिनाई इस युगकी, जिसमे कि हम रह रहे है, विशिष्ट और संकटपूर्ण प्रवृत्तिको लेकर है। यह एक अपरिमित एवं द्रुत परिवर्तनोंका काल है और ये परिवर्तन इतनी शीघ्रतासे हो रहे हैं कि इनमेंसे गुजरनेवाले हम बहुत कम लोग ही इनके मुख्य विचारको पकडने या इनका अंतरीय अर्थ जानने अथवा इनके संभावित परिणामका निश्चित मूल्यांकन करनेकी आशा कर सकते हैं। बडी-बड़ी आशाएँ की जा रही हैं, उच्च और महान् आदर्शोंसे वायुमण्डल ओत-प्रोत है, विराट् शक्तियाँ हमारे सामने विद्यमान हैं। यह जातिके जीवनके उन विशाल एवं सकटपूर्ण क्षणोंमेसे एक क्षण है जब सब वस्तुएँ परिवर्तन और पुनर्गठनके लिये कार्य कर रही हैं। भविष्यके आदर्श, विशेषतया स्वतंत्रताके आदर्श, समानता, सार्वजनिकता और एकताके आदर्श आध्यात्मिक जीवन या किन्ही विशिष्ट व्यक्तियोके ध्येयवादके सीमित क्षेत्रसे निकलकर कर्मकी सच्ची आत्माका प्रारभ और जातिके जीवनमे कोई भौतिक आकार प्राप्त करना चाहते है। किन्तु ऐसी किसी भी प्राप्तिके साथ प्रबल बाधाएँ भी जुडी

*पाँचवाँ निबंध (युद्धके बाद) दूसरे संस्करणमें जोड़ा गया था।

होती है और सबसे बडी बाधाएँ बाहरसे नही अन्दरसे आती है। कारण, ये मनुष्यजातिकी भूतपूर्व प्रकृतिके पुराने, परन्तु अभीतक चलते आ रहे आवेग और हठीले दुराग्रह है, यह उसके सामान्य मनके उन अहभावयुक्त, प्राणिक और भौतिक स्वार्थो और महत्वाकांक्षाओंके प्रति पूर्ण अधीनता है जो एकताको नहीं बल्कि विरोध और कलहको जन्म देती है, ये व्यावहारिक तर्क-बुद्धिके सत्याभासी रूप है, उस तर्कबुद्धिके जो केवल उसी दिनकी और तत्काल वादकी संभावनाओको तो देखती है पर अगले दिनके परिणामोकी ओरसे आँखे मूँद लेती है, ये बाधाएँ उन झूठे आरोपों और काल्पनिक कहानियोके अभ्यास है जो मनुष्यों और राष्ट्रोंको एक प्रत्यक्षत. सुन्दर आदर्शवादके आवरणके नीचे निजी स्वार्थ-साधनामे लगनेके लिये विवश करते है, यह एक ऐसा अभ्यास है जो कुछ अशमें ही राजनीतिज्ञोके कूटनीतिक पाखण्डसे बना है पर अधिकतर इसका निर्माण एक सामान्य अर्ध-ऐच्छिक आत्म-वचनासे हुआ है, और अतमें होता है अंधतर असंतुष्ट शक्तियो और अधूरे और अपूर्ण आदर्शवादोका वेगपूर्ण प्रवेश—बोलश्विज्मका मत इसी प्रकारका है—जिसका उद्देश्य ऐसे समयोंमे पायी जानेवाली अशान्ति और अतृप्तिसे लाभ उठाना और थोड़े समयके लिये मनुष्यके जीवनपर अधिकार जमाना होता है। प्रधानतः इन्ही वस्तुओको हम आज प्रबल रूपमे अपने सामने देख रहे है। ठीक मनोभावना अपनानेका और उसमेसे ठीक उपाय विक-सित करनेका कोई प्रयत्न नही दिखायी देता। आधुनिक मन—जो भौतिक विज्ञानकी विजयोंसे जितना आलोकित हुआ है उतना ही धूमिल भी हो गया है—बार-बार पश्चिमके द्वारा अनुमोदित इसी उपायका राग अलापता रहता है कि मशीनके द्वारा ही मुक्ति हो सकती है। आधुनिक मत यह मालूम होता है कि ठीक ढगका यंत्र ले आओ तो सब कुछ किया जा सकता है। किन्तु मनुष्यजातिकी भवितव्यता इच्छानुसार अमरीकन कारखानेमे नही गढ़ी जा सकती। जो चीज हमारे आगे महत्त्वपूर्ण समस्याएँ रख रही है, वह इसकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। और यदि हमारी स्वीकृत वस्तुओंके अन्दर निहित भावना समाप्त या मिथ्या हो जाय तो कोई भी उपाय या मशीन हमारे लिये उन्हे नही गढ़ सकती और न ही वांछित फल उपलब्ध कर सकती है। यह एक ऐसा सत्य है जिसे आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक मन सदा भूल जाता है, क्योंकि वह प्रक्रिया, तैयार सामान एव उत्पादनको देखता है और मनुष्यके अन्दरकी आत्मा और उसकी सत्ताके गहनतर और अंतरीय विधानकी उपेक्षा करता है।

युद्धका विलोपन इस युगका एक अति प्रिय आदर्श एव प्रत्याशा है। किन्तु इस इच्छाकी जड़मे क्या वस्तु है? हृदयकी एक महत्तर एकता, सहानुभूति, मनुष्यो और राष्ट्रोमे मेल-मिलाप, राष्ट्रोकी पारस्परिक घृणा, लोभ, महत्वाकांक्षाएँ, संघर्ष आदि युद्धके उपजाऊ बीजोसे युक्त होनेकी एक अविचल इच्छा? यदि ऐसा ही है तो ठीक है और हमारे प्रयत्नोके सिर विजयका सेहरा अवश्य बँधेगा। किन्तु इस गहनतर वस्तुका कुछ तत्व ही हमारी भावनाओमे हो सकता है पर हमारे कर्म और प्रधान उद्देश्यमे अभी इसका बहुत थोडा अश ही आया है। जन-साधारणके मनमे तो यही विचार प्रधान है कि वे युद्धकी विघ्न-बाधाके बिना अपने परिश्रमसे, सुविधा-पूर्वक सुरक्षित अवस्थामे उत्पादन और संग्रह कर सके। उधर राजनीतिज्ञ और शासकवर्ग यह सोचता है कि पुराने उपार्जनोके स्थायित्वके लिये शान्ति और सुरक्षाका वातावरण बना रहे और महान् सुसगठित साम्राज्यवादी और औद्योगिक राष्ट्र ससारपर निर्विघ्न शासन और उसका शोषण करते रहे। उनके विचारमे ऐसा तभी हो सकता है जब ससारमे नयी अतृप्त आकाक्षाएँ न प्रकट हो, हिंसक अशान्ति, विद्रोहो और क्रांतियोका सकट संसारको अस्तव्यस्त न करे। एक बार यह आशा की जाती थी कि युद्ध असभव बनकर समाप्त हो जायगा, किन्तु इस सुखद और सुगम समाधानका अब कुछ महत्व नही रह गया है। किन्तु अब यह आशा की जाती है कि विजेता राष्ट्रोका संघ युद्धको किसी ऐन्द्रजालिक या यान्त्रिक बलसे समाप्त कर देगा। और शेष लोगोंमेंसे कुछ स्वेच्छासे और कुछ न चाहते हुए भी अधीन भागीदार या आश्रितके रूपमे अपना जीवन व्यतीत करेगे। इस न्यायपूर्ण और सुन्दर व्यवस्थाके जादूमे सघके राजनीतिज्ञो और सरकारोकी बुद्धि और सद्भावना जिसे जातियोकी बुद्धि और सद्भावना भी प्राप्त है, यह चाहती है कि वह विभिन्न हितोको मिलाकर उन्हे अपना उचित स्थान दे, कठि-नाइयोको सुलझाये या उन्हे दूर करे, प्राकृतिक परिणामो, राष्ट्रीय स्वार्थ और भावोद्वेगोके अनिवार्य कर्मको टालनेकी चेष्टा करे और वर्तमान अस्तव्य-स्ततामेंसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, सुरक्षा, शान्ति और आनन्दसे परिपूर्ण एक न्यायपूर्ण और सुन्दर रूपसे यन्त्रीकृत ससारको विकसित करे। बस मशीनको शुरू कर दो, फिर उत्तम स्वीकारोक्तियो और घोषणाओ अथवा सामान्य अच्छे सकल्पो-रूपी पैसेको छिद्रमे डाल दो और सब कुछ ठीक हो जायगा—यही आजकलका सिद्धान्त प्रतीत होता है। किन्तु अधिकतर तो ये उत्तम स्वीकारोक्तियाँ और सामान्य संकल्प नर्कका फर्श जमानेके ही काम आते है और इसका कारण यह है कि प्रकृतिमे मनुष्यकी श्रेष्ठतर बुद्धि और

सकल्प आशावादी तत्त्व तो हो सकते है, पर समूची प्रकृति या सत्ता नही हो सकते, और हमारी समूची मानव-प्रकृति तो किसी हालतमें भी नही हो सकते। हमारे और ससारके अन्दर कई अन्य बहुत-सी भयानक वस्तुएँ है। यदि हम उनके साथ खिलवाड़ करें या उन्हे प्रवेश दिलानेके लिये उन्हे तर्कबुद्धि और भावनाका मुखौटा पहना दें—दुर्भाग्यसे हम सब ऐसा करते है और यह अब भी राजनीतिके खेलका एक बड़ा हिस्सा माना जाता है—तो अवश्यम्भावी परिणाम आकर रहेंगे। यदि हम चाहें तो युद्ध और हिसक क्रांतिसे बचा जा सकता है, यद्यपि इसमे असीम कठिनाई होगी, पर केवल इस शर्तपर कि हम युद्धके आंतरिक कारणों और सफल अन्यायके उस निरन्तर सचित होते हुए कर्मसे मुक्त हो जायँ जिसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है प्रचण्ड क्रांतियाँ। अन्यथा, अधिक-से-अधिक कृत्रिम शान्तिका एक भ्रामक काल ही आ सकता है। जो कुछ अतीतमें था वही अब भी वर्तमानमें बोया जायगा और भविष्यमे वही लौट-लौटकर हमारे ऊपर आता रहेगा।

मनुष्यका अभिज्ञ मन या सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक विवेक और विज्ञान ही हमारे भविष्यके अनन्य विधाता नही है। सौभाग्यसे वस्तुओकी व्यवस्थाके लिये एक महत्तर अदृश्य शक्ति, एक वैश्व संकल्प या, यदि आप यह नाम पसन्द करे तो, एक वैश्व शक्ति या विधाता अभी यहाँ है जो केवल हमें अपने विचारो और प्रयत्नोंका एक ढाँचा या उनके लिये अवस्थाएँ ही प्रदान नही करता वरन् वह इनके तथा इन अवस्थाओके नियमके द्वारा वर्तमान वस्तुमेंसे उस वस्तुको विकसित भी करता है जो आगे आयगी। और यह शक्ति हमारे साथ व्यवहार करनेमे हमारे विवेकके उपायो तथा हमारी बुद्धिके तथ्यों अथवा कल्पनाओंका इतना सहारा नही लेगी जितना इस सत्यका कि मनुष्य क्या है और उसके कार्यकी सच्ची आत्मा और अर्थ क्या है। शास्त्र कहते हैं कि भगवान्‌को धोखा नही दिया जा सकता। आधुनिक मन भगवान्‌मे विश्वास नही करता, परन्तु वह प्रकृतिमे विश्वास करता है: किन्तु प्रकृतिको भी धोखा नही दिया जा सकता। वह वस्तुओंपर अपना विधान लागू करती है। वह हमेशा वास्तविक सद्‌वस्तु तथा हमारी क्रियागत शक्तिकी सच्ची भावना तथा विशेषताके आधारपर अपने निष्कर्ष निकालती है। यह युग विशेष रूपसे एक ऐसा युग है जब मनुष्यजातिके सामने गहन प्रश्न आ खड़े हुए है। हमारे चारों ओर उपस्थित आशाएँ, आदर्श और अभीप्साएँ अपने-आपमें ऐसे कठोर और सारगर्भित प्रश्न है जो हमसे आगे, केवल हमारी बुद्धिके आगे नही अपितु हमारी सत्ता और कर्मकी

भावनाके आगे भी रखे गये हैं। इस महत्वपूर्ण परीक्षामे अंततः कार्य-कुशलता, दक्षता, यांत्रिक व्यवस्था और सगठन विजयी नही होगे—जर्मनी इसी वातपर विश्वास करता था और हम जानते है कि उसका क्या अंत हुआ—वल्कि हमारे जीवनका सत्य और सच्चाई विजयी होगे। मनुष्यके लिये अपने आदर्शोको चरितार्थ करना कोई असभव वात नही है, ताकि वह और भी वडी और अकल्पित वस्तुओकी ओर वढ सके, किन्तु एक शर्त है कि वह उन्हे पूरी तरह एक आंतरिक सत्यका रूप दे दे, ताकि वे वाह्य रूपसे भी सत्य वन सके। पुनर्गठनका यह युग जिन परिवर्तनोका पूर्वाभास देता है वे निश्चय ही आयेंगे, किन्तु इनसे मानवजातिको जो लाभ पहुँचेगा वह उस भावनापर निर्भर करेगा जो उनके संपादन-कालमे हमे शासित करती है।

हम आजकलके मनुष्य अज्ञानका वहाना भी नही वना सकते, क्योकि हमारे पास पूर्णतः स्पष्ट आदर्श और अवस्थाएँ मौजूद है। स्वतंत्रता और एकता, सहयोग, मित्रता और यदि हो सके तो भ्रातृत्वकी भावनापर निर्मित जीवनके ढाचेमे, मनुष्यो और राष्ट्रोका आत्मनिर्णय, जातिके समान उद्देश्यो और हितोंके घनिष्ठ पारस्परिक सवधकी स्वीकृति, एक ऐसे मानवी जीवनकी उत्तरोत्तर वढती हुई एकता, जिसमे हम दूसरोके लिये किसी ऐसी वस्तुको अस्वीकार नही कर सकते जो हम अपने लिये चाहते है,—ये ऐसी वस्तुएँ है जिनके वारेमे हम एक निश्चित धारणा वना चुके है। मानव-मन इन सवको स्वीकार तो करता है पर अभी उसमे इन्हे कार्यान्वित करनेका नियमित दृढ सकल्प नही है। शब्द और घोषणाएँ अपने-आपमे वहुत सुन्दर वस्तुएँ है और हम उन्हे पूरा सम्मान भी देगे; किन्तु अभी तो वास्तविक तथ्य अधिक महत्वपूर्ण है और तथ्योके परिणाम भी निकलेगे किन्तु परिणाम वही होगे जो होने चाहिये, वे नही जिन्हे हमारा अहभाव चाहता है। आत्मनिर्णयका सिद्धान्त अपने-आपमे कपोल-कल्पना नही है, लेकिन हम उसे यह रूप देना चाहे तो यही वन जाता है। यह ससारकी श्रेष्ठतर व्यवस्थाकी स्थिति है जिसे हम सत्तामे लाना चाहते है, पहला अवसर आते ही उसे दूर फेक देना ऐसे महान् और कठिन कार्यके लिये एक वडा निराशाजनक आरंभ है। आत्म-निर्णय ऐसा सिद्धान्त नही है जो अपने ही आधारपर खडा हो सके और जिसे एकमात्र अनुसरणीय नियम वना दिया जाय। इस प्रकार कोई भी सिद्धान्त सचमुच जीवनके इस जटिल जालमे विलकुल अकेला नही टिक सकता और न ही अकेला प्रमुख रूप ले सकता है। यदि हम उसे ऐसा मान बैठे तो वह अपने अर्थमे मिथ्या हो जाता है और

अपना अधिकांश गुण खो देता है। साथ ही, वैयक्तिक आत्म-निर्णयको सार्वजनिक आत्म-निर्णयके साथ समस्वर होना चाहिये। स्वाधीनताको एकताके ढांचेमें या एक स्वतंत्र एकताकी प्राप्तिकी ओर बढ़ना चाहिये। अवसरवादी, व्यावहारिक मनुष्य, तथा उन सब मनोंकी, जिन्हें भूतकाल और वर्तमानकी परिस्थितियोंसे आगे देखनेमें कठिनाई होती है, यह बात आसानीसे मानी जा सकती है कि बहुतसे उदाहरणोंमें इस सिद्धान्तको पूरी तरह और तत्काल लागू करनेमें बड़ी कठिनाइयां आ सकती हैं। किन्तु जब किसी महान् बोधक क्षणके प्रकाशमें इस प्रकारके सिद्धान्तको एक आदर्शके रूपमें ही नहीं बल्कि जिस परिणामकी हम अपेक्षा करते हैं उसकी एक स्पष्ट शर्तके रूपमें भी स्वीकार कर लिया गया है, तो हमें जो समस्या सुलझानी है उसे इसके एक प्रधान तत्वके रूपमें स्वीकार करना होगा। कठिनाइयोंपर सच्चे दिलसे विचार करना होगा और उनका सामना करना होगा और एक ऐसा रास्ता ढूंढना होगा जिससे किसी प्रकारकी टालमटोल, वाक्छल या अनावश्यक विलम्बके बिना इसे विकसित किया जा सके तथा समस्याके समाधानमें इसे अपना उचित स्थान दिया जा सके। किन्तु इससे ठीक उलटा ढंग संसारकी सरकारोंने अपनाया है और उसे विभिन्न जातियोंने भी अंगीकार कर लिया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि चीजें पुराने ढर्रेपर चल रही हैं चाहे नाम नया हो या फिर अधिक-से-अधिक यह हुआ है कि उनकी पद्धतिमें कुछ ढीले-ढाले परिवर्तन और कुछ आंशिक सुधार ही हुए हैं।

राष्ट्रसंघका कच्चा संविधान और लड़खड़ाता कार्य इसी पुराने तोड़-जोड़का परिणाम है। संघकी स्थापना ही उन सिद्धान्तोंकी बलि देकर हुई है जो इसके आरंभके पीछे स्थित विचारका परिचालन करते थे। केवल एक वस्तुकी प्राप्ति हुई है और वह है एक औपचारिक, नियमित और सुस्थापित साधन, जिसके द्वारा प्रमुख राष्ट्रोंकी सरकारें स्वाभाविक रूपसे परस्पर मिल-बैठ एवं सलाह कर सकती हैं, अपने हितोंको समायोजित कर सकती हैं, अपनेसे छोटे स्वतंत्र राष्ट्रोंकी आवाज और अधिकारोंपर कुछ हदतक विचार कर सकती है, कुछ सामान्य अथवा विरोधी हितोंकी भी सामान्य सूझ-बूझसे व्यवस्था कर सकती हैं, भयंकर विद्रोहों और संघर्षोंको रोक या कम कर सकती हैं; जो राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हैं पर अभीतक सफल साम्राज्योंकी प्रजा भी नहीं बने हैं, उन राष्ट्रोंकी व्यापारी मंडियों, उपनिवेशों और अधीन राज्योंको छीना-झपटीके बेतरतीब संयोगोंसे बचाकर आदेश-पद्धतिसे शासित कर सकती हैं। पर इन उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये

भी यह मशीन किसी विशेष योग्यतासे काम करती नही प्रतीत होती, फिर भी यह कहा जा सकता है कि यही वड़ी वात है कि इससे कुछ काम तो करवाया जा सकता है। वहरहाल यह एक ऐसा सुसंपादित तथ्य है जिसे विना अधिक उत्साह दिखाये स्वीकार करना होगा क्योकि यह किसी उत्साहका अधिकारी भी नही है। किन्तु इसे व्यावहारिक सहमति या वाध्य स्वीकृति देनी पडती है। इसलिये यह और भी जरूरी हो जाता है कि इसके अन्दर निहित अपूर्णताओ, दुर्गुणो और सकटोकी ओरसे जो इसे कार्यान्वित करनेमे उत्पन्न होंगे, आँखे न मूँद ली जायँ। वल्कि इन्हे प्रकाशमे लाया जाय जिससे कि इन अपूर्णताओको पहचाना और सुधारा जा सके और तव हमे अपने ऊपर झूलती अशुभ और संकटपूर्ण घटनाओके अत्यधिक वुरे अभावोसे वचनेका अवसर भी प्राप्त हो सकेगा। इस वातकी और भी अधिक आवश्यकता है कि जो आदर्श उपेक्षित कर दिये गये है या जो काल्पनिक ही वनकर रह गये है उन्हे अपना जोर आजमाना चाहिये, चाहे वर्तमान उन्हे अवसर न भी दे, भविष्यपर अपना अधिकार घोषित करनेके लिये उन्हे अपनी आवाज उठानी ही होगी।

कारण, ये आदर्श अव भी ज्यो-के-त्यो वने है और ये मनुष्यके अन्दरकी आत्माके महत्तर उद्देश्योका प्रतिनिधित्व करते है, उस आत्माके जो उसकी वर्तमान अपूर्ण प्रकृतिकी समस्त विघ्न-वाधाओ, अस्वीकृतियो और अपूर्णताओके वीच रहते हुए भी उस पूर्णताको जानती है जिसकी ओर वह वढ रही है, उस महानताको भी जानती है जिसे वह प्राप्त कर सकती है। परिस्थितियाँ, वल, वाह्य आवश्यकता और पुराना स्वभाव हमारे लिये अधिक शक्तिशाली हो सकते है, पर रुद्रशक्तियाँ अभीतक हमारी भवितव्यताको शासित करती है, और सत्य, न्याय और प्रेमके प्रभुओको अभी अपने राज्यके लिये प्रतीक्षा करनी है, किन्तु यदि आदर्शकी ज्योति अपनी ज्ञान और वलकी अग्निशिखाको प्रज्वलित रखेगी तो वह इन वस्तुओको भी अपनी पकड़मे ले आयगी और इनके अशुभ वातावरणसे महत्तर और अनिवार्य शुभको उत्पन्न कर देगी। इस समय यह केवल एक ऐसा भाव या शब्द प्रतीत हो सकता है जिसमे सजीव तथ्य वननेकी सामर्थ्य नही है, किन्तु आत्मामे जो कुछ छिपा हुआ है उसे अभिव्यक्त करनेवाला भाव और शब्द ही सृष्टिकी अध्यक्षता करते है। समय आयेगा जव वे काम करनेवाले वलको हस्तगत करके अधिक महान् और न्यायसगत सृष्टिके यत्रमे परिवर्तित कर सकेगे। समयकी निकटता या दूरी मनुष्यके मन तथा सकल्पकी सर्वश्रेष्ठके प्रति निष्ठापर निर्भर है—उस सर्वश्रेष्ठके प्रति जिसे उसने देखा है। अपने

आत्मबोधकी परिस्थितियो और अपने साधनोंकी अधीनतासे अभिभूत हुए बिना सत्यको जीवनमें उतारनेके उसके आग्रहपर भी यह निर्भर है ताकि मनुष्यका वातावरण सत्यको स्वीकार कर ले और उसका वाह्य जीवन उसीकी प्रतिमूर्तिके रूपमे गढ़ा जा सके।

युद्धकी समाप्ति

मानवजातिका विकास उन कल्पनाओंकी शृंखलाके साथ आगे बढता है जिन्हे जातीय संकल्प चरितार्थ तथ्योमे परिणत कर देता है और फिर भ्रातियोकी उस शृंखलाके साथ जिसकी प्रत्येक कड़ीमे एक अनिवार्य सत्य विद्यमान रहता है। यह सत्य, उस गुप्त सकल्प एवं ज्ञानमे रहता है जो हमारे लिये हमारे कार्योको सम्पादित कर रहे है, और साथ ही वह मनुष्यकी आत्मामे अपने-आपको प्रतिविंबित भी करता है। भ्रांति उस आकारमें रहती है जो हम उस प्रतिविवको देते है, यह काल, स्थान और परिस्थितिके मनमाने आग्रहोका आवरण है जिसे ज्ञानका वह भ्रमोत्पादक अंग, मानव-वुद्धि सत्यके मुखपर डाल देती है। मानवी कल्पनाएँ, प्राय: अक्षरशः चरितार्थ हो जाती है। इसके विपरीत, हमारी भ्रांतियोके पीछे स्थित सत्य अत्यधिक आकस्मिक रूपसे चरितार्थ होता है, पर उन उपायोद्वारा, उस समय या उन परिस्थितियोमे नही जो हमने उसके लिये नियत की है, वरन् किन्ही दूसरे ही उपायोद्वारा अन्य समय या परिस्थितियोमे चरितार्थ होता है।

मनुष्यकी भ्रान्तियाँ नाना प्रकारकी और अनेक रीतिकी है, कुछ वहुत तुच्छ तो होती है, पर अनावश्यक नही,—कारण, संसारमे कोई भी वस्तु अनावश्यक नही है—और कुछ वहुत वडी और विगाल होती है। इनमें सवसे वड़ी भ्रांतिया वे होती हैं जो पूर्णताप्राप्त आदर्श समाज, आदर्श जाति और पृथ्वीपर सत-युग लानेकी आशाके चारो ओर घिरी रहती है, ऐसा प्रत्येक नया विचार, चाहे वह धर्मसवंधी हो या समाजसवधी, जो उस युगपर अधिकार करके अधिकाश जनसमुदायको अपनी पकड़मे ले लेता है, समय आनेपर इन उच्च उपलव्धियोका यत्र वन जाता है; और फिर प्रत्येक ही उस आशाको तोड देता है जिसने उसे विजयी होनेकी शक्ति प्रदान की थी। इसका कारण इतना सीघासा है कि इसे प्रत्येक व्यक्ति चाहनेपर जान सकता है। और वह यह है कि विचार या जीवनसंवधी वौद्धिक दृष्टिकोणका कोई भी परिवर्तन, भगवान्, अवतार और धर्मगुरुमें विश्वास, कोई भी सफल विज्ञान या मुक्तिदायक दर्शन, सामाजिक योजना या प्रणाली, किसी भी प्रकारकी आतरिक या वाह्य मगीनरी जातिमे इस इच्छाको सुस्थापित नही कर सकती, चाहे यह सत्य है कि इच्छा स्वयं उस

ध्येयको सूचित करती है जिसकी ओर हम ले जाये जा रहे है। कारण, मनुष्य स्वय न यत्र है न साधन, वरन् वह एक सत्ता है और बड़ी जटिल सत्ता। अतः उसका त्राण यत्रद्वारा नही हो सकता। वह केवल एक ऐसे समग्र परिवर्तनके द्वारा, जो उसकी सत्ताके सभी अगोपर प्रभाव डाले, अपनी असंगतियो एव अपूर्णताओंसे मुक्त हो सकेगा।

इस महती आशाके साथ प्रसगवश एक और भ्रान्ति जुडी है अर्थात् युद्धके अतिक्रमणकी आशा। मानव-विकासमे सदा ही बडे विश्वासके साथ इस महान् घटनाकी आशा की जाती रही है और चूँकि अब हम लोग वैज्ञानिक मन और बुद्धि-प्रधान सत्तावाले है, अतः हम इसे दिव्य हस्तक्षेपके द्वारा पानेकी आशा नही रखते, बल्कि अपने अन्दर स्थित विश्वासके लिये एक युक्तियुक्त भौतिक एव आर्थिक कारण निर्धारित कर देते है। इस नवीन सिद्धान्तका पहला स्वरूप इस आशा एव भविष्य-वाणीमे था कि व्यापारका विस्तार ही युद्धकी समाप्ति होगा। व्यवसायवाद सैनिकवादका स्वाभाविक शत्रु था और वह उसे पृथ्वीके तलसे मिटायेगा ही। स्वर्णके लिये यह नित्य-प्रति बढता हुआ व्यापक लोभ और सुविधापूर्ण जीवनका अभ्यास और उत्तरोत्तर बढते उत्पादनकी आवश्यकताएँ और जटिल आदान-प्रदान---ये सब शक्ति, प्रभुता, वैभव और युद्धकी लालसाको कुचलकर रख देंगे। सोनेकी भूख अथवा वस्तुओकी बुभुक्षा पृथ्वीकी बुभुक्षाको समाप्त कर देगी और वैश्यधर्म क्षत्रियके धर्मको दबा देगा और उसे कष्टहीन मुक्ति प्रदान करेगा। विधाताका व्यगात्मक उत्तर पानेमें अधिक समय नही लगा। वस्तुतः व्यवसायवादके इस शासनने, उत्पादनकी वृद्धि और विनिमयने, वस्तुओ और बाजारोपर प्रभुता पानेकी इच्छाने और अनावश्यक आवश्यकताओके नित्य-प्रति बढते विराट् बोझने ही इस कालमें होनेवाली कम-से-कम आधी लड़ाइयोका कारण उपस्थित किया है। अब हम सैनिकवाद और व्यवसायवादको प्रेमपूर्ण आलिगनमे पाते है, राष्ट्रीय जीवन और देशभक्तिकी अभीप्सा दोनो एक पवित्र गठबंधनमें बँध रहे हैं और अत्यधिक अविवेकपूर्ण, अत्यधिक भयकर तथा लगभग प्रलयकर, एवं आधुनिक युगके बल्कि सभी ऐतिहासिक युगोके सबसे बडे युद्धका कारण बन रहे है और अपनी शक्तिसे उन्हे चला रहे है।

एक अन्य भ्रान्ति यह भी थी कि जनतंत्रके विकासका अर्थ होगा शान्तिवादका विकास और युद्धकी समाप्ति। लोगोंका यह एक बड़ा प्रिय विचार था कि युद्ध स्वभावसे ही राजवंश या उच्चवर्गसे संबंध रखते हैं; साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध-लिप्साद्वारा प्रेरित लोभी राजा और युद्ध-

प्रिय सरदार, तथा मनुष्योके जीवन और राष्ट्रोके भाग्यको शतरंजके मोहरे बनाकर खेलनेवाले कूटनीतिज्ञ,—ये ही युद्धके लिये दोषी कारण है, इन्होने अभागे लोगोको युद्धक्षेत्रमे ऐसे खदेड दिया जैसे भेडोको कसाईखानेकी ओर खदेडा जाता है। इस सर्वहारा वर्गको जो केवल तोपोका चारा था, जिसे सशस्त्र सघर्षके लिये कोई रुचि, इच्छा और युद्ध-लिप्सा न थी, एक स्वतत्र भ्रातृत्वपूर्ण मित्रतामे परस्पर तथा सारे ससारके साथ गले मिलनेके लिये प्रशिक्षण देने एव सामर्थ्यवान् बनानेकी जरूरत थी। मनुष्य उस इतिहाससे सीखना अस्वीकार करता है जिसकी शिक्षाके बारेमे बुद्धिमान लोग कभी बोलते हुए नही थकते, अन्यथा प्राचीन लोकतत्रोकी कहानी इस भ्रान्ति-विशेषको रोकनेके लिये काफी हो सकती थी। जो भी हो, यहाँ भी विधाताका उत्तर काफी व्यंगात्मक ही रहा है। यद्यपि अभीतक राजा और कूटनीतिज्ञ ही प्राय: युद्धके लिये प्रेरित करते है फिर भी आधुनिक लोकतत्रके समान उनका उत्साही और कोलाहलपूर्ण साझीदार कोई और नही होता। हम यह आधुनिक दृश्य भी देखते है जहाँ शोर मचाती हुई क्रुद्ध जातियाँ सरकारो और कुटनीतिज्ञोको युद्ध-सीमापर आनेके लिये विवश करती है और वे इस मुँह बाये, कोलाहलपूर्ण अगाध गर्तके आगे भय और शकासे झिझकते हिचकिचाते रहते है। वे किंकर्तव्यविमूढ शान्तिवादी, जो अभीतक अपने सिद्धान्तो और भ्रान्तियोसे चिपटे हुए है, लोगोंसे झिडकियाँ खाकर चुप बैठ जाते है और मजेकी बात यह है कि उनके हाल ही के साथी और नेता भी उनकी यही गत करते है। कलका समाज-वादी, सघवादी और अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भी उस बडे पारस्परिक सहारमें ध्वजावाहकके रूपमे आगे खडा हो जाता है और युद्ध-श्वानोको बढावा देनेमे उसकी आवाज सबसे ऊँची होती है।

एक और भी भ्रान्ति थी जो अभी हालमे ही पैदा हुई है कि विवाचक न्यायालय और यूरोपीय सघ युद्धको रोकनेकी शक्ति रखते है। यहाँ भी घटनाक्रमने तत्काल जो रुख लिया वह काफी व्यगात्मक था; क्योकि अतर्राष्ट्रीय विवाचक न्यायालयकी सस्थापनाके बाद कई छोटे-मोटे युद्ध हुए जिन्होने पीछेसे एक कठोर तार्किक श्रृखलाके द्वारा यूरोपीय सघर्षका रूप ले लिया एक ऐसे सघर्षका जो बहुत समयसे डर दिखा रहा था। और, जिस राजाके मनमें सबसे पहले यह विचार आया, उसीने सबसे पहले युद्धके लिये अपनी तलवार खीची थी, यह युद्ध दोनो ओरसे अत्यधिक अन्यायपूर्ण लोभ और आक्रमणशील वृत्तिसे ही प्रेरित हुआ था। वस्तुतः युद्धोकी इस श्रृखलामे, चाहे वे उत्तरी या दक्षिणी अफ्रीकामे लड़े गये हो

या मंचूरिया या बलकानमें, मुख्यतः एक ऐसी भावना विद्यमान थी जो अत्यन्त कटुतापूर्वक अन्तर्निहित और वर्तमान अधिकारोंके विचारकी, साथ ही कानूनके सन्तुलन और साम्यकी जो विवाचनकी नींव है, अवहेलना करती है। उधर यूरोपीय संघ अब काफी दूरकी, अत्यंत प्राचीन और प्राक्प्रलय वस्तु प्रतीत होता है। किन्तु हम अभीतक भलीभाँति याद कर सकते हैं कि उस समय भी यह कितना नीरस और असगत संघ था, कितने संशय और भ्रमोंका शिकार था, जिस वस्तुके विरुद्ध हाथ पैर मार रहा था, उसीकी ओर किस प्रकार इसकी कूटनीति हमें खींच ले गयी और कितना घातक था यह सब! अब बहुतोंने यह सुझाव दिया है कि इस निर्जीव संघके स्थानपर यरोपके संयुक्त राज्यको लाया जाय और बेचारे असहाय हेगके न्यायालयके स्थानपर अंतर्राष्ट्रीय कानूनका न्यायालय स्थापित किया जाय और उसमें अपने निर्णयोंको लागू करवानेकी सामर्थ्य हो। किन्तु जबतक लोग मशीनरीकी सर्वोपरि सत्तामें विश्वास करते रहेंगे, तबतक ऐसा प्रतीत होता है, कि देवता अपने सुविवेचित व्यंग करते ही रहेंगे।

अन्य अनुमान और तर्क भी उपस्थित किये जा चुके हैं; चतुर व्यक्तियोंने विश्वासके एक अधिक सुस्थिर एवं तर्कसंगत आधारकी खोज भी की है। इनमेंसे पहला एक रूसी लेखककी पुस्तकमें प्रतिपादित किया गया है जिसे अपने समयमें अत्यधिक सफलता भी प्राप्त हुई थी, किन्तु अब वह मौनके वातावरणमें खो चुका है। विज्ञानसे आशा की जाती थी कि वह युद्धको भौतिक रूपसे असंभव बनाकर उसे समाप्त कर देगा। गणितके द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया था कि आधुनिक शस्त्रोंसे समान बलवाली दो सेनाएँ परस्पर युद्ध करती-करती स्थिर हो जायँगी और आक्रमण तबतक असभव होगा जबतक प्रतिरक्षा-सेनासे आक्रमणकारी सेनाकी सख्या तिगुनी न हो; अतएव, तब युद्धका कोई सैनिक निर्णय भी न हो पायगा, केवल यही परिणाम होगा कि राष्ट्रोंके सुव्यवस्थित जीवनमें उथल-पुथल और विक्षोभ पैदा हो जायगा। जब रूसी-जापानी युद्धने प्रायः तत्काल ही यह सिद्ध कर दिया कि आक्रमण और विजय अब भी संभव है और मनुष्यका युद्धका उन्माद मृत्युसे क्रीड़ा करते हुए इंजनोंके उन्मादसे अधिक बड़ा है, तभी एक और पुस्तक जिसका नाम, 'महान् भ्रान्ति' (द ग्रेट इल्यूजन) था—प्रकाशित हुई जो उलटी लेखकपर ही उपहास करके रह गयी। इसका उद्देश्य यह प्रमाणित करना था कि युद्ध और विजयद्वारा प्राप्त व्यापारिक लाभका विचार एक भ्रान्ति है और ज्योंही यह बात

समझमे आ जायगी और शान्तिपूर्ण विनिमयका एकमात्र लाभ भी समझमे आ जायगा, त्योही जातियाँ व्यवस्थापनके इस ढगको छोड देगी जिसे आजकल मुख्यत: व्यावसायिक विस्तारके उद्देश्योसे प्रयुक्त किया जाता है, पर जिसका विनाशकारी परिणाम यह हुआ कि जिस व्यावसायिक समृद्धिको पानेके लिये वह प्रयुक्त किया गया था वह घातक रूपसे अस्तव्यस्त हो गयी। वर्तमान युद्ध मानो देवताओकी ओरसे इस गंभीर और तर्कसगत प्रस्तावके तात्कालिक उत्तरके रूपमे आया था। यह विजय एवं व्यापारिक विस्तारके लिये लडा गया था और हालाँकि यह युद्ध मैदानमे लडा जा चुका है फिर भी यह प्रस्ताव किया गया है कि यह युद्धरत राष्ट्रोके बीचमे एक व्यापारिक सघर्षके रूपमे जारी रहे।

जिन व्यक्तियोने ये पुस्तके लिखी थी वे योग्य विचारक थे, किंतु उन्होने एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तुकी उपेक्षा कर दी अर्थात् मानवप्रकृतिकी। वर्तमान युद्धने कुछ हदतक रूसी लेखकके कथनके औचित्यको सिद्ध किया है, यद्यपि ऐसे परिणामोद्वारा जिन्हे उसने नही देखा था। वैज्ञानिक युद्ध-विधिने सैनिक गतिको रोक दिया है और युद्धनीतिज्ञो और रणकुशल लोगोको चक्करमे डाल दिया है। इसमे अत्यधिक संख्या या दुर्दमनीय तोपखानोके बिना निर्णायिक विजयको असभव बना दिया है। किंतु इस बातने युद्धको असंभव नही बनाया है, इसने केवल उसके स्वरूपको बदल दिया है। अधिक-से-अधिक यह सैनिक निर्णयोके युद्धके स्थानपर सैनिक और वित्तीय क्लांतिका युद्ध ले आया है, जिसे दुर्भिक्षके क्रूर शस्त्रकी सहायता भी प्राप्त है। उधर अंगरेज लेखकने भी आर्थिक उद्देश्यको एकमात्र महत्वपूर्ण तथ्य मानकर भूल की है। उसने मनुष्यकी अधिकार-लिप्साकी अवहेलना कर दी जिसे यदि वाणिज्य-व्यवसायकी भाषामे रखा जाय तो कहना होगा बाजारोपर निर्विवाद नियत्रण और असहाय जनताका शोषण। एक बात और है, जब हम एक संगठित राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय जीवनकी अस्तव्यस्तताको युद्धकी रोक-थामका आधार मानते है तो हम मनुष्यकी उस असीम शक्तिको भूल जाते है जिसके द्वारा वह अपने-आपको परिस्थितियोके अनुकूल बना सकता है। यह शक्ति आश्चर्यजनक रूपसे उस कौशल और सुगमतामे दिखायी दी जिसके साथ वर्तमान संकट-कालमे शातिके संगठन और वित्त-व्यवस्थाके स्थानपर युद्धके सगठन और वित्तव्यवस्थाको बिठाया गया। जब हम युद्धको असभव बनानेके लिये विज्ञानपर निर्भर रहते है तो हम भूल जाते है कि विज्ञानकी प्रगतिका अर्थ है आश्चर्योकी एक श्रृखला, साथ ही मानवप्रतिभा-द्वारा किया गया एक ऐसा सतत प्रयत्न, जिसके द्वारा वह असभवपर विजय

प्राप्त करती है और हमारे विचारो, अभिलाषाओ और सहज-प्रवृत्तियोंकी संतुष्टिके लिये नित नये साधन ढूँढती है। विज्ञान युद्धके वर्तमान रूपको—गोलियो, तोपो, विस्फोटक सुरंगो और युद्धपोतोद्वारा युद्धको—असंभव भी बना सकता है पर साथ ही इनके स्थानपर उन सरलतर साधनोको भी विकसित कर सकता है जो युद्धके पुराने तरीकोंको पुनः ले आये।

जबतक युद्ध मनोवैज्ञानिक रूपसे असंभव नही हो जाता, तबतक वह रहेगा ही या कुछ दिनके लिये समाप्त भी कर दिया जाय, तो पुनः लौट आयगा। यह आशा की जाती है कि स्वयं युद्ध युद्धका निष्कासन कर देगा। युद्धका खर्च, आतंक, हत्याकाड, शात जीवनकी क्षुब्धता, इसकी अस्तव्यस्त और रक्तसे सना पागलपन, यह सब ऐसे दीर्घकाय अनुपाततक पहुँच गये है अथवा पहुँच जायंगे कि मानवजाति थककर और ऊबकर स्वयं ही इस क्रूरताको त्याग देगी। किंतु थकान और अरुचि, युद्धद्वारा उत्पन्न आतक और दया, मानवजीवन और शक्तिका अपव्यय और अन्य हानियाँ और अत्यधिक खर्च आदि क्रियात्मक बाते मनुष्यकी आँखे खोल भी दें जिससे कि वह युक्तिसगत बातको समझ ले तो भी ये स्थायी तथ्य नही है। यह असर तभीतक रहता है जबतक कि पाठ नया हो। फिर विस्मृतिकी बारी आती है। मानव-प्रकृति अपने-आपको तथा अपनी सहज-प्रवृत्तियोको पुनः प्राप्त कर लेती है। परिणामस्वरूप एक लंबा शांति-काल आ सकता है, एक विशेष शांतिपूर्ण व्यवस्था भी हो सकती है, किंतु जबतक मनुष्यका हृदय जैसा है वैसा ही बना रहेगा तबतक शांति स्थापित नही हो सकती; मनुष्यके भावावेशोंके बोझसे यह शांति-व्यवस्था टूट जायगी। युद्ध अब शायद जैविक दृष्टिसे आवश्यक नही रह गया है। जो वस्तु हमारे अदर है उसे बाहर अभिव्यक्त होना ही होगा।

तबतक यही अच्छा है कि हमे देवताओकी ओरसे ऐसी प्रत्येक झूठी आशा और विश्वासपूर्ण भविष्यवाणीका व्यंग्यात्मक उत्तर मिलता रहे। केवल इसी हालतमे हम वास्तविक उपचार पानेके लिये आगे बढ़ सकेगे। जब मनुष्य अन्य सभी मनुष्योसे केवल सहानुभूति ही नही, बल्कि एकता, सर्व-सामान्यताका भी अनुभव करने लगेगा जब वह उन्हे केवल भाइयोके रूपमें ही नही देखेगा—यह एक कच्चा बन्धन है—बल्कि उन्हे अपना ही अंश समझने लगेगा, जब वह अपने पृथक् वैयक्तिक और सामूहिक अहभावनामे नही, बल्कि एक विस्तृत, वैश्व चेतनामे रहना सीख लेगा, केवल तभी युद्ध, वह चाहे जिन भी शस्त्रोसे लड़ा जाय, उसके जीवनसे इस प्रकार बाहर निकल जायगा कि उसके लौटनेकी संभावना नही रहेगी। पर तबतक

यदि वह इस उद्देश्यको प्राप्त करनेके लिये भ्रांतियोद्वारा भी आगे वढता जाय तो यह भी एक वहुत अच्छा लक्षण है। क्योकि, इससे वह पता चलता है कि भ्रांतिके पीछे स्थित सत्य उस घड़ीकी ओर वढ़ रहा है जव कि वह वास्तविकताके रूपमे अभिव्यक्त हो सकेगा।

अदृश्य शक्ति

विचारके क्षेत्रमे एक युद्ध समाप्त हो गया है, एक संसार नष्ट हो चुका है और उसने वाह्य प्रकृतिकी क्रम-व्यवस्थामें विलीन होना शुरू कर दिया है। जो युद्ध समाप्त हुआ है वह भौतिक रूपसे खंदकोंमें, गोलियों, तोपो, टैंकों और वायुयानोंसे लड़ा गया था, इसमे मानव-अग कट-कटकर विखर गये, मकान तहस-नहस हो गये और भूमिमाताका वक्षस्थल निर्दयता-पूर्वक रौदा गया। नया युद्ध या फिर नयी शकलमे पुराना युद्ध, जो कि अभीसे शुरू हो चुका है, अव अधिकतर मानसिक खंदकों और अभेद्य रक्षा-स्थानोसे, विचार और शव्दके सर्वेक्षण-यंत्रों, वैटरियो और गतिशील मशीनोसे, प्रचार-दलो और कार्यक्रमोसे लडा जायगा; इसमे मनुष्यों और राष्ट्रोके कामना-पुरुष क्षत-विक्षत होकर विखर जायंगे, कई प्रकारके राज-सिंहासन, उच्च संस्थाएँ नष्ट हो जायंगी, पृथ्वीपर चढ़ी रूढ़ियोकी पुरानी पर्त वुरी तरहसे रौद दी जायगी, वह पर्त जिसे मनुष्यने विकासवादी प्रकृतिकी चंचल और तरल शक्तियोके ऊपर चढा रखा है। वह पुराना जगत् वाह्य रूपमे अपनी नीवसे ही हिल गया जिसके कई भाग गिरने भी शुरू हो गये है, वह एक आर्थिक एवं जडवादी संस्कृति है जिसे मनुष्य पिछली कुछ शताव्दियोसे गढ रहा है, इसे एक ऐसी सामग्रीसे वना रहा है जो कभी नयी थी पर अव वड़े वेगसे अपनी सामर्थ्य खोती जा रही है, जिसमे अव प्राचीन और मध्य युगोके टूटे-फूटे अवशेपोके पैवन्द लगे हुए है। सैनिक सघर्पका काल जो अभी समाप्त हुआ है उस वस्तुको तोड़नेके लिये आया था जिसे विचार पहलेसे ही दुर्वल करता जा रहा था। अव क्रान्तियोंका युग आ पहुँचा है जो संभवत: इस विनाशको पूरा करेगा और एक नये भवनके निर्माणकी तैयारी करेगा। इस संघर्षमे चितक मनुष्यके मनमे यह प्रश्न उठता है कि कौनसी शक्ति या शक्तियाँ इस क्रांतिमे अपने संकल्प या प्रयत्नोको व्यक्त कर रही है? और हमे अव किस शक्ति या किन शक्ति-योका आदेश मानना है? किस अंतरीय या अतिमानवी वस्तुके प्रति निष्ठा रखनी है, क्योकि वाह्य राजसिंहासन और प्रणालियाँ जव कालके अंधड़के आगे तिनकोके समान उड रहे है। वह कौनसी वस्तु या व्यक्ति है जिसे पदासीन करनेके लिये हम लड़ेगे?

मनुष्य अपने वैयक्तिक, साप्रदायिक या राष्ट्रीय हितोके लिये लड़ते

है या फिर उन विचारो और सिद्धान्तोके लिये जिन्हें वे अपना मत्र या युद्धका नारा बना लेते है। किंतु सबसे बड़े मानवी हित भी केवल साधन और यंत्र ही है जिन्हे उनसे भी कोई बडी शक्ति तोड़ देती है अथवा अपनी अचेतन प्रेरणावश या फिर किसी चेतन उद्देश्यके लिये प्रयोगमें लाती है। विचार और सिद्धान्त हमारे मनकी उपज है जो जन्म लेते है, शासन करते है और विलीन हो जाते है और वे तबतक शब्दमात्र ही रहते है जबतक कि वे हमारी सत्ता और जगत्-सत्ताकी शक्तिको व्यक्त नही करते, उस शक्तिको जो मानसिक रूपमे अपने-आपको उनमे अभिव्यक्त करती है। हमारे विचारो और हमारी इच्छाओसे बडी एक और वस्तु भी है, जो अधिक स्थायी और आग्रही है, जो स्थिर रहती है, जो उनके परिवर्तनोके द्वारा विकसित होती है और उनके बाद भी बनी रहती और बढ़ती रहती है। यदि कोई ऐसी वस्तु न होती तो यह समस्त मानवी प्रयत्न एक व्यर्थका विक्षोभ बनकर रह जाता, मनुष्यका जीवन तब जरा ऊँचे स्तरका मधुमक्खी और चीटीका व्यस्त और नैसर्गिक कार्यक्रम ही होता, जिसमे व्यर्थका कष्ट तो अधिक होता पर मितव्ययता और बुद्धि कम रहती। हमारा विचार कल्पनाओकी एक गर्वीली चमकमात्र रह जाता जो अनिच्छापूर्वक एक जाल-सा बुनती रहती, उस पुरानी कथा जैसा जाल जो इसलिये बार-बार बुना जाता है कि उसे बार-बार उधेड़ा जा सके, या फिर तर्कोका एक जाल जो बौद्धिक और व्यावहारिक प्रथाओकी एक शृखला खडी कर देता है। उस अधिक महान् चीजके अभावमे जीवनमे यही अवस्था रहती जिसमे हम प्रथाओको सत्य और सही वस्तु समझते है और अपने मनकी भ्रातियोको बुद्धिके स्थानपर और सामाजिक जीवनकी भ्रातियोको सुखके स्थानपर स्थापित कर देते है। क्योकि, यह निश्चित है कि ऐसी कोई भी वस्तु और बाह्य व्यवस्था जिसे हम निर्मित करते है अपने नियत समय या फिर अपने सभावित समयके बाद नही टिक सकती। कारण, यूरोपकी यह विशद् जड़वादी सभ्यता, जिसे पुनर्जागिरणके आलोकपूर्ण प्रभातने देदीप्यमान जन्म दिया और उन्नीसवी शताब्दीके तर्कवादके शुष्क, पीले मध्याह्नने कठोर परिपक्वता प्रदान की, अब समाप्त हो रही है। इसे जाते हुए देखकर पृथ्वीका वक्ष-स्थल और मनुष्यकी आत्मा आरामकी सास ले रहे है। अतएव, जिस युग-सध्यामे हम प्रवेश कर रहे है और उसके बाद हम जिस नयी सभ्यताका निर्माण करेंगे वह भी, कारण जो लोग सोचते है कि यही सच्चा प्रभात है वे निश्चय ही भ्रममे है—अपने निश्चित कालतक जीवित रहकर या तो द्रुत वेगसे नष्ट हो जायगी या फिर मंद गतिसे ह्रासको प्राप्त होगी, और

ऐसा ही तबतक होगा जबतक कि वस्तुओंमें एक सनातन आत्मा न आ जाय, मनुष्यको जिसके मूल स्वरमें अपनी सच्ची समस्वरताकी प्रवृत्तिकी प्रथम तान ढूंढनी होगी, इस प्रकार यह उन परिवर्तनोंकी आरोहक शृंखलामें प्रथम चरण हो सकता है जिसके फलस्वरूप एक महत्तर मनुष्यजाति जन्म लेगी। अन्यथा, जातियोंकी यह भारी मुठभेड़, यह आक्रमण और विश्वव्यापी रक्तपात केवल एक आकस्मिक दुःस्वप्न बनकर रह जायंगे और राष्ट्र अथवा मनुष्यजातिका ज्ञात रूप सर्वश्रेष्ठ सुखी काल केवल एक क्षणिक मनोहर स्वप्न। तब संसारकी प्राचीन शिक्षा ही, जिसने हमें मानव-जीवनको एक बड़ी भारी निस्सारताके रूपमें लेनेको कहा है, एकमात्र बुद्धिमत्ता होगी।

किन्तु इस मतको मानकर मनुष्यकी आत्मा कभी संतुष्ट नहीं रही और आज तो हम इसे और भी कम स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि मनुष्य-जाति सहज-प्रेरणावश अब यह जान रही है कि संसारमें हमारी बाह्य सत्तासे अधिक बड़ी एक और शक्ति कार्य कर रही है और यह तीव्र भावना कि जीवनका ध्येय अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उसे मानव-विचार और शक्तिके अभूतपूर्व प्रयत्नकी ओर प्रेरित कर रही है। ऐसे क्षणमें बड़ीसे बड़ी विपत्तियाँ भी जीवनको क्लांत नहीं कर सकतीं, न ही उसकी प्रेरक शक्तिको निरुत्साहित कर सकती हैं, बल्कि वे उसके प्रयत्नमें एक नयी स्फूर्ति ला सकती हैं। कारण, विचारकी ज्वालाएँ अग्निकी विनाशकारी लपटोंसे अधिक ऊँची उठती हैं और उसमें एक अर्थ और एक नयी सृष्टिका संकेत देखती हैं। जो विनाश हो चुका है, जो स्थान रिक्त रह गया है उसमें मनको प्रगति करनेकी और अधिक आशा बँधती है वह उसमें एक ऐसा विस्तृत क्षेत्र पाता है जिसे कालके अन्दर निर्माण करनेवाली आत्माने अपने नये भवनके लिये साफ किया है। क्योंकि, ऐसा कौन है जिसके देखनेवाली आँखें हों फिर भी वह यह न देख सकता हो कि जो कुछ हो चुका है उसमें वे असीम शक्तियाँ काम करती रही हैं, जो एक ऐसे विशालतर वैश्व अभिप्रायको विकसित करती हैं जिसे व्यक्ति या राष्ट्रके उस अहंकारपूर्ण मनके व्यक्तिगत विचार या सामूहिक स्वार्थके गजसे नहीं नापा जा सकता तथा जिनके लिये सरकारों और जातियोंके प्रेरक हेतु और भावोद्वेग यंत्र अथवा अवसरमात्र थे? जब पूर्व और केन्द्रके निरंकुश शासकों और युद्ध-प्रभुओंने इस महान् संकटको बुलानेका निश्चय किया ताकि वे इसके द्वारा अपनी उच्चतम महत्वाकांक्षाओंको पूरा कर सकें, जब वे संसारके तीव्रतम संघर्षकी ऊँची चट्टानकी ओर उन्मत्त अवस्थामें बढ़े, तब उन्हें इस बातका जरा भी आभास नहीं था कि चार या चारसे भी कुछ कम वर्षोंमें ही उनके सिंहासन डोल

उठेंगे, वे स्वय या तो मार दिये जायेंगे या निर्वासित कर दिये जायंगे और जिस सिद्धान्तका वे पोषण करते थे वह भूतकालकी अंधेरी रात्रिमें विलीन हो जायगा। केवल उनकी प्रेरक शक्तिने ही यह सब पहलेसे देख लिया था और यही उसे अभिप्रेत भी था। न ही वे जातियाँ जो अनिच्छापूर्वक युद्धके किनारे खडी लड़खडा रही थी इस गुप्त उद्देश्यके बारेमे अधिक जानकारी रखती थी। जो कुछ वे थे और जो कुछ उनके पास था उसकी रक्षा और उनकी व्यवस्थित यूरोपीय सभ्यताको खतरेमे डालनेवाले भयंकर आक्रमणके प्रति रोषने उनके सकल्पको प्रेरणा दी और उनके निश्चयको बल प्रदान किया। फिर भी, जिस 'शक्ति'ने उन्हे विजय दिलायी उसका अभिप्राय इस सभ्यताको उसकी भूलके लिये दोषी ठहराना और मानवजातिके एक अन्य युगकी तैयारी करना ही था। उनके विचारोमे इसकी आवाज कुछ अस्तव्यस्त रूपमे गूँज रही थी, साथ ही यह उन लोगोके मनमे, जिन्होने पीछे युद्धमे इच्छापूर्वक और सचेतन सकल्पके साथ प्रवेश किया, स्पष्टतर होती जा रही थी।

विनाश और ध्वस बहुत अधिक हो चुका है। असीम कष्टकी अवस्था थी यह, अंधकारके घने रक्तरजित बादल ससारको अपनेमे आवेष्टित किये हुए हैं। असख्य प्राणी मत्युके मुखमे चले गये हैं, खजानेके खजाने और मानवी साधन बेहिसाब ढंगसे मानो कुएँमे डाल दिये गये है। और अभी इस सबका अदाजा भी नही लगाया जा सकता है, अभी पूरा मूल्य नही चुकाया गया है। क्योकि, युद्धके बादके परिणाम शायद उसके वर्तमान परिणामोसे कही अधिक बडे होगे, और जो कुछ एक एकाग्र प्रयत्नके फलस्वरूप भूचालके पूरे धक्केसे बच निकला है वह भी बादके कम्पनोसे हहराकर गिर जायगा। इस विपत्तिकालमे, आधी तूफानोको ओढे हुए जगत्के ऊपर खड़ी शक्तिसे परिचित मनुष्य, कुरुक्षेत्रमे कहे गये अर्जुनके इन शब्दोको भलीभाँति दोहरा सकता है।

> दृष्ट्वाद्भूतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।
> नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
> दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।
> यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
> तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।
> यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
> तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।

"ओ समर्थ-सामर्थ्यशाली आत्मा, जब तेरा यह भयानक और अद्‌भुत रूप दिखायी देता है, तीनों लोक पीडा और कष्टसे कराह उठते है,—जैसे ही मै देखता हूँ, मेरी आत्मा भी दुःखी एवं पीडित अनुभव करने लगती है, मेरे अन्दर शान्ति और प्रसन्नता नहीं है, जिस द्रुत वेगसे ये नदियाँ सागरकी ओर दौड़ रही है उसी वेगसे ससारके वीरगण तेरे अग्निशिखा जैसे लपलपाते अनेक मुखोमे प्रवेश कर रहे है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निमें पतिगोके झुण्ड-के-झुण्ड वेगपूर्वक जा गिरते है और विनाशको प्राप्त होते है, उसी प्रकार राष्ट्र तेरे विनाशरूपी जबडेमे अधिकाधिक द्रुत गतिसे प्रवेश कर रहे है, तू अपनी अनेक जिह्वाओंसे चारों ओरके लोकोको चाट रहा है और अपने अग्निमुखसे सभी राष्ट्रोंको अपना ग्रास बना रहा है; तेरी शक्तियोकी ज्वालासे समस्त जगत् व्याप्त हो उठा है; तेरा विष्णुतेज भयकर एव विकराल है, वह हमे जला देता है। मुझे बताओ तो, हे भयकर आकारवाले आप कौन है? हे देववर, तुम्हे मेरा नमस्कार हो, हमपर कृपा करो, सृष्टिके आदिमे होनेवाले आप देवको मै जानना चाहता हूँ, क्योंकि मै आपके कार्योकी प्रवृत्तिको नही समझ पा रहा हूँ।"

यदि इसका पहला उत्तर उन्ही शब्दोमे आता हुआ प्रतीत होता है जिन शब्दोमें अर्जुनकी प्रार्थनाका उत्तर दिया गया था यानी मैं ही लोकोका नाश करनेवाला काल हूँ और इस समय राष्ट्रोंका सहार करनेके लिये प्रवृत्त हूँ—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।

और उन लोगोंको भी जो इस विनाशकारी युद्ध और रक्तपातमें भाग लेनेसे हिचककर पीछे हटते है यही आवाज सुनायी देती है, "तेरे विना भी ये सब समाप्त हो जायेंगे, ये सब, जो विरोधी पक्तियोमे खडे है, क्योंकि मै अपने दिव्य-दृष्टिवाले सकल्पमे इन्हे पहले ही मार चुका हूँ; तू अपने-आपको एक पूर्वनिर्धारित लक्ष्यके साधनके रूपमे ही जान।"—फिर भी अन्तमे विनाशके रूपकी जगह मनुष्यका सखा, उसके युद्ध और उसकी यात्राका सारथि ही प्रकट होता है और धर्मराज्य ही इस समस्त विनाशका परिणाम

होता है। मानवजातिको और कुरुक्षेत्रके योद्धा दोनोको अतिम सदेश प्राप्त हो चुका है, "इसलिये उठ और शत्रुका नाश कर, एक समृद्ध और आनन्दपूर्ण राज्यका उपभोग कर।" किन्तु किस 'धर्म'का राज्य? यहाँ यह सदेह होता है कि जैसे राष्ट्र आनेवाले विनाशके प्रति विलकुल अधे थे उसी भाति कही भारी निर्माणके प्रति भी उनकी आँखे चुँधियायी न रहे। पुराने जगत्की जो शक्तियाँ जीवित बची है उनकी आवश्यकताओ, हितो एव दुविधाओके अनुसार उदारतापूर्वक या खैरातमे दी जानेवाली यात्रिक स्वतत्रतामे वृद्धि अतीतके अवशेषों और भविष्यकी अनगढ सामग्रीके सयोगसे पैदा हुई एकता, आय और व्ययका खाता जिसमे नियति अतीतके उन अहितो और भूलोको खातेसे मिटाती जा रही है जिनकी वहाँ आवश्यकता नही है और जो पूरी तरह नष्ट नही हुआ है उसीको एक अच्छी पूँजीके रूपमे खातेमे चढाती जा रही है,—इसमे ईमानी अदायगी और अतिविलवित ऋणकी आशिक अदायगीके कारण कुछ कमी हो जाती है—ये सव चीजे एकदम असम्भव रीतिसे नष्ट नही हो गयी है, एक ऐसे परिवर्तनकी स्वीकृति जो या तो इस अधड़के फलस्वरूप आया है या जो फिर इसके कारण तत्काल ही अनिवार्य हो गया है, वाढ़की ओर आगे वढनेकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये प्रतिबंधोंकी एक नयी प्रणाली, ये सब भी इस प्रवाहको रोकनेमे सफल नही हो सकते। यदि कोई अदूरदर्शी बुद्धिमत्ता कुछ सफल और सगठित अह-भावोके सम्मिलित प्रयत्नोके द्वारा, तथा काल-पुरुषके सदेशवाहकोके रूपमे व्याप्त वलशाली विचार-शक्तियोके साथ मिलकर कुछ समयके लिये ऐसा कर भी दे, तो भी यह एक कृत्रिम प्रतिवध होगा जिसका परिणाम अतमे निकट भविष्य ही मे एक नयी क्राति होगा। पुराने दिवालिये जडवादी अर्थवादका समापन चाहे उसे एक नये नामसे और एक अरक्षित पूँजी और नये खातेके साथ नया काम आरभ करनेमे समर्थ वना भी दे तो भी वह निर्यातको ठगनेका एक निष्फल प्रयत्न होगा। व्यवसायवादका नि.स-देह एक अपना 'धर्म' है। उसके उपयोगितावादी न्याय, कानून और सम-जनका आदर्श, उसकी सभ्यता, जिसका प्रतीक तराजू है, उसके पुराने अधि-नियम आदि अव रद्द हो रहे है। अव वह सुविचारित मूल्योकी एक नयी प्रणालीको लेकर फिरसे श्रीगणेश करनेको उत्सुक है। किन्तु अधकचरा पश्चात्ताप करनेवाले वैश्यका धर्मराज्य हमारे इस युगकी अतिम परिणति नही होगा, जो विचार और भावनाके नये-नये रहस्योद्घाटनो और जीवनकी नयी रचनाओसे परिपूर्ण है। न ही तुलाके प्रतीकवाला स्वर्णिम, वल्कि यो कहे कि सोनेके मुलम्मेवाला युग ही मनुष्यजातिके इस कष्ट एव वेदनाका

कोई गौरवमय पुरस्कार होगा। यह निश्चित है कि एक अन्य और उच्चतर 'धर्म' के राज्यकी तैयारी हो रही है।

वह 'धर्म' क्या है यह हम केवल तभी जान सकते हैं जब हम उस शक्तिको जान लें जिसका अस्तित्व और विचार उस सबके पीछे कार्य करता है जिसके लिये हम प्रयत्न करते हैं, कष्ट उठाते तथा कल्पना और प्रयास करते हैं। पहले समयकी मनुष्यजातिने इसकी कल्पना यों की थी कि यह मनुष्यने, उसकी सत्तासे तथा उसके प्रयाससे कहीं ऊँची एक सर्जनात्मक देवत्व अथवा सर्वशक्तिमान शक्ति है या फिर यह दैव्य शक्तियोंका देवकुल अथवा देवसंस्थान है जिसने जातिके प्रयत्न, भावोद्वेगों और विचारको देखा एवं प्रभावित किया था। किन्तु ब्रह्माण्डके लौकिक देवताओंकी कार्य-प्रणालीमें एकताके आधार और सिद्धांतकी कमी थी, प्राचीन जातिको केवल एक अस्पष्ट और अवर्णनीय देवत्वकी ही कल्पना करनी पड़ी थी, एक ऐसे अज्ञात देवताकी जिसके लिये उन्होंने एक अनाम वेदी बनायी। अथवा एक 'आवश्यकता'की जिसका मुख 'स्फिंक्स'का है और हाथ फाँसीके, उसके आगे स्वयं देवता भी ज्ञानशून्य आज्ञापालनके लिये बाधित होते हैं। और, इससे मनुष्यका जीवन एक अबोधगम्य भाग्यका शिकार और अति-मानवी तरंगोंके हाथोंकी कठपुतली बनकर रह गया। जबतक वह अपने प्राणिक अहंभावमें निवास करता है और अपने वैयक्तिक विचारों और भावावेगोंका दास बना रहता है, तबतक वह अधिकतर ऐसा ही रहता है। बादके धर्मोंने एकमेव अज्ञात देवको एक नाम दिया तथा एक शरीरका रूप एवं गुण भी दिया और एक ऐसे आदर्श-विधानकी घोषणा की जिसे उन्होंने दैवी संदेश एवं धर्म-पुस्तक बताया। किन्तु एक आंशिक और अननुभूत ज्ञानकी कट्टरता और मानव-मनकी बाह्य प्रवृत्तियोंने धर्मके आलोकोंको भ्रान्तिकी अस्तव्यस्ततासे धुंधला कर दिया और उसके मुखपर बचकाने और क्रूर अंधविश्वासोंका एक अनोखा आवरण डाल दिया। धर्मने भगवान्‌को बहुत ऊँचे सुदूरमें जा बिठाया और मनुष्यको बहुत हदतक धरतीका एक कीड़ा बना डाला जो अपने बनानेवालेके सामने क्षुद्र और अधम ही रहा, वह अब उसके मनकी अनुग्रहपर ही अतिमानवी लोकोंमें अनिश्चित प्रकारकी मुक्ति पा सकता था। आधुनिक विचार इन पुरानी धारणाओंसे बिलकुल मुक्त होना चाहता था, अतः उसे इनके स्थानपर कुछ और रखना पड़ा। उसने प्रकृतिके जड़वादी विधान और अस्तित्वके जैविक विधानको देखा और वहाँ ला बिठाया। मानव-बुद्धि उसकी एकनिष्ठ प्रतिपादक बनी और मानव-विज्ञान उसका सफल प्रयोग करके लाभ उठाने-

वाला बना। किन्तु भौतिक प्रकृतिके नियमकी यंत्रवत् अंधताको सोच सकने और देख सकनेवाले मनुष्यका एकमात्र पथप्रदर्शक बना देनेका अर्थ है उसके अस्तित्वके दिव्यतर नियमके विरुद्ध जाना तथा उसकी उच्चतर शक्यताको पंगु बना देना। भौतिक और प्राणिक प्रकृति हमारी सत्ताका केवल प्रथम स्वरूप है और उसके नियमपर विजय पाना एवं उससे ऊपर उठना ही मानव-विकासका सार है। इससे अन्य एवं अधिक समर्थ 'शक्ति' ही इस प्रयत्नकी स्वामिनी है। मानव-बुद्धि या मानव-विज्ञान वह देव नही है, वह अधिक-से-अधिक उसका एक सचिव ही बन सकता है, मुख्य सचिव भी नही। मानव-बुद्धि और मानव-विज्ञान अपने उद्देश्योकी पूर्तिके लिये उस तूफानमे और उसके द्वारा प्रयत्न नही कर रहे है जिसने उनकी कितनी ही रचनाओको भूमिसात् कर दिया है। बल्कि एक महत्तर आत्मा अपने अदृश्य स्वरूप एव प्रच्छन्न लक्ष्यको प्रकाशमे लानेके लिये एक गहनतर खोजकी प्रतीक्षा कर रही है।

इस सत्यका कुछ अश हमे इस तथ्यमे दिखायी देने लगा है कि लोग अब अधिक आध्यात्मिक विचारोकी ओर लौट रहे है और मानवजातिके जीवनमे भगवान्के राज्यकी स्थापनाके विचार आ रहे हैं। सृष्टिमे शक्तिके उस पुराने अर्थपर—जिसके लिये हमारा जगत् एक कार्यक्षेत्र है—मनुष्यके अन्दर देवके निकटतर बोधका अनुवर्तन हो रहा है। यही देव अदृश्य प्रभु है और बाह्य मनुष्य इसका आवरणमात्र है। हमारे मन और प्राण इसके सेवक और जीवित यंत्र हो सकते है और हमारी पूर्णता-प्राप्त आत्माएँ उसके स्वच्छ दर्पण हो सकती हैं। किन्तु इस देवत्वको जाननेसे पहले हमें अधिक स्पष्टतासे तथा समग्र रूपमे देखना होगा। ऐसी तीन शक्तियाँ और स्वरूप हैं जिनमे वस्तुओमे कार्य करनेवाली यह सत्ता हमारे सामने अपने-आपको व्यक्त करती है। पहला स्वरूप उसका वह है जिसे हम विश्वमे देखते हैं, किन्तु वह, अथवा जिसे हम वस्तुओकी बाह्य प्रतीतिमें देखते हैं वह, उसका समग्र सत्य नही है, यह पहला स्थूल आकार और सशक्त आधार अवश्य है जिसे उसने हमारे विकासके प्रारभिक बिन्दुके रूपमे हमे प्रदान किया है, यह प्रारभिक उपलब्धियोका प्राथमिक योगफल भी है जहाँसे चलकर हमे आगे बढना है। अगला स्वरूप उसका वह है जिसका रहस्य केवल मनुष्यको ही ज्ञात है, क्योकि उसीमे वह उत्तरोत्तर अपने-आपको अभिव्यक्त कर रहा है, चाहे यह कार्य और अभिव्यक्ति अभी आशिक और अपूर्ण रूपमे ही क्यो न हो। मनुष्यके विचार, उसके आदर्श और स्वप्न, अपनेसे आगे, ऊँचाईपर जानेके उसके प्रयत्न ही वे कुजियाँ है जिनके

द्वारा वह परम आत्माको खोजनेका प्रयत्न करता है, यही वे साँचे हैं जिनमें वह देवत्वके रूपको देखनेका प्रयास करता है। किन्तु ये भी उसके आंशिक प्रकाश ही हैं, उसका पूरा स्वरूप नहीं। सबसे परे कोई ऐसी वस्तु प्रतीक्षा कर रही है जिसके आगे मानव-मन एक आकाररहित अभीप्सा लेकर जाता है और वह अभीप्सा होती है एक अवर्णनीय पूर्णताके लिये, एक अनन्त प्रकाश, अनन्त शक्ति, अनन्त प्रेम और एक वैश्व 'शिव' और 'सुन्दर'के लिये। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अभी पूर्ण सत्ताको नहीं प्राप्त हुई है अर्थात् एक ऐसा भगवान् जो अभी बन रहा है अथवा जिसकी रचना मनुष्यको करनी है; यह वह सनातन सत्ता है जिसका यह अनन्त आदर्श एक मानसिक प्रतिबिंबमात्र है। यह विश्वके स्वरूप और मानव-सत्ताकी इन मनोवैज्ञानिक उपलब्धियोंसे परेकी चीज है, फिर भी यह यहाँपर मनुष्यमे भी विद्यमान है, और मनुष्य जिस जगत्‌में रहता है उसकी सभी शक्तियोंमें रहते हुए उसे घेरे रहती है। यह वह 'परम आत्मा' है जो विश्वमे विद्यमान है और मनुष्यके अन्दर स्थित वह अदृश्य नृप भी है जो उसके कार्योंका स्वामी है। यह विश्वमें उन नियमोंद्वारा विकासको प्राप्त होती है जो अभीतक यहाँ पूर्ण नही हैं, जो अपने अर्थ और कार्यमें तबतक पूर्णता प्राप्त नही कर सकते जबतक मनुष्यजाति अपनी प्रकृतिमें मन और आत्माकी शक्यताओंको पूर्णतया विकसित नही कर लेती। यह मनुष्यमे कार्य तो करती है, किन्तु उसके वैयक्तिक और सामाजिक अहभावके द्वारा ही, और ऐसा तबतक चलता है जबतक वह अपने वर्तमान मनके बंधनमें जकड़ा रहता है। जब मनुष्यजाति भगवान्‌को जान लेगी और उन्हीमे निवास करने लगेगी, तभी उसके प्रयत्नोंका आदर्श अर्थ अपने-आपको अभिव्यक्त करना आरंभ करेगा और तभी उनका साम्राज्य भी स्थापित होगा—'राज्यम् समृद्धम्'।

जब हम अपने बाह्य जीवनको अपने अहंभाव, अपने स्वार्थों, अपने भावावेगों अथवा अपनी प्राणिक आवश्यकताओंके आदेशानुसार गढ़नेका प्रयत्न करते हैं या फिर उसे अपनी बुद्धिद्वारा प्रस्तुत एवं सवर्द्धित उन प्राणिक आवश्यकताओंके रूपमे ढालनेकी चेष्टा करते हैं जिन्हे एक महत्तर आध्यात्मिक अर्थका प्रकाश प्राप्त नही हुआ है तो हम ब्रह्माण्ड-संबंधी सूत्र-रचनाके प्रथम विधानमे निवास करते हैं। वहाँ यह अदृश्य शक्ति हमारे सामने आग्रही रुद्रके रूपमें प्रकट होती है। यह विकासक्रमका स्वामी, कर्मका प्रभु, न्याय और विवेकका राजा है, आशुतोष है, सरलतासे त्याग और प्रयत्नसे संतुष्ट हो जाता है। यह असुर और राक्षसको, देव और

दानवको भी उनकी तपस्याका फल देता है, किन्तु यह क्रोधित भी जल्दी हो उठता है और जब-जब मनुष्य, भले अज्ञानवश ही सही, उसके विधानको तोड़नेका अपराध करता है या विकासकी प्रवृत्तिके विरुद्ध अपने अहकारमे अकडा खडा रहता है या फिर कर्मकी प्रतिक्रियाको चुनौती देता है, तब-तब यह निर्दयतापूर्वक प्रहार करता है, बाधाओ और सघर्षमेसे, प्रबल भावोद्वेग और इच्छा और सकल्प और अत्यधिक प्रयत्नके भयानक तनावमेसे, निर्माण और विनाशमेसे, विकासकी मद गति और क्रान्तिकी द्रुत गतिमेसे ही रुद्र भागवत उद्देश्यको साधित करता है। इसके विपरीत, जब हम इस आदर्शके अनुसार अपने जीवनको कोई स्वरूप देना चाहते है तो सत्यका कठोर प्रभु ही हमारी परीक्षा लेने लगता है। तब हम जिस हदतक आंतरिक सत्यके अनुसार ईमानदारीसे कार्य करेगे, उसी हदतक हम भागवत कार्यके परिणामकी उत्तरोक्त बढती हुई समस्वरतामे निवास करने लगेगे। किन्तु यदि हमारे आदर्शके मानदण्ड झूठे है, यदि हम अपने अहभाव और आत्म-प्रवंचनाका बोझ भी पल्लेमे डाल दे, यदि हम अपने सकीर्णतर उद्देश्योके लिये सत्यका गलत प्रयोग करे, यदि हम उसे मिथ्यात्वमे या रूढिमे या फिर एक ऐसे बाह्य यत्रमे बदल दे जिसमे सत्यकी जीवत आत्मा विद्यमान नही होती, तो हमे इसका भारी मूल्य चुकाना होगा। कारण, पहले जिस प्रकार हम रुद्रके भयानक पजेमे घिर गये थे, उसी प्रकार अब हम वरुणके अधिक सूक्ष्म, पर अधिक संकटपूर्ण पाशमे फॅस जाते है। हमारी अभीप्साकी तुष्टि तभी होगी जब हम सत्यको देख सकेगे और उसमे निवास कर सकेगे। तब स्वतत्रताके स्वामी, प्रेमके प्रभु और एकताकी परम आत्मा ही व्यक्तिकी आत्माको अनुप्राणित करेगी। और जगत्‌के प्रयत्नको स्वय अपने हाथमे ले लेगी। ये ही परम मोक्षदाता है, 'पूर्णता'के सबल और सौम्य सस्थापक है।

रुद्रके कोपकी ऑधी पृथ्वीपरसे गुजर चुकी है और उसके पदचिह्न इस ध्वसावशेषमे देखे जा सकते है, जिसके परिणामस्वरूप जातिको इस बातका बोध हो गया है कि वह बहुतसे मिथ्यात्वोमे रह चुकी है और उसे अब एक आदर्शके अनुसार निर्माण करनेकी आवश्यकता है। अतएव अब हमे 'सत्योके स्वामी'के प्रश्नपर विचार करना है। इस विनाशकी गूॅज और झझाके झोकेमेसे 'दिव्य सत्य'के दो महान् शब्दोने बड़े आग्रहपूर्वक हमारे मनको अपनी पकडमे ले लिया है और अब वे प्रत्याशित नव-निर्माणके प्रमुख शब्द बन गये है। वे शब्द है—स्वाधीनता और एकता। किन्तु सब कुछ सबसे पहले उस सत्यतापर निर्भर करता है जिसके साथ हम

उन्हे देखते हैं, फिर उस सच्चाईपर जिसके साथ हम उसका प्रयोग करते हैं और अन्तमे विशेष रूपसे यह हमारी उपलब्धिकी आंतरिकतापर निर्भर करता है। यदि एकता जातिके हृदयमे विद्यमान नही है, यदि यह केवल हमारे स्वार्थोको ही सुरक्षित एवं संयोजित करनेका एक साधन है तो इसकी यांत्रिक रचना व्यर्थ है। तब इसका परिणाम, जैसा कि अभी हालमे हुआ था, एक भयंकर सघर्ष होगा जो क्रान्ति और अराजकताके नये विस्फोटोमे प्रकट होगा। ऐसी कोई भी तुच्छ यांत्रिक रचना, जिसमे स्वाधीनताकी बाह्य प्रतीति तो मालूम हो, पर उसका सत्य नही, हमे सहायता नही दे सकती; इस प्रकारका नया ढाँचा चाहे जितना भव्य क्यों न हो, होगा एक और बदीगृह ही, जिससे मुक्ति पानेके लिये फिरसे एक नया संघर्ष जरूरी हो जायगा। मनुष्यके लिये सुरक्षा केवल इस बातमें है कि वह अन्दरसे बाहरकी ओर निवास करना सीखे, अपनी पूर्णताके लिये बाह्य सस्थाओ और यत्रोपर निर्भर न रहकर अपनी विकसनशील आंतरिक पूर्णतासे अपने जीवनका एक अधिक पूर्ण स्वरूप और ढाँचा तैयार करे। कारण, इस आंतरिकताके द्वारा ही हम उन उच्च वस्तुओके सत्यसे अधिकाधिक अवगत हो सकते हैं जिन्हे हम अभी तो केवल मुखसे बोलकर बाह्य बौद्धिक रचनाओंका रूप दे देते हैं, और तभी हम इनके सत्यको ईमानदारीके साथ अपने बाह्य जीवनमे उतार सकते है। यदि हमे भगवान्के राज्यको मनुष्यजातिमे स्थापित करना है तो हमे सबसे पहले भगवान्को जानना होगा तथा अपने अन्दर अपनी सत्ताके दिव्यतर सत्यको देखना और उसके अनुसार आचरण करना होगा। अन्यथा बुद्धिकी रचनाओ और कार्य-क्षमताकी वैज्ञानिक प्रणालियोके नये कौशलसे—जो भूतकालमे असफल रह चुकी हैं—सत्यकी स्थापनाकी आशा कैसे की जा सकती है? ऐसे बहुतेरे सकेत मिलते है कि पुराना भ्रम अभीतक बना हुआ है और केवल कुछ ही लोग, वे नेता जिन्हे शायद कुछ प्रकाश तो प्राप्त हुआ है, पर जो अभी कर्मक्षेत्रमे नही उतरे हैं, अधिक स्पष्ट, आतरिक और सत्य रूपसे देखनेकी चेष्टा कर रहे हैं, इसीलिये हमे अभी उस अतिम साध्य-प्रकाशकी ही आशा करनी चाहिये जो अंतिम श्वास लेते हुए युगको उस युगसे पृथक् करता है जिसने अभी जन्म नही लिया है, अभी वास्तविक ऊषाकालकी आशा नही। चूंकि मनुष्यका मन अभी तैयार नही है, इसलिये कुछ समयके लिये पुरानी भावना और प्रणाली अब भी सशक्त बनी रहकर फलती-फूलती-सी प्रतीत हो सकती है; किन्तु भविष्य उन व्यक्तियों और राष्ट्रोके हाथमे है जो तीव्र प्रकाश और संध्याकालीन अंधकार दोनोके परे जाकर

ऊषाके देवताओंको देखते हैं और अपने-आपको उस शक्तिके उपयुक्त यंत्र बननेके लिये तैयार करते हैं जो एक महत्तर आदर्शके आलोककी ओर बढ रही है।

आत्म-निर्णय

अभी हालमें युद्धके रक्तरंजित खमीरमेंसे एक नया शब्द राजनीतिकी कपटपूर्ण भाषामें गढ़ा गया है—एक ऐसी भाषामें जो माया और असत्यतासे, अपने भ्रमों और दूसरोंकी आयोजित भ्रान्तियोंसे परिपूर्ण है, जो प्रायः तत्काल ही सभी सच्चे और स्पष्ट वाक्योंको अनर्गल वस्तुमें बदल देती है, ताकि मनुष्य लड़ाईके उद्देश्यको स्पष्ट रूपसे जाने बिना केवल शब्दोंके कोहरेमें लड़ते रहें। यह वाक्यांश मुक्त रूपमें प्रयोगमें आनेवाला आत्म-निर्णयका अधिकार—स्वाधीनताकी न्यायपूर्ण शक्तिके रूपमें आलोकमय व्याख्या है। यह शब्द अपने-आपमें एक सुखद खोज है, वास्तविक उप-योगिताका विचार-संकेत है। कारण, जो कुछ अबतक विशद् रूपसे अस्पष्ट एवं धुँधला था, उसे यह निश्चित और संचालनीय बनानेमें सहायता देता है। इसका आविष्कार एक साथ दो बातोंका संकेत देता है, पहली, जिस महान् शुभको पानेके लिये मनुष्य सदियोंसे प्रयास कर रहा है, पर जिसमें उसे कहीं भी गर्व करने लायक संतोषजनक सफलता नहीं मिली है, उसके विषयमें उसकी धारणा अब अधिकाधिक स्पष्ट हो रही है; दूसरी, जीवनसंबंधी हमारे विचार भी अब उत्तरोत्तर आत्मनिष्ठ हो रहे हैं, इस स्पष्टता और आत्मनिष्ठताको साथ-साथ ही रहना चाहिये; कारण, हम उन महान् विचारोंके उपयुक्त छोरको, जिन्हें हमारी जीवन-पद्धतियोंको शासित करना चाहिये, तभी पकड़में ले सकते हैं जब हम यह समझना आरंभ कर दें कि उनकी स्वस्थ प्रक्रिया अन्दरसे बाहरकी ओर है और यह कि इसकी विरोधी प्रणाली अर्थात् यांत्रिक प्रणाली सदा सजीव सत्योंको औपचारिक रूढ़ियोंमें बदल देती है। निस्संदेह, पशुरूपी मनुष्यको यांत्रिक प्रणाली ही अधिक सत्य प्रतीत होती है, किन्तु आत्मारूपी मनुष्यके लिये, विचारक मनुष्यके लिये जिसके द्वारा हम अपने आंतरिक पुरुषत्वको प्राप्त करते हैं, केवल वही सत्य है जिसे वह अपने अन्दर सत्यके रूपमें और अपनेसे बाहर आत्माभिव्यक्तिके रूपमें अनुभव कर सके। बाकी सब कपटभरा प्रपंच है, यह सत्योंके स्थानपर आडंबरकी, वास्तविकताके स्थानपर बाह्य प्रतीतियोंकी स्वीकृति है और ये सब मनुष्यको बंधनमें रखनेके कौशल हैं।

स्वतंत्रता, चाहे वह एक रूपमें हो या दूसरेमें, हमारी जातिकी अत्यधिक प्राचीन और निश्चित ही अत्यधिक कठिन अभीप्साओंमेंसे है; यह हमारी

सत्ताकी मौलिक सहज-प्रवृत्तिसे उठती है और फिर भी हमारी सभी परिस्थितियोके प्रतिकूल है। यह हमारा अनादि शुभ है और हमारी पूर्णताकी शर्त है, किन्तु हमारी लौकिक सत्ता इसकी कुजी पानेमे असफल रही है। इसका कारण शायद यह है कि सच्ची स्वतत्रता तभी प्राप्त हो सकती है जब हम असीममे निवास करे, तथा जैसा कि वेदान्तका विधान है, हम अपनी स्वयंभू सत्ताके अन्दर निवास करे और उसीसे जीवन धारण करे। किन्तु हमारी स्वाभाविक और लौकिक शक्तियाँ आरंभमे इसे हमारे अन्दर नही, वरन् हमारी वाह्य अवस्थाओमे खोजती है। यह महान् अवर्णनीय वस्तु, स्वतंत्रता, अपने उच्चतम और चरम अर्थमे सत्ताकी एक अवस्था है। यह स्वयभू है, अपने ही अन्दर निवास करती है और अपनी शक्तिसे यह निर्णय करती है कि उसे आतरिक रूपमे क्या होना चाहिये और अतमे अपने अन्दरकी दिव्य आध्यात्मिक शक्तिके विकासके द्वारा यह भी निर्णय करती है कि वह वाह्य परिस्थितियो और वातावरणको क्या रूप देगी; यही आत्मनिर्णयका अत्यधिक विशद् और स्वतत्र अर्थ है। किन्तु जब हम प्राकृतिक और लौकिक जीवनसे आरभ करते है, तब स्वतत्रताका जो अर्थ हम व्यावहारिक रूपमे लेते है वह यह होता है कि हमारी प्राकृतिक शक्तियोको आत्म-तुष्टिके लिये सुविधापूर्वक पर्याप्त स्थान मिल जाय और दूसरे लोग अपने आग्रहोद्वारा उनमे अधिक हस्तक्षेप न करे। और, इस समस्याको सुलझाना वडा कठिन है, क्योकि जैसे ही एककी स्वतंत्रता अपना कार्य आरभ करती है वैसे ही वह घातक रूपसे दूसरेकी स्वतत्रतासे जा टकराती है, एक ही क्षेत्रमे वहुतोकी स्वतत्र भाग-दौडका अर्थ है अव्यवस्था और टक्करोसे उत्पन्न मुक्त अस्तव्यस्तता। इसे एक वार प्रतियोगिता-प्रणालीका गौरवपूर्ण नाम दिया गया था। और, इसके परिणामोके प्रति असतोपने राजकीय समाजवादके विरोधी विचारको जन्म दिया जिसके अनुसार यह माना जाता है कि राज्यकी सामूहिक सत्तामे वैयक्तिक स्वतत्रताके निपेधको किसी यात्रिक प्रक्रियाके द्वारा स्वतत्रताके एक सकारात्मक परिमाणमे वदला जा सकता है जो एक भलीभाँति सुरक्षित समानताके भावमे सवके हिस्सेमे आ सकती है। व्यक्ति अपना कर्म और अधिकारकी स्वतत्रता राज्यको सौप देता है, और वदलेमे राज्य स्वतत्रताकी नियत्रित स्वतत्रताकी भिक्षा प्रदान करता है, या यूँ कहे कि कतरव्योत करके उसे उतना ही स्थान दिया जाता है जिससे कि उसकी कोहनी अपने पडोसीकी हड्डियोसे न टकरा सके। सिद्धान्तरूपमे यह सव वहुत सुन्दर है, तार्किक दृष्टिसे भी निर्दोष है, किन्तु यह सदेह होता है कि व्यावहारिक

रूपमे इसका अर्थ होगा व्यक्तिकी समाजके प्रति या अपने-आपको समाज कहनेवाली अनिश्चित प्रकारकी वस्तुके प्रति यांत्रिक, अतएव अत्यधिक क्रूरतापूर्ण दासता।

अभीतक अनुभवने हमे यही बताया है कि एक यांत्रिक स्वतंत्रताको प्राप्त करनेके मानवी प्रयत्नके परिणामस्वरूप केवल एक प्रकारकी सापेक्षित स्वतंत्रता ही प्राप्त हुई है और वह भी अधिकतर कुछ लोगोने दूसरोंको वंचित करके ही इसका उपभोग किया है। साधारणतया इसका अर्थ बहुसंख्यक वर्गपर अल्पसंख्यक वर्गका शासन रहा है; इसके नामसे कई विचित्र कार्य किये जा चुके है। यूनानमें प्राचीन समयकी स्वाधीनता और जनतंत्रका अर्थ था सभी कोटियोके कुछ थोड़ेसे स्वतत्र व्यक्तियोका शासन जो अपने जीवन-निर्वाहके लिये झुण्ड-के-झुण्ड दासोपर निर्भर थे, बीच-बीचमे ये शासक एक दूसरेका गला काटनेमे भी संतोष अनुभव किया करते थे। अभी पिछले दिनों स्वाधीनता और जनतंत्रका अर्थ एक ऐसी बनावटी घोषणा रहा है और अब भी है जो एक दक्षतापूर्वक मर्यादित की हुई धनिकतत्रीय प्रणालीके नीचे श्रमजीवीपर मध्यवर्गके संगठित और सफल शासनको छिपा देती है––ये श्रमजीवी पहले तो दबे रहते है, पर पीछे इनमे अधिकाधिक असतोष आता जाता है जिसके फलस्वरूप ये इकट्ठे होकर अपनी बात मनवानेके लिये अड जाते है। स्वाधीनता और जनतत्रका प्रारभिक प्रयोग जो मुक्तिप्राप्त सर्वहारा वर्गने किया वह यही था : थोड़ेसे मुट्ठीभर अव्यवस्थित श्रमजीवियोंका एक विघटित कृषकदल और निर्बल रूपसे हठधर्मी मध्यवर्गपर स्थूल और उग्र प्रकारका अत्याचार। जिस प्रकार समाजके द्वारा स्वतत्रताकी इस गौरवपूर्ण प्राप्तिका अर्थ जनताके एक चौथाई भागद्वारा बाकीके भागोका उत्पीड़न करना रहा है, उसी प्रकार इसका अभी हालतक एक और अर्थ भी रहा है; मनुष्यजातिके आधे भाग अर्थात् स्त्रीजातिकी शारीरिक रूपसे सबल पुरुष जातिके प्रति पूर्ण अधीनता। यह क्रम सब प्रकारकी असगतियोके बीचमेंसे चलता रहता है, इसमे मुक्ति-प्राप्त राष्ट्रोके द्वारा अपने अधीन जातियोका गौरवपूर्ण ढगसे कृपालु और हितकर शोषण भी शामिल है, उन राष्ट्रोके द्वारा जिन्हे, ऐसा प्रतीत होता है, स्वाधीनताके पवित्र संप्रदायके पुरोहितोने यह अधिकार दिया हुआ है। इसमे कोई सदेह नही कि वे कभी आगे जाकर यह स्वाधीनता उन शोषित जातियोको भी प्रदान करना चाहेंगे, किन्तु इस बीच, इसे देनेके पहले, वे अपने-आपको अपने पवित्र पदका पूरा मूल्य चुका देनेका पूरा ख्याल रखते है। अभीतक जिस यान्त्रिक स्वतत्रताकी खोज हो चुकी है उसकी अच्छी-से-

अच्छी मशीनरीका भी अर्थ एक न्यूनतम वहुमतका अपरिवर्तित सकल्प ही होता है, या फिर वह कुछ ऐसे शासकोको चुन लेती है जो उसके नामसे सभी अल्पसंख्यकोपर दवाव डालते है और उन्हे ऐसी समस्याओकी ओर ले जाते हैं जिनके वारेमे उन्हे स्वय भी कोई स्पष्ट वोध नही होता।

ये असंगतियाँ—जो कई प्रकारकी है और जिन्हे यान्त्रिक प्रणालीसे अलग नही किया जा सकता—इस वातका सकेत है कि स्वाधीनताका वास्तविक अर्थ अभीतक किसीने नही समझा है। तो भी एक महान् विचारको प्राप्त करनेकी अभीप्सा और प्रयत्नका कुछ-न-कुछ फल तो निकलेगा ही। और आधुनिक समयकी स्वाधीनता और जनतंत्र चाहे कितने भी अपूर्ण या सापेक्षिक क्यो न हो, उनका एक यह फल अवश्य निकला है कि जिन जातियोने उनका अनुसरण किया है उन्होने उत्पीड़न और दमनके उन अधिक स्पष्ट, वाह्य एवं दुराग्रही स्वरूपोके दवावको दूर कर दिया है जो पुराने समयकी प्रणालियोमे विद्यमान थे। उन्होने जनसाधारणके लिये जीवन जरा अधिक सहनीय वना दिया है, और यदि उन्होने स्वयं जीवनको अभीतक स्वतन्त्रता नही दी, तो भी कम-से-कम उन्होने विचार और प्रयत्नको तो अधिक स्वतन्त्रता प्रदान की ही है जिससे जीवनके अधिक उपयुक्त स्वरूपमे एक अधिक स्वतन्त्र विचारका समावेश हो सके। मनुष्यके अन्दर विचार और उसकी क्रियाको दिया गया यह वृहत्तर अवकाश एक ऐसी विकसनशील स्पष्टताके लिये आवश्यक शर्त है जिसे अतमे उन अपूर्ण विचारोको आलोक प्रदान करना है जिसके साथ जातिने जीवन आरंभ किया है; साथ ही उसे उन स्थूल प्रणालियो और आकारोको भी परिष्कृत करना है जिसमे उसने इन विचारोको समाविष्ट किया है। विचारके उत्तरोत्तर वढ़ते हुए आलोकसे जीवनको शासित करनेका प्रयत्न करना और जीवनकी स्थूल एव अपूर्ण यथार्थताओको मनपर शासन करने एव उसे सीमित करनेकी अनुमति न देना मानव-विकासकी प्रगतिका स्पष्ट चिह्न है। किन्तु सच्चा मोड़ तव आयगा जव इससे एक पग और आगे वढा जायगा, अर्थात् जव जीवनको उस वस्तुसे शासित करनेका प्रयत्न आरभ होगा जिसका स्वयं विचार भी एक सकेत और यन्त्रमात्र है, दूसरे शव्दोमे आत्मासे, आतरिक सत्तासे, साथ ही यह प्रयत्न हमारे जीवनके ढगोको एक अधिक स्वतन्त्र अवसरका रूप भी देगा जिससे उसकी आत्मपरिपूर्णताकी आवश्यकताको अधिकाधिक ऊँचा और विस्तृत वनाया जा सके। यही वह सच्चा और गहनतर अर्थ है जिसे आत्मनिर्णयके विचारके साथ हमे जोड़ना सीखना होगा, क्योकि यह स्वाधीनताका प्रभावकारी सिद्धान्त है।

आत्मनिर्णयके सिद्धान्तका वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक जीवित मानव-प्राणी, पुरुष, स्त्री और बच्चेके अन्दर, साथ ही प्रत्येक मानव-समुदायके अन्दर, चाहे वह विकसित हो रहा हो या विकसित हो चुका हो, चाहे वह अर्धविकसित हो या वयस्क हो, एक आत्मा, एक सत्ताका निवास है, जिसका अपने ही ढंगसे प्रगति करनेका, अपने-आपको ढूँढने और प्राप्त करनेका, अपने जीवनको एक पूर्ण और तुष्ट यंत्र बनाने और उसे अपनी सत्ताकी प्रतिमूर्ति बनानेका अधिकार है। यही वह पहला सिद्धान्त है जिसे और सब सिद्धान्तोमे विद्यमान होना चाहिये और उन सबसे ऊपर भी। अब प्रश्न रह जाता है अवस्थाओ, साधनो, उपकरणो, समा-योजनो, क्षमताओ, सीमाओं आदिका, इनमेसे किसीको भी प्रथम मौलिक सिद्धान्तके आधिपत्यको रद्द करनेकी अनुमति नही देनी चाहिये। किन्तु इसका प्रभुत्व तभी रह सकता है यदि इसे इस आत्माके और इसकी आव-श्यकताओ और दावोके शुद्ध विचारके साथ समझा जाय। आत्मनिर्णयके सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तोके लिये भी सबसे पहला संकट यह है कि प्राचीन समयके हमारे मानव-अस्तित्वके अधिकांश आदर्शोके समान इसकी व्याख्या भी अहभावके, उसके स्वार्थो और स्व-तुष्टि और उसकी कामनाके प्रकाशमे ही की जा सकती है। इस प्रकारकी की हुई व्याख्या हमे पहलेसे अधिक आगे नही ले जायगी, हम तब एक ऐसे बिन्दुपर पहुँचेगे जहाँ यह सिद्धान्त छोटा पडकर हमें हताश कर देगा, या फिर मनकी एक मिथ्या अथवा अर्धसत्य दृढोक्ति और बाह्य रूढि बनकर रह जायगा, एक ऐसी रूढि जो उन वास्तविकताओको ढक देती है जो कि उससे उलटी पड़ती है।

कारण, अहंभावके पास आत्मसमर्थनकी दोहरी सहजप्रवृत्ति है जो हस्ता-तरित नही की जा सकती, एक तो अन्य अहभावोके विरुद्ध आत्मसमर्थन और दूसरे, अन्य अहंभावोके द्वारा आत्मसमर्थन, अपने विस्तार-कालमे उसे दूसरोकी आवश्यकताको अपनी आवश्यकताके अधीन रखने, अपनी उद्देश्य-पूर्तिके लिये उनका प्रयोग करने और जिस वस्तुका वह प्रयोग करता है उसमे एक प्रकारका नियत्रण, अधिकार या स्वामित्व स्थापित करनेके लिये विवश होना पडता है, और ऐसा वह बलपूर्वक या चातुरीपूर्वक, प्रत्यक्ष रूपमे या परोक्ष रूपमे, आत्मसात्‌करणसे या शोषणके किसी दक्षतापूर्ण घुमावसे, किसी भी प्रकार कर सकता है। मानव-जीवन कभी मुक्त समानान्तर रेखाओके सहारे नही चल सकता, कारण, उन्हे प्रकृति लगातार मिलनेके लिये, एक-दूसरेसे टकराने, परस्पर घुलने-मिलनेके लिये विवश करती रहती है और अहंभावयुक्त जीवनमे इसका अर्थ सदा संघर्ष होता है। हमारी

तर्क-बुद्धिका पहला विचार यह है कि हमारे मानवी सबध वैयक्तिक हितोके एक यात्रिक समायोजनके अधीन किये जा सकते है जिसमे टक्कर और सघर्प नही रहेगे, किन्तु यह एक खास हदतक ही किया जा सकता है· अधिक-से-अधिक हम इस मुठभेड और सघर्षकी उग्रता या स्थूल प्रकारकी प्रत्यक्षताको कम कर सकते है और इन्हे एक अधिक सूक्ष्म और कम स्थूल प्रत्यक्ष रूप दे सकते है। तो भी इस सूक्ष्मतर रूपमे सघर्ष और शोपणका सिद्धान्त तो कार्य करता ही रहता है; कारण, अहभावकी सहज-प्रवृत्ति सदा उन समायोजनोको प्रयुक्त करनेकी ही होगी जिन्हे उसे, जहाँतक हो सके अपने लाभके लिये ही, अगीकार करनेके लिये अनुगृहीत अथवा प्रेरित होना पडता है। और इस प्रवृत्तिमे यह अपनी ही शक्ति और क्षमताकी सीमाओके द्वारा, कार्यसाधकर्ता और परिणामकी भावना तथा अपने अहभावका सम्मान करवानेके लिये अन्य अहभावोका सम्मान करनेकी आवश्यकताके बोधके द्वारा सीमित है। किन्तु ये विचार केवल दूसरोके सूक्ष्म दमन और शोपण करनेकी किसी स्थूल या सूक्ष्म इच्छाको हलका कर सकते है या उसको छिपा सकते है, उसे मिटा नही सकते।

मानव-मनने नीतिशास्त्रका एक शोधक शक्तिके रूपमे सहारा लिया है। किन्तु नैतिक व्यवहारके पहले नियम भी अधिक-से-अधिक जीवनके अहभावयुक्त नियमपर केवल प्रतिवध लगानेमे ही सफल होते है, वे उनपर विजय नही प्राप्त कर सकते। अतएव नैतिक विचारने आगे वढकर एक अन्य और विरोधी परहितवादके सिद्धान्तमे प्रवेश पा लिया है। मुख्य रूपसे इस सवके सामान्य परिणाम ये हुए है. सामूहिक अहभावोका एक स्पष्टतर बोध और वैयक्तिक अहभावपर उनका दावा और, दूसरे, अहभाव और परिहितवाद-सवघी प्रेरक हेतुओका एक विलकुल अनिश्चित और अवर्णनीय मिश्रण, सघर्ष और उनका सन्तुलन। अधिकतर तो परहितवादकी केवल घोपणा ही की जाती है या वहुत हुआ तो वहॉ एक छिछला सकल्प होता है जो हमारे कर्मकेन्द्रकी वस्तु नही होता। उस अवस्थामे वह जानवूझकर वनाया गया या एक अर्धचेतन छद्मावरण वन जाता है जिसकी सहायतासे अहभाव अपने-आपको छिपा लेता है और अपनी लक्षित वस्तुकी ओर इस प्रकार वढता है कि कोई उसपर सदेह नही कर पाता। किन्तु सच्चा परहितवाद भी अहभावको अपने अन्दर छिपाये रहता है, और यह देख सकना कि यह हमारे अत्यधिक दयालुता और आत्मत्यागसे परिपूर्ण कार्योमे भी किस हदतक छिपा हुआ है, हमारे सच्चे आत्मपरीक्षणकी कठिन कसौटी है। वस्तुत इस निर्दयतापूर्ण और प्राय. कष्टकर विश्लेषणके विना कोई अपने-आपको

ही जान सकता। इससे भिन्न कुछ हो भी तो नहीं सकता, क्योंकि जीवनका विधान आत्मपीडन नही है। आत्मत्याग आत्मपरिपूर्णताकी ओर केवल एक पग ही हो सकता है। जीवन स्वभावत: एकतरफा आत्मदान नही हो सकता; देनेकी समस्त क्रियामें कुछ-न-कुछ ग्रहण भी करना होता है, केवल तभी कोई फलप्रद मूल्य या महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आता है। परहितवाद दूसरोंका जो भला करता है उसकी अपेक्षा स्वय अपना भला करनेकी दृष्टिसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि दूसरी अवस्थामें कुछ संदिग्धता रह जाती है, जब कि पहलीमे निश्चयता होती है और उस भले कार्यका अर्थ है अपनी सत्ताका विकास, उसकी आन्तरिक रूपमें समुन्नति और विस्तार। अतएव परहितवादके किसी सामान्य नियमको नही, बल्कि पारस्परिक मान्यतापर आधारित स्व-मान्यताको ही हमारे मानवी संबधोंका व्यापक नियम होना चाहिये। जीवन आत्मपरिपूर्णता है जो पारस्परिकताकी भूमिपर आगे बढती है; इसमे एक दूसरेका उपयोग करता है और अंतमे सब सबका उपयोग करते है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह कार्य अहंभावके निम्नतर आधारपर किया जायगा जहाँ इसके साथ संघर्ष, विरोध और झगडे लगे रहेंगे,—चाहे इसपर कुछ प्रतिबंध या नियत्रण भी रहे—या फिर क्या यह हमारी सत्ताके किसी उच्चतर विधानके द्वारा नही किया जा सकता जो पारस्परिक समझौता तथा मुक्त सबंध एव एकताके उपाय खोज सके ?

आत्मनिर्णयके नियमका शुद्ध विचार हमे इस उच्चतर विधानकी खोजके मार्गपर चलानेमे सहायक हो सकता है। कारण, हम देख सकते है कि आत्मनिर्णयका शब्द एक ही जटिल विचारमे स्वाधीनता और विधानके विचारोको शान्तिपूर्ण तरीकेसे समाविष्ट कर लेता है। हमारी पहली धारणाओंके अनुसार सत्ताकी ये दो शक्तियाँ, जैसा कि स्वयं जीवनके पहले प्रकट रूपोंमे होता है, एक दूसरेकी विरोधी, प्रतिद्वंद्वी एवं शत्रु होती हैं; इसीलिये हम इन दोनोको, एक ओर विधान और व्यवस्थाके नायकको और दूसरी ओर स्वाधीनताके रक्षकको दो विरोधी पंक्तियोमे खड़ा पाते है। एक वह आदर्श है जो व्यवस्थाको पहले नम्बरपर और स्वाधीनताको या तो कही नही या फिर एक निम्न श्रेणीमे रखता है, क्योंकि वह व्यवस्थाकी यान्त्रिक स्थिरताको बनाये रखनेके लिये स्वाधीनतापर कोई भी प्रतिबध लगानेको तैयार है, इसके विपरीत एक दूसरा आदर्श है जो स्वाधीनताको पहले रखता है और विधानको एक विरोधी दबाव समझता है या उसे एक अस्थायी प्रकारकी आवश्यक बुराई, या अधिक-से-अधिक स्वाधीनता प्राप्त करनेका एक साधन मानता है, जो उस तरहके उग्र या आक्रामक हस्तक्षेपसे रक्षा करता है,

जैसे मनुष्य-मनुष्यके बीच होते है। वस्तुस्थितिके वैयक्तिक विचारकी दृष्टिसे स्वाधीनताके साधनके रूपमे विधानके इस उपयोगको उसकी अल्पतम मात्रामे—जितना उद्देश्यपूर्तिके लिये जरूरी है—समर्थन मिल सकता है, या उसे उच्चतम अंशतक उठाया जा सकता है जैसा कि समाजवादी विचारमे होता है। उसके अनुसार नियमन और नियत्रणके बडे-से-बडे योगका अर्थ स्वतत्रताका बृहत्तम योग होगा या कम-से-कम वह ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करनेका साधन बनेगा या उसे प्राप्त करेगा। वस्तुत ये दोनो विचार सदासे ही अत्यधिक विचित्र रूपमे एक-दूसरेके साथ घुलमिल रहे है, जैसा कि पूँजीपतिका यह पुराना दावा है कि श्रमजीवीकी स्वतत्रताको सगठित न होने दिया जाय, ताकि अनुबधकी स्वतत्रता सुरक्षित रह सके। पुरानी जाति-प्रथाकी कठोरताके भारतीय रक्षकोके विचित्र कुतर्कमे भी, जिसका सबध उसके आर्थिक पक्षसे है, विचारोका यही मिश्रण होता है और वे कहते है कि व्यक्तिको अपना पैतृक व्यवसाय ही अपनानेको विवश किया ज़ाय, इसमे भले उसकी अभिरुचियोको ही नही, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो और योग्यताओकी भी अवज्ञा क्यो न हो, क्योकि इसी तरीकेसे व्यक्ति अपने स्वाभाविक अधिकारको, अपने पैतृक स्वभावका अनुसरण करनेकी स्वतत्रताको प्राप्त कर सकता है। विचारोका यही गडबडझाला हम यूरोपीय राजनीतिज्ञके एशियाई और अफरीकी जातियोको स्वाधीनताका पाठ पढ़ानेके दावेमे भी पाते है, जिसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि शुरूमे उन्हे दासताकी पाठशालामे स्वाधीनताका पाठ पढाया जाय और बादमे उन्हे इस बातके लिये विवश किया जाय कि वे स्वतत्रतापूर्वक अपना निजी ढग और विधान विकसित करनेके स्थानपर एक यात्रिक स्वशासनकी उन्नतिके लिये पग-पगपर उन परीक्षणो और विचारोकी तुष्टिमे लगे रहे जिसे उनपर एक विदेशी सत्ता और चेतनाने लादा है। आत्मनिर्णयके शुद्ध विचारमे इस गडबड़झालेके लिये जरा भी स्थान नही। वह यह स्पष्ट कर देता है कि स्वाधीनताको व्यक्तिकी अपनी सत्ताके विधानके विकासके द्वारा आगे बढ़ना एवं अन्दरसे निर्धारित होना चाहिये; वह व्यक्तिके अन्दरसे विकसित होगी, बाहरसे किसी औरके विचारो और इच्छाओके द्वारा नही। अब समस्या रह जाती है सबधोकी, वैयक्तिक और सामूहिक आत्मनिर्णयकी तथा एकके आत्मनिर्णयकी दूसरेके आत्मनिर्णयपर की गयी क्रियाकी। कोई भी यात्रिक समाधान इसका अतिम फैसला नही कर सकता, इसके लिये तो एक ऐसा स्थल ढूँढना होगा जहाँ हमारे आत्मनिर्णयका विधान और पारस्परिकताका सार्वजनिक विधान मिल सके, जहाँ वे दोनो एक होना

आरभ कर दे। इसका अर्थ वस्तुतः यह है कि मात्र अहंभावके अतिरिक्त एक आतरिक और वृहत्तर सत्ताकी खोज की जाय जिसमें हमारी वैयक्तिक आत्म-परिपूर्णता हमें दूसरोंसे अलग न करे, वल्कि हमारे विकासके प्रत्येक पगपर एकताकी अधिकाधिक माग करे।

किन्तु हमे स्वतंत्र समूहमे रहनेवाले स्वतंत्र व्यक्तिके आत्मनिर्णयसे आरभ करना है। कारण, केवल तभी हम स्वतंत्रताके स्वस्थ विकासके वारेमे सुनिश्चित हो सकते है, साथ ही जिस एकताको हमे प्राप्त करना है वह उन व्यक्तियोकी है जो स्वतंत्र रूपसे पूर्णताकी ओर वढ़ रहे है, उन मानवी यंत्रोकी नही जो एक नियमवद्ध स्वरमेलसे काम कर रहे है, न ही वह उन अवरुद्ध और विकलाग आत्माकी एकता है जो किसी एक या अधिक रूढ़ ज्यामितीय साँचोमे काटी गयी हो। जिस क्षण हम मच्चे दिलमे इस विचारको स्वीकार कर लेंगे उसी क्षण हमें मनुष्यपर मनुष्यके संपत्ति-स्वरूप अधिकारके पुराने विचारसे विलकुल हट जाना होगा जो वहाँ भी जहाँ यह अधिकार प्राप्त नही है मानव-मनमे दुवका वैठा है। इस विचारके चिह्न हमारे पूरे अतीतमे दृष्टिगोचर होते है, पिताका पुत्रपर संपत्तिके समान अधि-कार, पुरुपका स्त्रीपर अधिकार, शासक अथवा शासकवर्गका शासितपर और राज्यका व्यक्तिपर अधिकार। प्राचीन पितृसत्तात्मक विचारमें वच्चा पिताकी जीवित संपत्ति था; वह उसकी अपनी रचना और उपज था, उसका अपना प्रतिरूप था; भगवान् या वैश्व जीवन नही, भगवान्के स्थानपर पिता वच्चेके अस्तित्वका रचयिता था; और स्रष्टाका अपनी सृष्टिपर पूरा अधिकार होता है और उत्पादकका अपने तैयार मालपर। उसे यह अधिकार है कि वह उसे अपनी इच्छाके अनुसार गढे, उसकी वास्तविक आतरिक सत्ताके अनुसार नही। उसे यह अधिकार है कि वह उसे, उसके अपने स्वभावकी गहन आवश्यकताओके अनुसार नही, वल्कि पैतृक विचारोंके अनुसार करत-व्योत करके आकार दे। उसे पैतृक व्यवसाय या पिताद्वारा अनुमोदित व्यवसायको ही अपनानेके लिये वाध्य करे, उस व्यवसायको नही जिसकी ओर स्वय वच्चेकी प्रकृति, योग्यता और अभिरुचि इगित करती है; वह परिपक्व अवस्थाको पहुँच भी जाय तो भी पिताको ही उसके जीवनके विशेप मोड़ोको निर्धारित करनेका अधिकार होता था। शिक्षाके संवधमे वच्चेको एक ऐसी आत्मा नही माना जाता था जिसे विकसित होना है वल्कि एक स्थूल मनोवैज्ञानिक पदार्थ माना जाता था जिसे शिक्षकको एक रूढ़ साँचेमे ढालना है। अव हम वच्चेके सवंधमे एक अन्य धारणातक आ पहुँचे है और वह यह कि वच्चा एक आत्मा है जिसकी अपनी सत्ता

है, अपना स्वभाव है, अपनी क्षमताएँ हैं और इन्हे ढूँढनेमे, अपने-आपको ढूँढनेमे, अपनी क्षमताओको विकसित करने और अपनी शारीरिक और प्राणिक शक्तिको पूर्ण वनानेमे, अपनी भावनात्मक, वैद्धिक और आध्यात्मिक सत्ताको विस्तृत और गहन वनाने एवं ऊँचा उठानेमे हमे उसकी सहायता करनी चाहिये। इसी प्रकार स्त्रीकी दासता, स्त्रीपर पुरुपका अधिकार भी एक समय सामाजिक जीवनका सिद्धान्त माना जाता था; अभी पिछले कुछ दिनोसे ही इस सिद्धान्तको सशक्त चुनौती मिलनी आरभ हुई है। पुरुष नामक प्राणीमे प्रभुत्वकी यह सहजप्रवृत्ति इतनी प्रवल थी या हो गयी थी कि धर्म और दर्शन-शास्त्रको भी इसे स्वीकृति देनी पडी। वहुत कुछ उस प्रकार जैसे मिलटनने पुरुषके अहभावकी पराकाष्ठाको अभिव्यक्त करते हुए कहा है, "पुरुष केवल भगवान्के लिये और स्त्री पुरुषके अन्दर स्थित भगवान्के लिये।"—यदि स्त्रीके लिये स्वय पुरुष ही वास्तवमे भगवान्के स्थानपर न हो। यह विचार भी अव ढहता जा रहा है, यद्यपि इसके अवशेष अभीतक पुराने विधान, पुरानी चली आ रही सहजप्रवृत्ति तथा परंपरागत विचारोके आग्रहरूपी अनेक सवल ततुओके द्वारा जीवनसे चिपटे हुए हैं। अव इस विचारके विरुद्ध स्त्रीके इस दावेके रूपमे कि उसे भी एक स्वतंत्र वैयक्तिक सत्ता माना जाय अनुज्ञप्ति निकल चुकी है। स्वाधीनता और लोकतत्रके विचारके विकसित होनेसे शासकोका शासितोपर अधिकार भी अव समाप्त हो गया है, लेकिन राष्ट्रीय साम्राज्यवादके रूपमे यह वस्तुत. अभीतक वना हुआ है, यद्यपि यहाँ इसके वने रहनेका कारण व्यापारिक लोलुपता अधिक है और राजनीतिक अधिकारकी सजह-प्रवृत्ति कम। वौद्धिक रूपसे अधिकारप्रिय अहभावके इस रूपको भी घातक चोट पहुँच चुकी है, किन्तु इसकी प्राणिक शक्ति अव भी वनी हुई है। राज्यके व्यक्तिको सपत्ति माननेके अधिकारने इन सवका स्थान लेनेकी धमकी दी थी, पर अव युद्धके अत्यधिक प्रवल प्रकाशने इसके वास्तविक आध्यात्मिक परिणामको उभारकर सामने ला रखा है और अव हम आशा कर सकते हैं कि इस स्पष्टतर ज्ञानसे मानव-स्वाधीनताके लिये इसका भय कम हो जायगा। कम-से-कम हम एक ऐसे विन्दुकी ओर तो बढ ही रहे हैं जहाँ शायद आत्मनिर्णयके सिद्धान्तको मानव-जीवनको आकार देनेके लिये एक वहुत प्रबल शक्ति नही तो एक सहायक और आवश्यक शक्ति वनाना सभव हो सके।

इस आत्मनिष्ठ दृष्टिकोणसे यदि आत्मनिर्णयके सिद्धान्तको देखा जाय तो यह हमे फिर एकदम अतरस्थित सत्ताके पुराने आध्यात्मिक विचारकी

ओर ले आता है, जिसका कार्य, एक बार ज्ञात और अभिव्यक्त हो जानेके बाद, बाह्य और यांत्रिक प्रवृत्तियोंके आदेशानुसार नहीं होता वरन् प्रत्येकमें आत्माकी शक्तियोंद्वारा परिचालित होता है। यह एक ऐसा कार्य है जो उस तात्विक गुण और सिद्धान्तद्वारा निर्धारित होता है जिसकी प्रकट क्रिया हमारा व्यक्त स्वरूप—'स्वाभावनियतं कर्म'—है। किन्तु जब हम अपने अन्दर अधिकाधिक ऊँचे उठते हैं और अपनी सच्ची सत्ता और उसकी सच्ची शक्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं, केवल तभी हम इस स्वभावके पूरे सत्यको समझ सकते हैं। हमारा वर्तमान अस्तित्व अधिक-से-अधिक इसीकी ओर एक प्रगति है, अतएव एक अपूर्णता है और इसकी मुख्य अपूर्णता है व्यक्तिका सत्तासंबंधी अहंकारपूर्ण विचार, जो सामूहिक अहंभावमें विस्तार पाकर पुनः प्रकट होता है। अतएव, अहंकारपूर्ण आत्मनिर्णय अथवा एक परिवर्तित व्यक्तिवाद सच्चा समाधान नहीं है। यदि यही सब कुछ होता तो हम कभी एक समायोजनासे आगे न बढ़ सकते और प्रगतिमें संघर्ष और सुविधाजनक समझौतेके टेढ़े-मेढ़े रास्तेपर ही धक्के खाते रहते। अहंभाव आत्म-सत्ताका सच्चा चक्र नहीं है; पारस्परिकताका जो विधान उसे प्रत्येक मोडपर मिलता है और जिसका वह गलत उपयोग करता है, इस सत्यसे उद्भूत होता है कि हमारी सत्ता और दूसरोंकी सत्तामें और इसीलिये हमारे और दूसरोंके जीवनमें एक गुप्त एकत्व विद्यमान है। हमारे आत्म-निर्णयके विधानको दूसरोंके आत्मनिर्णयके साथ एक होना है और फिर इस पारस्परिकताके द्वारा सच्ची एकताको प्राप्त करनेका मार्ग ढूँढना है। किंतु इसका आधार अन्दरसे ही प्राप्त हो सकता है, किसी यांत्रिक व्यवस्थाके द्वारा नहीं। सत्ताको अपने आत्मविस्तार और आत्मपरिपूर्णताके क्रममें अपने अन्दर यह खोज करनी होगी कि ये वस्तुएँ प्रत्येक मोड़पर हमारे आस-पास रहनेवाले व्यक्तियोंके आत्मविस्तार और आत्मपरिपूर्णतापर निर्भर है, क्योंकि हम गुप्त रूपमें उनके साथ एक हैं, हमारे जीवन एक है। दार्शनिक भाषामें कहे तो यह सबमें एक सत्ताकी मान्यता है जो प्रत्येकमें विविध प्रकारसे परिपूर्णताको प्राप्त करती है। यह प्रत्येकमें भागवत सत्ताके विधानकी प्राप्ति है, इसे सबमें उपस्थित भागवत सत्ताके विधानके साथ एक होना है। इस प्रकार समस्याकी कुंजी एकदम ही बाहरसे अन्दरकी ओर, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाकी दृश्य बाह्य प्रतीतियोंसे आध्यात्मिक जीवन और सत्यकी ओर चली जाती है, बल्कि आध्यात्मिक जीवन और सत्य ही इसकी कुंजी प्रदान कर सकते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि बाह्यतर जीवनकी उपेक्षा की जानी चाहिये;

इसके विपरीत एक क्षेत्रमे या एक स्तरपर सिद्धान्तका पालन करनेसे —पर हमे अपने-आपको वहीतक सीमित करना या बाँध न लेना चाहिये,— वह दूसरे क्षेत्रोमे और दूसरे स्तरोंपर भी अपनी अभिव्यक्ति करता है। यदि हमारे अन्दर एकता नही है, तो उसे बाहरसे किसी विधिकी सहायतासे या जोर-जबर्दस्तीद्वारा या बाह्य स्वरूपोपर आग्रह करके लादनेकी कोशिश करना बिलकुल व्यर्थ होगा। बौद्धिक आग्रह भी, यान्त्रिक आग्रहकी ही भाँति अपर्याप्त है। केवल आध्यात्मिक वस्तु ही यह एकता प्रदान कर सकती है, क्योकि केवल इसीके पास उपलब्धिकी सुरक्षित शक्ति है। सत्ताका प्राचीन सत्य सनातन सत्य है; हमे अब इसकी ओर दुबारा लौटना है ताकि हम इसे अधिक नवीन और परिपूर्ण ढगसे चरितार्थ कर सकें, इस कार्यके लिये पुरानी मानवजाति तैयार नही थी। अपनेमे और मनुष्यजातिमे दिव्य सत्ताकी मान्यता और परिपूर्णता, अपने अन्दर और जातिके अन्दर भगवान्का राज्य ही अन्ततोगत्वा वह आधार है जिसपर मनुष्यको आना होगा और मुक्त रूपसे आत्मनिर्णय करनेवाली सत्ताके रूपमे अपने-आपको प्राप्त करना होगा, साथ ही उसे मनुष्यजातिको भी पारस्परिक आत्मविस्तारमे एक समस्वरतापूर्वक आत्मनिर्णय लेनेवाली एकीकृत सत्ताके रूपमे पाना होगा।

एक राष्ट्र-संघ

प्राचीन परंपरा मानवजातिके एक स्वर्णयुगमे विश्वास रखती थी, उस स्वर्णयुगमे जो एक पुरातन अतीतकी उज्ज्वल शैशवावस्थाकी वस्तु था। वह पीछे मुड़कर मौलिक पूर्णताके किसी प्ररूप या प्रतीककी ओर देखती थी, अर्थात् सत्ययुगको, सद्हृदय सत्ता और स्वतत्र एकताके युगको जब कि स्वर्गपुत्र मानवजीवन और मनके नेता थे और जव भगवान्‌का विधान प्रभावहीन पुस्तकोमे नही, वरन् मनुष्यके हृदयपटलपर लिखा गया था। उस समय उससे अपने-आपको बुराईकी तरफ जानेसे रोकनेके लिये तथा अपनी स्वतंत्र सत्ताको काट-छाँटकर उसे एक सामाजिक आदर्शके यत्रद्वारा निर्मित एव बलपूर्वक समता स्थापित करनेवाले साँचेमे ढालनेके लिये वाह्य विधान या सरकारकी उग्र शक्तिकी आवश्यकता नही पड़ती थी। कारण, तव उसके सदस्योमे स्थापित एक स्वाभाविक दिव्य शासन ही उसकी स्वतंत्रताको सहज और पर्याप्त रूपमे सुरक्षित रखता था। यह परपरागत विश्वास एक समय इतना व्यापक था कि इसमे किसी स्वर्णिम और उज्ज्वल उपलब्धिकी जातिगत स्मृतिको, किसी अद्‌भुत दिव्य आरंभको तो शायद नही, किन्तु किसी प्राचीन चक्राकार शिखर या शीर्षको, कालचक्रके किसी उच्चतम और गौरवपूर्ण चापको देखनेका प्रलोभन हो सकता था,—साथ ही इस वातकी सभावना भी है कि यह केवल मानव-मनकी उस अति सामान्य, आदर्श रूपसे बिसरी बातोको याद करनेवाली प्रवृत्तिका एक उच्च उदाहरणमात्र ही हो जो समस्त संदर्श और अनुपातसे आगे जाकर अतीतका ही गौरव-गान करती है, उसकी प्रतिच्छायाओको मिटाकर उसे एक धुंधले और कृत्रिम प्रकाशमे तथा वर्तमानकी अँधेरी और तात्कालिक छायाके सामने रखकर देखती है। अथवा यह उसकी किसी आतरिक दिव्य वस्तुकी अनुभूतिका प्रक्षेपण भी हो सकता है जो पवित्र और परिपूर्ण है, पर जिससे वह पतित हो चुका है, जिसे प्रतीकात्मक परंपराने सनातनतामे नही, बल्कि कालमे, आतरिक रूपसे उसकी आध्यात्मिक सत्तामे नही, बल्कि बाह्य रूपसे उसके अस्पष्ट अस्तित्वमे, पृथ्वीकी इस ऊपरी स्थूल और क्षणिक सतहपर स्थापित किया है। जो वात हमसे अधिक सवध रखती है वह यह है कि इस स्मृतिके साथ या मुड़कर पीछे देखनेवाली इस भ्रान्तिके साथ प्राय· ही एक धुंधली-सी आशा जुडी रहती है, साथ ही एक अधिक

यथार्थ, भविष्यसूचक अथवा धार्मिक और आगेकी ओर देखनेवाली परपरा भी कि देर हो या सबेर, वह स्वर्णिम पूर्णावस्था पुन. आयेगी-- हम यह भी कह सकते है कि कालचक्रकी अधोमुखी रेखासे व्यक्ति उसी प्रकारके, शायद उससे भी अधिक बड़े, उच्च और दीप्तिमान शिखरकी और पुन लौट आयेगा। इस प्रकार मानव-मनमे, जो सदा आगे और पीछेकी ओर देखता है, उसके आदर्श अतीतके महान् स्वप्नने अपने-आपको आदर्श भविष्यके एक महत्तर स्वप्नद्वारा पूरा कर लिया।

क्योकि आधुनिक मानव-मन वैज्ञानिक है और वह धर्मपर अधिक विश्वास नही रखता, उसके लिये इन वस्तुओमे विश्वास करना तबतक कठिन होता है जबतक कि वह अपने-आपको ब्रह्मवेत्ता या गुह्यवेत्ता बनाकर आश्वस्त वैज्ञानिक बुद्धिसे अच्छी तरह मुक्त नही हो जाता। जो विज्ञान इतने विश्वासपूर्वक हमारी जातिके श्रेष्ठ रूपसे पूर्ण और आश्चर्यजनक विकासको, एक पर्याप्त द्रुत और सीधी रेखामे, वानर-मनुष्यसे मि० लायड जार्जकी चकाचौध पैदा करनेवाली तथा अनिवार्य प्रतिभा तथा रोकफैलरकी अजीर्ण-ग्रस्त महानतातक दिखाता है, वह पुराने परपरागत ज्ञानको स्वप्न और काव्यमय कल्पनाएँ कहकर अस्वीकार कर देता है। किन्तु हमारी हानिकी क्षतिपूर्ति करनेके लिये उसने बदलेमे हमे आधुनिक प्रगतिकी एक अधिक व्यावहारिक, स्थिर एव तात्कालिक दृष्टि दी है तथा एक तर्कसगत और यात्रिक रूपसे पूर्णता प्राप्त कर सकनेवाले समाजकी आशा दिलायी है। यही एकमात्र धर्म है जो अभीतक बचा हुआ है, यही एक प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्रके आधुनिक सप्रदायका है नया यरूशलम। आदर्श अतीतका जादू अब समाप्त हो चुका है, पर भविष्यके प्रशात जादूको हम अब अपने अधिक निकट पाते है। वस्तुत. यह रचनात्मक मानव-तर्कबुद्धिके लिये अधिक वास्तविक हो उठा है। वास्तवमे एशियाई मन अभीतक प्राचीनतर ढगकी कल्पनाको बहुत अधिक प्रश्रय देता है; इस कल्पनाने कितने ही प्रेरणाप्रद रूप--ईसा मसीहका पुनरागमन, देवनगरी, दैवी कुटुब, मसीहा, 'मेहदी' अथवा अवतारका आविर्भाव--धारण किये और अभीतक धारण किये है। किन्तु ये रूप कितने भी विविध क्यो न हो, इनमे सारतत्व एक ही है अर्थात् भविष्यकी सभावित मानवजातिका धार्मिक या आध्यात्मिक आदर्शीकरण। यूरोपीय प्रकृति (और आजकल तो हम सब ही कम-से-कम ऊपरसे सफेद, भूरे, पीले या काले यूरोपियन बननेकी कोशिश कर रहे है) एक ऐसी वस्तुकी आकाक्षा करती है जो अधिक परिचित रूपसे पृथ्वीकी ठोस और प्रत्यक्ष वस्तु हो, उत्तरोत्तर विकसित होती हुई मानवजातिके

एक निरपेक्ष, सामाजिक और राजनीतिक स्वप्नकी, एक पूर्णताको प्राप्त लोकतंत्रकी, समाजवाद और साम्यवादकी और अराजकताकी आकांक्षा। किन्तु हम चाहे जो दिशा अपनायें, वह चाहे सत्य हो या भ्रम, पीछेकी वस्तु एक ही होती है और वही हमारे मानव-मन और कार्यके संकल्पकी आवश्यकता भी प्रतीत होगी। भविष्यके किसी प्रकारके आदर्शके विना हमारा काम ही नही चल सकता। हमे अपने-आपसे और अपने जीवनसे किसी वस्तुको गढ़नेके लिये वैयक्तिक या सामूहिक रूपसे प्रयास करना ही होगा। हाँ, यह और वात है कि हम मनुष्यके, जो आधा तो निर्मित हो चुका है और आधा अभी पशुवत् ही है, अभ्यासकी अस्थिरता और अति-साधारणतासे ही संतुष्ट रहे—इस तरह अपदस्थ होना हमारे अन्दरकी महत्तम वस्तु कभी स्वीकार नही करेगी। मनुष्य कला या जीवनके क्षेत्रमे कोई महान् कृति नही प्रस्तुत कर सकता जवतक कि वह पूर्णताकी कोई धारणा या आकार नही वना लेता और धारणा वनाकर प्रकृतिके चाहे जैसे विद्रोही और हठीले उपादानसे कुछ प्राप्त कर लेनेकी अपनी शक्तिमें विश्वास नही करता। उसे अपनी पूर्णता प्राप्त करनेकी सामर्थ्यसे वंचित कर दिया जाय तो उसकी सवसे वड़ी सर्जनात्मक अथवा स्व-रचनात्मक योग्यता ही नष्ट अथवा अतिक्षीण हो जाती है। अतएव, यदि आध्यात्मिक रूपमे एकीकृत और पूर्णता-प्राप्त मानवजातिका यह उच्चतर और गहनतर स्वप्न तत्काल ही पूरा नही हो सकता तो इसके स्थानपर सामाजिक और राजनीतिक सुधारके स्वप्नको एक ऐसी अत्यधिक सक्षम एव लभ्य प्रोत्साहनके रूपमे जो मानवजातिको प्रगति-पथपर चलाता रहे, स्वीकार करना ही होगा। उसका कोई भी आदर्श न हो, एक वृहत्तर, श्रेष्ठतर और मधुरतर जीवनका कोई भी स्वरूप उसके सामने न हो, इससे अधिक अच्छा यह है कि उसके पास एक रक्षक यान्त्रिक वस्तुका ही आदर्श हो।

एक अधिक पूर्ण, तर्कसगत और शांतिपूर्ण ढगसे सहयोग प्रदान करनेवाले समाजके एक भावी स्वर्णिम अथवा अर्ध-स्वर्णिम युगके इस धर्मनिरपेक्ष स्वप्नने अभी हालमे ही एक अनूठा पग वढाया है अर्थात् मनुष्य अपनी कल्पनामे इसे साधित करनेका प्रयास कर रहा है, वल्कि यहाँतक कि इसे वास्तविक रूपमें भी फलप्रद वनानेके प्रयत्नमे उसने पहला पग उठाया है। आदर्श और संभावनाके रूपमें इस स्वप्नने राष्ट्रोंके एक ऐसे राजनीतिक और आर्थिक समाजका रूप धारण किया है जो युद्धकी क्रूर और विनाशकारी नीतिसे पिंड छुड़ा लेगा, जो अंतर्राष्ट्रीय विधान और व्यवस्थाका राज्य स्थापित करेगा तथा सघर्ष, विरोध एवं टक्करके विना, तर्कसंगत

उपायो, सहयोग एव मध्यस्थता और पारस्परिक व्यवस्थाके द्वारा उन सब अधिक भयकर समस्याओको सुलझायेगा जो अभीतक सुविधापूर्ण शान्ति, मैत्री एव संगठित उत्पादिताको—जिसे मनुष्यकी सतुलित और उचित अवस्था होनी चाहिये—विचलित कर रही है अथवा उसके लिये सकट उपस्थित कर रही है। अंतर्राष्ट्रीय शान्ति, ससारके मामलोकी सुव्यवस्थित वैधता और व्यवस्था, प्रतिभूत स्वाधीनता,—या अयोग्यके लिये स्वाधीनताका प्रशिक्षण और तैयारी—जातिके जीवनकी एक सुयोजित एकता—यही उस स्वर्णिम युगका स्वरूप है जिसके मिलनेका हमे आश्वासन दिया जा रहा है। पहली ही दृष्टिमे कहीपर अन्तरालकी प्रतीति होती है, एक अत्यधिक बाह्य प्रकारकी तथा घड़ीकी तरह चालित पूर्णताको देखकर संदेह होता है, साथ ही बार-बार संकोच-विचार आता है कि शायद यह न तो उतनी आसानीसे कार्यान्वित हो सकेगी और न उतने प्रगीतात्मक रूपमे आकर्षक होगी, जैसे कि इसके प्रवक्ता दावा करते है। यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि तब मनुष्यकी सत्ता और आत्माका क्या होगा, आंतरिक पूर्णताकी महानताका क्या होगा, क्योकि केवल वही उसके बाह्य जीवनकी अत्यधिक आदर्शपूर्ण व्यवस्थाको भी सहायता, सुरक्षा तथा एक प्रकारकी मनोवैज्ञानिक वास्तविकता प्रदान कर सकती है। यह कितना आगे बढ चुकी है या निकट भविष्यमे कितना बढ सकती है, अथवा यह नयी व्यवस्था मनुष्य-जीवनके विकास और सतोषके लिये कौनसे साधन या अवसर उपस्थित करनेका विचार रखती है। किन्तु, निस्सदेह यह वस्तुमे देखनेका अत्यधिक गुह्य ढग है। व्यावहारिक पश्चिमी मन इन सूक्ष्मताओको देखनेका अधिक कष्ट नही उठाता। चूँकि किसी कामको सपन्न कर लेना ही मनुष्यजीवनका मुख्य और वास्तविक कार्य प्रतीत होता है, अतः वह हाथमे लिये हुए कार्यको शीघ्रतापूर्वक करना चाहता है तथा एक ऐसी उपयोगी, ठोस और प्रत्यक्ष वस्तु प्राप्त करना चाहता है जो एक क्रियात्मक आरंभके लिये या एक पग आगे बढनेके लिये उसकी सहायता कर सके, और यह ठीक भी है। वह विधान और संस्थामे विश्वास रखते हुए यह मानता है कि मनुष्यका जीवन उसके बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आदर्शोके अनुरूप हो। यदि वह विधियोकी एक अच्छी और सुविधाजनक प्रणाली तथा एक सविदा अथवा सविधान प्रस्तुत कर सकता है तथा उसके लिये स्वीकृति भी प्राप्त कर सकता है, उसके विचारोको कार्यान्वित करनेके लिये यान्त्रिक साधनोका उपयोग कर सकता है तथा एक कार्यकारी सस्थाको फलप्रद बना सकता है तो वह संतुष्ट हो जाता है। अन्य कम गोचर

वस्तुओसे यह आशा की जाती है कि यदि वे जरा भी अनिवार्य हैं तो अपने-आप ठीक उसी प्रकार विकसित हो जायँगी जैसी वे अच्छी यांत्रिक अवस्थाओमे विकसित होती हैं।

इस धारणाको दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों रूपोसे उचित ठहराया जा सकता है। आखिर बाह्य स्वरूप आत्माके लिये एक फलप्रद संकेत है; यत्र, जैसा कि चर्च और धर्म भी मानने लगे है, एक सर्वशक्तिमान सत्ता है और तुम आत्मासे जो कुछ चाहते हो, उसे वह निर्मित कर सकता है। स्वयं भगवान् अथवा आविष्कारक प्रकृतिको भी पहले विश्वके स्वरूप एव यंत्रका आविष्कार करना पड़ा था और केवल तभी वह उसके साँचेमें आत्माकी एक आकृति गढ़ सका था। अतएव, मनुष्यके लिये भारी आशा अथवा शांति एवं सद्भावनाकी सूचना यह नही है कि एक नयी और दिव्यतर अथवा केवल अधिक मानवी आत्माने मनुष्यजातिमे जन्म ले लिया है, उसके नेताओको प्रभावित किया है तथा वह उसके अहंभावग्रस्त आवेगो-द्वारा प्रेरित और स्वार्थरत लाखों सदस्योपर छा गयी है, वल्कि पेरिसमें एक ऐसी संस्थाने जन्म लिया है जिसे प्रधान मंत्रियो और राष्ट्रपतियोंका आशीर्वाद प्राप्त है,—यह एक अंतर्राष्ट्रीय समाजका सघटन है जिसे महान् राष्ट्रो और साम्राज्योकी सशस्त्र शक्तिकी सहायता प्राप्त है, अतएव, जिसकी व्यावहारिकता, समृद्धि एवं सफलता निश्चित है। इसका निर्माण हो गया है और यह युद्ध, सैनिकवाद, उत्पीड़न और शोषणको भूतकालका एक दुःस्वप्न वना देगी, पूँजीपति और श्रमजीवीको, शेर और वकरीको शान्ति-पूर्वक साथ-साथ रहनेके लिये प्रेरित करेगी, एकको दूसरेके पेटमे भली-भाँति हजम नही करेगी, जैसा कि दुष्ट वोल्शेविकवादका मत है। वस्तुतः यह शीघ्र ही, वल्कि आशासे भी अधिक शीघ्रतापूर्वक मानवजातिमे महान् भ्रातृभावको उत्पन्न करेगी। यह एक अच्छा समाचार है, यदि सत्य हो। फिर भी, इसके प्रति कृतज्ञ होनेसे पहले जरा रुककर इस नये शिशुवत् तत्वकी जाँच करते चले।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऐसे न्यायसगत, उदार, मैत्रीपूर्ण और सत्य राष्ट्र-संघका निर्माण इसलिये किया गया है कि वह पुराने और अन्यायपूर्ण शक्ति-संतुलनकी ओर लड़खड़ाते, झगड़ालू संघोका स्थान ले सके। और, यदि इसे ढीली-ढाली, निरर्थक और सरलतासे समाप्त हो जानेवाली उन वस्तुओसे अधिक सफल होना है जिन्हे वह उखाड़ फेकना चाहता है तो यह कहा जा सकता है कि इसे कुछ ऐसी शर्तोको पूरा करना होगा जिन्हे पूरा करनेका उन्होने कभी प्रयत्न ही नही किया। आरंभमें

ही निम्न अनिवार्य शर्तें निर्धारित करनी होगी। पहली, इस सघको किसी-न-किसी ढगसे पृथ्वीके सभी राष्ट्रोको अपनी परिधिमे लेना होगा और यह उसे ऐसे ढगसे करना होगा जो न्यायपूर्ण होनेके साथ-साथ अनुकूल भी हो, ताकि वे राष्ट्र स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक, किन्ही गभीर शकाओ, अविश्वास और असतोषके विना उसमे सहयोग दे सके। जातियोके इस नवीन समाजमे प्रत्येकको उसकी सतुष्टिके लिये न्यायपूर्ण और सार्थक और जनतत्रके इस युगमे यह भी कहना चाहिये कि सम्मानपूर्ण और वरावरीका स्थान देना होगा। यदि इस अन्यथा अस्थिर भौतिक सवधको वनाये रखना है तो उसे उनकी नैतिक स्वीकृति और सहायता प्राप्त करके उसे सुरक्षित रखना होगा,—केवल निर्माणके समय ही नही, भविष्यमे भी सदा वनाये रखनेके लिये। अपना आधार किसी स्वार्थपूर्ण विधिको या तात्कालिक अत्यधिक शक्तिसपन्न लोगोकी किसी निरंकुश इच्छाद्वारा स्थापित रूढ नियमावलिको नही, वल्कि न्याय और सत्यताके किसी ठोस, समझे जा सकनेवाले और सदा विकसनशील सिद्धान्तको वनाना चाहिये। कारण, केवल जहाँ ये वस्तुएँ रहती है, वही नैतिक आश्वासन और सुरक्षा रहते है। सघके सविधानको उन सभी कठिन, नाजुक और व्यग्रता पैदा करनेवाले प्रश्नोको हल करनेके लिये विश्वसनीय उपाय प्रस्तुत करने चाहिये जो आगे जाकर इस अतर्राष्ट्रीय समाजके आरभिक और सदिग्ध ढाँचेके लिये खतरा पैदा कर सकते है। और, इसके लिये उसे एक ऐसी स्थायी, केन्द्रीय और शक्तिशाली सत्ताका निर्माण करना चाहिये जिससे सभी राष्ट्र सरलतासे मान्यता दे सके तथा जिसे मानवजातिकी सामूहिक सत्ताके स्वाभाविक नायक और विश्वसनीय सक्रिय अभिव्यक्तिके रूपमे स्वीकार कर सके। कहा जा सकता है कि ये कोई वडी अस्पष्ट, काल्पनिक अथवा अत्यधिक आदर्शवादी माँगे नही है, वल्कि किसी भी प्रणालीकी व्यावहारिक आवश्यकताएँ है, एक ऐसी प्रणालीकी जिसका वर्तमान रूप अभीतक एक प्रकारके ढीले एकीकरणका ही है। यदि सघको किसी भी महान् उद्यमकी वडी-वडी कठिनाइयोके होते हुए भी जीवित रहना है तो उसे इन शर्तोको शुरूसे ही अधिकाधिक पूरा करना होगा। जैसे-जैसे यह कार्य आगे वढेगा इसे मनुष्यकी सत्तासे जातिगत सहज अहकारात्मक प्रेरणाओ और अतर्राष्ट्रीय मानसकी प्राचीन वद्धमूल आदर्शोको दूर करना होगा।

इस भीमकाय वालकका जन्म ऐसी अवस्थामे हुआ कि युद्ध उसका पिता और एक सशस्त्र और ऊपरसे थोपी हुई शान्ति उसकी माता है, धमकी और क्रूरतासे पूर्ण दवी घुटी क्रातियाँ, एक विकृत रुण्ड-मुण्ड-सा

अंतर्राष्ट्रीयतावादी आदर्शवाद और वहुतसे अर्धप्रतिवद्ध और अभी नयी-नयी लगामवाले, ऊपर उठते हुए राष्ट्रीय अहंभाव इसके साक्षी एवं धर्मके माता-पिता है। यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो कहा जा सकता है कि कुछ आशावादी तत्त्वके होते हुए भी यह कोई अधिक आश्वासन देता नही प्रतीत होता। उसके जन्मकी परिस्थितियाँ प्रतिकूल थी और विजयी राष्ट्रोंके शासको और राजनीतिज्ञोद्वारा किये गये आत्मविजयके लिये भारी प्रयत्नके बिना किसी भी पूर्ण परिणाम तथा शुभ और नवीन प्रारंभकी आशा नही की जा सकती। ऐसी आत्मविजयको युद्धमें विजयके वृहत् आकार और मादक पूर्णताने हजारगुना कठिन वना दिया है। यह सघ, जो इस समय रचनाकी प्रसव-पीडाकी अंतिम अवस्थामे है, ससारकी सभी जातियोकी एकताके लिये शान्तिपूर्ण, समान और सुसंयोजित संकल्पकी सहज सृष्टि नही है। जन्मके साथ-साथ इसे विरासतमे ये वस्तुएँ भी प्राप्त हुई है—विद्वेष, प्रतिशोध, शंकाएँ, हत्यारे विश्व-युद्धकी महत्वाकांक्षाएँ और वीच-बीचमे होनेवाली क्रातियाँ, जिन्होने एक विश्वव्यापी अशांति और विक्षुव्धताका एक नया और भयप्रद क्षेत्र हमारे सामने खोल दिया है। इसकी उत्पत्ति इस अस्पष्ट किन्तु सशक्त अभीप्सासे हुई है कि भविष्यमे मनुष्यजातिके अतर्राष्ट्रीय जीवनमे हिसात्मक आपत्तियोसे वचनेके लिये साधन ढूँढे जायँ,—यह अभीप्सा जितनी जनसाधारणमे थी उतनी राष्ट्रोके अधिकारीवर्ग या शासकोमे नही थी और जहाँ थी वहाँ भी सवमे समान रूपसे विद्यमान नही थी। एक प्रसिद्ध और आदर्शवादी राजनीतिज्ञके निश्चयने ही इसे इतनी शीघ्रतासे ठोस रूप प्रदान किया था, इसे उन लोगोंकी कुछ हेरफेरके साथ और कही-कही अनिच्छापूर्ण स्वीकृति प्राप्त थी जो उसके आदर्शवादमे या तो आंशिक रूपमें विश्वास रखते थे या उसे विलकुल ही न मानते थे। यह दृढ सकल्पवाला अकेला व्यक्ति था जिसे किन्ही परिस्थितियोके वश उच्च पद प्राप्त था, तथा जो उनसे लाभ उठानेके लिये भी नमनीय रूपमें कृतसंकल्प था, वह अपने आदर्शकी प्रतिच्छाया अथवा उसका कोई प्रथम अधूरा स्वरूप स्थूल घटनाक्रमपर और सरकारो एवं साम्राज्यवादी राष्ट्रोके यथार्थवादी अहंभावोपर आरोपित कर सका है—यह तो भविष्य ही वतायगा कि इसे एक छाया होना है या प्रथम अधूरा स्वरूप। किंतु वर्तमान वस्तुस्थितिमे जिस बृहद् और पूर्ण आदर्शसे उसने अपना कार्य आरभ किया था उसमे राष्ट्रीय भावावेगो, महत्वाकाक्षा और स्वार्थकी आवश्यकताओ और परि-स्थितियोकी शक्तिके दवावने इतना हस्तक्षेप किया है कि जीवनके तथ्योके प्रमुख निर्धारक समस्त आदर्शवादके होते हुए भी—ठोस रूपसे निर्मित

व्यवस्थामे किसी वस्तुपर उँगली रखना और विना किसी शका या संदेहके यह कहना कठिन है कि जिन उच्च सिद्धान्तोके नामपर यह महायुद्ध लड़ा और जीता गया है उनका यह मूर्तिमत रूप है। यह आश्चर्यजनक वात नही है, न इससे निराशा ही होनी चाहिये, उनकी और वात है जो अनुभवसे अधिक अपनी आशाओंपर विश्वास रखते थे। हमे अव केवल यह देखना है कि क्या जातियोके इस नये सयोजनकी भावी सुरक्षा और उन्नतिके लिये वे उच्च मौलिक सिद्धान्त सचमुच आवश्यक हैं और यदि हैं तो ये किस हदतक उन रूपोसे उभर सकते है जिन्होने, ऐसा प्रतीत होता है, इन्हे कोई ठोस रूप प्रदान करनेके स्थानपर अपने अन्दर ही दफन कर दिया है। और यह इसपर निर्भर है कि पूर्वप्रस्तावित शर्ते किस हदतक पूरी की जायँगी या सघके प्रारभिक संविधानमेसे विकास पा सकेगी।

एक सफल राष्ट्रसघको मनुष्यजातिके सभी वर्तमान राष्ट्रोको अपने अन्दर समाविष्ट कर लेना चाहिये। कारण, कोई महत्त्वपूर्ण लुप्ति या बहिष्करण प्राय: अनिवार्य रूपसे भविष्यके किसी संकटके तत्वको ले आयेगा, यह सकट किसी भी सभव मतभेद या संघर्षसे, विरोधी दलवदी और ईर्ष्यादिसे उत्पन्न हो सकता है जिसके फलस्वरूप कोई अन्य, अधिक वडी विपत्ति आ सकती है। अपने प्रकट स्वरूपमे यह नया राष्ट्रसघ किसी भी प्रकारसे उदार या सहिष्णु नही प्रतीत होता। प्रत्यक्षत· यह वर्तमान मित्रो और सहायकोके एक सघके सिवाय और कुछ नही है। पहली पक्तिमे पाच आश्वस्त और अधिकारपूर्ण वडे साम्राज्य अथवा राष्ट्र खड़े है,—यही वे अकेली वडी शक्तियाँ है जो अघड़के वाद टिकी रही है और जिनका वल क्षीण नही हुआ है, वल्कि इनमेसे दोकी शक्ति, प्रभाव और प्रभुतामे वहुत अधिक वृद्धि हुई है; इनके पीछे छोटी-छोटी अनेक यूरोपीय और अमरीकी जातियोकी धुँधली और निष्फलसी भीड़ है, ये लोग उनके मित्र थे या युद्धमे उनकी ओरसे लड़ रहे थे, और इनके साथ एक दुर्वल और अव्यवस्थित पूर्वीय मगरमच्छ है। किंतु ये सव या तो उसमे एक उदासीन स्वीकृतिके साथ भाग लेते प्रतीत होते हैं या उनके अधीन होनेके कारण उन्हे सहयोग देते हैं,—वस्तुत: पहली चीज वहुत अधिक थी और पिछली वहुत कम,—फिर चाहे सघके स्वरूपके निर्धारणका कार्य हो या उसके नियत्रण और शासनका। और सघका तात्कालिक एव प्रत्यक्ष उद्देश्य एक भली-भाँति सोची-समझी एकताकी प्रारंभिक अवस्थाओमे ससारको परस्पर गूँथ देना नही है—ऐसा केवल तभी किया जा सकता यदि सभी जातियाँ इस विचार-विमर्शमे वरावरीसे भाग ले सकती, जव कि वस्तुत: वात यह थी कि इस

सारी चीजका निर्माण ही युद्धके विजेताओने अर्धगुप्त रूपमे मुख्यत. पाँच प्रमुख शक्तियोंकी इच्छानुसार शीघ्रतासे कर दिया है। इसका उद्देश्य यह है कि सत्ता, सहमति, विचार-विमर्श और मध्यस्थताके द्वारा संघके सदस्योके हितो एव उनके परस्पर-सवधोको नियमित किया जाय, साथ ही सघके बाहर भी अन्य राज्योके साथ उनके सबधोंको यथासभव इन्ही उपायोसे सुव्यवस्थित किया जाय। केवल इतनी ही बात है, आरभमे वह इससे अधिक और कुछ नही है। किन्तु उन राष्ट्रोके लिये जो अभी इससे बाहर है एक विशेष समयपर इसके अन्दर प्रवेश करनेका द्वार खुला छोड दिया गया है, किन्तु वे प्रवेश तभी पा सकते है जब वे बिना किसी ननुनचके इस प्रणालीको स्वीकार करे जिसके अधीन उन्हे रहना होगा और जिसके निर्माणमे उनका कोई हाथ नही है। दूसरी ओर एक निर्गमनका भी मार्ग रखा गया है जिसमेसे होकर कोई भी राष्ट्र इच्छानुसार बाहर निकल सकेगा; और यदि महत्तर शक्तियोमे फूट पड गयी तो यह भयकर परन्तु वर्तमान परिस्थितियोमे शायद अपरिहार्य व्यवस्था सरलतासे आशिक एकताके इस द्विविधापूर्ण प्रथम ढाँचेके सहज विघटनका कारण बन सकती है।

किन्तु शायद परिस्थितिके तथ्य और उसकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष कागजी योजनाओकी अपेक्षा अधिक अनुकूल है। जो राष्ट्र अभी इसमे समाविष्ट नही हुए है—दो बडे और सकटमय अपवादोको छोड़कर—वे छोटे और नगण्य है और बाहर रहकर उनकी स्थिति इतनी अधिक असुविधाजनक हो जायगी और वे प्रत्येक मोड़पर इस विकट गुटकी दयापर इतना अधिक निर्भर करेगे—क्योकि, यदि ये पाँच प्रबल शक्तियाँ दृढ निश्चय और एक-सूत्र होकर रहे तो वे बडी सरलतासे अपने साथ मतभेद रखनेवालोपर अपनी इच्छा प्रबल रूपमे लाद सकेगी—कि उन्हे न्यूनाधिक सहज रूपमे ही उसकी शर्तोको स्वीकार करना पड़ सकता है, या उनसे यह अपेक्षा भी की जा सकती है कि वे इससे बाहर रहनेके अपने कुछ वर्षोके अनुभवके बाद इसमे शामिल हो जायेगे। इन बड़ी शक्तियोके कम-से-कम कुछ वर्षोतक बिखरकर अलग हो जानेका भी कोई कारण नही दीखता। और, यदि नयी क्रातियाँ ससारको अपनी चपेटमे न ले ले तो ऐसा समय आ सकता है कि इनकी मिलकर काम करनेकी आदत पक्की हो जाय। हम यह भी मान सकते है कि यद्यपि उल्लेखनीय रूपसे नही फिर भी वास्तवमे इसमे एक परिषद्के अथवा ससारकी जातियोके एक अधूरे सघके आरंभिक तत्व विद्यमान है।

किन्तु इस समितिकी रचनाका तथा उन स्थितियोका, जिनमे विविध परिस्थितियोके वश राष्ट्र इसमे स्वीकार किये गये या लाये गये, स्वरूप

और भी अधिक विस्मयकारी है। ये आजके मानव-मनके लोकतन्त्रीय आदर्शवादसे विलकुल मेल नही खाते, उलटे ये मध्यकालीन अनियमित एवं जटिल, ढाँचेका एक असंबद्ध रचनाका तथा सामंतशाही राजनीतिक कृतिका कुछ-कुछ आभास देते है जिसकी निचली मजिलमे स्वाधीनता और समानताके आधुनिक सिद्धान्तोको भी औपचारिक प्रकारकी सुविधा मिल जाती है। मनुष्यजातिका एकीकरण वहुत कुछ उन्ही दिशाओमे हो सकता है जिनपर छोटी-छोटी जातियोका एकीकरण राष्ट्रो अथवा साम्राज्योके रूपमे हुआ था। यह सैनिक शक्ति या किसी ऐसी शक्तिशाली राज्यके प्रभावसे भी हुआ होगा जो जल और थल दोनोपर शक्तिशाली रहा हो—जैसे नास्ट्राडमसने अपनी भविष्यवाणीमे ब्रिटिश साम्राज्यके वारेमे कहा था—जो निरकुश और स्वेच्छाचारी भले न हो किंतु जिन्हे सरलतासे समान जातियोमे पहला नवर मिल सकता है। और मेरे विचारमे यही वात जर्मनीके साथ भी होती यदि उसे युद्धमे विलकुल ही नीचे, खडित अवस्थाको प्राप्त होनेकी जगह विजयश्री प्राप्त हो जाती। और यह भी अभी बिलकुल निश्चित नही है कि यदि योजनाका पहला प्रच्छन्न अथवा अनगढ़ ढाँचा असफल हो गया तो कोई ऐसी ही वात अन्तमे नही आ जायगी। किन्तु अभी तो यह सयोग रोक दिया गया या कम-से-कम स्थगित हो गया है। इस सभावनाके टल जानेपर भी यह एकीकरण महान् शक्तियोके समूहके नेताओ और प्रभुओके एक विशिष्ट-जन-तत्र या नेतृत्वका रूप धारण कर सकता है जब कि इन शक्तिशाली सरदारोके आसपास या पीछे-पीछे निर्बल वर्ग लटकते रहेगे जो उनके प्रदेश एव शक्तिशाली निर्णयको कभी भयातुर और त्रस्त भावसे और कभी विद्रोही और प्रतिकूल भावसे मानेगे। इस सघके निर्माणमे वहुत हदतक इसी प्रकारकी कोई वस्तु रही है और यही बात सभवत. इसकी कार्यपद्धतिमे भी रहेगी। किन्तु वहाँ एक व्यर्थकी वर्तमान आशा थी या यह स्वप्न था और एक प्रवल भवितव्यता थी, चाहे यह वहुत आगेकी ही संभावना क्यो न हो, कि जातियोका एक समानताके भाव तथा न्यायसे युक्त ऐसा लोकतन्त्रीय सघ होगा जिसमे छोटे-वडे, सवल-दुर्बल, अधिक या कम धनी, या इस समय सफल दिखनेवाले या वहुत या थोडे समयके लिये दुर्भाग्य-ग्रस्त उन राष्ट्रोको,—जिनमे अब भी अधिक क्षमता हो सकती है, जिन्होने मनुष्यजातिके लिये स्वार्थी राष्ट्रोसे अधिक अच्छा कार्य किया है,—कानूनमे या वास्तविक रूपमे ही समान स्थान मिलेगा, जैसा कि सभी लोकतन्त्रीय सघटनोका नियम या आदर्श होता है। वहाँ विशिष्टता देनेके लिये महत्तर वल और वाणीके आधारपर स्वतन्त्रतापूर्वक प्रदत्त मात्र स्वाभाविक नेतृत्व

अपनी इच्छाके बलपर ससारपर नियंत्रण कर रही है जब कि बाकी दोका हस्तक्षेप कम शक्तिशाली गौण शक्तियोके रूपमे ही था, किन्तु वे भी शक्तियोके भावी संतुलनमे कुछ वास्तविक अधिकार एवं ठोस प्रभाव रख सकती हैं। इस शासक संघटनकी रचनामे यह तथ्य दुहराया गया है। समृद्ध और सामर्थ्ययुक्त होनेके कारण ये पाँच शक्तियाँ इसमे अपना स्थायी प्रभाव रखेगी, तीन बड़ी शक्तियाँ प्रधान सुरोको साधेगी और संघटनकी सामान्य समस्वताको बनाये रखेगी और बाकी दो, जितना और जब-जब उनके लिये सभव होगा, गौण स्वरो और अनावश्यक परिवर्तनोकी साज-सभार करेगी। कुछ ऐसे छोटे और दुर्बल राष्ट्रोकी भी एक बडी संख्या है जिनके पास कुछ गौण भौतिक सामग्री है, ये बड़े युद्धमें प्रमुख भाग लेनेमे असमर्थ हैं पर अतिरिक्त सहायक शक्तियोके रूपमे उपयोगी सिद्ध हो सकते है। ये वे स्वतत्र और मित्र जातियाँ हैं जो प्रारंभसे साधिकार वहाँ मौजूद है, कुछ तटस्थ राष्ट्र है जिन्हे शातिके एक सुनियोजित संगठनमे भाग लेनेके लिये निमंत्रित किया गया था, यद्यपि युद्धके निर्णयमे उन्होने कोई महत्वपूर्ण भाग नही लिया, कुछ पुराने और नये शत्रु-राष्ट्र भी है जिन्हे न्यूनाधिक रूपमे कुचलने और असमर्थ बना देनेवाली शर्तोको पूरा करनेपर इस संघटनमे प्रवेश मिल सकता है। ये सब इस सामान्य सभाका निर्माण करेंगे : इनमेसे कुछकी समय-समयपर इस शासक सगठनमे अनिश्चित वाणी सुनायी देगी; बाकीके सब सामान्य साधारण जन होगे, एक सामान्य निकाय, जिनके पास कुछ सीमित वास्तविक शक्ति और कार्यकारिणी शक्तिके पीछे रहनेवाली एक प्रकारकी नैतिक शक्ति होगी। श्रमिक वर्गको भी युद्धद्वारा महत्ता मिली है, यद्यपि है यह एक असंबद्ध अंतर्राष्ट्रीय शक्तिके रूपमे ही। यह संघ जो स्पष्ट ही समयको देखते हुए बुद्धिमान बनना एवं इस विराट् नये तथ्यके साथ अच्छा संबंध स्थापित करना चाहता है, इसे एक विशेष अलग सम्मेलनमे मान्यता प्रदान करता है।

किन्तु कुछ नयी एशियाई जातियाँ भी है जो अभी इस संघमें नहीं सम्मिलित की जा सकती, क्योकि वे अभी शैशवावस्थामे हैं और अपरिपक्व हैं। फिर वे अधीन और रक्षित राष्ट्र है जिनके लिये न तो युद्ध लड़ा गया था और न वे एक समयकी प्रत्याशित सामान्य स्वाधीनतामे हिस्सा बँटा सकते है। उन्हे अपने शासकों और रक्षकोके उच्च और नि.स्वार्थी उदारतावादमे ही विश्वास करना होगा। कुछ अफरीकी जातियाँ भी है जो अभी मानवजातिके अनगढ़, कच्चे मालके रूपमे ही अपना अस्तित्व रखती है। इन्हे या तो पुराने नियंत्रणमे ही छोड़ देना चाहिये या फिर

इन्हे एक नये नियंत्रणमे रखना होगा। इन्हे किसी एक शासक शक्तिके पितृतुल्य हाथोमे भी सौपा जा सकता है जो नयी वितरण-व्यवस्थाकी वैधानिक पद्धतिको मानेगे, वे स्वामी या विजेता नही होगे—कारण, इस न्यायपूर्ण और चमत्कारिक शान्ति-व्यवस्थामे दूसरोके राज्य विजेताके राज्यमें मिलाये नही जायँगे, वहाँ केवल नियत्रण और राज्यसबधी शुद्ध व्यवस्था होगी—किन्तु ये केवल आदेशक और न्यासी ही होगे, इन कम सौभाग्यशाली जातियोके लिये सघका आज्ञापत्र इनकी रक्षाका साधन होगा। कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि अब हम एक बिलकुल ही नये नीतिसम्मत जगत्मे निवास करेगे जिसमे मानवजातिकी सामान्य विवेकबुद्धि पूरी तरह जाग्रत् एव प्रभावकारी होगी और यह संघ उसका प्रतिनिधित्व करनेके लिये विद्यमान है। उसके प्रतिनिधिके रूपमे वह न्यासियोसे उनके न्यासका सामयिक विवरण माँगता रहेगा,—चूँकि ये सघकी बृहद् शक्तियाँ हैं, अतः वे स्वयं भी उसी सार्वजनिक विवेकबुद्धिकी प्रादेश-प्राप्त सत्ता, नेता एवं सहायक होगी। इस अत्यंत अद्भुत सगठनमे सभी शक्तियोका उचित अनुपातमें प्रतिनिधित्व होगा।

एक आदर्शवादीको इस आदर्शहीन, विद्यमान तथ्यके स्थायी और दृढ होनेके बारेमे काफी आपत्ति हो सकती है जिसपर कि यह संघ-प्रणाली आधारित है। किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि यह प्रणाली अपने पक्षमे बहुत कुछ कह सकती है तथा व्यावहारिक शक्यताके दृष्टिकोणसे अति आवश्यक विचारोको प्रेरित भी कर सकती है। इसकी सफलताकी एक अनिवार्य शर्त एक ऐसी ठोस केन्द्रीय सत्ता है जिसमे बल और स्थायित्व है, जो अपने निर्णयोको लागू कर सकती है। इसे एक ऐसा सगठन होना चाहिये जिसे सभी राष्ट्र मानवजातिकी सामूहिक सत्ताके स्वाभाविक अध्यक्ष और सच्ची सक्रिय अभिव्यक्तिके रूपमें स्वीकार कर सके। कहा जा सकता है कि इस समय जो कुछ संभव है, उसके अनुसार यही एक ऐसी सत्ता है। मनुष्यजातिका अन्तर्राष्ट्रीय सघटन अभीतक एक आकाररहित पदार्थ है, उसकी सघटक जातियाँ मिलकर काम करनेकी अभ्यस्त नही हैं, विकास, सगठित शक्ति, अनुभव और सभ्यताके भिन्न-भिन्न स्तरोपर होनेके कारण उनमे विषमता है—अब एक स्वतत्र विश्व-महासभा, एक विश्व-ससद्, मनुष्यजातिके एक समान सघका प्रश्न ही नही उठता; स्वतत्र और सभ्य जातियोका एक समान सघ भी एक असगत एव निरर्थक प्रकारका निकाय ही होगा जो फलप्रद सामूहिक कार्य करनेमे असमर्थ होगा। यदि शक्तिशाली, प्रभावशाली और सत्तावान् राष्ट्र नही तो और कौन निर्णयोको लागू

करेगा और सामान्य जनकी आवश्यकताओं और इच्छाओंको व्यावहारिक रूपमें पूरा करेगा? आवश्यकता पड़नेपर बड़े राष्ट्रों और साम्राज्योंके सबल बाहु ही मिलकर कार्य करेंगे, किन्तु साथ ही उन्हें सामान्य हितों एवं जनताकी आवाजका भी उचित सम्मान करना होगा। जिन निर्णयोंको उन्हें लागू करना है उन्हे तौल-तौलकर और कौन निर्धारित करेगा और कौन उन्हें एक स्थायी सिद्धान्त और स्थिर क्रियात्मक नीति प्रदान करेगा? छोटे अमरीकी लोकतंत्रीय राज्यों और साधारण गौण यूरोपीय शक्तियोंका कोई भी गुट संयुक्त राज्य, फ्रास और ब्रिटिश साम्राज्यको विश्व-नीतिके विषयमें आदेश नही दे सकता, न ही उसे बहुसंख्यक जातियोंके अंधे नियमके द्वारा इन वृहदाकार हितोंके साथ खेलनेकी अनुमति मिल सकती है। किन्तु राष्ट्र-संघमें इस सामूहिक संगठनके विविध अंग इस प्रकार कोटिबद्ध एवं परस्पर-संबंधित हैं कि वे उसकी वर्तमान अवस्थाओंमें बड़े यथार्थ रूपमें उसकी सच्ची और सक्रिय अभिव्यक्ति करते हैं। जिस किसी विकासकी आवश्यकता है वह एक सामान्य नियंत्रण एवं संधियो और सबंधोकी सामयिक पुनरावृत्तिके द्वारा साधित हो सकता है। संक्षेपमें, संसारकी समस्त अंतर्राष्ट्रीय अवस्था बड़ी अस्तव्यस्त हो गयी है, इसमें व्यवस्था लानी होगी, इसे कोई आकार देना होगा, और यह एक ऐसा कार्य है जो एक काव्यपूर्ण आदर्शवाद या उन सिद्धान्तोंकी एक अमूर्त पूर्णताके द्वारा नही किया जा सकता जिनका वस्तुओंकी वास्तविकताके साथ कोई संबंध न हो और, यदि इन्हें समयसे पहले प्रयुक्त किया गया तो और अधिक बुरी अव्यवस्था पैदा हो सकती है। यह कार्य केवल एक ऐसी सबल, समर्थ और संगठित शक्तिके द्वारा संपन्न किया जा सकता है जो वस्तुओंको उनके वर्तमान रूपमें ही स्वीकार करे, इस अव्यवस्थापर विधि और व्यवस्थाकी एक नयी प्रणालीको लागू करे, एक सुदृढ प्रारंभिक ढाँचेको लागू करे, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यो न हो, और क्रियात्मक संभावनाओंपर चौकस दृष्टि लगाये हुए उसके विकासपर नजर रखे। इसी सुरक्षित एवं सुदृढ आधारपर एक धीमी पर सुनिश्चित और विवेचित प्रगति की जा सकती है, यह भविष्यके एक श्रेष्ठतर विधान और आदर्श व्यवस्थाकी ओर प्रगति होगी। इस प्रश्नका एक और भी पक्ष है, किन्तु हम अभीके लिये उसे छोड़कर इन्ही विचारोंको पूरा महत्व और बल देते हैं।

किन्तु तब यह बात और भी अनिवार्य हो जाती है कि जिस विकासको साधित करना है उसके सिद्धान्तोको आरंभसे ही राष्ट्रसंघके कानून और विधानमें स्वीकार किया जाय, अथवा कम-से-कम इस भाँति निर्दिष्ट कर

दिया जाय और उसकी प्रणालीपर इस तरह अंकित कर दिया जाय कि उसका कार्य इन्ही दिशाओमें तथा उन्ही सिद्धान्तोकी पूर्तिके लिये हो, न कि अन्य अर्थात् निम्नतर, प्रतिक्रियात्मक या विघ्नकारी प्रयोजनोके लिये। अठारहवी शताव्दीमे 'उद्घोषित' लोकतत्रीय सविधानके सामान्य सिद्धान्तोकी घोषणा और उनके मूर्तिमत स्वरूप और सुरक्षण कल्पनावादियोके निष्फल सूत्र नही थे,—महाधिकार पत्र (मैगना कार्टा) जैसे प्रारभिक प्रलेखोमें सविधानिक सिद्धान्तोकी पुष्टिसे अधिक नही,—वल्कि इन्होने एक ऐसा आधार स्थापित किया था जिसपर सरकारको और प्रगतिको विश्वकी नवजात व्यवस्थामें आगे बढ़ना है। ये सिद्धान्त लोकतत्रकी सुनिश्चित प्रगतिके लिये एक मार्गसूचक सकेत और साथ-ही-साथ एक फलप्रद नैतिक आश्वासन भी था। हम संघके सविधानमें ऐसे महान् पथदर्शक सिद्धान्तोको व्यर्थ ही खोजते है। युद्धकी सभावनाओको कम करना, एक नये छोटेसे राष्ट्रकी उत्पत्ति और जिनका पहलेसे अस्तित्व है उन्हे सुरक्षा प्रदान करना—इन्हे यह नाम नही दिया जा सकता। यहाँ, इस नयी व्यवस्थामे जातियोके अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों और कर्तव्योके किसी प्रपत्रका कोई सकेत नही मिलता, जो एक ही साथ स्वाधीनता और एकताका आश्वासन दे। आत्म-निर्णयका सिद्धान्त जिसपर युद्धके अतिम चरण लडे गये थे अव क्रूरतापूर्वक उड़ा दिया गया है, उसे एक वड़ी तोदवाली कूटनीतिक कार्यप्रणालीके जवडेने निगल लिया है,—हो सकता है कि यह ह्वेल मछलीके पेटमे पडे पैगम्वरके समान कुछ समयके लिये ही हो, किन्तु इस समय तो यह प्राय: लुप्त ही हो गया है। हम इसकी एक वहुत ही नन्ही छाया शैल्सविग हौल्सटाइन-विषयक व्यवस्था जैसे छोटे-छोटे कार्योमे देखते है। किन्तु शेष सबके लिये दुनियाका नक्शा पुराने परिचित ढगसे वहुत कुछ वदल चुका है, इसमे राष्ट्रीयता अथवा अभिरुचिको कोई स्थायी महत्व नही दिया गया है, वल्कि महत्व सशस्त्र विजेता राष्ट्रोकी सहमति और आदेशको दिया गया है। युद्धके समयकी एक प्रसिद्ध घोपणाने न्यास सिद्धान्तकी निन्दा की थी, यह एक ऐसा लवादा था जो दमन और शोषणकी कठोर वास्तविकताको वडी सुन्दरतासे ढक सकता है,—आधुनिक मनुष्यकी सकोच-शील नैतिक भावनाके समक्ष अनावृत रूपमे प्रस्तुत किये जानेके लिये वस्तुएँ अपने असली रूपमे वहुत अधिक स्थूल और घटिया है। किन्तु इस युद्धोत्तर प्रणालीमे न्यास-सिद्धान्त,—ऐसे सगठनद्वारा जिसका कार्य और विमर्श न्यासियोद्वारा नियन्त्रित होते है,—गौरवपूर्ण और पवित्र मान लिया गया है, जाँच करनेपर उसमे एक प्रादेशकी चमक अवश्य मिलती

है, अधीन राष्ट्रोको भी संसारमे अपना अस्तित्व रखना है; कारण, प्रादेशकी प्रणाली केवल वही लागू हो सकती है जहाँ पहली अधीनता समाप्त हो चुकी है, इसे उन एशियाई और अफ्रीकी जातियोपर लागू करना है जो उन साम्राज्योंके कोडोंके अधीन अव पराजित हो चुके है। वाकी जातियोको जिनके स्वामी अधिक मृदु स्वभावके थे अर्थात् आयर्लैण्ड और कोरियाकी अधीन जातियोंको सुरक्षाके ऐसे साधनोकी कोई आवश्यकता नही है।

हो सकता है कि स्वाधीनताके एक अति-आदर्शवादी सिद्धान्तको अस्वीकार करना अनिवार्य था। कारण, हमे अव वताया जाता है कि अर्धराविसे दोपहरतक पहुँचनेके लिय हमे अत्यधिक शीघ्रता नही करनी चाहिये; समय और ऋतुओके नियमोंका पालन होना ही चाहिये, हलके अधकारके वाद ही पौ फटती है और फिर उसके वाद उपाकाल और तव आनन्द और विश्वाससे परिपूर्ण प्रातःकाल; इससे पहले कि हम एक विश्व-व्याप्त स्वाधीनता और न्यायके सुनहरे दोपहरमे निवास कर सके हमे इन सवमेंसे गुजरना ही होगा। किन्तु इस वीच वह कौन-सा पथप्रदर्शक सिद्धान्त होगा, विधि और अधिकारका वह कौन-सा मूर्त विचार होगा, कृतित्वका वह कौन-सा निष्पक्ष और समान संतुलन होगा जिसे नयी व्यवस्थाका सुदृढ आधार वनना है? हमारे सामने कुछ भी नहीं है, है केवल एक ऐसी मशीनरी जो युद्धकी संभावनाओंको अनिवार्य मध्यस्थता, सशस्त्र सेनाकी धमकी अथवा उसके वास्तविक प्रयोग और आर्थिक दवावके द्वारा कम तो करेगी, पर दूर नही; इस मशीनरीका कार्य होगा संधियोका संशोधन, उपनिवेशों, अधीन क्षेत्रों, मंडियों, सीमांत प्रदेशों, वंदरगाहों, प्रादेशोंपर अधिकार जमाना, पूंजीपतियो और श्रमिकोंके परस्पर-विरोधी दावोंपर अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर विचार-विमर्श करना। उनके पारस्परिक झगडोंको सुलझाने और तत्काल क्रियात्मक संवंधोंको स्थापित करनेकी भी एक प्रणाली है, एक नयी यथापूर्व स्थितिकी पुष्टि और प्राप्तिका प्रयत्न है, यह व्यवस्था छोटे-मोटे परिचालनों और परिवर्तनोके लिये है; किन्तु वास्तविक रूपमें एक नयी और श्रेष्ठतर विश्व-व्यवस्थाके लिये कोई विशेप आधार नही है। हो सकता है कि इसकी तैयारी ही संस्थापकोंका अभिप्राय रहा हो, किन्तु उनके अभिप्रायकी पूर्ति वहुत कुछ भविष्यकी अनिश्चित संभावनाओपर निर्भर है। संस्थापकके आदर्शवादकी विजय केवल इसी हदतक हुई है कि राष्ट्रोंके संघका एक सीमित स्वरूप प्राप्त और स्वीकृत हो गया है और उसे एक आकार भी दे दिया गया है। किन्तु वाकी

सभी बिन्दुओपर आदर्शवादी नीचे चला गया है और इस सपूर्ण नये आधुनिक यत्नपर राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञकी मुहर लग गयी है,—एक विशुद्ध व्यावहारिक, अदूरदर्शी और कामचलाऊ उपायोवाले मनुष्यकी मुहर। यह एक ऐसा छिद्रयुक्त और डगमगाता असंतुलित जहाज है जिसे तूफानी क्षुब्ध सागरमे किसी सारिणी, दिक्सूचक या यात्राके निर्देशके विना छोड दिया गया है।

पर कई वार ऐसे ही त्रुटिपूर्ण और अशोभन साधन बडी-बड़ी रचनाओंके आधार रहे है, और यदि इस संघको जीवित रखा जा सका तो ऐसा सयोग हो सकता है कि इसमे उन सिद्धान्तों और आदर्शोको भरा जा सके जिनको चरितार्थ करनेके लिये मानवजातिका डॉवाडोल, अस्थिर हृदय और शिथिल जटिलताओसे चकरायी हुई विवेक बुद्धि लालायित एव व्याकुल होने लगे है। किन्तु एक आलोचककी दृष्टिमे, ऐसा प्रतीत होता है कि इस नये समझौतेके अन्दर अपनी भावी परिवर्तनशीलता और शायद विघटनके अशुभसूचक वीज विद्यमान है। कारण, सवसे पहले तो इस संघका जन्म एक ऐसी अवस्थामे हो रहा है कि जो राष्ट्र इसे वनाये रखना चाहते है उनमे भी इसके लिये वहुत ही सीमित प्रकारका क्षीण उत्साह है। अमरीकाका राष्ट्रपति अपन इस शिशु-सघके सुन्दर आकार-प्रकारसे अवश्य संतुष्ट है, पर स्वय अमरीका उनके साथ कोई बहुत अधिक सहमत नही प्रतीत होता; श्रमिक और समाजवादी इसकी आलोचना करते है, वे असतुष्ट, शंकाशील एवं क्षुब्ध है, उनका उफान सक्षिप्त और अनिश्चित, पर व्यापक और धमकीभरी हडतालो, बडी-वडी माँगों और असन्तोषके रूपमे प्रकट हो रहा है। यह अनुकूल लक्षण नही है। ससारको अपने विचार और ढगके अनुसार गढते समय सघके सामने जो कठिनाइयाँ आयेगी उनपर विजय पानेके लिये उसे अधिक-से-अधिक सहायता और हार्दिक सहमतिकी आवश्यकता है, और यह कार्य तव भी समाप्त नही हो जायगा, वल्कि जव शाति सुनिश्चित हो जायगी तभी यह कार्य आरभ होगा। इसमे भी सदेह है कि उसे जिन चीजोकी आवश्यकता है वे उसे वहुत अधिक अनिच्छा और मनोमालिन्यके विना मिल सकेगीं। ससारकी जिन जातियोके हितोकी उसे व्यवस्था करनी है उनकी सामान्य प्रवृत्ति इस समय यही है कि वे उसे कोई उत्साहजनक सहायताकी जगह एक प्रकारकी अस्पष्ट-सी सहमति देगी और वह भी इसलिये कि उनके सामने इससे अच्छी किसी और वस्तुके मिलनेकी कोई संभावना नही है।

तो भी हम यह मान लेते है कि यह प्रणाली स्वीकार कर ली गयी

और अपने रास्तेपर चल पडी है,—किन्तु अव उसे भविष्यमें किन वास्तविक तथ्योका सामना करना पडेगा? युद्धमें पराजित राष्ट्रोके लिये यह प्रणाली एक लवे समयतक उनकी पराजय, हीनता एवं पतनकी प्रतीक रहेगी। उनके लिये यह एक जेलर और हाथमे चावुक लिये हुए काम कराने और पैसे वसूल करनेवाला दण्डदाता होगी। यदि एक उदार और समभावपूर्ण शाति स्थापित की जाती तो इसे यह सब होनेकी आवश्यकता नही होती। या अधिक अच्छा तो यह होता कि ऐसे सभी प्रश्नोंको एक ओर रखते हुए एक ऐसी शान्तिको लाया जाता जिसका आधार एक विजेता शक्तिकी इच्छा न होकर—चाहे यह शक्ति पराजित राष्ट्रोकी शक्तिसे अधिक अच्छी क्यो न हो—स्पष्ट और स्वीकार करने योग्य सिद्धान्त होता, अधिक-से-अधिक आत्मनिर्णयका सिद्धान्त, ससारकी सभी जातियोंके लिये समान अवसर और समान पदकी प्राप्तिका सिद्धान्त। तव यह सचमुच सच्ची शान्ति होती जिसमे न किसीकी जीत होती न हार, हार होती केवल वल और मिथ्यात्वकी और जीत समदृष्टि और औचित्यकी। किन्तु अगुआ राष्ट्रोंने एक ऐसी कूटनीतिक शाति लादनेका निश्चय किया है जिसे लादने-वाला सघ स्वयं फौजदारीका अफसर मालूम होता है। कहा जाता है कि वे पराजित राष्ट्र, जिनमें अधिकतर अव लोकतंत्रीय राज्य है और जिनमे अव वह पुरानी उग्र सैनिक प्रवृत्ति नही रही जो युद्धका कारण थी, अपराधी और शान्तिको भग करनेवाले थे; इसके लिये जो दण्ड उन्हे दिया गया है वह उनके अपराधोको देखते हुए वहुत हल्का है। शाव्दिक अर्थोमे यह वात ठीक हो सकती है, यदि एक तटस्थ, न्यायाधीश नही, दो दलोमेंसे एक दल किसी झगडेमे पराजित शत्रुपर फौजदारी न्याय करे—चाहे वह ठीक हो या गलत—तो मानव-तर्कवुद्धि इसपर संदेह कर सकती है, भले विशुद्ध न्याय या न्यायसे कुछ कम ही क्यो न किया गया हो। अपने अच्छे-से-अच्छे रूपमे भी तथाकथित न्याय एक न्यायसंगत प्रतिशोध मात्र होता है। किन्तु इससे इस तथ्यमे कुछ परिवर्तन नही होता कि कुछ लोकतंत्रीय राज्य, उत्साही और वौद्धिक जातियाँ, जो एक नये जीवनके प्रति सचेतन है,—उस जीवनके प्रति जिसे भावी व्यवस्थाके प्रति आशा और सद्भावनापूर्ण होना चाहिये—वही इस संघमे विद्रोह और अव्यवस्थाके स्रोतके रूपमे अनिवार्य रूपसे उपस्थित होगे। वे ऐसे किसी भी परिवर्तनका स्वागत करेगी जो उनके भारको हल्का करे, विद्वेप और मनोमालिन्यको शान्त करे तथा रिसते घावोको भरे। इन्हे दवाया जा सकता है, दुर्वल और पंगु वनाकर भी रखा जा सकता है, यद्यपि इनमेसे एक राष्ट्र परिश्रमी,

कुशल और संगठित जर्मन राज्य है, किन्तु इसका अर्थ होगा स्वयं नयी व्यवस्थामे ही एक प्रकारकी दुर्बलता और असंतुलन, और यदि ये अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर ले तो वह उनकी हीन अवस्थाको तथा उनके पुराने शत्रुओकी स्थायी विजय और महानताको मौन स्वीकृति देनेके लिये नही होगी। समान लोकतंत्रोकी वैध प्रणालीमे ही ईर्ष्या और शत्रुतापूर्ण भावनाओं और वार-वार होनेवाले इन संघर्षोका सच्चा अत हो सकता है। अन्यथा युद्ध फिरसे आरंभ हो जायगा अथवा किसी अन्य रूपमे पुराना युद्ध चलता रहेगा। एक स्थिर और शातिपूर्ण विश्व-प्रणालीके लिये असमान संतुलन कभी सुरक्षाका साधन नही हो सकता।

यदि इस नयी उद्‌घाटित प्रणालीका यही एकमात्र संकट होता तो भी काम चल जाता। किन्तु यह 'संघ' उस नयी यथापूर्व स्थितिका भी स्थायी प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है जो उस शान्तिसे प्राप्त होती है जिसे इसका आधार वनाया जा रहा है। ऐसा लगता है कि ये वडी शक्तियां अपने अधिराज्यो और सम्पत्तिको किसी भावी जोखिम और ह्राससे सुरक्षित रखनेके लिये समझौता कर चुकी है। इस व्यवस्थामे दो तत्व हैं, एक तो शक्तिका संतुलन जिसके साथ असमान संतुलनके सभी संकट मौजूद हैं, दूसरे, कुछ उन प्रभावोको जो इस समय अत्यधिक प्रबल है, और साथ ही सुस्थापित महान् शक्तियोको, सदाके लिये स्थायी वना देनेका प्रयत्न। यह प्रयत्न इतिहासकी समस्त शिक्षा एव प्रकृतिकी समस्त चिरस्थायी गति-विधिके प्रतिकूल है। जो सघ इस व्यवस्थाको मानता है वह एक वडी सतर्कताके साथ सुरक्षित आशका और एक अस्थिर संतुलनको सुरक्षा देना भी स्वीकार करता है। यह निश्चित नही है कि स्वयं निर्माणकारी शक्तियां भी अपने समझौतेकी शर्तोसे समान रूपसे संतुष्ट रहेगी अथवा राष्ट्र और मनुष्यकी भवितव्यताकी उस प्रेरक शक्तिका सामना कर सकेगी जो किसी भी कूटनीतिक व्यवस्था या सरकारों एवं राजनीतिज्ञोकी इच्छाओसे वड़ी है। किन्तु यदि इनमे एक अश्रुतपूर्व वस्तु अर्थात् स्थायी अंतर्राष्ट्रीय मैत्री एव साहचर्य स्थापित हो भी जाय, तो इससे कुछ समय तो काम चल जायगा किन्तु क्या यह मैत्री जगत्‌की परिवर्तनकी प्रवृत्तिके आगे वहुत लवे समयतक टिक सकेगी? सुरक्षा पाकर शक्ति सडने लगती है। जो राज्य आज इतने शक्तिसपन्न हैं कि वे अपनी इच्छाको अन्य राष्ट्रोपर लाद सकते है, वे अपने आकार, सपदा और सशस्त्र सेनाओके होते हुए भी इस शक्तिको सदा सुरक्षित नही रख सकते। युक्तियो और समझौतोद्वारा शीघ्रतापूर्वक स्थापित की गयी शान्तिकी इस व्यवस्थाके फलस्वरूप कई पुराने व्रण स्थायी

वन गये है और कई नये व्रण भी प्रकट हो गये है। यह सन्देहास्पद है कि क्या वल्कानका प्रश्न स्थायी रूपसे सुल्झ जायगा। किन्तु अव आगे प्रश्न आता है एक जर्मन वोहेमियाका, एक वहुरंगे पोलैंडका, शायद 'सार'के क्षेत्रका भी जिसकी सपत्ति किसी विदेशी शक्तिके अधिकारमें है, यूगोस्लाविया और इटलीका, जिसे सुलझाना अत्यधिक कठिन है, टाइरोलका एक नया प्रश्न, आइरिश और कोरियाई विद्रोहका प्रश्न, जिसमें यह संघ इंगलैंड और जापानके गहरे असतोपका कारण वने विना हस्तक्षेप नही कर सकता यद्यपि वे निर्णयकी जोर-शोरसे माँग कर रहे है, और रूसी अव्यवस्था। एक मुस्लिम जगत् भी है जो निश्चित ही एक दिन इस नयी 'यथापूर्व स्थिति'के वारेमे कुछ कहेगा। एशिया और अफरीकाका समूचा प्रश्न भी सामने है जो अत्यधिक भयावह तो है किन्तु जिसके विपयमे अधिक कहनेकी आवश्यकता नही है, क्योकि इस विपयके तथ्य सभीके लिये प्रत्यक्ष है। कुछ यूरोपीय शक्तियोमे अफ्रीकाका विभाजन चाहे आर्थिक दृप्टिसे लाभप्रद हो भी पर वह एक स्थायी समाधान नही हो सकता। एशिया उत्थानके मार्गपर आगे वढ़ रहा है, उसे सदा ही दुर्वलता, संरक्षण और पराधीनताकी अवस्थामे नही रखा जा सकता। जव समय आयगा तो मुख्यत: यूरोपीय और अमरीकी जातियोका सघ उसकी माँगोंपर कैसे विचार करेगा? क्या यूरोप एशियासे पीछे हटना चाहेगा? क्या अधिदेशप्राप्त राष्ट्र अपने अधिदेश-को सीमित करनेकी जल्दीमे होगे? क्या वर्तमान अवस्थाएँ किसी परिवर्तित रूपमे ही सही और स्थायी हो सकती है जिसके फलस्वरूप दोनो महाद्वीपोंमें समान रूपसे समस्वरता स्थापित हो सके? ये ऐसे प्रश्न है जिन्हे वर्तमान आधारपर स्थित राष्ट्रसंघका कोई भी अपूर्ण ढाँचा अपनी कल्पनाके अनुसार नही सुलझा सकता, केवल एक प्रगतिशील विश्वभावना ही इनके उत्तर दे सकती है।

अभीतक इनमेंसे किसी भी संकट या कठिनाईसे निकट भविप्यमे कोई भय नही है, किन्तु एक अन्य समस्या अवश्य मौजूद है जो अति आवश्यक होनेके साथ-साथ अत्यधिक हठीली और भयोत्पादक भी है; यह हर नयी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालीके जीवनको अपनी संनिकट पूर्वाभास देनेवाली उँगलीसे छूती है। और यह है प्रभुत्व पानेके लिये निकट आता हुआ पूँजीपति और श्रमिक वर्गमे संघर्ष। यह तथ्य वडे स्थानोमे संघर्परत साम्राज्यवादोकी पारस्परिक मुठभेडसे अथवा पृथ्वीके संकीर्णतर ढंगोसे एक-दूसरेपर गुर्राते हुए या नोच-खसोट करते हुए झगड़ालू राष्ट्रोके विवादोसे विलकुल अलग वस्तु है। कारण, वे समाजके वर्तमान आधारपर अधिक-से-अधिक शक्ति,

क्षेत्र तथा आर्थिक अवसरोके विभाजनके प्रश्न है, किन्तु इसका अर्थ है इस आधारपर ही शका करना और यूरोपीय विश्व-व्यवस्थाकी आधारशिलाको ही हिला देना। यह संघ सरकारोका सघ है और ये सब सरकारें मध्यवर्गी राज्यतंत्र अथवा गणतत्र है, ये एक ऐसी पूंजीवादी प्रणालीके यत्र है जो समाजवादके ज्वार-भाटेसे आक्रात है। उनकी नीति समझौता करनेकी, व्योरोकी ओर झुक जानेकी परन्तु अपने सिद्धांतको लंबाते जानेकी है जिससे वे जीवित रह सके और फलस्वरूप पूंजीवाद ही एक नयी मिश्रित अर्ध-समाजवादी व्यवस्थाकी प्रवल शक्ति वना रह सके, वहुत कुछ उसी तरह जैसे 'पवित्र मैत्री' का निर्माण करनेवाली सरकारोने प्रजातंत्रकी वढती हुई भावनाके साथ समझौता करके कुलीन राज्यतंत्रके पुराने विचारकी प्रधानताकी रक्षा करनेकी चेष्टा की थी। वे जो देते है वे श्रमिक वर्गके लिये अच्छी और अधिक मानवीय शर्तें अवश्य है, वे वर्गको समाजके शासनमे एक प्रकारके सहयोगकी भी अनुमति देते है, तो भी श्रेणीक्रममे उनका स्थान पहला नही दूसरा ही रहता है। वस्तुत. श्रमिक वर्गने पहले वस यही चाहा था और उसकी सेनाकी पिछली पंक्ति अभीतक इसीपर आँखे लगाये वैठी है, किन्तु श्रमिक आदोलनका अर्थ अव यह नही रह गया है; वहाँ अव एक नये विचारने जन्म लिया है, श्रमिक वर्गके प्रभुत्व, उसके शासनके विचारने अपने-आपको सूत्रवद्ध कर लिया है तथा समाजवादकी शक्तियोके अधिकाश भागपर अपना अधिकार जमा लिया है। वल्कि रूसमे इसने कुछ समयके लिये एक प्रकारकी नयी सरकार, सर्वहारा वर्गके अधिनायकत्वकी सरकार भी स्थापित कर ली है जो समाजकी एक अन्य व्यवस्थाको शीघ्रतासे लानेकी अभीप्सा करती है।

वर्तमान सरकारोको स्वयं उनकी सत्ताका सिद्धान्त ही विवश करता है कि वे अपनी समस्त उपलब्ध शक्तिके साथ इस नवीन विचार और इसकी शक्तिके साथ युद्ध करें और जातियोके मनमे अभीतक विद्यमान वस्तुओके प्रति जो विश्वास वाकी है उसे इसके विरोधमे संघटित करे। पुरानी व्यवस्थामे निस्सदेह अभीतक इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो उस स्वरूपको, जिसे उस जनदानवीने अपनाया है, पूरी तरह नष्ट कर सकती है तथा रूसी वोल्शेविकवादको भी न्यूनाधिक तेजीके साथ समाप्त कर सकती है। वोल्शेविक प्रणाली जो अकेली एक ही देशमे प्रयुक्त है, जो अपनी आरभिक अपक्वताओ एव क्रान्तिकारी हिंसात्मक प्रवृत्तियोसे निर्वल हो रही है और दुष्कर संभावनाओके साथ वुरी तरह सघर्षरत है, भले नष्ट कर दी जाय। किन्तु जो वस्तु वोल्शेविकवादके पीछे विद्यमान है और जिसने इसे अप्रत्याशित

पौरुष एव जीवनशक्ति प्रदान की है उसे इतनी सरलतासे न तो वशमें किया जा सकता है और न ही उसका अस्तित्व मिटाया जा सकता है। यह वस्तु है समाजके आधारका धनसे श्रमकी ओर, वित्तीय-शक्तिसे मनुष्य और उसके कार्यकी सरल-सी शक्तिकी ओर स्थानांतरण, और इस बातको न समाप्त किया जा सकता है न रोका जा सकता है,—चाहे थोडे समयके लिये स्थगित भले किया जा सके। इसलिये नही कि धनसे अधिक श्रम ही समाजका सच्चा आधार है, किन्तु इसलिये कि यह यूरोपीय समाजके समूचे विकासक्रमका तर्कसगत और अनिवार्य परिणाम है। शक्तिपर आधारित योद्धा और कुलीन वर्ग अर्थात् क्षत्रियने अपना स्थान वैश्य अर्थात् पेशेवर औद्योगिक वर्गको दे दिया है, उस वर्गको जिसका निर्माण धन और वैधताके सिद्धान्तपर हुआ है, और अब इसे भी अपना स्थान शूद्र अर्थात् उस सर्वहारा वर्गको देना होगा जो श्रम और संघटनपर आधारित है। यह परिवर्तन अन्य परिवर्तनोंकी तरह बिना संघर्ष या उथल-पुथलके नही साधित हो सकता, और हमे यह सकेत मिलता है कि इसके मार्गमे भी क्रान्तिकी ध्वसक और हिंसात्मक उग्रता आयेगी।

वस्तुत. नयी शक्तिके सामने यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया है कि यह कार्य ससद्-पद्धतिके स्वीकृत साधनोंद्वारा शान्तिपूर्वक शनै.-शनैः किया जायगा; किन्तु संसद्-पद्धति स्वयं अत्यधिक कुख्यातिकी अवस्थामेसे गुजर रही है, और मजदूर वर्गके मनोमे यह शंका घर कर रही है कि यह उनकी उद्देश्यपूर्तिके लिये उचित या संभव साधन है भी या नही और यह भी कि इसपर निर्भर रहकर क्या वे अपने शत्रुओके हाथका खिलौना बनकर तो नही रह जायेगे। कारण, संसद् वास्तवमे सपत्तिशाली वर्गोंकी एक बड़ी-सी मशीन है और संसदीय समाजवादी आसानीसे छद्मवेषधारी या आधा मध्य-वर्गी बन जायगा। ऐसा प्रतीत होता है कि समाजकी नयी व्यवस्था एक नयी शासन-प्रणालीके संस्थापनकी माग करेगी। यदि तब वर्तमान अवस्थाओं-के अनिवार्य रूपसे उलट जानेके साथ समाजकी एक नयी व्यवस्था आ जाय, आये भी एक क्रान्तिकारी सघर्षके बाद, तो वर्तमान अवस्थाओपर आधारित संघकी प्रणाली, एक ऐसे सघकी जो वस्तुतः राष्ट्रोंका नही सरकारोंका संघ है और उन सरकारोका जो पुरानी व्यवस्थाको बनाये रखनेके लिये वचनबद्ध है तथा जो उस नये विचारके साथ जो उनके अपने अस्तित्वके स्वरूपका विरोधी है, सघर्ष करनेके लिये अपने निकटतर संबंधका साधनके रूपमे प्रयोग करती है। क्या यह प्रणाली इस भूचाल या बवडरमे कार्य कर सकेगी? अधिक सभव है कि यह संघ-व्यवस्था मंद रूपमे रूपातरित

होनेकी अपेक्षा समाप्त ही हो जाय और यदि यह समाप्त हो गयी तो इसका स्थान अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्यकी कोई अन्य प्रणाली ले सकती है, किन्तु यह राष्ट्रोका सघ नही होगा।

फिर भी हम माने लेते है, वल्कि इसपर विश्वास करते है कि इसका वाह्य स्वरूप चाहे कुछ भी हो, यह सघ जिसमे विश्वकी सर्वश्रेष्ठ सम्मिलित नीतिज्ञता समाविष्ट है, इन सव संकटोसे घूम-फिरकर त्राण पा लेता है, प्रत्येक तूफानका सामना करता है और मनुष्यजातिकी भवितव्यताको आगेकी ओर, पहले तो थोडी-वहुत व्यग्र पर अन्तमे सुदृढतर, उत्तरोत्तर वढती हुई शान्ति और पारस्परिक समायोजनके मार्गपर ले जाता है। तव वह कौनसी वस्तु होगी जिसे वह आरंभमे या अतमे चरितार्थ कर लेगा? इसने उस प्राचीनतर अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिके स्थानपर, जो वारी-वारीसे युद्धारभ और सशस्त्र शान्तिके वीच डॉवाडोल होती रहती थी, वैध, स्थितिका आरभ कर दिया होगा। यदि यह दृढतापूर्वक किया जाय तो निस्सदेह यह मानव-सभ्यताके ज्ञात इतिहासमे आगेकी ओर एक महान् पग होगा। क्योकि तव इसका यह अर्थ होगा कि जो वस्तु शताव्दियो पहले राष्ट्रकी इकाईमे स्थापित की गयी थी वही अव अंतमे राष्ट्रोके समाजमे भी स्थापित हो जायगी। किन्तु हमे इतनी आसानीसे उस वस्तुको नही मान लेना चाहिये जो अंतमे एक दोषपूर्ण समानातर रेखा भी प्रमाणित हो सकती है। आरभसे ही सभ्य समाजने जो अत्यधिक प्रभावशाली ढगका काम किया है वह यह है कि अनिश्चित शातिकी अवस्था और प्राय. होनेवाले वैयक्तिक और कवीली युद्धोके स्थानपर वह एक प्रकारका विधिसंगत सवंध, वैध अपराध और प्रतिरक्षाकी स्थिति तथा और क्षतियोके लिये प्रतिकार अथवा प्रतिशोध ले आया है, उन कवीली युद्धोके स्थानपर जिनमे प्रत्येक व्यक्तिको हर वस्तु-को जिसे वह न्यायसगत समझता था, पानेके लिये स्वजनो या अपने वाहुवलकी सहायता लेनी पडती थी। वर्तमान समयमे अपराधोके आग्रहपूर्वक वने रहनेकी स्थिति उस स्वाभाविक हिसात्मक प्रवृत्तिकी आरभिक पूर्व-वैध अवस्था-का ही अवशेप है। किन्तु एक संगठित समाजके लिये एक हठी व्यक्तिके साथ व्यवहार करना अपेक्षया सरल है। यहाँ इकाइयॉ वे राष्ट्र है जिनका जटिल सामूहिक व्यक्तित्व है, वे वृहद् जन-समूह है जो अपने-आप वहुत अधिक संगठित है और उन लाखो मनुष्योके प्रमुख हितो, दावो और भावा-वेशोका प्रतिनिधित्व करते है जिन्हे सामूहिक, शक्तिशाली और आग्रहपूर्ण अनन्यता, घृणा, ईर्ष्या, विरोध आदि विभाजित करते है। इस भावी सर्वरोगशामक 'सघ' और जातियोके नये समाजकी स्थापना इन सवको प्रलय-

कर युद्धसे पहलेकी अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा और कटुतापूर्ण पाती है—युद्धसे पहले सहिष्णु और सरल प्रकारकी विश्व-नागरिकता अधिक प्रचलित थी—और ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रवृत्ति इनका इलाज करने या इन्हें दूर करनेकी नहीं बल्कि इन्हें और अधिक गंभीर एवं स्थायी बनानेकी है। और जातियोंके इस बेमेल समूहपर ही जिनका न कोई जीवंत सिद्धान्त है और न जिनमें एकताके लिये आग्रहपूर्ण संकल्प ही है, शान्ति और निश्चित कानूनकी स्थिति लादी जाती है और वह भी उस समय जब कि, अव्यवस्था और विप्लवका बोलबाला है और सदा क्रान्तिका संकट बना रहता है।

राष्ट्रीय समाजको सफलता उसी अनुपातमें मिली जिस अनुपातमें उसने एक अविभाजित एकता और समरूप सत्ता विकसित कर ली थी, एक ऐसी एकता और सत्ता जो कानून बना सकती थी, या कम-से-कम उसे वर्गीकृत करके सम्पोषित रख सकती थी, साथ ही वह इस बातका भी ख्याल रख सकती थी कि कानूनका, निश्चित नियमों, प्राज्ञप्तियों और अध्यादेशोंका कठोरतापूर्वक पालन किया जाय। किन्तु यहां कार्य एक एसी संस्थाद्वारा किया जाना है जो किसी भी सुनिर्मित एकताका प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि जिसमें एक-दूसरेसे अत्यधिक पृथक इकाइयां आपसमें जकड़ी या सूत्रबद्ध कर दी गयी हैं। यह संस्था कानून नहीं बनाती, केवल अत्यन्त आंशिक और अवसरवादी विशेष तदर्थ प्राज्ञप्तियां निकालती है; इन प्राज्ञप्तियोंको लागू करनेके लिये उसे सदा धमकी, नाकाबंदी, आर्थिक दबाव तथा जातियों-की भुखमरी, एवं हिंसात्मक सैनिक दखलके भयका सहारा लेना पड़ता है,—ये सब ऐसी वस्तुएं हैं जो अशांतिकी युद्धोत्तर अवस्थाको लंबा बनाती हैं। और उनके गौण प्रभाव उन देशोंपर भी पड़ते हैं जिनकी सरकारें इस विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय मनोविनोदमें लगी हुई हैं। यह देख पाना कठिन नहीं है कि यदि मानवजातिकी इस नवीनतम प्रबल आशाको बुद्धिजीवियोंकी बहुत-सी भ्रान्तियोंमेंसे एक भ्रान्ति, जनसाधारणके धुंधलेसे हृदयकी काल्पनिक और निर्मूल अभिलाषा बनकर ही नहीं रह जाना है तो एक श्रेष्ठतर प्रणाली और श्रेष्ठतर साधन ढूंढना ही होगा।

राष्ट्रीय समाज तब इतने लंबे समय और इतने अधिक अनुभवके बाद भी अपने ढांचेसे उसके सदस्योंके आपसी कलह और वर्ग-युद्धको, हितों और विचारोंके कटु विद्वेषको नहीं निकाल पाया है, उस विरोधको जो समय-समयपर खूनी झगड़ों, गृह-युद्धों, रक्त-रंजित क्रांतियों अथवा अनर्थकारी, भयंकर रूपमें दुराग्रही एवं निष्ठुर आर्थिक संघर्षोंमें फूट पड़ता है—ये सभी संभाव्य भौतिक युद्धकी तैयारी करनेवाले तत्व हैं। इस सबका कारण

ढूँढनेके लिये दूर जानेकी आवश्यकता नही। कानून अपने ऊपरी आडम्बर और वडप्पनके गभीर और ऊपरसे ओढे हुए दावोके वावजूद अपने मूल रूपमे केवल अधिक वलशाली, होशियार और सफल लोगोका कानून है, उन लोगोका जो वाकीके मूक और अधीनस्थ लोगोपर अपना शासन आरोपित करते थे। प्रवल जातियोके आदेश पुरानी प्रथाओके ढेरपर लादे गये और उन्हे नये सिरेसे प्रचलित विचारो और हितोके साँचेमे ढाल दिया। कानून अपने-आपमे एक नियमित और सगठित वल था जो अपने प्रशासनसवधी नियमोकी स्थापना करके उन्हे दण्ड और वलप्रयोगके आसन्न भयद्वारा मनवाता था। न्यायके प्रतीकस्वरूप तलवारका यही अर्थ है और जहाँतक काल्पनिक ढंगकी न्याय-तुलाका प्रश्न है, यह तुला एक व्यावसायिक एव कृत्रिम चिह्न है, स्वाभाविक या आदर्श समानताका प्रतीक नही। और फिर, यह न्याय-तुला अपने बॉटो या नापोके रूपमे केवल सैद्धान्तिक समानताको प्रयोगमे लाती थी, और वह सैद्धान्तिक समानता भी हमेशा नही रहती थी। प्रायः ही कानून अधिकांशमे वैध उत्पीडन और शोषणकी प्रणाली होता था और उसके राजनीतिक पक्षपर प्राय. यही मुहर लगी रहती थी, यद्यपि यह सदासे एक अत्यधिक पवित्र पद्धति, शासन और न्यायका गभीर मुखौटा पहनता आया है।

मानवजातिका इतिहास अधिकतर अन्यायपूर्ण कानूनको न्यायमे वदलनेका एक लंवा सघर्ष रहा है,—एक जर्वदस्ती लादी गयी प्राज्ञप्ति और कानूनके द्वारा सुस्थापित प्रथाद्वारा नियत रहस्यमय न्यायमे नही जो ठीक होनेका दावा इसलिये करता है कि वह सुस्थापित है, वल्कि समानता और सम दृष्टिके न्यायमे। इस दिशामे वहुत कुछ हो चुका है, पर अभी उतना ही, वल्कि उससे भी अधिक करना वाकी है और जवतक यह नही हो जाता तवतक गृहयुद्ध, अशान्ति और विद्रोहका अत भी निश्चित रूपसे नही होगा। कारण, कानूनका अन्याय केवल तभीतक सहा जा सकता है जवतक उससे पीडित लोगोमे निष्क्रिय अधता या मौन अधीनताका भाव हो। या फिर, जव एक वार उनमे समानताकी इच्छा जाग जाय तो उनके पास उसे शान्तिके साथ ठीक कर लेनेके लिये साधन मौजूद हो। और किसी विशेष अन्याय-पूर्ण कानूनको वस्तुत: कम प्रयत्न और कठिनाईसे वदला भी जा सकता है, किन्तु यदि अन्याय अथवा, यूँ कहे, किसी व्यवस्था या प्रणालीमे न्यायपूर्ण समानता और निष्पक्षताका अभाव हो तो गभीर विपत्तिकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है और जवतक उसमे सुधार न हो जाय तवतक वास्तविक सतुलन और शान्तिकी अवस्था स्थापित नही हो सकती। इस प्रकार आधुनिक

समाजमे हड़तालें और तालाबंदियाँ गृहयुद्धके रूप वन जाते है जो दोनों पक्षोंके लिये काफी अनर्थकारी होते हैं; फिर भी सदा इन्हीका सहारा लिया जाता है, इनका स्थान अन्य कोई श्रेष्ठतर ढंग नही ले सकता, कारण, ऐसे किसी भी सभव कानूनी निर्णय या अनिवार्य मध्यस्थता, जिनकी व्यवस्था वर्तमान स्थितियोमे की जा सकती है, लोगोको विश्वास नही है। सवल पक्ष सुस्थापित प्रणालीसे लाभ उठाता है, जव कि दुर्वल पक्ष यह अनुभव करता है कि राज्यका वैध संतुलन एक ऐसे विधानद्वारा स्थिर रहता है जो अभीतक पूँजीपतिके हित और धनकी प्रभुताको ही महत्व देता है और वह इस राज्यसे वहुत हुआ तो कुछ थोड़ी-सी रियायते ही प्राप्त कर सकता है जिनकी अपर्याप्तताके कारण भविष्यमें उसे और भी वहुतसे संघर्ष करने पडेंगे। वे हड़तालको अपना स्वाभाविक शस्त्र और एक विश्वसनीय साधन मानकर उससे चिपके रहते है। इसी कारण आर्थिक शान्ति और भ्रातृ-भावनाके लिये दोहराये गये प्रवोधन व्यर्थ सलाह वन जाते है। इसका एकमात्र इलाज है समाजकी एक अधिक श्रेष्ठ, समान और न्यायसंगत, साम्यिक प्रणालीकी स्थापना और यह एक ऐसी स्थितिका एक विशेप उदाहरण है जो जगत्की वर्तमान व्यवस्थामे विभिन्न रूपोमे काफी देखनेमें आती है।

यह वात स्पष्टतः वर्तमान अतर्राष्ट्रीय प्रयत्न और उसकी एक विधि-संगत और शान्तिपूर्ण मानव-समाज-संवंधी आशापर लागू होती है। राष्ट्र-संघकी स्थापना विजेता शक्तिने की है, निस्संदेह उसका यह दावा है कि वह विजेता सत्य और न्यायकी शक्ति है, पर जन्ममे ही दोप होनेके कारण वह एक समान और निष्पक्ष समदृष्टिके सच्चे संघर्षहीन न्यायको मूर्त रूप देनेमें असमर्थ है। उसकी प्राज्ञप्तियाँ और कार्य किसी निश्चेय अवैयक्तिक सिद्धान्तपर आधारित नही है, वे प्रमुखतः चार शक्तिशाली राष्ट्रोकी प्राज्ञप्तियाँ है, आज्ञाएँ है। वे चाहे न्यायपूर्ण हो तो भी उनमे एक वड़ा भारी दोप यह है कि उनमें ऐसी कोई वस्तु नही है जो पराजित जातियो, वल्कि सामान्य जनोको भी यह विश्वास दिला सके कि उनके पीछे एक सामान्य और विश्वसनीय समदृष्टि निश्चित रूपसे मौजूद है; वस्तुतः इनमेसे वहुतोने वडे सामान्य रूपसे गंभीर असंतोप एवं विरोधी आलोचनाको जन्म दिया है। और, सर्वोच्च परिषद्—पर्देके पीछे छिपा हुआ परिस्थितिका पुरोहिती स्वेच्छाचारी—अपने किसी भी कार्यमें किन्ही विशिष्ट उच्चतर सिद्धान्तोकी सहायता लेती नही प्रतीत होती, उस समय भी नही जव उनका सचमुच अस्तित्व होता है और उनपर वलपूर्वक और स्पष्टताके

साथ आग्रह किया जा सकता है। यह लिखते समय एक घटना घटी है, एक छोटी अधिकारी शक्तिकी सेनाने पीडित और इस समय आधे भूखे देशको अनावृत कर दिया है, यह अधिकारी शक्ति अपने शस्त्रोसे नही, वल्कि 'सघ'के नैतिक और आर्थिक दबावसे विजयी हुई है—और परिषद्ने इसमे हस्तक्षेप करके उचित कार्य किया है। किन्तु उसने यह सार्वजनिक रूपसे उन कारणोसे नही किया जिनका सवध अंतर्राष्ट्रीय न्याय अथवा मानवताके साथ या अतर्राष्ट्रीय नीतिशास्त्रके वर्तमान प्रारभिक तत्वोके साथ हो, वल्कि उसका कारण यह दिया है कि पराजित देशकी संपत्ति सवके लिये लूटका माल है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह विजेताओकी क्षतिपूर्तिका साधन है और इस छोटे-से लालची मित्रको यह अनुमति नही दी जा सकती कि वह अपनी शक्तिके वूतेपर इसे इस तरह अलग रख ले जिससे अपने-आपको न्यायका प्रशासक माननेवाले उसके साथी-प्रशासकोको हानि उठानी पडे,—इसके फलस्वरूप वे यह भी देख सकते है कि हगरी एक ऋण-शोधनश्रम देनदारके रूपमे उनकी सेवा करनेके स्थानपर एक भूखे कंगालकी तरह उनके हाथोमे आ पडा है। यदि इस यथार्थवादी भावनाको ही नयी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणालीकी भावना होना है और इसे निरंतर बने रहना है तो मानवजातिके लिये इसकी सफलता असफलतासे अधिक भयावह हो सकती है। कारण, मनुष्यजातिके पीडित वर्गोके लिये तब इसका यह अर्थ हो सकता है कि असहनीय वर्तमान अन्यायको अव न्यायसगत और स्थायी वना दिया गया है, उस अन्यायको जिसका अधिक सरल इलाज ढूँढने और जिसे ठीक करनेकी आशा पहलेकी ढीली-ढाली अवस्थाओंमे अधिक की जा सकती थी। यदि इस राष्ट्रसघको मानवजातिकी सेवा करनी है, केवल उसपर अधिकार नही जमाना है, यदि इसे मनुष्यजातिको ऊपर उठाना, उसे मुक्त करना है जिसका वह दावा करती है, और उसे वधनमे वाँधना या नीचे गिराना नही, तो उसे एक और ही साँचेमे ढालना होगा तथा उसे एक अन्य भावनासे अनुप्राणित करना होगा। यह उस तरहका युग नही है जव अलग-अलग राष्ट्रोमे कानूनका शासन प्रतिष्ठित था। वह पहलेकी-सी प्रवृत्ति नही है कि वे वर्तमान परिस्थितियोको प्रकृतिकी देन या उसका विधान मानकर उनके अधीन रहनेके लिये तैयार न हो। समानता, साम्य, और समान अधिकारके विचारने जातिके मनमे एक व्यापक रूप धारण कर लिया है, और अव मानवसमाजको दृढतापूर्वक इसे चरितार्थ करनेके लिये आगे वढना होगा, वरना निरतर अशाति और अधिकाधिक वढते सकट आते रहेगे।

इसका अर्थ यह है कि 'संघ'की संपूर्ण भावना और पद्धतिको फिरसे ढालना होगा, इससे पहले कि वह मानवजातिकी श्रेष्ठतर आशाओं, बल्कि बहुत जरूरी आवश्यकताओंको पूरा कर सके। उसकी रचनाकी आरंभिक गलतियोंको सुधारना होगा और उसके मूल रूपमें जो दोष रह गये हैं उन्हें दूर करना होगा। अभी तो मानो पुरानी कहावतको उलटकर पुरानी और अत्यधिक फफूंददार शराबको नयी भड़कीली बोतलोंमे भर दिया गया है,—अभी तो यह संहति और संतुलनकी कूटनीतिकी पुरानी कुख्यात भावना, सबसे अधिक सबल, कुछ प्रबल प्रभावशाली राज्यो और साम्राज्योकी सरकार है। एक अधिक न्यायपूर्ण और जनतंत्रीय अंतर्राष्ट्रीय प्रणालीमे इसे समाप्त हो जाना चाहिये। युद्धकी विरासतमे प्राप्त इस अशुभ भावनाको, जिसमे 'शत्रु', सहायक और मित्र राष्ट्रोमे अथवा अधिक प्रिय या कम प्रिय जातियोमे विभेद किया जाता है, इस संघकी प्रणालीसे निकलना ही होगा, क्योंकि यह जबतक रहेगी, एक विषैले कीटाणुका कार्य करेगी और सब प्रकारके स्वस्थ विकास और क्रियाशीलताको रोक देगी। एक ऐसा राष्ट्रसंघ, जिसे विश्वमे सच्ची शान्ति लानी है, न्यायका आरंभ करना है और सुव्यवस्थित सौजन्यको बढाना है, एक चीज है और मित्र सरकारोंकी अपनी उत्तरदायित्वहीन इच्छा पीड़ित और असंतुष्ट यूरोप, एशिया और अफ्रीकापर लादनेवाली गुप्त सभा एक और चीज। जबतक एक टिका है दूसरेको अस्तित्वमे लाना संभव नही। इस संघकी अव्यवस्थित रचनाको दुबारा एक सीधे-सादे और सरल स्वरूप और अर्थमे ढालना होगा और इसमे स्पष्ट सिद्धान्तके उस तत्वको प्रविष्ट करना होगा जिसे इसने अपनी रचनामे छोड दिया है। अतर्राष्ट्रीय अधिकारों और दायित्वोकी, न्यायपूर्ण स्वाधीनता तथा हितकर और आवश्यक प्रतिबंधकी एक समान प्रणाली ही अतर्राष्ट्रीय विधि और व्यवस्थाका सही आधार बन सकती है। जातियोंकी न्यायपूर्ण और समान स्वतंत्रताका सच्चा आधार केवल आत्म-निर्धारणका वह सिद्धान्त ही बन सकता है, और कुछ नही, जिसका युद्धके दिनोमे खूब ढोल पीटा गया था, किन्तु जिसे एक अवसरवादी राजनीतिज्ञताने प्रायः समाप्त कर दिया है और एक शोचनीय शून्यताका दरजा दे दिया है। आत्मनिर्धारणका सच्चा सिद्धान्त अंतर्राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक दायित्वके साथ असंगत हर्गिज नही है, बल्कि दोनो अनिवार्य रूपमे एक-दूसरेके पूरक हैं, उसी प्रकार जैसे वैयक्तिक स्वतंत्रता जो अपने शुद्ध अर्थमे स्वस्थ आत्म-विकास और आत्मनिर्धारणके लिये उचित और पर्याप्त अवसर प्रदान करती है आत्माकी एकता तथा मनुष्य मनुष्यके बीचके दायित्वके

साथ जरा भी असगत नही है। यह सचमुच एक समस्या है कि उसे वर्तमान अवस्थाओ, विरोधी-भावनाओं, महत्वाकांक्षाओ, शिकायतो, राष्ट्रीय लालसाओ, ईर्ष्याओ, अहभावोमेसे कैसे विकसित किया जाय। किन्तु यह एक ऐसी समस्या है जिसकी ओर आज या कल ध्यान देना ही होगा, वरना और भी बडे संकटोका सामना करना पडेगा। यह कहना कि ये विकास असभव है यह अर्थ रखता है कि कुछ राष्ट्रोके एक ऐसे सघके सामने जो सामान्य लाभकी दृष्टिसे तथा प्रबल सहयोग स्थापित करनेके लिये संगठित हुआ है एक सच्चे अर्थोमे राष्ट्रसघकी स्थापना असंभव है। उस अवस्थामे इस भारी-भरकम नामवाली यह वर्तमान सस्था केवल पुरानी 'संहति' या कुछ बादकी 'पवित्र मैत्री'का एक अधिक विस्तृत एव यन्त्रचालित संस्करण हो सकती है। तब इसका हाल भी जल्दी या देरमे वही होगा जो इससे पहलेकी सस्थाओका हुआ था। यदि यही बात है तो हम इसे जितनी जल्दी समझ ले उतना ही सभी सबधित व्यक्तियोके लिये अच्छा होगा, ऐसी अवस्थामे झूठी आशाएँ, विपथगामी शक्तियाँ तथा साथ ही इनसे उत्पन्न निराशा, अशाति, सताप और सकटपूर्ण प्रतिक्रियाका बोझ भी बहुत कम हो जायगा। वर्तमान पथपर बढते जानेका अर्थ है सीधा एक अधिक भयंकर विध्वसके मुँहमे जाना।

इन वस्तुओपर जोर देनेका अर्थ उस आशाकी भावनाको अत्यधिक निरुत्साहित करना नही है जिसकी मनुष्यजातिके अपने विकासके लिये आवश्यकता है; अपितु यह इसलिये आवश्यक है कि यह आशा भ्रान्तियोसे ही अपना पोषण न करती रहे और गलत दिशामे ले जानेवाले मार्गोको न चुन ले, बल्कि अपनी चरितार्थताकी सही शर्तोको स्पष्ट रूपसे देख सके और उन्हे पूरा करनेमे अपनी सारी शक्ति लगा दे। सरल विश्वासके साथ यह मान लेना है तो सुविधाजनक, पर साथ ही सकटपूर्ण भी कि एक बुरी प्रणाली स्वय ही एक अच्छी वस्तुमे विकसित हो जायगी अथवा कोई सीधा-सादा परिवर्तन आकर उद्धारका मार्ग प्रशस्त कर देगा, उदाहरणार्थ यूरोपमे धीरे-धीरे सच्चा लोकतंत्र विकसित हो जायगा, और यह राष्ट्रसंघ जिसकी स्थापना इतने अधूरे ढगसे हुई है आगे जाकर अपनी अन्तर्निहित अच्छी भावनाके कारण पूर्ण बन जायगा, आदि-आदि। ऐसी आशापूर्ण स्वीकृति और सहनशीलताभरे स्वभावका सामान्यतया यह परिणाम होता है कि जिस अच्छी अवस्थाकी आशा की जाती है वह जब आती है तो वह सचमुच कुछ सुधार तो करती है, किन्तु साथ ही अतीतकी विरासत भी लाती है, अधभावना और उसकी अनिष्ट और अशुभ वस्तुओका पर्याप्त

उत्तराधिकार भी प्राप्त करती है। साथ ही स्वयं उसकी अपनी गलतियां भी उसके बोझको और भारी कर देती हैं। निश्चय ही, जो वस्तु इस नयी रचनाके, सरकारोंके इस 'संघ'के पीछे थी उसे किसी-न-किसी प्रकार आना ही होगा, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि देर या सवेर अंतर्राष्ट्रीय जीवनकी एक गठित प्रणाली अनिवार्य है, क्योंकि यह वर्तमान अवस्थाओंका, अधिक घनिष्ट संबंध तथा एक-दूसरेके जीवनपर होनेवाली पारस्परिक क्रियाका निश्चित परिणाम है। इसका एकमात्र विकल्प है उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अशान्ति, अव्यवस्था और अन्तमें अनर्थ और विध्वंस। किन्तु यह अनिवार्य विकास उस ढंग और सिद्धान्तके अनुसार जिसका कि हम अनुसरण करते हैं अच्छा या बुरा मोड़ ले सकता है। यह एक ऐसी यान्त्रिक और उत्पीड़नकारी प्रणालीके रूपमें प्रकट हो सकता है जो वैसी ही मिथ्या और दोषपूर्ण हो जैसी कि यूरोपकी औद्योगिक सभ्यता, जो अपने पथपर इतने गर्वभरे और विकराल ढंगसे बढ़ी कि वह वर्तमान विनाशका कारण बन गयी, अथवा यह एक अधिक गभीर निर्माणकारी शक्तिके रूप या स्वस्थ क्रियामें भी प्रकट हो सकता है जो एक और भी अधिक बड़े और उपयोगी मानव-विकासका आधार या कम-से-कम आरंभिक विन्दु तो बन ही सकता है। वस्तुतः कोई भी प्रणाली अपने ही बल-बूतेपर उस परिवर्तनको नहीं ला सकती जिसकी मानवजातिको सचमुच आवश्यकता है। कारण, वह परिवर्तन केवल तभी आ सकता है जब कि जाति अपनी उच्चतर प्रकृतिकी संभावनाओंको अधिकाधिक दृढतापूर्वक चरितार्थ करने लगे, और उसका यह विकास बाह्य परिवर्तनपर नहीं आंतरिक परिवर्तनपर निर्भर है। किन्तु बाह्य परिवर्तन कम-से-कम उस अधिक सच्चे सुधारके लिये अनुकूल अवस्थाएँ तैयार कर सकते हैं,—अथवा इसके विपरीत वे ऐसी अवस्थाएँ भी उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें केवल 'कल्कि'की तलवार ही पृथ्वीको एक हठीली आसुरिक मानवजातिके बोझसे मुक्त कर सके। चुनाव स्वय जातिके हाथोंमें है; कारण, जैसा वह बोयेगी वैसा ही कर्मफल काटेगी।

और यह बात हमें दुबारा उसी विचारपर ले आती है जिसके साथ हमने आरंभ किया था और इसीके साथ हम अंत भी कर सकते हैं, वह चाहे आजकी जड़वादी पीढ़ीके व्यावहारिक मनको कितना भी दूरस्थ क्यो न लगे। जिस विचारका यूरोप अनुसरण करता है वह अर्थात् एक बाह्य प्रकारकी राजनीतिक और सामाजिक पूर्णताका विचार, अपनी हदमें, एक सत्यपर आधारित है, किन्तु केवल उस सत्यके अर्ध भागपर जो कि परिधिका निम्नार्ध है। इसका एक अधिक बड़ा भाग उस दूसरे पुराने

विचारके पीछे छिपा हुआ है, जो एशियामे अभी बिलकुल निर्जीव नही हुआ है और यूरोपमे भी दुबारा जन्म लेनेके लिये काफी सशक्त हो गया है, और वह यह कि व्यक्ति और मनुष्यजातिके समुदायका उद्धार केवल बाह्य कानूनसे नही हो सकता; कारण, कानून एक मध्यवर्ती साधनमात्र है जिसका काम है हमारी अहभावयुक्त प्रकृतिकी मौलिक अव्यवस्थापर कठोर दायित्वकी और एक अधिक अच्छे मानककी लगाम कसकर रखना। व्यक्ति और समुदायका उद्धार कानूनसे नही आत्मा* द्वारा होता है। वैयक्तिक और सामाजिक पूर्णताकी शर्ते सचमुच एक ही है, स्वतंत्रता और एकता। ये दोनो वस्तुएँ एक-दूसरेकी पूरक है, यह विचार कि एकके मूल्यपर दूसरीको प्राप्त करना होता है व्यर्थका अपधर्म है। किन्तु जातिको सच्ची एकता तबतक नही प्राप्त हो सकती जबतक कि अपनी अहकारी प्रकृतिको वशमे करके मनुष्य मनुष्यके साथ हृदय और आत्मामे एक नही हो जाता, न ही उसे तबतक सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है जबतक वह अपनी निम्नतर प्रकृतिसे मुक्त होकर सत्यकी शक्तिको नही प्राप्त कर लेता, उस सत्यकी शक्तिको जिसके विषयमे सतो और ऋषियोने,—चाहे वह शिक्षा निष्फल ही हुई हो—सिखाया है कि मनुष्यके व्यक्तित्वको सर्वांगीण पूर्णता तभी प्राप्त होती है जब वह विश्वके साथ एक हो जाता है, तभी वह पूरी मनुष्यजातिको अपने हृदय, मन और आत्माके आलिंगनमे ले सकता है। किन्तु वर्तमान समयमे व्यक्ति और राष्ट्र दोनो एकताके इस आतरिक मत्रको स्वीकार करनेसे कोसो दूर है। हम अधिक-से-अधिक अभी इतनी ही आशा कर सकते है कि इनमेसे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति और राष्ट्र अपने मनोको उत्तरोत्तर इसी दिशामे मोडेगे और इस बार एक नवीनतर और अधिक प्रकाशपूर्ण उत्साहके साथ मानव-अभीप्साको पुनः जागृत करेगे। तबतक इस कर्कश राष्ट्रसघ और मनुष्यजातिके एक यात्रिक विलयनशील संगठनको एक दूरस्थ आशाके साथ व्यवहारमे लाना होगा। किन्तु सामाजिक जीवनके स्वर्णयुगका स्वप्न केवल तभी सम्भव हो सकता है तथा आध्यात्मिक, और इसी कारण स्वाधीनताके सच्चे शासनपर आधारित हो सकता है जब जाति अपनी दृष्टिको अन्दरकी ओर मोडना सीख ले। तब ये सब वस्तुएँ नही बल्कि मनुष्यजाति, भगवान्‌की प्रजा, भगवान्‌की ही आत्मा और देह हमारी पूर्णताका आदर्श बन जाती है।

---

*हम भारतवासियोंको अभी उस सत्यको उपलब्ध करना है—'शास्त्र' के द्वारा नहीं, आत्माके द्वारा।

युद्धके बाद

युद्धको वन्द हुए कुछ समय हो चुका है; वल्कि वह अव अतीतकी निकटस्थ दूरियोमे खोता जा रहा है। हमारे चारो ओर वर्तमानकी एक काली धुंध और अस्तव्यस्तता है, और हमारे आगे धुँधले और अनिश्चित भविष्यका स्वरूप, तथापि युद्धके तात्कालिक परिणामोंका कुछ लेखा-जोखा किया जा सकता है, यद्यपि भाषाकी कितनी भी खींचतान करके विश्वकी स्थितिको स्पप्ट नही कहा जा सकता; क्योकि इसकी विशेषता है एक अस्त-व्यस्त प्रवृत्ति और एक अनुपम अव्यवस्था। युद्धके दिनोंमे जिन आदर्शोकी खूब ऊँची आवाजमे घोपणा की जाती थी, जो मुख्य रूपसे संघर्षरत हितोंकी घोषणा करनेवाले एजेट होते थे——अव मौन और वदनाम हो चुके है: परस्पर-विरोधी शत्रुताके जटिल आलिंगनमे उलझी हुई विक्षुब्ध और पाश-वद्ध शक्तिया, जो अत्यंत दुर्वल अथवा क्लांत होनेके कारण न तो एक-दूसरेपर विजय प्राप्त कर सकती है और न ही अलग होनेमे समर्थ है, एक ऐसा व्यग्र अवसरवाद है जो न तो अपना पथप्रदर्शन कर सकता है न किसी परिणामपर ही पहुंच सकता है——ये वर्तमान स्थितिकी विशेपताएं है। मानव-जातिकी स्थिति एक ऐसे परित्यक्त जहाजकी-सी है जिसके मस्तूल और पतवार टूट गये है, जो समुद्रमे तूफानोके वादके उफानमे हचकोले खाता और उछलता हुआ वहता जा रहा है। "सर्वोच्च परिखद्" मे राजनीतिज्ञ इसके पौरुपहीन कर्णधार है, वे चिल्ला-चिल्लाकर ऐसे निर्देश दे रहे है जिन्हे उपयोगी रूपमे कार्यान्वित करनेकी जरा भी संभावना नहीं दिखायी देती, उन्हे क्षण-क्षणपर वदलना पड़ता है। कही कोई मार्गदर्शक प्रकाश नही दिखायी देता, न कोई ऐसा न्यायोचित विचार ही है जो जरा भी व्यवहार्य हो। हत्याकाण्डके उन्मादका स्थान एक वहुत वड़े वौद्धिक और नैतिक दिवालियेपनने, एक असीम असारता और विपादने ले लिया है।

सचमुच युद्धका एक अत्यधिक विशिष्ट एवं तात्कालिक परिणाम है: विश्वव्यापी निराशा, मोह-निवारणका वातावरण तथा वड़ी-वड़ी आशाओ और आदर्शोकी असफलता। युद्धके दिनोमे कितनी ऊँची, वड़ी और चुँधिया देने-वाली वस्तुओका वचन दिया गया था। पर अव वे कहाँ है? अव वे अस्वीकृत, दूषित एवं अपमानित होकर युद्धके अवशेष, रक्तसे सने कूडेके ढेरपर मृत, नग्न एवं भ्रष्ट अवस्थामे फेक दी गयी है। उनमेसे एक भी हमे प्राप्त नही

हुई है। युद्धका अत करनेके लिये जो युद्ध लड़ा गया था वह केवल एक नये सशस्त्र युद्ध और गृहकलहका जन्मदाता बना है और इसके फलस्वरूप जो क्लाति थी वही अभीतक एक दूसरे रक्तसे सने महायुद्धको रोक रही है। जिस नयी न्याय और शान्तिपूर्ण विश्व-व्यवस्थाका हमे वचन दिया गया था वह वहुत दूर, आकाश-कुसुमोके जगत्मे विलीन हो गयी है। जो राष्ट्रसघ इसे मूर्त रूप देनेवाला था उसका अस्तित्व ही नही है और यदि है भी तो वह एक उपहास या कहावतके रूपमे। यह सघ सर्वोच्च परिषद्-की एक सजावटमात्र है, उसके साथ एक असहाय और बेकार अंगके रूपमें जुडा हुआ है, इस समय यह एक दुर्बल वचनके रूपमे उन लोगोके अस्पष्ट और नि.सार आदर्शवादके सामने झूल रहा है जो अभीतक इसके निष्प्राण सूत्रके प्रति निष्ठावान् हैं। यह संघ केवल कागजी है, प्रत्यक्ष रूपमे यदि यह अधिक सक्रिय हो भी जाय तो भी एक पारदर्शी आवरणसे अधिक कुछ नही हो सकता, या फिर यह शक्तिशाली सरकारोके एक सुगठित अल्पतंत्र-द्वारा पृथ्वीपर प्रभुत्व जमानेके कार्यमे निष्क्रिय सहायता ही दे सकता है, यह अल्पतत्र केवल दो साम्राज्यवादी मित्र-राष्ट्रोका भी हो सकता है। आत्म-निर्णयके जिस सिद्धान्तकी एक वार वडे जोर-शोरसे घोषणा की गयी थी वह अव खुले आम अस्वीकार किया जा रहा है और विजेता साम्राज्योके द्वारा सरसरी तौरसे एक ओर रख दिया गया है। उसके स्थानपर अव हमारे सामने यूरोपका एक मानचित्र है जो पुराने कूटनीतिक सिद्धान्तोके आधारपर फिरसे वनाया गया है। इसमे अफ्रीकाको हडपकर दो या तीन वडी यूरोपीय शक्तियोकी वैयक्तिक सपत्तिके रूपमे बाँट लिया गया है और पश्चिमी एशियाको यह दड मिला है कि उसका शासन प्रादेशाधीन प्रणाली-द्वारा होगा जिसे अव खुले रूपमे व्यावसायिक शोषणके साधनोके रूपमे उचित ठहराया जा रहा है और जिसे मशीनगनो और सगीनोके सर्वोच्च अधिकारके द्वारा अनिच्छुक जातियोपर लादा जायगा। यह दृश्य कि अधीन जातियाँ और 'रक्षित' राष्ट्र स्वतत्रताकी माँग कर रहे हैं और उन्हे सैनिक शक्तिसे दवाया जा रहा है, नयी व्यवस्थाका प्रमुख लक्षण वना हुआ है। सैन्यवादकी समाप्ति, जिसकी प्रतिज्ञा की गयी थी, अव भी पहलेकी तरह वहुत दूर है। उसकी अन्तर्निहित भावना और वास्तविकता सर्वत्र देखनेमे आ रही है, केवल उसका शक्ति-केन्द्र और मुख्य कार्य पश्चिमकी ओर—और पूर्वकी ओर स्थानातरित हो गया है। जव युद्ध चल ही रहा था तभी कुछ लोगोने ये सव वस्तुएँ देख ली थी, इन लोगोका भी आदर्श वही था पर वे स्पष्टतासे देखना चाहते थे : अव ये बाते लोकप्रिय साधारण चर्चाका विपय हैं।

फिर भी यह स्थितिका केवल एक पक्ष है, जो कि अत्यधिक आधुनिक, हठीला और स्पष्ट है, किन्तु इस कारण अधिक महत्वपूर्ण और सार्थक नही है। यह एक अवस्थाको दिग्दर्शित अवश्य करता है पर उस महान् उथल-पुथलका निश्चित परिणाम नही है। यह आशा कि यह उग्र संग्राम संसारको तत्काल जादूके जोरसे पूरी तरह वदल देगा और उसे एक नया जन्म दे देगा अपने-आपमे एक भ्रान्ति थी। यह कल्पना करना ही गलत था कि लंबे समयसे चले आ रहे मानव-व्यवहार और चरित्रकी भूमिमे गहराईसे जमी हुई भूतकालकी जडे एक भयावह क्षणमे विलीन हो जायेगी अथवा तत्काल अपना स्थान भविष्यकी अछूती शक्तिको सौप देगी। जो काम करना है वह इतना वड़ा है कि वह सरल नही हो सकता : मनुष्य और उसके जीवन-का पुनरुज्जीवन, एक उच्चतर प्रकृतिके रूपमे उसके पुनर्जन्मका कार्य इतनी संक्षिप्त और वाह्य प्रक्रियाद्वारा संपादित नही हो सकता। यह मान लेना एक भ्रान्ति थी कि युद्ध एक कष्टपूर्ण, भयंकर, किन्तु अंतमे हितकर निर्णायक संकटस्थिति था या हो सकता था जिसके द्वारा वह महान् परिवर्तन निश्च-यात्मक रूपमे साधित हो जाता,—एक ऐसा परिवर्तन जिसका अर्थ होता मनुष्य-जातिकी आत्मा, मन और जीवनका पूर्ण नवीकरण और शोधन। युद्ध केवल पहले धक्के और परिवर्तनके रूपमे आया, इसने वाधाओको दूर करनेका एक अवसर प्रदान किया। यह किन्ही विचारों और शक्तियोकी नैतिक पकडपर, अभीतक भौतिक पकड़पर नही, एक साघातिक प्रहार था, उन विचारो और शक्तियोपर जो तवतक अपने-आपको निश्चित रूपसे सिंहासनस्थ अनुभव करती थी, साथ ही वर्तमानके प्रति निश्चित और भविष्यपर आधिपत्यके वारेमे आशावादी थीं। युद्धने भूमिको ढीला तो कर दिया है किन्तु पुराने झाड़-झंखाड़ोको जड़से उखाड़ना उसके वूतेकी वात नही थी। उसने जमीनका कुछ भाग साफ भी कर दिया है किन्तु उस जमीनको सफल रूपसे भरना अन्य शक्तियोका काम है : इसने हल चलाकर काफी सारी मिट्टीको उलट-पलट अवश्य दिया है किन्तु नये सिरेसे वीज वोना और फसल काटना अभी वहुत दूरकी वात है। अंतमे, यह कल्पना एक पोसी हुई भ्रान्ति थी और अव भी है कि राजनीतिक अथवा किसी और तंत्रका परिवर्तन-मात्र—चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यो न हो, सभ्यताकी सभी त्रुटियोका रामवाण इलाज है। केवल आत्माका परिवर्तन, अतएव आध्यात्मिक परिवर्तन ही एक महत्तर और श्रेष्ठतर मानवजीवनका आदेश और आधार हो सकता है।

पुराने सिद्धान्तो और अवस्थाओंका जीवित रहना अव भी कोई अधिक

महत्वपूर्ण बात नही है। उनकी बाह्य और भौतिक शक्ति देखनेमे चाहे जितनी बडी क्यों न लगे, वे अन्दरसे रोगी और दुर्बल हो गये हैं, भविष्यकी आशाको खो बैठे हैं, उनकी समस्त बौद्धिक और नैतिक पकड समाप्त हो गयी है और इसकी समाप्तिके साथ ही उनकी समस्त व्यावहारिक और कार्यसाधक बुद्धि और उनका पोषक आत्मविश्वास भी काफी हदतक समाप्त हो गया है। जीवित रहनेकी सहज-प्रवृत्ति और पुरानी क्रियाशीलताकी प्रेरणा ही उन्हे अवतक चला रही है, और वे तबतक तो जीवित रहेगे ही जबतक उन जातियोके पुराने मानसिक और प्राणिक अभ्यासोके जड़ अस्तित्वपर उनकी कुछ पकड रहेगी और जबतक उन्हे भविष्यकी नयी और उत्तरोत्तर बलवान् होती हुई शक्तियाँ खदेड नही देगी। उनकी सभी चेष्टाएं उस बलको बढ़ाती ही हैं। चाहे वे अपने सिद्धान्तोपर प्रबल आग्रह करके अपनेको बनाये रखनेका प्रयास करे, उन बिलकुल विरोधी सिद्धान्तोसे, जिनका उनके स्थानपर आना नियत ही है, मोल-तोल और समझौता करनेकी कोशिश करे, उनका आगे उठनेवाला प्रत्येक पग उन्हे अपने अतके निकट ले जाता है। उन नयी वस्तुओकी ओर ध्यान देना अधिक फलप्रद होगा जिनका अभी वर्तमानपर अधिकार तो नही है, पर जो बलपूर्वक अपना प्रभाव डालनेके लिये उसके भारी और प्रभावशाली किन्तु क्षणिक दबावके विरुद्ध सघर्ष कर रही हैं।

युद्धके दिनोमे यह बात स्पष्ट थी कि वह दो बडे प्रश्नोंका समाधान न कर सकेगा बल्कि उन्हे तीव्र सकटकी स्थितितक पहुँचा देगा। एक तो पूँजीपति और श्रमिक वर्गका प्रश्न और दूसरे एशियाका प्रश्न जो अब विरोधी शोषक दलोके बीचका नही वरन् आक्रामक यूरोप और पुनरुत्थित एशियाके बीचकी समस्या है। स्वय युद्ध भी अपने तात्कालिक रूपमे जर्मन विचार और उस मध्यवर्गीय उदारतावादके बीचका संघर्ष था जिसका प्रतिनिधित्व पश्चिमी जातियाँ,—फ्रास, इग्लैंड और अमरीका—करती थी और उस समयके प्रश्नको सुलझानेके लिये दूसरे दो प्रश्न जो भविष्यके लिये अधिक महत्वपूर्ण थे स्थगित करने पडे। पूँजीपति और श्रमिक वर्गके बीच संधि हो गयी थी, एक एसी सधि जो किसी आवश्यक तथ्यके कारण नही बल्कि राष्ट्रीय भावनाके एक ऐसे प्रबल केद्रणके द्वारा निर्धारित हुई थी जो रूढ समाजवादी विचारकी अस्पष्ट आदर्शवादी अन्तर्राष्ट्रीयताके लिये अत्यधिक बलशाली प्रमाणित हुआ। कारण, विरोधी वर्गोके बीच सबध या सधि स्थापित करानेके निरर्थक काव्यात्मक वचनकी सत्यता इतनी खोखली थी कि उसकी गिनती तथ्यमे नही हो सकती थी। साथ ही एशियाका प्रश्न भी

रुका पडा था और उदार साम्राज्योने उन जातियोको जो तवतक सभ्यताके दायरेसे वाहर गिनी जाती थी, आत्मनिर्णय और स्वाधीनताकी लुभावनी सम्भावनाए अथवा अधिक सीमित पर फिर भी आकर्षक प्रलोभन दिये थे। एशियाई जातियां स्वतन्त्र रूपसे कुछ करनेमे असमर्थ थीं, उन्होंने उसी पक्षको स्वीकार कर लिया जिसकी सफलता उन्हे अधिक आशा अथवा कम-से-कम भय दिखाती प्रतीत होती थी। अव यह सव अतीतकी वस्तु वन गयी है: स्वाभाविक और अनिवार्य संवंध फिरसे आगे आ गये है और ये वडे प्रश्न फिरसे सिर उठा रहे है। पूँजीपति और श्रमिक वर्गके वीचके आधुनिक संघर्षने अव एक नया रूप धारण कर लिया है और दो असाध्य रूपमे विरोधी सिद्धान्त स्पप्ट ही वहुतसे संशयो और अनिश्चयताके होते हुए भी, अंतिम और निर्णायक युद्धकी ओर अग्रसर हो रहे है। एशियामे यह प्रश्न एक ओर अधीन और रक्षित राज्यो तथा उनके नये, वहुरंगे रूपभेद, प्रादेशिक शासन और दूसरी ओर एशियाई जातियोकी समानता और स्वाधीनताके लिये स्पप्ट माँगकी समस्याके साथ जुड गया है। जो अन्य वस्तुएं अभीतक अग्रभागमे है वे या तो वचे हुए अतीतका दीर्घीकरण है या उसके परि-समापनका अवशेप। निकट भविष्यके जीवंत प्रश्न यही दो है।

समाजवाद और पूँजीवादकी शक्तियाँ अव समूचे यूरोपमे आमने-सामने डटी है, पर उन्होने अभी युद्ध आरभ नही किया है—वाकी सव विभेद लुप्त हो रहे है, राष्ट्रोके वीच होनेवाले पुराने छोटे-मोटे राजनीतिक झगड़ोंका अव कुछ अर्थ नही रह गया है। अभीतक भौतिक शक्तिपर पुराने मध्य-वर्गीय शासनकी पकड है, उसने आधिपत्यके वलपर तथा मनुष्योकी इस आदतसे कि वे किसी अनिश्चित जोखिमसे वर्तमान वुराईको अधिक पसन्द करते है, ढुलमुल जनताके मनको अपने अधिकारमे कर रखा है, इस तरह वह अपनी सारी वचीखुची शक्तियोकी सहायतासे अपने स्थानको वनाये रखता है। इसे पहली वार रूसमे एक सफल समाजवादी और क्रातिकारी शासनकी वास्तविकताका सामना करना पड़ा है; चाहे जन्मते ही उसका गला घोट देनेके लिये वार-वार किये गये प्रयत्न व्यर्थ गये हो, तो भी उसे अलग कर देने, उसके मार्गमे वाधा डालने तथा उसे पीडित करने, उसके पश्चिमकी ओर वढनेके विरुद्ध एक कृत्रिम सीमावंदी खडी कर देने तथा उसकी निरतर वदनामी करके उसके प्रमुख विचारोके द्रुत विस्तारको रोकने-मे इसे सफलता अवश्य मिली है। रूसी सीमाके पश्चिममे जव कभी कोई सोवियत क्रान्ति हुई तो वह कानूनी और सैनिक दमनके द्वारा समाप्त कर दी गयी। दूसरी ओर संसारकी आर्थिक अवस्था प्रतिवर्ष अधिकाधिक

बुरी होती जा रही है, अच्छी नही, और यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि पूँजीवादने अपनी नैतिक ख्याति केवल खो ही नही दी वल्कि वह उन भौतिक समस्याओको जिन्हे स्वयं उसने खडा किया और उभारा था, सुलझानेमे अपने-आप तो असमर्थ है और साथ ही वह इनके किसी भी अन्य समाधानका रास्ता रोकता है। इस गतिरोधमेसे गुजरता हुआ प्रत्येक वर्ष इस बातका साक्षी है कि समाजवादी विचारका वल एवं उसके अनुयायियोकी सख्या, गुण-स्वभाव और उग्र उत्साह भी अत्यधिक बढ रहा है। इसमे कोई सदेह नही कि प्राय सर्वत्र ही पुरानी शासन-पद्धति अस्थायी रूपसे कठोर एव केन्द्रित हो गयी है। यह तथ्य उस पुरानी राजतन्त्रीय और कुलीन-तन्त्रीय शासनपद्धतिकी कठोरता और केन्द्रणसे वहुत कुछ मिलता है जो क्रान्तिकारी फ्रास और यूरोपके बीचके हुए युद्धके परिणाम-स्वरूप आरभ हुई थी। किन्तु इसकी वास्तविक शक्ति कम है, साथ ही यह अधिक स्थायी भी नही है। कारण, इस वार क्रान्तिकी धारा केवल अवरुद्ध कर दी गयी है, पहलेकी तरह वह अस्थायी रूपसे अशक्त और क्लात नही हुई है। और शक्तियोके रूपान्तरकारी सचित प्रवाहकी गति इस समय वहुत तेज है। उस राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनके उपादान, प्रत्येक अवरोध और शायद भयकर विस्फोटोकी शृखला जो दवावके साथ अधिकाधिक सशक्त होते जाते है, सर्वत्र प्रत्यक्ष रूपमे संचित हो रहे है।

भविष्यमे वस्तुओका विशेष रूप यह होगा कि रूसी क्रान्ति स्थायी रूपसे सफलता एव निरंतर प्रगतिके पथपर चलती रहेगी। इस घटनाका मानव-इतिहासमे वही महत्व प्रतीत होता है जो अठारहवी शताव्दीमे फ्रासमे आरभ किये गये सुस्थापित विचारो और सस्थाओके परिवर्तनका था। और भावी पीढी इस महायुद्धको इसी वातके लिये याद रखेगी, जर्मनीके पतनके लिये नही। इस वातका महत्व वर्तमान वोलशेविक शासनके गुणो और अवगुणों या उसके अस्तित्वकी सभावनाओपर निर्भर नही है। वोलशेविक 'ताना-शाही' निश्चय ही सक्रमण-कालका, क्रान्तिकारी शक्तिके एक क्षणिक केद्रण-का साधन है, ठीक उसी प्रकार जैसे सर्वोच्च परिषद् और वह सव जिसका यह समर्थन करती है विरोधी रूढिवादी शक्तियोका एक अस्थायी केन्द्रण है। इस असाधारण सरकारद्वारा किये गये कार्य पर्याप्त रूपसे आश्चर्य-मे डाल देनेवाले है। देशके अन्दर और वाहरसे इसपर लगातार आक्रमण होते रहे, क्रूरतापूर्वक इसे अवरुद्ध और पीडित किया गया। और उन साधनोके सिवाय जिन्हे वह अपने-आप अपने अन्दरसे उत्पन्न या अधिकृत कर सकता था, वह सपोषण और क्रिया-कलापके सब साधनोसे वचित किया

गया। उसे बार-बार विनाशकी सीमातक लाया गया, पर इन सबके होते हुए भी उसने सभी कठिनाइयो और सकटोको पार करके अपने-आपको जीवित रखा; इतना ही नही, सदा विपत्तियोसे नयी शक्ति प्राप्त की, आंतरिक शत्रुओपर विजय प्राप्त की और बाह्य शत्रुओका सामना किया, अपनी सीमाओंको पार करके एशियामे विस्तार किया, अस्तव्यस्ततामेसे एक सबल सैनिक और असैनिक साधनोकी व्यवस्था की, अभाव, गृहयुद्ध और विदेशी भयके बीचमे भी उसके पास एक नये प्रकारके समाजकी आरंभिक आधारशिला रखनेकी शक्ति रही है। मानव-सामर्थ्यका यह चमत्कार अपने-आपमें फ्रेच क्रान्तिके समय जैकोविनियोकी असाधारण सफलताकी अधिक प्रतिकूल परिस्थितियोमे पुनरावृत्तिसे बढकर कुछ नही है। इन सफलताओके पीछे विद्यमान विचारकी शक्ति जिसने इन्हे संभव बनाया अधिक महत्व रखती है। यह केवल बाह्य महत्वकी बात है कि अभी बहुत दिन नही हुए जब बोलशेविकोको मास्को खोनेका भय था और अब वे वारसाकी ओर बढ रहे है। यह बात कही अधिक महत्वपूर्ण है कि पश्चिमी शक्तियोको आधुनिक समयकी प्रथम सफल साम्यवादी सरकारके साथ समझौतेकी बातचीत करनेके लिये बाध्य होना पडा है, उस सरकारके साथ जिसका वे अभीतक एक राक्षसी शक्तिके रूपमे प्रत्याख्यान करती है और जिसे सभ्यताका संकट मानकर नष्ट कर देना चाहती है। किन्तु वास्तविक महत्व इन घटनाओंका नही है जो कोई और दिशा भी ग्रहण कर सकती थी या अब भी कर सकती है और जो केवल कथा-वार्ताकी वस्तुएँ बनकर रह सकती थी, बल्कि यह मूल तथ्य, जो भविष्यकी संभावनाओपर प्रभाव डाल रहा है, अधिक महत्वपूर्ण है कि एक महान् राष्ट्रने जो मानवजातिके निर्दिष्ट भावी नेताओमेसे है भविष्यकी अज्ञात गहराइयोमे साहसपूर्वक छलाग मारी है, पुराने आधारोको हटाकर साम्यवादके आमूल प्रयोग किये है और निरतर कर रहा है, उसने मध्यवर्गीय ससद्-पद्धतिके स्थानपर एक नये प्रकारकी सरकार स्थापित की है और स्वतत्र जीवनकी प्रथम शक्तिका प्रयोग एक संपूर्णतया नवीन सामाजिक व्यवस्था लानेमे किया है। इस स्तरके विश्वास और साहससे किये गये कार्य ही मानव-प्रगतिकी दिशाको बदलते या उसे तेज करते है। इस सबका आवश्यक परिणाम यह नही है कि अब जिस कार्यके लिये प्रयत्न हो रहा है वही भावी समाजका वाछित अथवा निश्चित स्वरूप होगा, लेकिन यह इस बातका निश्चित सकेत है कि सभ्यताकी एक अवस्था जा रही है और काल-पुरुष एक नये पक्ष और एक नयी व्यवस्थाकी तैयारी कर रहा है।

साम्यवादी विचारको पश्चिमतक पहुचनेमे समय लग सकता है और इस बीच उसमे कई परिवर्तन भी हो सकते है, किन्तु इस अर्थमे असाधारण प्रगति हो चुकी है। सभी जगह श्रमिक आदोलन सुधारवादी ढगको छोडकर समाजवादी रूपमे और इसी कारण, वर्तमान सकोचोके होते हुए भी, आवश्यक रूपसे पूरी तरह क्रान्तिकारी रूपमे परिणत हो रहा है। एक श्रेष्ठतर सामाजिक स्थिति प्राप्त करने या शासनमे भाग लेनेके लिये श्रमिकवर्गका सघर्ष अव पुराना होकर लुप्तप्राय हो गया है समाजके पूँजीवादी ढाँचेका उन्मलन और सामाजिक आधार और शासक शक्तिके रूपमे धनके स्थानपर श्रमका स्थापन ही आदर्शके रूपमे स्वीकृत किया जा रहा है। इस आदोलनमे जो मतभेद है वे सिद्धान्तसम्बन्धी नही वल्कि परिवर्तनके साधन और प्रक्रियासे और उस यथार्थ स्वरूपसे भी सवधित है जो भावी समाजवादी सरकार और समाजको दिया जायगा। मत्रणाओका यह विभाजन ही आगेकी प्रगतिको धीमा कर रहा है और युद्धके निर्धारित प्रश्नको हाथमे लेनेसे रोकता है। यह वात सुस्पप्ट है कि हम जैसे-जैसे पूर्वकी ओर वढते है समाजवादी और साम्यवादी विचारोकी शक्ति वढती जाती है और इससे उलटी दिशामे कम होती जाती है यह प्रगति पश्चिमसे पूर्वकी ओर नही वल्कि पूर्वसे पश्चिमकी ओर हो रही है। तथापि, अधिक उग्र शक्तियाँ सर्वत्र जोर पकड रही है, वल्कि धनिकतंत्रीय अमरीकामे भी अनुभव की जा रही है। जो भी हो, गति चाहे कितनी भी धीमी क्यो न हो, धाराकी दिशा बिलकुल स्पष्ट है और परिणाम भी नि सदिग्ध। सभ्यताकी वर्तमान यूरोपीय पद्धति, कम-से-कम अपने पूँजीवादी उद्योगवादके स्वरूपमे, अपनी अति विशाल सीमाओतक पहुँच चुकी है, अपने ही सघातद्वारा टूट चुकी है और अव उसकी नियतिमे विनाश ही लिखा है। भविष्यका प्रश्न दो विकल्पोपर निर्भर है—एक श्रमिक-प्रधान उद्योगवाद जो अपने पूर्ववर्ती रूपसे केवल सगठनमे ही अलग है, समाजवाद या साम्यवादकी महत्तर भावना या स्वरूप जिसका प्रयोग रूसमे किया जा रहा है या किसी नये और अभीतक अज्ञात और अप्रत्याशित सिद्धान्तका आविर्भाव।

जो शक्ति इस समय ऊपर उठ रही है और इस अन्तिम सभावनाके लिये एक विशेप मार्ग वना रही है वह है एशियाका पुनरुत्थान। यह सोचना कठिन है कि एशिया जव एक वार मुक्त रूपसे सोचने या कार्य करने लगे और स्वय अपने लिये जीवन धारण करने लगे, तो फिर अधिक समयतक केवल यूरोपकी पुरानी और वर्तमान प्रगतिकी नकल करनेसे ही सतुष्ट रह सकेगा। इसकी जातियोके स्वभावकी विशेपता इसमे है कि वह दूसरोसे

अत्यत गंभीर रूपमें भिन्न है, उनके मनोंकी रचना और कार्यशीलताका ढंग ही दूसरा है। तथापि वर्तमान समयमें एशियाका उत्थान-संबंधी आंदोलन स्वतंत्र रचनात्मक विचार या कर्मके रूपमें किसी अर्थगर्भित प्रयत्नकी अपेक्षा एक भूमिकाके रूपमें अधिक अभिव्यक्त हो रहा है। वह अपने लिये जीवन धारण करनेका अधिकार प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहा है। फिर भी एशियाई अशान्ति वर्तमान स्थितिका एक दूसरा प्रधान लक्षण है। यह मिश्रसे चीनतक विभिन्न रूपोंमें व्यक्त हो रहा है। मुसल्मानी जगत्में इसका स्वरूप होता है संरक्षित राज्यों और अधिदेशी राज्योंका निराकरण और स्वतंत्र एशियाई राज्योंकी निर्माण-संबंधी हल्चल। भारतवर्षमें यह अधूरे ढंगोंके प्रति नित्यप्रति बढ़ते हुए असंतोष और शीघ्रतासे पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त करनेकी मांगके निरंतर और प्रबल उत्साहके रूपमें प्रकट हो रहा है। सुदूर पूर्वमें यह कुछ धुंधलेसे आंदोलन चला रहा है जिनका अर्थ अभी स्पष्ट रूपसे सामने नही आया है, यह अशान्ति अभीतक एक स्वतंत्र क्रिया और अस्तित्वके आरंभसे थोड़ा ही आगे देखती है। यह उन स्वाधीनताके विचारोंके साथ सहानुभूति रखती है जो काफी लंबे समयसे अपने प्रति पूर्णतया सचेतन है और उन सूत्रोंके साथ भी जो यूरोपमें सुव्यवस्थित रूपसे प्रयुक्त किये जाते है, जैसे स्वायत्त शासन, स्वशासन, लोकतंत्र, राष्ट्रकी स्वाधीनता। साथ ही यहाँ एक और प्रश्न भी अन्तर्ग्रस्त है जो अभीतक एशियाके वृहत् जनसमूहके अवचेतन मनमें ही विद्यमान है पर जो अधिक चेतन मनोंमें भी अपनी स्थापना कर रहा है; यह पहली दृष्टिमें स्वतंत्रता और विकासके आधुनिक स्वरूपोंमें सवधित सिद्धान्तोंको अनुकरणशील वृत्तिके साथ ग्रहण करनेके कार्यसे बहुत असंगत प्रतीत हो सकता है, कम-से-कम उससे मेल नही खाता,—यह है आध्यात्मिक और नैतिक स्वाधीनताका आदर्श और एशियाई संस्कृतिके सूक्ष्म सिद्धान्तोंकी यूरोपके आक्रमणसे सुरक्षा। भारतवर्षमें एशियाई आध्यात्मीकृत लोकतंत्रका विचार प्रकाशमें आ रहा है, यद्यपि अभी वह अस्पष्ट और आकाररहित है। खिलाफत-आदोलनका उद्देश्य और स्वभाव धार्मिक होनेके कारण सांस्कृतिक और राजनीतिक भी है। अधिदेशीय शासनका प्रतिरोध इसलिये किया जाता है कि इसका अर्थ है यूरोपद्वारा एशियापर राजनीतिक नियंत्रण और उसका आर्थिक शोषण, किन्तु इस घृणाका एक अन्य गूढतर स्रोत भी है। एशियाके जीवनको तोडकर उसे यूरोपीय पूंजीवाद और उद्योगवादके कठोर सांचेमें ढाले विना यह शोषण असंभव है; यद्यपि एशियाको अपने गौरवपूर्ण किन्तु अपूर्ण अतीतमें न रहकर भविष्यमें निवास करना सीखना चाहिये,

लेकिन उस भविष्यको अपने ही प्रतिरूपमे ढालनेकी माँग करनी होगी। एशियाकी अशान्तिका वर्तमान अर्थ और एशियाके पुनरुत्थानका भावी अर्थ इसी दुहरी माँगमे निहित है, उस माँगमे जिसमे एक दुहरे, आतरिक और वाह्य प्रतिरोधकी आवश्यकता है।

इस एशियाई अशान्ति और प्रतिरोधसे व्यग्र यूरोपकी पूँजीवादी सरकारे औपचारिक रूपसे कुछ रिआयते देकर परन्तु तथ्य और सिद्धान्त-रूपसे प्रत्याख्यान करके उसका सामना करती है। भारतको उन्होने उत्तरदायी शासनका प्रारंभिक रूप नही दिया। केवल उसकी ओर पहला ठोस कदम ही उठाया गया है; पर यह ऐसा कदम है जो ब्रिटिश राजनीतिक और पूँजीवादी हितोंके बचावके उन अनगिनत साधनोकी वाढसे घिरा है जिन्होने उसकी सारी शक्ति छीन ली है, साथ ही यह अर्थपूर्ण शर्त भी है कि उसकी आगेकी प्रगति उसी हदतक होगी जिस हदतक वह राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक रूपमे ब्रिटिश भावनाकी प्रतिमूर्तिमे अपना पुर्ननिमाण करनेके लिये तैयार हो। एक फ्रेच सैनिक शक्ति दमिश्कपर अधिकार कर लेती है, वहीके राजा और जनताद्वारा चुनी गयी सरकारको निकाल वाहर करती है, किन्तु साथ ही एक ऐसी स्वदेशी सरकारको स्थापित करनेका वचन देती है जो यूरोपीय हितो और आदेशके अधीन होकर रहे। इग्लैड मैसोपोटामियाके आगे एक ऐसी अरवी सरकार रखता है जिसपर एग्लो-भारतीय शासनकी काठी पडी है और जिससे वह 'मोसुल'के तेल-क्षेत्रोसे नैतिक और भौतिक लाभ उठाना चाहता है। इस वीच वह वहाँकी विद्रोही जनतासे युद्ध भी कर रहा है ताकि वह उसके स्वाधीनता-प्राप्तिके वर्वर और अज्ञानपूर्ण संकल्पपर अपना महत्तर हित लाद सके। एक ब्रिटिश नियत्रण फारसकी अखण्डताको वनाये रखनेका आश्वासन देता है। यूरोपसे यहूदी आप्रवासी फिलिस्तीनमे आकर वसनेवाले है और उसका शासन एक उच्चायुक्तके अधीन, वहाँकी जातियोके हितमे,—पर उन सवकी इच्छाके विरुद्ध होगा। तुर्क अपने भौतिक साम्राज्य और खलीफा-राज्यकी प्रतिष्ठासे वचित होकर एक कठोर और सकीर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रणके अधीन स्वतत्र रहेगे और वे इस अपूर्व आनन्दकी अवस्थाको और एक सभ्य आधुनिक राष्ट्र वननेके अद्वितीय अवसरको अगीकार करनेके लिये एक यूनानी सेनाद्वारा विवश किये जायेगे। पुराने शासनके पास श्रमिकवर्गकी व्यवस्थित शक्तियोका विरोध करनेकी अपेक्षा इनपर अपने आदेश लागू करनेके लिये अधिक भौतिक वल है। फिर भी यह विलकुल निश्चित है कि इस प्रकारका समाधान एशियाके क्षोभको दूर नही करेगा। यह प्रयत्न उलटा अपने-आपको ही हानि पहुँचा सकता

है, क्योंकि ये नये वोझ पहलेसे ही असंभव वनी वित्तीय अवस्थापर और भी अधिक दवाव डालेंगे तथा यूरोपमे सामाजिक और आर्थिक क्रान्तिको शीघ्रतासे ले जायेगे। और यदि ऐसा न भी हो तो भी एक वडे महाद्वीप-के पुनरुत्थानको इस प्रकार रोका नही जा सकता। एक दिन वह निश्चय ही उन सव कठिनाइयोंपर, चाहे वे कैसी भी हों, विजय प्राप्त कर लेगा और अपने अवश्यम्भावी भविष्यको अधिकृत कर लेगा।

भविष्यकी ये दो पूर्वनिर्धारित शक्तियाँ, समाजवाद और एशियाई पुनरुत्थान इस समय कम-से-कम एक नैतिक मैत्री स्थापित करना चाहती हैं। इस समयके प्रवल राष्ट्रोंमे मजदूर और समाजवादी दल अपनी सर-कारोंकी नीतिके वहुत विरुद्ध हैं, वे एशिया और यूरोपके अधीन और भयभीत राष्ट्रोंकी माँगोकी ओर सहायताका हाथ वढ़ा रहे हैं। अधिक उन्नत एशियाई देशोंमें, आयरलैंडकी भांति ही, राष्ट्रीय आंदोलन नवजात श्रमिक आंदोलनके साथ वड़ा घनिष्ठ संवंध स्थापित कर लेता है। वोलशेविक रूस मध्य एशियाके वर्तमान स्वाधीन राज्योंकी नीतिके साथ अपना मैत्री-संवंध रखता है अथवा वह उसका सोवियतकरण और नियंत्रण भी करता है; फारसमे उफान लाता है और तुर्कों और अरवोको यथाशक्ति नैतिक सहायता भी प्रदान करता है। हो सकता है कि इस प्रवृत्तिका अपने-आपमे इससे अधिक कुछ अर्थ नही है कि यह सहानुभूति एक समान दवावके विरुद्ध प्रतिक्रियासे उत्पन्न हुई है। कर्मरत शक्तियाँ और स्वार्थ सदा ही अवसरवादी होते हैं और आपत्कालमे जहाँसे भी सहायता या सुविधा मिले उसपर टूट पड़ते हैं। किन्तु विशुद्ध स्वार्थपर टिकी इन मैत्रियोंको जवतक अधिक स्थायी आधार प्राप्त न हो, वे वहुत कमजोर और क्षणिक संयोजन ही रहती हैं। वोलशेविक रूस जार्जिया और अजरवेजनमे सोवियत सरकारें स्थापित कर सकता है, किन्तु यदि ये सरकारे सामयिक ही है, यदि सोवियतवाद इन जातियोंकी सहज-प्रवृत्ति, इनके स्वभाव और विचारकी किसी गहनतर वस्तुसे मेल नही खाता या उसका स्पर्श नही करता तो ये सरकारें स्थायी नही वन सकती। ब्रिटिश मजदूर-दल चाहे अभी कोई शर्त न लगाता हो, पर वह यह आशा करता है कि स्वशासी भारत उसके सामाजिक और आर्थिक विचारके अनुसार ही विकसित होगा, किन्तु यह सोचा जा सकता है कि स्वशासी भारत विकासकी वर्तमान सामान्य दिशासे अपना संवध तोड़कर स्वयं अपनी अप्रत्याशित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाको खोज ले। वर्तमान स्थितिमे हम निश्चयपूर्वक केवल यह कह सकते है कि यूरोपकी प्रभावी सरकारोंने कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनकी अपनी

योजनाएँ दो बडी विश्व-शक्तियोकी भावनासे उलटी पड़ती हैं तथा उसे इनके विकाससे भय भी है, ये तो दोनो शक्तियाँ उससे दबी-घुटी भी हैं, परन्तु स्पष्टत. दोनो भविष्यको अधिकृत करेगी।

इसका अर्थ है कि हम अभी एक स्थायी व्यवस्थासे काफी दूर हैं और इसलिये पृथ्वीके कष्टोके स्थगनकी आशा नही कर सकते। वर्तमान समयके संतुलनके, यदि परिवर्तनो और कौशलोकी इस अस्तव्यस्त अस्थिरताको सतुलन कहा जा सके तो, स्थायी होनेकी कोई आशा नही है, यह केवल क्षणभरके लिये ही ध्यान आकृष्ट करता है, और ज्योही पर्याप्त सवेग प्राप्त हो जाय अथवा परिस्थितियाँ दबी-घुटी शक्तियोके छुटकारोके लिये द्वार खोल दे तो हमे अधिक आश्चर्यजनक और वडे आदोलनोकी, आमूल हेर-फेर और वहुत अधिक परिवर्तनोकी आशा करनी चाहिये। इस समय अत्यधिक महत्वका विषय वह परिस्थिति नही है जो उनके मार्गोको प्रशस्त करेगी, क्योकि जव नियति तैयार हो तो वह किसी भी, और हरएक परिस्थितिसे लाभ उठा लेती है, महत्व है उस दिशाका जिसका वे अनुसरण करेगे और उस अर्थका जो उनमे छिपा होगा। एक समाजवादी समाजको विकास और एशियाके पुनरुत्थानको वड़े परिवर्तन लाने ही चाहिये, फिर भी हो सकता है कि वे मानवकी अधिक विस्तृत आशाको चरितार्थ न कर सके। समाजवाद मानव-जीवनमे अधिक समानता और घनिष्ठतर साहचर्यकी भावना ला सकता है, किन्तु यदि यह केवल भौतिक परिवर्तन ही हो तो यह अन्य आवश्यक वस्तुओसे वचित भी रह सकता है, वल्कि मानव-जातिके यात्रिक वोझको और भी वढा सकता है और उसकी आत्माको (भावना) पृथ्वीकी ओर अधिक तीव्रतासे पटक सकता है। यदि एशियाके पुनरुत्थानका अर्थ केवल अन्तर्राष्ट्रीय सतुलनको ठीक अथवा परिवर्तित करना है तो यह पुराने घेरेमे ही उठाया गया एक पग होगा, नवीनताका तत्त्व नही, न हीं लीकसे हटकर वह प्रगतिशील पग, जिसकी इस समय, चाहे कितने ही अस्पष्ट रूपमे क्यो न हो, अनन्य आवश्यकता अनुभव हो रही है। मजदूर-दलकी वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय नीतिमे,—वशर्ते कि शक्ति-प्राप्त मजदूर-दल विरोधी मजदूर-दलके मनके प्रति सच्चा हो,—सचमुच ही एक महत्वपूर्ण प्रतिज्ञा निहित है, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचारमे अधिक न्यायपूर्ण साम्य, स्वतत्र राष्ट्रोका अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य, शक्तिशाली राष्ट्रोके वर्तमान सकीर्ण अल्पतत्रके स्थानपर—एक ऐसे अल्पतत्रके स्थानपर जो अपने साथ एक अवास्तविक सघकी छायाको अनावश्यक उपागके रूपमे लटकाये फिरता है—जातियोका एक स्वतत्र, सम और लोकतत्रीय सघ।

दमन और शोपणकी पुरानी अव्यवस्था या वर्वर व्यवस्थाके स्थानपर एक अन्तर्राष्ट्रीय समानता और सहयोगकी अवस्था—वास्तवमें श्रेष्ठतर भविष्यके वारेमें हमारी धारणाका पहला प्रतिरूप है। किन्तु यही सव कुछ नहीं है: यह केवल एक वाहरी ढाँचा है। यह अपने निम्नतम स्तरपर अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाका एक नवीन यंत्र हो सकता है और अधिक-से-अधिक मानवजातिके लिये एक श्रेष्ठतर स्पष्ट सगठन। जो भावना, शक्ति, विचार या सकल्प इसे अनुप्राणित करेंगे या इसका प्रयोग करेंगे, उनका प्रश्न और भी वड़ा है। यही भवितव्यताका अंतिम स्वरूप एवं निर्णायक दिशा होगी।

जो दो शक्तियाँ भविष्यको अधिकृत करनेके लिये ऊपर उठ रही हैं वे दो वड़ी वस्तुओंका, यूरोपके वौद्धिक आदर्शवाद और एशियाकी आत्माका, प्रतिनिधित्व करती है। यूरोपका मन, जिसपर यूनानी और ईसाई धर्मने खूव परिश्रमपूर्वक कार्य किया है तथा जिसने स्वतंत्र विचार और विज्ञानके द्वारा अपने क्षितिजोंको काफी विस्तृत कर लिया है, वह मानव पूरणीयता या प्रगतिके विचारतक पहुँच चुका है जो वौद्धिक, भौतिक एवं प्राणिक स्वतंत्रतामें, निकट सवधकी समानता एवं एकतामें, विचार, भाव और श्रममें सक्रिय भ्रातृ-भावना अथवा साहचर्यमें प्रकट होता है। कठिनाई है इस विचारके सघटक भागोंको व्यवहारमें एक संयुक्त और वास्तविक वास्तविकताका रूप देनेमें। और, प्रगतिकी ओर वढ़ते हुए यूरोपका यह प्रयत्न रहा है कि वह श्रमपूर्वक एक ऐसी सामाजिक मशीनरी खोजकर सुस्थापित कर सके जो स्वतः ही इस उत्पादन-कार्यको कर सके। उनके खोजे हुए पहले साम्यने, लोकतन्त्र तथा कानूनके सामने राजनीतिक स्वाधीनता और समानताकी प्रणालीने केवल उच्चतर श्रेणियोंमें सवलतम और लोगोंकी प्रतिद्वन्द्वी स्वाधीनताको, एक अमानवीय सामाजिक असमानता और आर्थिक शोपणको, एक अविराम वर्ग-युद्ध और धन और उत्पादक मशीनरीके एक विकट और ऐश्वर्यपूर्ण मलिन शासनको समतल वनानेमें सहायता पहुँचायी है। अव एक अन्य समीकरणकी वारी है, एक ऐसी समानताकी जिसे उतना पूर्ण होना चाहिये जितना प्रकृतिकी असमानताओंके वीच, तर्कवुद्धि और सामाजिक विज्ञान और मशीनरीकी सहायतासे हुआ जा सकता है—और सवसे अधिक श्रममें और सामूहिक जीवनकी सामान्य प्राप्तियोंमें एक समान साहचर्यके आनेकी आवश्यकता है। यह निश्चित नही है कि यह सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्तसे अधिक सफलता प्राप्त करेगा। यह समानता अभी केवल कठोर नियमनसे ही प्राप्त की जा सकती है, और इसका अर्थ है कि स्वाधीनताको कम-से-कम कुछ समयके लिये तिरोहित हो जाना होगा। वहरहाल समस्त

कठिनाईकी जड़की उपेक्षा की जा रही है और अभी इस बातकी ओर ध्यान नही जा रहा है कि जीवनमे कोई भी वस्तु सच्ची नहीं हो सकती जबतक कि वह आत्मामे सच्ची न बना दी जाय। जब मनुष्य आत्मामें स्वतंत्रता, समानता, और एकता प्राप्त कर सकेंगे तभी अपने जीवनमे भी एक सुरक्षित स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भावना ला सकेंगे। विचार और मनोभाव ही पर्याप्त नहीं है, क्योकि वे अपूर्ण है, पुराना, दृढ स्वभाव और सहज-प्रवृत्ति उनका विरोध करते हैं और साथ ही वे चपल और अस्थिर भी होते हैं। एक ऐसी असीम प्रगतिकी आवश्यकता है जो स्वतंत्रता, समानता और एकताको हमारा अनिवार्य, आन्तरिक और बाह्य वायुमण्डल बना दे। ऐसा केवल आध्यात्मिक परिवर्तनसे ही हो सकता है और यूरोपीय बुद्धि यह देखना आरंभ कर रही है कि आध्यात्मिक परिवर्तन कम-से-कम एक आवश्यकता तो है ही; किन्तु वह अभीतक तर्कसंगत सिद्धान्तों और यांत्रिक प्रयत्नोंपर इतना अधिक बल देती है कि उसके पास आत्माकी वस्तुओकी खोज करने और उन्हे चरितार्थ करनेके लिये समय नही है।

एशियाने ऐसा कोई प्रयत्न नही किया, सामाजिक उपलब्धि और प्रगतिके लिये कोई प्रयास नही किया है। व्यवस्था, एक सुरक्षित नैतिक और धार्मिक ढाँचा, एक सुस्थापित आर्थिक प्रणाली, एक स्वाभाविक किन्तु घातक रूपसे रूढिगत और कृत्रिम बनता हुआ धर्मतंत्र—जहाँ कही उसने सांस्कृतिक विकासके उच्च स्तरोको प्राप्त किया है वहाँ उसकी यही पद्धतियाँ रही हैं। उसने इन वस्तुओको अपनी धार्मिक भावनापर आधारित किया और एक सबल सामुदायिक भावना, एक सजीव मानवता और सहानुभूतिसे तथा मानव समानता और मेलमे कुछ हदतक प्रवेशके द्वारा मधुर एवं सहनीय बना दिया। उसका सबसे बडा प्रयत्न बाह्य नही बल्कि आध्यात्मिक और आन्तरिक स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये था और उसके साथ आध्यात्मिकता, समानता और एकताकी महती उपलब्धि भी जुडी हुई थी। इस आध्यात्मिक कार्यको विश्वव्यापी रूप नही दिया गया, न ही समस्त मानव-जीवनको इसी प्रतिमूर्तिमे ढालनेके लिये कोई प्रयत्न किया गया। परिणामतः, उच्चतम आन्तरिक व्यक्तित्व और बाह्य सामाजिक जीवनमें असमानता उत्पन्न हो गयी, भारतमे सर्वोत्तम लोगोंका, जो जीवनकी सुरक्षित, पर अत्यधिक सकीर्ण दीवारोंके बाहर, आत्मामे निवास करते थे, उत्तरोत्तर तपस्यामय निर्गमन हुआ, और पौरुषहीन करनेवाला यह विचार घर कर गया कि जीवनने आत्माके अत्यधिक महान् वैश्व सत्यको खोज तो लिया है, पर वह उस जीवनकी आत्मा नही हो सकता, उसकी उपलब्धि जीवनके

बाहर ही हो सकती है। किन्तु अब एशियाको यूरोपके दबावके नीचे रहते हुए दुबारा जीवनकी समस्याका सामना करना पड रहा है और एक अन्य अधिक सक्रिय समाधान खोजना आवश्यक हो गया है। सब कुछ आत्मसात् करके, एशिया उद्योगवादके पश्चिमी प्रयोगको, उसकी पहली अवस्था पूंजीवाद और दूसरी अवस्था समाजवादके प्रयोगको दोहरा सकता है या उसकी नकल कर सकता है; किन्तु तब उसका पुनरुत्थान मानव-प्रयत्नमें किसी नये अर्थ या सभावनाको नही लायेगा। अथवा मानव-मनके इन दो अर्ध भागोका घनिष्ठ मिलन हमारी सत्ताके दो ध्रुवोंके बीचमें एक अधिक शक्तिशाली संबंध स्थापित कर सकता है और प्रत्येकके उच्चतम आदर्शोंके किसी पर्याप्त समीकरणको अर्थात् आन्तरिक और बाह्य स्वतन्त्रताको, आन्तरिक और बाह्य समानताको, आन्तरिक और बाह्य एकताको उपलब्ध कर सकता है। मनुष्यके भविष्यके लिये, प्रस्तुत सामग्री और परिस्थितियोके आधारपर, हम बड़ी-से-बड़ी यही आशा कर सकते है।

किन्तु एक बात और भी है; जिस प्रकार विविध तत्वोंके मिश्रणसे एक अदृष्ट आकार (स्वरूप) प्रकट होता है, उसी प्रकार कही एक ऐसी महत्तर अज्ञात वस्तु भी छिपी हो सकती है जो अभी तैयारीकी अवस्थामें है, जिसे अभी कालकी प्रयोगशालामें कोई स्वरूप नही दिया गया है एवं प्रकृतिकी योजनामे जिसका रहस्य अभी प्रकाशमें नही आया है। हो सकता है कि अन्त.क्षोभका यह अशान्त युग, विचारो और अन्वेषणोंकी अव्यवस्था, महान् शक्तियोंकी टक्कर, सृष्टि, विध्वंस और विलयन—वास्तवमें मानवताके अपूर्ण शरीर और आत्माकी सर्जनात्मक प्रसव-वेदनाके दबावसे कोई अप्रत्याशित सृजन हो जो इन सबको न्याय्य ठहराये।

1919

1919 का वर्ष आधुनिक जगतकी अत्यधिक अर्थपूर्ण और ऐतिहासिक तारीखे हमारे सामने रखता है। इसमे इतिहासका सवसे वडा युद्ध समाप्त हुआ, मनुष्यजातिके इतिहासमे एक नयी वस्तु अर्थात् एक राष्ट्रसघकी उत्पत्ति हुई, जो मानवजातिके भावी ऐक्यपूर्ण जीवनके लिये आधारशिला रखनेका दावा करता है। साथ ही इसने अभिनव महत्त्वपूर्ण निर्माण और विध्वसके लिये भी अवस्था पैदा कर दी है। यह अवस्था हमे समाज और मानव-जीवनके एक ऐसे ढाँचेमे ले आयेगी जो पृथ्वीकी जातियोमे अभीतक देखा-सुना नही गया। एक अकेले वर्षके लिये यह प्राप्ति ही काफी है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि बीसवी शताब्दीमे इस तरीखको निर्विवाद प्रसिद्धि देनेके लिये और भी काफी प्राप्तियाँ है। किन्तु यह संभव है कि वस्तुस्थिति विल्कुल वैसी ही न हो जैसी कि यह वर्तमान दृष्टिको प्रतीत होती है और ऐसा हो सकता है कि भावी सतति इसे एक अत्यंत भिन्न दृष्टि-केंद्रसे देखे। 1815 का वर्ष उस समयके लोगोको एक वडा महत्त्वपूर्ण वर्ष प्रतीत हुआ होगा जिनके मन प्राचीन प्रशासनो और क्रातिकारी फ्रासके वीच और फिर यूरोप और नैपोलियनके वीच लम्वे युद्धके दृश्योसे भरपूर थे। किन्तु अव जव हम पीछेकी ओर देखते है तो पाते है कि वह केवल एक अवस्था थी : युद्धकी एक तीव्रतम स्थितिकी समाप्ति, चैन लेनेके समयका आरभ; यह एक स्वल्पकालिक स्थिति थी जो टिक नही सकी। इससे भी पीछे हम 1789 की ओर जाते है जिसने प्राचीन व्यवस्थाका विनाश शुरू किया और एक नये आदर्शको जन्म दिया और उसके आगे फिर ऐसा समय आया जिसने इस आदर्शकी चरितार्थताकी ओर विकासको दर्शाया। इसी प्रकार भावी सतति इस 1919 के वर्षके आगे जाकर उस विपत्तिके आरभको पीछे मुड़कर देख सकती है जिसकी विशेषता पूर्व यूरोपीय अवस्थाकी पूर्ण असफलता थी। वह इसके आगे जाकर उन तारीखोको भी देख सकती है जो अभी भविष्यके गर्भमे छिपी पडी है, और जो किसी भावी व्यवस्था या आदर्शके विकासको सावित करेगी, उस व्यवस्था या आदर्शको, जिसे पहली व्यवस्थाका स्थान लेना है। यह वर्ष भी एक प्रारंभिक युद्धकी एक तीव्र अवस्थाकी केवल समाप्ति हो सकता है, श्वास लेनेकी प्रारंभिक

अवस्था और स्वल्पकालिक अवस्थाका वर्ष, साथ ही एक गतिशील वाढमे एक क्षणिक विरामका वर्ष। और, यह ऐसा इसलिये है कि इसने मनुष्यजातिके गहनतर मनको नही समझा है, न ही इसने 'काल-भावना'के अत्यत गहरे अभिप्रायको प्रत्युत्तर ही दिया है।

युद्धकी उत्तेजनामे एक आशा उठी थी कि यह मानव-विकासके रास्तेमे आनेवाली सारी संचित विघ्न-वाधाओका सफाया कर देगा और एक चमत्कारपूर्ण शीघ्रताके साथ नये युगको आगे लायेगा। एक अस्पष्टसे आदर्शने भी वड़ी वाक्पटुताके साथ शाति, भ्रातृत्व, स्वतंत्रता, एकता आदिको सुन्दर शब्दोमे वर्णित किया जिसने उस क्षणके लिये जातिकी आत्माको आशिक रूपमे प्रज्वलित एव प्रकाशमान भी कर दिया और उसकी वुद्धिको भी एक अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया। लोग कहा करते थे कि भली और बुरी शक्तियाँ पृथक्-पृथक् दो विरोधी पक्षोकी ओर हैं और एक निर्णायक युद्धमे परस्पर गुँथ गयी है। ये विचार, भावना और आदर्शवादी तर्क एक प्रकारकी अतिशयोक्तियाँ है और इनके तीव्र एवं चुँधिया देनेवाले प्रकाशमे विभिन्न स्वभाववाली वस्तुओने आश्रय ले लिया। जव आशा भविष्यकी किसी संभावनाको वर्तमान अवस्थाओसे अलग करके उसे अपने ही प्रकाशमे देखती है तो वह एक भ्रांति और स्वप्नद्रष्टा मनके जगमगाते दृश्यके सिवाय और कुछ नही हो सकती। मनुष्यका मन और कार्य इतने उलझे हुए तार है कि वहाँ चमत्कारिक आकस्मिक घटनाओके लिये स्थान नही रहता; युद्ध और क्रातिका भौतिक आघात दमघोटू विघ्नोंको समाप्त कर सकता है, किन्तु वे अपने-आपमे शुभके राज्य या भगवान्के राज्यकी स्थापना नही कर सकते। इसके लिये एक मानसिक और आध्यात्मिक परिवर्तनकी आवश्यकता है, जिसके अनुसार अपनी अभ्यासगत सत्ताको गढनेके लिये धीमी चालवाली हमारी मानव-प्रकृतिको काफी समय लगेगा। आदर्श जो कि केवल वुद्धि और भावनाकी वस्तु है इतनी आसानीसे अपने-आपको चरितार्थ नही कर सकता। थोड़े-से ऊँचे और वड़े शब्दोका उत्सुक कोलाहल या उनके पीछे स्थित विचार भी परिस्थितिकी शक्तिको, उस समयकी यथार्थ स्थितियोपर विजय प्राप्त करनेके सकल्पको तथा हमारी अपनी प्रकृतिके आग्रहपूर्ण अतीतको एक-वारगी ही फूंक मारकर नही उड़ा सकता, चाहे आदर्शके ढोल कितने ही जोरसे क्यो न वजे। न स्वयं युद्ध ही अपने-आपमे विशुद्ध शुभ या विशुद्ध अशुभके बीच कोई निश्चित वार्दाविदु है,—ये विभेद आदर्शवादी तर्कबुद्धिके जगत्की वस्तुएँ हैं, जिसकी हमारा यथार्थ जटिल जीवन कम-से-कम अभीतक

सही प्रतिलिपि नही वना है। वह जीवन जिसके जालमे विरोधी वस्तुएँ वडे निराशाजनक रूपमे परस्पर मिली हुई है,—वल्कि यह जीवन भूत, वर्तमान और भविष्यकी परस्पर उलझी हुई शक्तियोकी एक वडी अव्यवस्थित मुठभेड़ और उनका एक अनर्थकारी संपात है। जो परिणाम यथार्थतः प्राप्त हुआ है वह केवल उतना ही है जितनेकी क्रियारत शक्तियोके सतुलनसे आशा की जा सकती थी। यह न तो अन्तिम परिणाम है न ही पूरी वातकी समाप्ति, किन्तु यह वस्तुओके उस पहले कुलजोड़का तात्कालिक प्रतीक अवश्य है जो उस क्षणकी संभाव्यताकी अवस्थामे चरितार्थ होनेके लिये तैयार था। इसमे और भी अधिक कुछ था जो अव प्रभुत्वको पानेके लिये जोर आजमायेगा, किन्तु जो है अभी भविष्यकी वस्तु ही।

पिछले पाँच वर्षोकी उलट-पलट द्विमुखी थी, एकमुख इसका भूतकालकी ओर था और दूसरा भविष्यकी ओर। भूतकालके साथ इसका जो सवध था उसकी दृष्टिसे यह दो शक्तियोके वीच एक संघर्ष था, एक शक्तिका प्रतिनिधित्व करता था, जर्मनी और केद्रीय शक्तियाँ और दूसरीका अमरीका और यूरोपके पश्चिमी राष्ट्र। वाह्य रूपसे साम्राज्यीय जर्मनी वहुत ही स्पष्ट रूपसे एक ऐसे क्रूर प्रकारके साम्राज्यवाद और सैन्यवादका प्रतिनिधित्व करता था, जो अपने न्याययुक्त स्वत्व और पूर्णताके प्रति सतुष्ट था, और पश्चिमी यूरोपके अधिक उदार मध्यवर्गीय लोकतत्रके विरुद्ध— किन्तु इस लोकतंत्रमें एक दोष था कि इसके साथ एक उत्साहहीन व्यग्र और अनिच्छुक प्रकारका सैन्यवाद और थोड़े उदार प्रकारका सुखद अर्ध-आदर्शवादी साम्राज्यवाद भी जुडा हुआ था। किन्तु यह उसका केवल वाह्य रूप था, अपने-आपमे वह इतनी वडी विपत्तिके लिये पर्याप्त अवसर न हो सकता था। साम्राज्यवादी जर्मनीको और जिसका कि प्रतिनिधित्व करता था उस सवको समाप्त होना ही पड़ा, क्योकि यह यूरोपीय सभ्यताका सबसे वुरा पक्ष था, चाहे उसे अपनी पूर्णत. यात्रिक और वैज्ञानिक कुशलताके कारण वहुत यश प्राप्त था। उसकी आकृति मानो 'मोलोक' और 'मैमन' देवताओकी मिली-जुली देवमूर्ति थी जो 'वुद्धि' और 'विज्ञान'-रूपी अभिभावक-आकृतियोके वीचमे विराजमान थी। उसका आदर्श एक ऐसे राजतत्र और सामतशाहीकी प्राचीन भावनाके अवशेषोका, जिसे अव पुराना समर्थन प्राप्त नही था, एक वहुत वोझिल, व्यवस्थित आक्रामक वाणिज्यवाद और उद्योगवादका तथा साम्राज्य और अधिकारीतंत्रद्वारा प्रशासित एक यंत्रीकृत सरकारी समाजवादका अनोखा सम्मिश्रण था। यद्यपि इन सवको एक सुयोग्य वुद्धि और विज्ञानकी शक्तिका पथ-प्रदर्शन

भी प्राप्त था। संसारके भावी आदर्शके इस तीन सिरोंवाले हास्यजनक चित्रको, जिसका कि यह दावा था कि वह जातिको अपने अधिकारमें करके उसके जीवनको यांत्रिक बना देगा, नष्ट होना ही था, और इसके साथ-साथ अभिजातवर्गकी प्रायः सभी प्रेत-छायाएँ और अभिजात राजतंत्रके अवशेष भी लुप्त हो गये, उस अभिजातवर्गके जो अभी भी अधिकाधिक लोकतंत्रीय रूप धारण करते हुए यूरोपमें जमा था। इतना कुछ तो युद्ध अपने साथ बहा ले ही गया, किन्तु उसका अधिक महत्वपूर्ण और प्रत्यक्ष परिणाम पुरानी वस्तुओंको नष्ट कर देना नही, बल्कि वर्तमान आधारोको हिला देना और भविष्यकी शक्तियोंके लिये क्षेत्रको साफ कर देना था। भविष्य उस संकर वस्तु अर्थात् अंतर्राष्ट्रीय संबंधोके पुराने सिद्धान्तसे दूषित मध्यवर्गीय लोकतंत्रकी वस्तु नही है, चाहे उन रियायतोंके कारण जो कि उसे मिली थी, उसमें आदर्शवादकी एक नयी स्पष्टतर भावनाने कितना भी परिवर्तन क्यो न ला दिया हो। युद्धको बन्द करनेवाली शांति स्पष्ट ही, आंशिक रूपमे, भूतकालका विस्तार और इस क्षणकी वस्तु है, भविष्यके लिये इसका एकमात्र महत्व राष्ट्रसंघकी योजनाके साथ इसके संबंधमें है। किन्तु यह संघ भी तो एक स्वल्पकालिक योजना, एक अस्थायी उपाय है जो एक पूर्णतर रचनाकी संभावनाकी प्रतीक्षा कर रहा है। यह योजना उतनी ही अरक्षित है जितनी रियायत यह भूतकालको देती है और यह एक ऐसे वर्तमानपर आधारित है जो अभी भी प्रबल है, पर स्पष्ट ही उसे शीघ्र ही चले जाना है। इस वर्तमानका स्थान लेनेवाला भविष्य इस संघकी मुख्य बाह्य प्रवृत्तियोंमे काफी स्पष्ट है, एक ऐसे समाजमे, जो धनिकतंत्र और मध्यवर्गीय लोकतंत्रसे दूर जाकर समाजवादकी पूर्णता और सामाजिक जीवनकी उदार और समान सर्वनिष्ठता प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा है, उन जातियोंके संबंधोमे भी भविष्यकी स्थिति काफी स्पष्ट है जो राष्ट्रवाद और शक्ति-संतुलनके आक्रामक तत्वोसे दूर रहती हुई एक घनिष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय सौहार्द प्राप्त करना चाहती है। किन्तु ये तो केवल निदान है, सोचनेके ढंग है, यांत्रिक प्रवृत्तियाँ है, चाहे कितने भी परिवर्तन ये लाये, पर अपने-आपमे ये अधिक समयतक मनुष्यकी आत्माको सतुष्ट नही रख सकते। इनके पीछे आत्मा और आदर्शका एक महत्तर प्रश्न विद्यमान है, जिन्हे मनुष्यके साथ मनुष्यके, जातिके साथ जातिके सबंधको शासित करता है और एक ऐसे युगमे, जो कि अब सामने आ रहा है; यह एक अत्यत क्रातिक युग है, क्योकि यह मानवताके सभी ऐतिहासिक युगोंमे बहुत दूरतक पहुँचनेकी आशा रखता है।

इस बीच जिसे जाना था उसमेंसे बहुत कुछ चला गया है, यद्यपि इसके कुछ अवशिष्ट चिह्न और तलछट अभी भी बाकी हैं जिन्हे अभी नष्ट होना है। रक्तपिपासु युद्धकी पीडा अब समाप्त हो गयी है, और इसके लिये खुशी मनायी जा सकती है। किन्तु यदि कोई वस्तु समाप्त हो गयी है तो अभी सब कुछ आरभ भी होना है। मानव-आत्माको अभी भी अपने-आपको अपने विचार और महत्तर दिशाको प्राप्त करना है।

मानव-एकताका आदर्श

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली

Hindi-English Glossary

अ

अराजकता	Anarchy
अराजकतावाद	Anarchism
अर्थव्यवस्था	Economy
अतिराष्ट्रीय	Supra-National
अतर्राष्ट्रीयतावाद	Internationalism
अंतर्राष्ट्रीय	International
अंतर्राष्ट्रीयतावादी	Internationalist
अतर अमेरिकन	Inter American
अंतर्व्यावसायिक	Inter commercial
अह	Ego
अधिकारक्षेत्र	Jurisdiction
अधिनायकवाद	Dictatorship
अपराधी-प्रत्यर्पन	Extradition
अर्ध-वर्बर	Semi-barbaric
अधिराज्यपद	Dominion status
अनुयोजन	Annexation

आ

आचार-पद्धति	Credo
आतक-राज्य	Reign of terror
आग्लीकरण	Anglicisation
आदर्शवादी / आदर्श-प्रेमी	Idealist
आदर्श	Ideal
आत्म-चरितार्थता	Self-effectuation
आन्दोलन	Movement
आर्य	Aryan
आर्थिक	Economic

उ

उत्तराधिकारी	Successor
उपनिवेश	Colony
उपनिवेशीकरण	Colonisation

ए

एकता	Unity
एकीकरण	Unification

औ

औद्योगीकरण	Industrialisation
औपनिवेशिक	Colonial

क

कुटुम्ब	Family
कुलीनवर्ग	Nobles
कुलीनतत्र	Aristocracy, oligarchy
कूटनीति	Chicane
क्रमपरम्परा	Hierarchy
केन्द्र	Centre

ग

गणतत्र	Democracy
गूढ़	Hidden
गृह-शासन	Home-rule
गृह-युद्ध	Civil war

ज

जनतत्रीय	Democratic
जनतत्र	Democracy
जन-समुदाय	Masses
जनतंत्रीकृत	Democratised

जीवन-साहचर्य	Association of life
जैक	Czech.

त

तर्क	Reasoning
तटस्थता	Neutrality

द

दण्डविधान	Penal law
द्वन्द्व-युद्ध	Duel

ध

धर्मतन्त्रीय	Theocratic

न

नगर राज्य	City state
नगरपालिका	Municipality
नागरिक	Civic
नाकेबंदी	Blockade
न्यायालय	Court
न्यायाधिकरण	Tribunal
न्यायाधिकारीवर्ग	Judiciary
निरंकुश	Autocratic
नेतृत्व	Leadership
नौकरशाही	Bureaucratic

प

परस्पर-आश्रितता	Interdependence
पंच-निर्णय	Arbitration
पंडित-वर्ग	Savant class
पुरोहित-वर्ग	Sacerdotal caste
पूर्व-ऐतिहासिक	Pre-historic
पूंजीवादी	Capitalist
पृथक्करण	Separation
प्रक्रिया	Process
प्रतिरक्षात्मक	Defensive
प्रगति	Progress
प्रादेशिक राज्य	Regional state
प्रादेशिक संस्कृति	„ culture

फ

फासिस्टवाद	Fascism

ब

बर्बरता	Barbarism
बर्बर जातियाँ	Barbarians
ब्राह्मण	Brahmin
विघटनकारी	Disruptive
बुद्धि	Intellect
बोलशेविक शासन	Bolshevic rule

भ

भ्रातृभाव	Fraternity

म

मध्यवर्ग	Bourgeoisie
महाद्वीपीय	Continental
मानव-एकता	Human unity
मानव-समाज	Human society
मानवहितवादी	Humanitarian
मित्र शक्तियाँ	Allied powers
मृत्युदण्ड	Capital punishment

य

युद्धसंकट	War crisis

र

राष्ट्रवाद	Nationalism
राष्ट्रपरिषद	Council of Nations
राष्ट्र	Nation
राष्ट्र आदर्श	Nation type
राष्ट्रसंघ	League of Nations
राष्ट्रमंडल	Commonwealth
राष्ट्रप्रतिरूप	Nation type
राज्य-विशारद	Statesman
राजनीतिज्ञता	Statesmanship
राजनीतिक	Political
राज्य	State
राज्यसिद्धान्त	State idea
राजा	Monarch
राज्य-समाजवाद	State socialism

राजतंत्र	Monarchy
राज्यधर्म	State religion
ल	
ललित कला	Fine art
लिथुएनियन	Lithuanian
लोक समुदाय	People
व	
वंश	Clan
वंशानुगत	Hereditory
व्यवहारशास्त्र	Jurisprudence
व्यक्तिवादी	Individualistic
वर्ग	Class
वर्गकठिनाइयाँ	Class troubles
व्यवस्थापिका	Lagislative
वर्णव्यवस्था	Caste system
व्यवहार-विधि	Civil law
व्यापारवाद	Commercialism
विद्रोह	Revolt
विषमजातीय	Heterogeneous
विकेन्द्रीकरण	Decentralisation
विकासक्रम	Evolution
विचारक	Thinker
विशिष्टीकरण	Specialisation
विधान-मंडल	Lagislature
विधान-पालक	Law abiding
विकास	Development
विधि	Law, lex.
विधान-निर्माता	Lgislator
विधिग्रंथ	Code
विश्व-प्रकृति	World Nature
विश्व-संगठन	World organisation
विश्व-प्रणाली	World system
विश्व-राजनीति	,, Politics
विश्व-प्रभुत्व	,, domination
विश्व-व्यवस्था	,, order
विश्व-शान्ति	,, peace
विश्व-साम्राज्य	World Empire
विश्व-सभ्यता	,, Civilization
विश्व-एकता	,, union
विश्व-संहारक	,, devastating
विश्व-संघ	,, union.
वैध सन्तान	Legal child
श	
शताब्दी	Century
श्रमजीवी वर्ग	Labour class
श्रमिक	Labourer
शासक-मंडल	Governing organs
शासक-संस्था	Ruling body
शासन-प्रबंध	Regime
शासन-कार्य	Administration
शान्ति-संघ, शान्ति-संगठन	League of peace
शान्ति	Peace
शिष्ट-वर्ग	Aristocracy
शिल्पी-वर्ग	Artisian class
शूद्र	Shudra, the fourth class of Hindus
ष	
षड्यंत्र	Conspiracy
स	
समाज-शास्त्र, समाज-विज्ञान	Sociology
सदस्य	Member
सभ्यता	Civilization
स्व-चेतना	Self-consciousness
स्व-शासन	Self-government
स्वतंत्रता	Freedom
समाजवाद	Socialism
सर्व-यूरोपीय	Pan-European
सर्व-इस्लामवाद	Pan-Islamism

समुदायीकरण	Grouping.
समुदाय-एकता	Group unity
समुदाय-इकाई	Group unit
समानतावादी	Equalitarian
समुदाय	Aggregate
स्व-निर्धारण	Self-determination
स्व-निर्णायक	Self-determining.
समुदाय स्वतंत्रता	Group freedom
समुदाय व्यष्टिवाद	Group individualism
समुदाय आत्मा	Group soul
संधियाँ	Treaties
संयुक्तराष्ट्र-संघ	United nations organisation
संसद्-प्रणाली	Parliamentarism
संक्रान्तियुग	Transitional Era
संविधानशास्त्र	Constitutional law
संघर्ष	Conflict
संघवद्ध	Federated
संस्कृति	Culture
सांस्कृतिक	Cultural
संघवद्ध एकता	Federated unity
संघ-सिद्धान्त	Principle of federation
संघ	Federation
साम्राज्य	Empire
सामन्तवाद	Feudalism
सामुदायिक / साम्प्रदायिक	Communal
सास्कृतिक	Cultural
सुयात्रीकृत	Well machanised
सुधार	Reformation
सेवक-वर्ग	Servile class

ह

हड़ताल	Strike
हित	Interest.